श्रीअरविंद-साहित्य

खंड 6

मानव-चक्र

THE HUMAN CYCLE

श्रीअरविंद
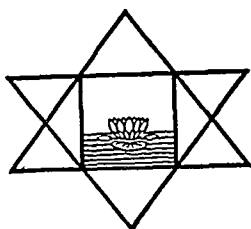
भारत सरकार, शिक्षा-मंत्रालयकी मानक ग्रंथोंकी
प्रकाशन-योजनाके अंतर्गत प्रकाशित

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी - 2
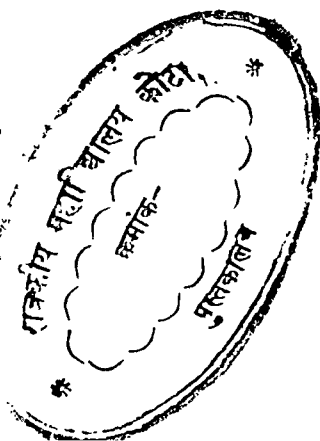
अनुवादिका :
लीलावती इंद्रसेन

प्रथम संस्करण, वर्ष

भारत सरकार, शिक्षा-मंत्रालयकी मानक ग्रंथोंकी प्रकाशन-योजनाके अंतर्गत इस पुस्तकका अनुवाद और पुनरीक्षण वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोगकी देख-रेखमें किया गया है और इस पुस्तककी 1000 प्रतियां भारत सरकारद्वारा खरीदी गयी हैं।

मूल्य रु० Rs. 12-50 Price Rs.

प्रकाशक : श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-2
मुद्रक : ज्ञानेन्द्र शर्मा, जनवाणी प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स प्रा० लि०
178, अपर चितपुर रोड, कलकत्ता-3

प्रस्तावना

हिंदी और प्रादेशिक भाषाओंको शिक्षाके माध्यमके रूपमें अपनानेके लिये यह आवश्यक है कि इनमें उच्च कोटिके प्रामाणिक ग्रंथ अधिक-से-अधिक संख्यामें तैयार किये जायँ। भारत सरकारने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोगके हाथमें सौंपा है और उसने इसे बड़े पैमानेपर करनेकी योजना बनायी है। इस योजनाके अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओंके प्रामाणिक ग्रंथोंका अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकोंकी सहायतासे प्रारंभ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमें इस योजनामें सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नये साहित्यमें भारत सरकारद्वारा स्वीकृत शब्दावलीका ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारतकी सभी शिक्षा-संस्थाओंमें एक ही पारिभाषिक शब्दावलीके आधारपर शिक्षाका आयोजन किया जा सके।

'मानव-चक्र' नामक यह पुस्तक श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-2 के द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। इसके मूल लेखक श्रीअरविंद, अनुवादिका लीलावती इंद्रसेन तथा पुनरीक्षक रवींद्र हैं। आशा है भारत सरकारद्वारा मानक ग्रंथोंके प्रकाशन-संबंधी इस प्रयासका सभी क्षेत्रोंमें स्वागत किया जायगा।

अध्यक्ष

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार,
नयी दिल्ली

विषय-सूची

मानव-चक्र

परिशिष्ट

मानव-चक्र

श्रीअरविंद

पहला अध्याय

समाजका विवर्तन-क्रम

आधुनिक विज्ञान अपने भौतिक आविष्कारोंके महत्त्वके तथा इस विचारके वशीभूत होकर कि जड़तत्त्व ही एकमात्र सत्ता है आत्मा और मनका तथा मनुष्य एवं पशुमें प्रकृतिकी क्रियाओंका अध्ययन चिरकालसे भौतिक तथ्योंके आधारपर ही करनेका यत्न करता आया है, यद्यपि प्रकृतिकी क्रियाओंके अध्ययनमें मनोविज्ञानका ज्ञान भी भौतिक विज्ञानोंके ज्ञानके समान ही आवश्यक है। यहाँ तक कि आधुनिक मनोविज्ञानने भी शरीर विज्ञान तथा मस्तिष्क एवं स्नायु-संस्थानकी छानबीनको ही अपना आधार बनाया है। अतः इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि इतिहास तथा समाज-शास्त्रमें बाह्य सामग्री, नियमों, संस्थाओं, रीतियों एवं प्रथाओं, आर्थिक तथ्यों तथा घटनाओंपर ही ध्यान केंद्रित रखा गया है, जब कि मनुष्य जैसे मनोमय, भावनामय तथा विचारशील प्राणीकी क्रियाओंमें इतना अधिक महत्त्व रखनेवाले गभीरतर मनोवैज्ञानिक तथ्योंकी अत्यधिक उपेक्षा कर दी गयी है। इस प्रकारका विज्ञान इतिहास तथा सामाजिक विकासकी प्रत्येक वस्तुकी व्याख्या यथाशक्य आर्थिक आवश्यकता--'आर्थिक' शब्द यहाँ अत्यंत व्यापक अर्थमें ही अभिप्रेत है--तथा लक्ष्यके आधारपर ही करेगा। यहाँतक कि ऐसे इतिहासवेत्ता भी हैं जो मानव-संस्थाओंके विकासमें विचारके कार्य तथा विचारकके प्रभावको गौण समझकर उसकी अवहेलना करते हैं अथवा उसके अस्तित्वसे ही इन्कार करते हैं। ऐसा समझा जाता है कि यदि रूसो (Rousseau) और वाल्टेयर (Voltaire) ने कभी कुछ भी न लिखा होता तथा विचारके जगतमें अठारहवीं शताब्दीके दार्शनिक आंदोलनने अपनी साहसिक तथा मौलिक कल्पनाओंकी सृष्टि न भी की होती, तो भी फ्रांसकी क्रांति आर्थिक कारणोंसे प्रेरित होकर उसी प्रकार और उसी समयपर हुई होती जिस प्रकार और जिस समयपर वह अब हुई।

फिर भी पिछले कुछ समयसे मन तथा आत्माकी व्याख्या करनेके विषयमें जड़-प्रकृतिकी सर्वसमर्थतापर शंका की जाने लगी है तथा भौतिक विज्ञानके इस आवेशसे मुक्ति पानेके आंदोलनका सूत्रपात हो गया है, तथापि

यह आंदोलन अभीतक कुछ एक भद्दी प्रारंभिक असफलताओंसे आगे नहीं बढ़ पाया है। फिर भी इस प्रतीतिका आरंभ तो हो ही गया है कि सामाजिक तथा ऐतिहासिक विकासके आर्थिक उद्देश्यों एवं कारणोंके पीछे गंभीर मनोवैज्ञानिक, यहाँतक कि शायद आध्यात्मिक तथ्य भी विद्यमान हैं। युद्ध*से पूर्वके जर्मनीमें जो बुद्धिवाद तथा भौतिकवादका मुख्य केंद्र होनेके साथ-साथ डेढ़ शताब्दीतक नवीन विचारधारा तथा अच्छी अथवा बुरी, लाभदायक अथवा हानिकारक मौलिक प्रवृत्तियोंका घर भी रहा और एक मौलिक प्रतिभाशाली व्यक्तिके द्वारा इतिहासके प्रथम मनोवैज्ञानिक सिद्धांतकी कल्पना तथा स्थापना जहाँ की गयी थी। किसी नये क्षेत्रमें प्रारंभिक प्रयत्न कदाचित् ही पूर्णतया सफल होते हैं; इस नवीन सिद्धांतका आविष्कारक जर्मन इतिहासवेत्ता इस उद्दीप्त विचारपर पहुँच तो गया, पर वह इसे अधिक विकसित नहीं कर पाया और न इस विषयमें कोई गभीर गवेषणा ही कर सका। अभी भी उसपर आर्थिक तत्त्वके व्यापक महत्त्वका भूत सवार था और अधिकतर यूरोपीय विज्ञानोंके समान उसके सिद्धांतने भी घटनाओंकी व्याख्या करनेकी अपेक्षा उनका संबंध-निर्णय, वर्गीकरण तथा संगठन ही अधिक सफलतापूर्वक किया। फिर भी उसके मूलभूत विचारने एक प्रेरक तथा उद्बोधक सत्यके सूत्रकी सृष्टि की है, और जो सुझाव यह प्रस्तुत करता है उनमेंसे कतिपयको विकसित करना---विशेषकर प्राच्य विचार तथा अनुभवके प्रकाशमें---लाभदायक होगा।

सिद्धांतकार लैम्प्रैख्टने यूरोपीय और विशेषकर जर्मनीके इतिहासको आधार मानकर कल्पना की थी कि मानव-समाज कुछ विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अवस्थाओंमेंसे होता हुआ प्रगति करता है जिन्हें उसने क्रमशः प्रतीकात्मक (Symbolic), आदर्श-प्रधान (Typal), परंपरा-प्रधान (Conventional), व्यक्ति-प्रधान (Individualistic) तथा अनुभव-प्रधान (Subjective) नाम दिये हैं। अतः यह प्रगति भी एक प्रकारका मनोवैज्ञानिक क्रम है जिसमेंसे प्रत्येक राष्ट्र और संस्कृतिको गुजरना होता है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकारके वर्गीकरण समाजको कठोर नियममें जकड़ देनेकी भूल कर सकते हैं तथा प्रकृतिके घुमाव-फिराववाले टेढ़े-मेढ़े कुष्ट मार्गोंके स्थानपर एक सीधे सरल मानसिक मार्गकी स्थापना कर सकते हैं। मनुष्य तथा उसके सामाजिक संगठनोंका मनोविज्ञान अत्यंत जटिल है। यह बहुमुखी तथा परस्परमिश्रित प्रवृत्तियोंका इतना विकट समन्वय

*प्रथम विश्व-युद्ध

है कि संतोषप्रद रीतिसे [illegible] भी इस क्रमका [illegible] तथा नियमबद्ध विश्लेषण नहीं किया जा सकता। मनोवैज्ञानिक क्रमके इस सिद्धांतसे यह भी ज्ञात नहीं होता कि इसकी क्रमागत अवस्थाओं (phases)का गूढ़ तात्पर्य क्या है, उनकी उस क्रमागतिकी क्या आवश्यकता है अथवा वे किस अवस्था और लक्ष्यकी ओर बढ़ रही हैं। फिर भी मन अथवा जड़तत्त्वके प्राकृतिक नियमोंको समझनेके लिये यह आवश्यक है कि उनके व्यापारको उसके अपने ज्ञेय तत्त्वों, मुख्य घटकों तथा प्रधान शक्तियोंमें, चाहे वे वस्तुतः कहीं भी अलग-अलग उपलब्ध न हों, विश्लेषित किया जाय। इस पाश्चात्य विचारकके विचारके अपने व्याख्यान-विस्तारमें मैं नहीं जाता, परंतु इसने जो अर्थसूचक संज्ञाएँ प्रस्तुत की हैं उनके आंतरिक भाव तथा मूल्यकी यदि हम परीक्षा करें तो वे घने परदेके पीछे छिपे हुए हमारे ऐतिहासिक विकासके रहस्यपर कुछ प्रकाश अवश्य ही डालेंगी और यह ऐसी दिशा है जिसमें अनुसंधान करना अत्यंत फलप्रद हो सकता है।

निःसंदेह, जहाँ कहीं हम मानव-समाजको उन अवस्थाओंमें देख सकते हैं जो हमें उसकी आदिम अथवा प्रारंभिक अवस्थाएँ प्रतीत होती हैं,—भले ही जाति अपेक्षाकृत सभ्य हो अथवा असभ्य, आर्थिक दृष्टिसे उन्नत हो अथवा पिछड़ी हुई—वहीं हमें एक ऐसी अत्यधिक प्रतीकात्मक मनोवृत्ति दृष्टिगोचर होती है जो उसके विचार तथा उसकी प्रथाओं एवं संस्थाओंपर शासन करती है अथवा कम-से-कम उनमें रमी हुई होती है। परंतु ये प्रतीक किस वस्तुके होते हैं? हम देखते हैं कि यह सामाजिक अवस्था सदा धार्मिक होती है तथा अपने धर्मके विषयमें सक्रिय रूपसे कल्पनाशील होती है। कारण, प्रतीकवाद तथा व्यापक कल्पनात्मक अथवा अंतर्ज्ञानात्मक धार्मिक भावनामें एक सहज संबंध रहता है और विशेषतः प्राचीन अथवा प्रारंभिक रचनाओंमें वे सदा साथ-साथ रहे हैं। जब मनुष्य प्रधानतया बौद्धिक, शंकाशील तथा तर्कप्रवण बनने लगता है तो वह व्यक्ति-प्रधान समाजकी स्थापनाके लिये तैयारी कर रहा होता है। तब प्रतीकों एवं परंपराओंके युग समाप्त हो चुके होते हैं, अथवा अपनी उपयोगिता खोरहे होते हैं। तब फिर ये प्रतीक किसी ऐसी वस्तुके होते हैं जिसे मनुष्य अपने पीछे, अपने जीवन तथा अपनी क्रियाओंकी पृष्ठ-भूमिमें विद्यमान अनुभव करता है, यथा—भगवान, देवता, कोई नाम-रहित विशाल तथा गहन सत्ता, कोई पदार्थोंमें छिपा हुआ जीवंत एवं रहस्यमय स्वभाव। मनुष्यकी समस्त धार्मिक और सामाजिक संस्थाएँ, उसके जीवनके समस्त क्षण और अवस्थाएँ, ये सब-के-सब उसके लिये प्रतीक हैं। उसके जीवनकी

पृष्ठ-भूमि, उसकी गतिविधिका निर्माण तथा नियंत्रण करनेवाले अथवा कम-से-कम उनमें हस्तक्षेप करनेवाले जो गुह्य प्रभाव हैं उनके विषयमें वह जो कुछ जानता है अथवा अनुमान करता है, उस सबको वह उन प्रतीकोंके द्वारा ही प्रकट करनेका यत्न करता है।

यदि हम भारतीय समाजकी आरंभिक अवस्था अर्थात अति प्राचीन युगपर दृष्टि डालें, जिसे समझनेमें अब हम इसलिये असमर्थ हैं कि उसके अनुकूल मानसिक अवस्था हम खो चुके हैं, तो उसमें हमें सब कुछ प्रतीकात्मक ही दिखायी देगा। यज्ञका धार्मिक विधान समस्त समाजपर, उसके जीवनके हर पल, हर क्षणपर शासन करता है और जैसा कि ब्राह्मण ग्रंथों तथा उपनिषदोंके संक्षिप्त अध्ययनसे भी पता चलता है, उसके यज्ञका कर्मकांड अपनी प्रत्येक दिशामें तथा ब्योरेमें गुह्य रीतिसे प्रतीकात्मक है। यह सिद्धांत कि यज्ञमें लौकिक समृद्धि तथा स्वर्ग-प्राप्तिके लिये भौतिक देवताओंकी संतृप्तिके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं था भ्रममूलक था तथा पीछेके उस मानवसमाजमें उत्पन्न हो गया था जो तब मनके बौद्धिक तथा ऐहिक झुकावसे अत्यधिक प्रभावित हो चुका था; यह अपने धर्मके विषयमें भी और इसी प्रकार अपने गुह्यवाद एवं प्रतीकवादके संबंधमें भी ऐहिक भावसे अभिभूत था, और इसलिये अब यह प्राचीन भावनाके भीतर नहीं पैठ सकता था। न केवल वास्तविक धार्मिक पूजामें ही अपितु उस कालकी सामाजिक संस्थाओंमें भी यह प्रतीक-भाव पूर्णतया प्रवेश किये हुए था। ऋग्वेदके उस सूक्तको ही ले लीजिये जिसे मानव-दंपतिका गठबंधन करनेके लिये विवाहका सूक्त माना जाता है, और वह निश्चय ही पीछेके वैदिक कालमें प्रयोगमें लाया जाता था। परंतु सूक्तका संपूर्ण भाव सूर्यकी कन्या सूर्याके भिन्न-भिन्न देवताओंके साथ क्रमिक विवाहोंके विषयसे संबंधित है, मानव-विवाह वहाँ सर्वथा ही एक गौण प्रसंग है जो दिव्य एवं गुह्य रूपकसे आच्छादित तथा पूर्णतया नियंत्रित है और उसी रूपकके शब्दोंमें इसकी चर्चा भी हुई है। परंतु यह भी ध्यान रखनेकी बात है कि यहाँ दिव्य विवाह मानव गठबंधनको अलंकृत करने तथा सुन्दरता प्रदान करनेके लिये कोई ऐसा आलंकारिक रूपक अथवा कवितामय सजावट नहीं है जैसा कि उस कालके पश्चात रचे जानेवाले प्राचीन काव्यमें इसका रूप संभव हो सकता था। प्रत्युत मानव गठबंधन ही दिव्य विवाहका एक निम्न कोटिका प्रतीक तथा रूपक है। इस विभेदसे वस्तुओंके विषयमें अधिक प्राचीन मनोवृत्ति तथा आधुनिक दृष्टिके बीचका संपूर्ण अंतर स्पष्ट हो जाता है। यह प्रतीक विवाह-संबंधी भारतीय विचारोंको चिरकालतक प्रभावित करता

रहा है, यहाँतक कि अब भी जब कि न तो कोई उसका अर्थ समझता है और न उसका कुछ प्रभाव ही शेष है, उसका एक परंपराके रूपमें स्मरण किया जाता है।

इसी प्रसंगमें हम यह भी संकेत कर दें कि पुरुष तथा स्त्रीके आपसी संबंधके विषयमें भारतीय आदर्श सदा ही पुरुष तथा प्रकृति (वेदोक्त नृ तथा ग्ना)के संबंधके प्रतीकद्वारा अधिशासित रहा है। पुरुष और प्रकृति विश्वमें पुंल्लिगी तथा स्त्रीलिंगी भागवत तत्त्व हैं। इस विचार तथा स्त्रीजातिकी स्थितिमें किसी परिमाणमें क्रियात्मक संबंध भी है। आरंभिक वैदिक युगकी प्रतीकात्मक संस्कृतिमें स्त्री और पुरुषकी स्थिति एक प्रकारकी समानताकी थी; यद्यपि पुरुषको कुछ आधिपत्य भी प्राप्त था, परंतु उस समय स्त्री जितना पुरुषका अंग थी उतनी ही सहचरी भी थी; उसके पीछेके युगकी विचारधारामें जब प्रकृतिको पुरुषके अधीन समझा जाने लगा तब स्त्री भी पूर्णतः पुरुष पर निर्भर हो गयी, उसका जीवन केवल पुरुषके लिये ही रह गया और उसका पृथक आध्यात्मिक अस्तित्व भी नहींके बराबर हो गया। तांत्रिक शाक्त धर्ममें स्त्रीको उच्चतम स्थान प्रदान किया गया है। उसमें एक ऐसे प्रयत्नका सूत्रपात था जो समाजमें कभी चरितार्थ न हो सका,—जिस प्रकार यह तांत्रिक संस्कृति वैदांतिक विचारधाराके व्यापक प्रभावको कभी उतारकर नहीं फेंक सकी—यह प्रयत्न था स्त्रीको उच्चासनपर आरूढ़ करना तथा उसे गंभीर सम्मानका, यहाँतक कि पूजाका पात्र बनाना।

अथवा उदाहरणार्थ, वैदिक चातुर्वर्ण्य व्यवस्था (अर्थात चतुर्वर्ण)को ही लें लीजिये, क्योंकि यह उदाहरण हमारे उद्देश्यके लिये सबसे अधिक उपयोगी है। उन चार वर्णोंको गलतीसे चार जातियोंका नाम दिया जाता है। जाति परंपरागत वस्तु है, परंतु वर्ण एक प्रतीकात्मक तथा आदर्श-प्रधान संस्था है। हमें बतलाया जाता है कि समाजकी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था आर्थिक विकासका परिणाम थी और राजनीतिक कारणोंने उसमें जटिलता उत्पन्न कर दी थी। ऐसा बहुत संभव है*, परंतु महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि उस समयके लोग इसे न तो ऐसा समझते थे और न ऐसा समझ ही सकते थे। कारण, जब किसी सामाजिक घटनाके क्रियात्मक तथा

---

*यह बात कुछ संशयात्मक है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभ में ब्राह्मणों की श्रेणी ने अपने-आपको पुरोहित के कर्म तक ही सीमित नहीं रखा अपितु वह सब प्रकार के आर्थिक कार्यों को भी करती थी।

भौतिक कारणोंका पता लग जाता है तो हम संतुष्ट हो जाते हैं और इससे आगे अनुसंधान करनेकी चिंतामें नहीं पड़ते। परंतु वैदिक-कालीन लोग इसके भौतिक कारणोंपर कोई ध्यान नहीं देते थे अथवा केवल गौण रूपसे ही ध्यान देते थे; वे सबसे पहले और मुख्य रूपमें सदा इसके प्रतीकात्मक, धार्मिक अथवा मनोवैज्ञानिक महत्त्वकी ही खोज करते थे। वेदके पुरुष सूक्तमें चतुर्वर्णका वर्णन है। वहाँ ये चारों विभाग स्रष्टा देवके शरीरसे, उसके सिर, बाहुओं, जंघाओं तथा पांवोंसे प्रकट हुए बताये गये हैं। आज तो हमारे लिये यह कोरी कवि-कल्पना है और इसका भाव यह लिया जाता है कि ब्राह्मण ज्ञानी होते थे, क्षत्रिय शक्ति-संपन्न, वैश्य उपज करनेवाले एवं समाजको आर्थिक अवलंब देनेवाले तथा शूद्र समाजकी सेवा करनेवाले; मानों यही सब कुछ हो, मानों उस समयके लोग ब्रह्मके शरीरके विषयमें अथवा सूर्याके विवाहोंके संबंधमें कोरी काव्यमय कल्पनाओंके प्रति इतनी गंभीर श्रद्धा रखते थे कि केवल उन्हींके आधारपर उन्होंने कर्मकांड तथा रीतियोंके ऐसे सुव्यवस्थित विधान, चिरस्थायी संस्थाएं, सामाजिक श्रेणियों तथा नैतिक अनुशासनके महान विभाग निर्मितकर डाले। उन प्राचीन पूर्वजोंकी मनोवृत्तिमें सदा अपनी ही मनोवृत्तिका प्रतिबिंब देखनेकी हमारी प्रवृत्ति रहती है और यही कारण है कि हम उन्हें कोरे कल्पनाशील असभ्योंसे अधिक कुछ नहीं समझ पाते। हमारे लिये कविता बुद्धि तथा भावनाका विलासमात्र है, कल्पना एक खिलौना तथा आमोद-प्रमोदकी वस्तु, हमारा मन बहलानेवाली नर्तकी है। किंतु प्राचीन लोगोंके लिये कवि द्रष्टा होता था, अंतर्निहित गूढ़ सत्योंका उदघाटन करनेवाला ऋषि, और कल्पना राज-दरबारमें नाचनेवाली नर्तकी न होकर भगवानके गृहकी पुजारिन होती थी। उसका काम कोरा मनगढंत ताना-बाना बुनना नहीं था अपितु कठिन तथा छिपे हुए सत्योंको मानसिक चित्रपटपर मूर्त्तिमान करना उसके लिये निर्दिष्ट कार्य था। वैदिक शैलीमें रूपक या उपमाका भी गंभीर अर्थोमें प्रयोग किया गया है। उससे विचारोंके लिये आकर्षक अलंकारोंके सुझाव देनेकी नहीं, अपितु किसी वास्तविकताको भली-भांति दर्शानेकी ही आशाकी जाती थी। उन ऋषियोंके लिये उपमा भी अव्यक्तका एक अभिव्यंजक प्रतीक थी और इसका प्रयोग भी इसीलिये किया जाता था कि इसके द्वारा मनके बोधके लिये उस भावका उद्बोधक रीतिसे संकेत किया जा सकता था जिसे यथार्थ बौद्धिक शब्दोंके द्वारा अभिव्यक्त करनेकी आशा नहींकी जा सकती थी, क्योंकि बौद्धिक शब्द तो केवल तर्कपूर्ण एवं व्यावहारिक विचारको अथवा भौतिक तथा बहिरंग भावको ही प्रकट करनेके लिये उपयुक्त होते

हैं। उन पूर्वजोंके लिये स्रष्टाके शरीरका प्रतीक किसी भी उपमाकी अपेक्षा अधिक अर्थपूर्ण था, वह एक दिव्य सत्यको प्रकट करता था। उनके विचार-में मानवसमाज उस विराट पुरुषको जीवनमें अभिव्यक्त करनेका एक प्रयत्न था जो अपने-आपको अन्य प्रकारसे भौतिक तथा अतिभौतिक विश्वके रूपमें अभिव्यक्त किये हुए है। मनुष्य तथा विश्व दोनों एक ही अदृश्य सत्यके प्रतीक तथा अभिव्यंजन हैं।

इस प्रतीकात्मक मनोवृत्तिसे समाजमें प्रत्येक वस्तुको पवित्र संस्कारका, धार्मिक तथा अपरिहार्य नियमका रूप देनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी, किंतु अभी तक उसके सब रूपोंमें विशाल और शक्तिशाली स्वतंत्रता विद्यमान थी—इस प्रकारकी स्वतंत्रता "असभ्य" समाजोंकी कठोर व्यवस्थामें अप्राप्य होती है क्योंकि वे प्रतीकात्मक अवस्थाको पार करके परंपराओंकी अवस्थामें प्रवेश कर चुके होते हैं, यद्यपि वे अब वृद्धिकी ओर नहीं वल्कि ह्रासकी ओर चल रहे होते हैं। आध्यात्मिक विचारधारा सवपर शासन करती है; इसको आश्रय देनेवाली प्रतीकात्मक धार्मिक पद्धतियां सिद्धांत-रूपसे ही रूढ़ होती हैं और सामाजिक रचनाएं लचकीली और मुक्त होती हैं तथा अनंत विकासकी सामर्थ्य रखती हैं। फिर भी उनमें एक श्रेणी कठोर रूढ़िवाद की ओर वढ़ने लगती है, यह मनो-वैज्ञानिक श्रेणी है। इस प्रकार सर्वप्रथम हमारे पास चार वर्णोंका प्रतीकात्मक विचार है। यह विचार—इसे समझानेके लिये हम एक ऐसी भावात्मक लाक्षणिक भाषाका प्रयोग करना चाहते हैं जिसका प्रयोग स्वयं वैदिक विचारक भी न करते और जिसे संभवत: वे समझ भी नहीं पाते परंतु जो हमारी आधुनिक वुद्धिके लिये सबसे अधिक सहायक है—मनुष्यमें ज्ञानरूपमें भगवान, शक्तिके रूपमें भगवान, उत्पादन, उपभोग तथा आपसके सहयोगके रूपमें भगवान तथा सेवा, आज्ञापालन एवं कर्मके रूपमें भगवानके भावको प्रकट करता है। ये विभाग चार विश्वजनीन तत्त्वोंके प्रतिरूप हैं, यथा—वह ज्ञान जो वस्तुओंके क्रम तथा तत्त्वका अवधारण करता है, वह शक्ति जो स्वीकृति तथा अवलंव प्रदान करती है तथा इसे लागू करती है, वह समस्वरता जो इसके अंगोंकी व्यवस्थाका निर्माण करती है और वह कर्म जो तीनोंके निर्देशको कार्यान्वित करता है। इसके पश्चात् इसी विचारसे एक ऐसे सामाजिक विधानका विकास हुआ जो दृढ़ तो था परंतु अभी उतना कठोर नहीं वन पाया था, जो मुख्यत: स्वभाव तथा चैत्य भूमिका (गुण)पर आश्रित था और तदनुरूप नैतिक अनुशासनसे सुसज्जित था तथा गौण रूपसे सामाजिक एवं आर्थिक कर्मपर निर्भर था। किंतु कर्मका निर्णय प्रत्येक श्रेणीकी अपनी अनुकूलता

तथा अनुशासनके लिये उसकी उपयोगिताके आधारपर होता था; वह मुख्य अथवा एकमात्र तथ्य नहीं था। इस विकास-क्रमकी पहली, प्रतीकात्मक अवस्था मुख्य रूपसे धार्मिक तथा आध्यात्मिक होती है। दूसरे तत्त्व, यथा मनोवैज्ञानिक, नैतिक, आर्थिक तथा भौतिक तत्त्व भी वहाँ विद्यमान हैं, किंतु धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचारोंकी अपेक्षा उन्हें गौण स्थानमें रखा गया है। दूसरी अवस्था जिसे हम आदर्शप्रधान कह सकते हैं मुख्यतया मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक है। शेष सब, यहाँ तक कि आध्यात्मिक तथा धार्मिक तत्त्व भी मनोवैज्ञानिक विचार तथा इसकी अभिव्यंजना करनेवाले नैतिक आदर्शकी अपेक्षा गौण स्थानमें रखे गये हैं। धर्म उस अवस्थामें नैतिक लक्ष्य तथा अनुशासनके लिये एक गुह्य स्वीकृतिमात्र रह जाता है और समाजके लिये उसका मुख्य उपयोग यही होता है। शेष बातोंमें धर्म अधिकाधिक पारलौकिक स्वरूप ग्रहण करने लगता है। मनुष्यमें भागवत सत्ता अथवा वैश्व तत्त्वकी सीधी अभिव्यतिके भावकी प्रबलता या प्रधानता अब नहीं रह जाती और न इसका मुख्य स्थान ही बना रहता है। अब यह भाव (पीछे हटकर) पृष्ठ-भूमिमें चला जाता है और अभ्यास-क्षेत्रसे विलुप्त होकर अंतमें जीवन-सिद्धांतमेंसे भी निकल जाता है।

यह आदर्शप्रधान अवस्था बड़े-बड़े सामाजिक आदर्शोंकी सृष्टि करती है जिनका प्रभाव इस अवस्थासे पार हो जानेपर भी मानवमनपर बना रहता है। अपनी समाप्तिके बाद जो मुख्य सक्रिय देन यह पीछे छोड़ जाती है, वह सामाजिक मानमर्यादाका भाव है: ब्राह्मणकी मानमर्यादा जो शुद्धि एवं पवित्रतामें, मन तथा आत्मासंबंधी बातोंके लिये उच्च आदरमें एवं विद्या और ज्ञानकी निष्काम प्राप्तिमें तथा एकमात्र इनकी ही खोजमें लगे रहनेमें निहित है, क्षत्रियकी मानमर्यादा जो साहस, वीरता, शक्ति, एक विशेष प्रकारके स्वाभिमानपूर्ण आत्मसंयम तथा आत्म-प्रभुत्व, आचारकी उच्चता तथा उस उच्चताके बनाये रखनेके लिये उसके कर्तव्य-कर्ममें रहती है, वैश्यकी मानमर्यादा जो शुद्ध और खरे व्यवहार, व्यापारविषयक सहायता, उपयोगी उत्पादन, व्यवस्था, उदारता तथा परोपकारपर निर्भर करती है, शूद्रकी मानमर्यादा जो आज्ञापालन, अधीनता, अनुरक्तिपूर्ण सेवा तथा आसक्तिरहित अनुरागके साथ अपने-आपको समर्पण करनेपर निर्भर करती है। परंतु शुद्ध मनोवैज्ञानिक विचारधारामेंसे इन भावोंकी जीवंत जड़ अधिकाधिक उखड़ने लगती है अथवा मनुष्यके आंतरिक जीवनमेंसे इनका स्वाभाविक प्रवाह रुकने लगता है। ये भाव ही परंपराओंका रूप धारण कर लेते हैं, यद्यपि ये परंपराएं स्वतः उच्च कोटिकी होती हैं। अंतमें ये भाव जीवनके

वास्तविक अंगसे कहीं अधिक विचार तथा शब्दोंकी परंपरा बनकर रह जाते हैं।

आदर्शप्रधान अवस्था स्वभावतः ही परंपरा की अवस्थामें तिरोहित हो जाती है। बाह्य उपकरण जो आत्मा एवं आदर्शकी बाह्य अभिव्यक्तिके साधन होते हैं जब स्वयं आदर्शसे भी अधिक महत्त्व प्राप्त कर लेते हैं, जब शरीर अथवा वस्त्रोंको व्यक्तिकी अपेक्षा अधिक महत्त्व प्राप्त हो जाता है, तब मानवसमाजमें परंपरा-प्रधान भूमिकाका सूत्रपात होता है। इस प्रकार जाति-पांतिके विकासमें इस नैतिक चतुर्वर्णके बाह्य भौतिक अवलंबों——जन्म, आर्थिक कर्म, धार्मिक कर्मकांड तथा पवित्र संस्कार एवं पारिवारिक रीति-नीति,——मेंसे प्रत्येकको योजनामें उसके परिमाण तथा महत्त्वसे कहीं अधिक अतिरंजित स्वरूप मिलने लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभमें सामाजिक व्यवस्थामें जन्मको प्रधान पद प्राप्त नहीं था बल्कि गुण तथा योग्यताकी ही प्रधानता थी। परंतु पीछे जैसे-जैसे उस प्रतिरूपको स्थायित्व प्राप्त होता गया वैसे-वैसे शिक्षा और परंपराके द्वारा उसकी रक्षा भी आवश्यक होती गयी तथा शिक्षा और परंपरा स्वभाविक रूपसे ही आनुवंशिक श्रेणियोंको स्थायी बनाती गयीं। इस प्रकार ब्राह्मणका पुत्र परंपराके अनुसार सदा ही ब्राह्मण समझा जाने लगा। उस समय जब परंपरा अपने स्वरूपमें सबसे अधिक दृढ़ तथा विशुद्ध अवस्थामें थी. जन्म तथा कर्म दोनों मिलकर उस आनुवंशिक परंपराके द्विविध बंधन थे। परंपराके इस कठोर रूपके एक बार स्थापित हो जानेके पश्चात् नैतिक भूमिकाको कायम रखना अब मुख्य बात न रहकर दूसरे बल्कि तीसरे दर्जेके महत्त्वकी वस्तु बन गया। जो वस्तु कभी इस समस्त व्यवस्थाकी स्वयं आधारभूत थी अब वह एक अनिवार्य शिरोमुकुट अथवा लटकता हुआ फुंदना भी न रह गयी। विचारक तथा आदर्श विधान-निर्माताका तो अब भी इसपर आग्रह था, परंतु समाजके वास्तविक विधान अथवा क्रियाचारमें ,अब इसपर कोई बल नहीं दिया जाता था। एक बार अनिवार्यता खो चुकनेपर अब वह केवल एक आलंकारिक कल्पनामात्र रह गयी तथा स्वभावतः ही परिहार्य हो गयी। अंतमें तो आर्थिक आधार भी छिन्न-भिन्न होने लगा। जन्म, परिवार, रीति-रिवाज तथा अन्य शेष बचे हुए चिह्न एवं धर्मके कोरे काल्पनिक निरर्थक संकेतों तथा विधियोंके नवीन विकृत अंकुर, जो प्राचीन गूढ़ प्रतीकवादकी अधूरी नकल तथा कंकालमात्र थे, प्राचीन समाजके इस लौह-युगमें जाति-व्यवस्थाकी संयोजक कड़ियां बन गये। जाति-व्यवस्थाके आर्थिक वैभवके कालमें पुरोहित और पंडितोंने ब्राह्मणके नाम की आड़ ले ली, शासकवर्ग

तथा जमींदारोंने क्षत्रियके नामकी, व्यापारी तथा धनसंग्रह करनेवालोंने वैश्य एवं आधे पेट भूखे रहनेवाले श्रमिक और आर्थिक दास वर्ग ने शूद्रके नामकी आड़ ले ली। जब आर्थिक आधार भी टूटने लगा, तब पुराने विधानका भी विकृत तथा दूषित रूपमें विघटन होने लगा। अब यह विधान नाममात्रकी एक ऊपरी परत-सा, कोरा धोखा बनकर रह गया है और अब इसे समाज के व्यक्तिप्रधान युगकी घरियामें पिघला देना चाहिये, नहीं तो उस जीवन-व्यवस्थापर जो इसके साथ चिपकी रह जाती है इसका निर्बलताकारी तथा अनृतपूर्ण विनाशक प्रभाव पड़ता है। भारतवर्षमें इस समय जाति-विधान प्रकट रूपमें इसी अवस्थामें है और यही इसकी अंतिम अवस्था भी है।

समाजके परंपरायुगकी प्रवृत्ति स्थिर तथा सुव्यवस्थित करनेकी, मर्यादाएँ बांधनेकी, रूढ़ पद्धतियों तथा वंशपरंपराओंका विधान स्थापित करनेकी, धर्मको रूढ़िरूप देनेकी, विद्या और शिक्षणको परंपराओं तथा अपरिवर्तनीय रूपके साथ बांध देनेकी, विचारको अचूक प्रमाणोंके द्वारा परखनेकी तथा जो उसे मनुष्यका पूर्ण जीवन-प्रतीत होता है उसे ही अंतिम तथ्य प्रमाणित करनेकी ओर होती है। समाजके इस परंपरायुगमें स्वर्णकाल भी होता है जब कि इस युगके रूपोंको प्रेरणा देनेवाले भाव तथा विचार सीमित किंतु फिर भी जीवंत होते हैं, न तो वे चारों ओरसे दीवारोंमें बंद होते हैं न गला घोंटकर मार ही दिये जाते हैं; जिस रूढ़िवादके ढांचेमें उन्हें जकड़ा गया होता है उसकी बढ़ती हुई कठोरताके द्वारा ये अभी जड़ अवस्थाको प्राप्त नहीं हुए होते। जब आनेवाली संततियाँ दूरसे इस युगपर दृष्टि डालती हैं तब अपनी यथार्थ सुव्यवस्था, सुन्दर तथा सूक्ष्म सामाजिक रचना और एक व्यापक तथा उच्च कोटिकी आयोजनामें इसके अंगोंकी सराहनीय अधीनताके कारण यह स्वर्णयुग उन्हें प्रायः बड़ा सुन्दर तथा आकर्षक प्रतीत होता है। इसी प्रकार एक समय आधुनिक साहित्यकार, कलाकार अथवा विचारक यूरोपके मध्ययुगको प्रायः सराहना तथा कुछ आशाके भावके साथ देखा करता था। वह उसके काव्य, उसकी महानता तथा आध्यात्मिकताकी दूरकी आकृतिके नीचे उन कठोर युगोंको, उसके अज्ञान, अन्याय, क्रूरता और अत्याचारको, उस दुःख और विद्रोहको जो इन सुहावनी सतहोंके नीचे खदबदा रहे थे, एवं दीनता तथा क्रंदनको जो इसके शोभनीय ऊपरी रूपके नीचे छिपे पड़े थे नहीं देख पाता था। इसी प्रकार धर्मपरायण आदर्शवादी हिन्दूशास्त्रके ज्ञानपूर्ण नियमोंका श्रद्धापूर्वक पालन करनेवाले पूर्णतया सुव्यवस्थित अतीत समाजकी ओर दृष्टि फेरता है और यही उसका स्वर्णयुग है। यूरोपीय स्वर्णयुगकी अपेक्षा, जिसका बाह्य स्वर्ण वस्तुतः चमकाया हुआ

कठोर ताम्र था और जिसपर स्वर्णकी केवल एक पतली परत चढ़ी हुई थी, यह स्वर्णयुग अधिक उच्च कोटिका था परंतु फिर भी वह मिश्र धातुका ही युग था, सच्चा सत्ययुग नहीं। समाजके इन परंपरा-युगोंमें वस्तुतः सुन्दर, सुष्ठु तथा मानव प्रगतिके लिये सहायक तत्त्वभी बहुत कुछ रहते हैं, परंतु फिर भी ये ताम्रयुग ही होते हैं, सच्चे स्वर्णयुग नहीं। वे ऐसे युग होते हैं जिनमें न तो हम उस सत्यकी जिसे पानेके लिये हम यत्न करते हैं अनुभूति ही कर पाते हैं और न उसकी सिद्धि ही;* उनमें केवल उसके किसी क्षुद्रांशको ही विस्तारित किया जाता है अथवा उसके बहिरंग रूपकी कोई कलापूर्ण नकल बना दी जाती है। जो उसका वास्तविक सत्य होता है वह जड़ रूप धारण करने लगता है और तब नियम, व्यवस्था तथा परंपराके कठोर समुदायमें उसका विलीन हो जाना अवश्यंभावी हो जाता है।

इसका कारण यह है कि सदा बहिरंग आकृतिका ही प्रभुत्व रहता है जब कि आत्मा पीछे रहती है तथा क्षीण हो जाती है। यह लौटकर आनेका, अपने स्वरूपको पुनर्जीवित तथा संशोधित करनेका, किसी प्रकार स्वयं बने रहने तथा अपने स्वरूपको बनाये रखनेका भी यत्न करती है, किंतु काल-प्रवृत्ति भी बड़ी बलवान् होती है। धर्मके इतिहासमें इसका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। संतों तथा धार्मिक सुधारकोंकी प्रेरणा कितनी भी प्रबल तथा शक्तिशाली क्यों न रही हो, परंतु समय पाकर उनके यत्नोंका वास्तविक प्रभाव अधिकाधिक बिखरने तथा कम होने लगता है और खोखला हो जाता है। यह पतनकी गति हमें भारतके पिछले एक हजार वर्षोंमें उसकी बढ़ती हुई अंधकारमय अवस्था तथा निर्बलतामें मिलती है। महा-बलशाली आध्यात्मिक महापुरुषोंके सतत प्रयत्नोंने लोगोंकी आत्मा को तो जीवित रखा परंतु प्राचीन स्वतंत्र शक्तिकी धारा तथा उसके सत्य और ओजको वे पुनरुज्जीवित नहीं कर सके, न ही कुप्रभावसे अभिभूत तथा जड़ताको प्राप्त होते हुए समाजको वे स्थायी रूपसे पुनः सजीव बना सके। सदैव एक या दो पीढ़ियों के बाद ही परंपरावादकी लौह मुष्टिका इस नवीन आंदोलनपर झपटकर इसके संस्थापकोंके नामोंको अपने पंजेमें जकड़ती रही है, कुछ ऐसी ही प्रक्रिया यूरोपकी पादरी-परंपरा तथा कैथोलिक संप्रदाय के संत-समुदायके पुनःपुनः नैतिक पतन होनेमें हमें दृष्टिगोचर होती है। तब फिर एक ऐसा समय आता है जब सत्य तथा परंपराके बीचकी खाई

*स्वर्णयुग के लिये भारतीय नाम है सत्ययुग, जब कि सत्य की पराकाष्ठा होती है, तथा कृतयुग, जब कि सत्य का विधान क्रियात्मक रूप से सिद्ध होता है।

असह्य हो जाती है और बौद्धिक शक्तिसंपन्न व्यक्तियोंका उदय होता है। "सिद्धांतोंको निगल जानेवाले" ये महान व्यक्ति प्रतीकों, आदर्श रूपों तथा परंपराओंका दृढ़तापूर्वक, उग्रतापूर्वक अथवा बुद्धिके शांत प्रकाशके द्वारा वर्जन करते हुए बंदीगृहकी भित्तियोंपर प्रहार करते हैं और अपनी वैयक्तिक बुद्धि, नैतिक आदर्श एवं हृदयकी भावनाओंकी सहायतासे उस सत्यकी खोज करते हैं जिसे समाज खो चुका होता है अथवा अपने धवल समाधि-मंदिरोंमें गाड़ चुका होता है। तभी धर्म, विचार तथा समाजके व्यक्ति-प्रधान युगकी सृष्टि होती है, सुधारवादके युगका अर्थात तर्कयुगका, विद्रोहके युगका, प्रगति तथा स्वतंत्रताके युगका प्रारंभ होता है, यह स्वतंत्रता आंशिक तथा बाह्य होती है। अपनेसे पूर्वके परंपरा-युगके प्रभावसे इसमें इस भ्रमपूर्ण विचारका आधिपत्य बना रहता है कि बहिरंग रूपों तथा अवस्थाओंके द्वारा सत्यकी प्राप्ति हो सकती है। यह युग व्यर्थ हीमें बाह्य यांत्रिक उपकरणोंके द्वारा पूर्णता सिद्ध करनेके स्वप्न देखता है। परंतु मानवजातिको अभी एक और युग—अनुभवप्रधान युग—मेंसे गुजरना होता है, पुनः अपने गंभीर आत्मतत्त्वको, एक नवीन ऊर्ध्वगामी रेखाको तथा सभ्यताके एक नवीन आवर्तनशील विकासक्रमको आयत्त करना होता है।

दूसरा अध्याय

व्यक्तिप्रधान तथा तर्कप्रधान युग

मानवसमाजका व्यक्तिप्रधान युग परंपरायुगके दूषित तथा असफल हो जानेके फलस्वरूप जड़ीभूत परिपाटियोंके शासनके विरुद्ध विद्रोहके रूपमें आता है। परंतु इसका जन्म तभी होता है जब कि पहलेके सत्य जातिकी आत्मा तथा व्यवहारमें जीवित नहीं रहते और वे परंपराएँ भी, जो उनकी नकल तथा स्थानपूर्त्ति कर रही होती हैं, वास्तविक अर्थ और भावसे शून्य हो जाती हैं; संपूर्ण क्रियात्मक सार्थकता खोकर वे रूढ़ विचार और रीति-रिवाजके बलपर तथा नाम-रूपसे मोहके कारण केवल यांत्रिक सत्ता ही रखती हैं। तभी मनुष्य, सामाजिक मनकी स्वाभाविक अनुदारताके रहते हुए भी, यह स्वीकार करनेके लिये बाधित अनुभव करते हैं कि परंपराओंका सत्य अब मर चुका है और वे असत्यका आश्रय ले रही हैं। नवीन युगका व्यक्तिवाद विश्वास और व्यवहारकी परंपराओंके पीछे वास्तविक और ठोस सत्यकी किसी दृढ़ आधारशिलाको खोज निकालनेका एक प्रयत्न होता है। और यह युग अनिवार्य रूपमें व्यक्तिवादी भी है, क्योंकि पुराने सब लोक-संमत मानदंड खोखले हो चुके हैं और अब आगे उनसे किसी प्रकारकी आंतरिक सहायता नहीं मिल सकती। अतः व्यक्तिको ही आविष्कारक तथा नेता बनकर, अपनी व्यक्तिगत बुद्धि, अंतर्ज्ञान, आदर्शवाद, आकांक्षा तथा जीवनपर अपने अधिकार अथवा अपने अंदरके किसी भी अन्य प्रकाशकी सहायतासे, जगत तथा स्वयं अपनी सत्ताका सच्चा विधान खोज निकालना होता है। जब वह इस विधानको पा लेता है अथवा वह समझता है कि उसने इसे पा लिया है तभी इसकी सहायतासे वह धर्म, समाज, नीति, राजनीतिक संस्थाओं, अपने साथियोंके साथ निज संबंध, अपनी पूर्णताके लिये निज प्रयत्न और मानवजातिके लिये निज परिश्रम, इन सबको दृढ़ आधारशिलापर पुनः स्थापित करने तथा अधिक जीवंत रूपमें ढालनेके लिये यत्नशील होता है, चाहे वह रूप पहलेकी अपेक्षा घटिया ही क्यों न हो।

इस व्यक्तिप्रधान युगका जन्म यूरोपमें हुआ और वहीं इसका पूर्ण साम्राज्य भी स्थापित हुआ। इस युगमें पूर्वका प्रवेश किसी मौलिक प्रवृत्तिके कारण नहीं वल्कि यूरोपके संसर्ग तथा प्रभावके कारण ही हुआ। पश्चिमकी

सामर्थ्य, शक्ति, ज्ञान, प्रगति तथा दुर्धर्ष विस्तारकी शताब्दियोंका मूल कारण वस्तुओंके वास्तविक सत्यकी खोजके लिये उसके अदम्य उत्साहमें तथा सत्यके जिस विधानको उसने पा लिया है उसके अनुसार मानवजीवनको नियंत्रित करनेकी ज्वलंत प्रेरणामें मिलता है। दूसरी ओर पूर्वने अपने जागृतिकालमें अपने-आपको असहाय अनुभव किया तथा देखा कि वह एक ऐसे देवके समान है जो अपनी समस्त सामर्थ्य खो चुका है, उसके जनसमुदाय अकर्मण्य हो गये हैं, वे यह भूल चुके हैं कि किस प्रकार तथ्यों तथा शक्तियोंके साथ स्वतंत्रतापूर्वक व्यवहार किया जाता है क्योंकि उन्होंने तो चिरकालसे रूढ़िग्रस्त विचार-धारा तथा अभ्यस्त क्रियाचारके जगतमें ही रहना सीखा है। पूर्वकी यह अवस्था उसके जीवनके आधारभूत आदर्शोंमें किसी मौलिक असत्यकी उपस्थितिके कारण नहीं हुई थी, अपितु इसका कारण यह था कि सत्यके जिस जीवंत भावका वह कभी स्वामी था उस भावको वह खो बैठा था तथा यांत्रिक परंपरावाद की संकुचित बेड़ियोंमें जकड़ा हुआ दीर्घकाल तक वह संतोषकी घन निद्रामें पड़ा सोता रहा था। परंतु यूरोपने अपने व्यक्ति-प्रधान युगमें जिन सत्योंकी उपलब्धि की है वे जीवनके केवल आरंभिक, अपेक्षाकृत दृष्टिगोचर, भौतिक तथा बहिरंग तथ्योंके विषयमें हैं। उन तथ्योंकी अधिक छिपी हुई वास्तविकताओं और शक्तियोंमें से केवल उन्हींको लिया गया है जो विश्लेषणात्मक तर्कके अभ्यास तथा व्याव-हारिक उपयोगिताकी खोजके द्वारा मनुष्यको प्राप्त हो सकती हैं। यूरोप की बुद्धिवादी सभ्यता ने समस्त संसारमें विजयका जो डंका बजाया उसका कारण यह था कि कोई अधिक गंभीर तथा अधिक शक्तिशाली सत्य उसका मुकाबला करनेके लिये उपस्थित नहीं था, क्योंकि शेष समस्त मानवजाति परपरा-युगकी अंतिम अंधकारमय घड़ियोंमें निष्क्रियताकी नींद ले रही थी।

यूरोपका व्यक्तिप्रधान युग प्रारंभमें बुद्धिका विद्रोहमात्र था और इसकी परिणति भौतिक विज्ञानकी विजयपूर्ण प्रगतिमें हुई। इस प्रकारका विकास ऐतिहासिक दृष्टिसे भी अनिवार्य था। व्यक्तिवादका उषाकाल सदा ही संशय और अस्वीकृतिका काल होता है। व्यक्तिको अनुभव होने लगता है कि उसपर जो धर्म लादा गया है उसके सिद्धांतों तथा व्यवहारका आधार किसी ऐसे आध्यात्मिक सत्यके जीवंत भावपर नहीं है जिकी सदा परख हो सकती है, प्रत्युत वह देखता है कि उसका आधार तो किसी प्राचीन पुस्तकका लेख है, किसी धर्मगुरुका अचूक उपदेश, धर्म-संप्रदायकी परंपरा, आचार्यों तथा पंडितोंकी विद्वत्तापूर्ण मीमांसा, धर्मोपदेशकोंकी परिषदें, मठ-मंदिरोंके महन्त एवं सब प्रकारके विशेषाधिकारी हैं; सबके सब संदेहातीत

न्यायालय हैं जिनका एकमात्र कार्य निर्णय तथा व्यवस्था देना है, परंतु जिनमेंसे कोई भी खोज, परीक्षण, सिद्धि, शंका तथा अनुसंधान करनेकी आवश्यकताको न तो अनुभव करता प्रतीत होता है और न उन्हें उचित ही समझता है। इस प्रकारके शासनमें, जैसा कि अनिवार्य है, व्यक्ति देखता है कि सच्चा ज्ञान तथा विज्ञान या तो निषिद्ध हैं तथा उनके लिये दंड और यातनाएँ दी जाती हैं अथवा रूढ़शास्त्रोंके ऊपर अंधविश्वास करनेकी आदत बन जानेके कारण ये ज्ञान-विज्ञान व्यवहारमें आने बंद होकर पुराने पड़ जाते हैं। प्राचीन शास्त्रोंमें जो बात ठीक भी होती है उसका भी अब कोई मूल्य शेष नहीं रह जाता। कारण, उनके वचन समझते हुए अथवा न समझते हुए दोहराये तो जाते हैं परन्तु उनका वास्तविक भाव कुछ थोड़े से व्यक्तियोंको छोड़कर शेष समुदायके द्वारा जीवनमें उतारा नहीं जाता। राजनीतिकके क्षेत्रमें भी उसे सर्वत्र दैवी अधिकार, पूर्वस्थापित विशेषाधिकार तथा परिपूत परंपराओंके द्वारा स्वीकृत क्रूर आचार, जो प्रत्यक्ष ही दमनकारी बलसे सन्नद्ध होते हैं, दृष्टिगोचर होते हैं। चिरकालसे प्रयुक्त होते आनेके कारण वे अपने अस्तित्वका औचित्य ठहराते हैं, परन्तु समाजमें बने रहनेका उनका कोई वास्तविक अधिकार अथवा औचित्य अब प्रतीत नहीं होता। सामाजिक व्यवस्थामें भी उसे परंपराओं, स्थिर अयोग्यताओं तथा स्थिर विशेषाधिकारों, उच्च वर्गके स्वार्थपरायण अहंकार तथा निम्नवर्ग की अंध दासताका वैसा ही कठोर आधिपत्य दृष्टिगोचर होता है। उधर जो पुराने कर्तव्य किसी समय इस पद-विभाजनके औचित्यको सिद्ध कर सकते थे उनका या तो सर्वथा त्याग कर दिया जाता है अथवा विना किसी कर्तव्यनिष्ठाके तथा केवल जात्यभिमानके अंगके रूपमें भद्दे तरीकोंसे उनका पालन किया जाता है। व्यक्तिको इस सबके विरुद्ध विद्रोह करना पड़ता है; अधिकारके प्रत्येक दावेपर कठोर अन्वेषण की दृष्टि डालनी पड़ती है। जब उसे बताया जाता है कि यही सब वस्तुओंका पवित्र सत्य है अथवा भगवानका आदेश है अथवा मानवजीवनका अनादि विधान है तो प्रत्युत्तरमें उसे यह शंका होती है कि "क्या यह सब वस्तुतः ठीक है? मैं कैसे जानूँ कि यही वस्तुओका वास्तविक सत्य है, कोई मूढ़ कल्पना अथवा वंचना नहीं है? भगवानने कब इसका आदेश दिया था और मुझे यह कैसे पता लगे कि उनके आदेशका यही आशय था? और यह तुम्हारी गलती अथवा रचना नहीं है, अथवा जिस पुस्तकका तुम प्रमाण देते हो वह वस्तुतः भगवानका आदेश ही है? और, क्या कभी भी भगवानने मनुष्यजातिको अपनी इच्छा स्वयं कहकर सुनायी है? जिस अनादि विधानकी तुम बात

करते हो, क्या वह सचमुच अनादि है और वस्तुत: प्रकृतिका विधान है, अथवा क्या वह भी कालका अपरिपक्व परिणाम है तथा इस समय एक अत्यंत गलत परंपराका रूप धारण किये हुए है? और, जितना कुछ तुम कहते हो उसके बारेमें मैं पूछता हूँ कि क्या यह सब जगतके तथ्योंके साथ एवं औचित्यके विषयमें मेरी जो भावना है, सत्यके विषयमें मेरी जो मान्यता है तथा वास्तविकताके विषयमें मेरा जो अनुभव है उनके साथ मेल भी खाता है?" यदि यह मेल नहीं खाता तो वह विद्रोही व्यक्ति उस बंधनको उतार फेंकता है और सत्य जिस रूपमें उसको दिखायी देता है उस रूपमें ही उसकी घोषणा करता है और ऐसा करते हुए समाजकी तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाके मूलपर ही प्रहार करता है और संभवत: कुछ समयके लिये नैतिक व्यवस्थापर भी आघात करता है, क्योंकि वह सब व्यवस्था एक ऐसे प्रमाणपर आधारित होती है जिसे वह अमान्य करता है और ऐसी परंपरापर निर्भर होती है जिसका वह उन्मूलन करता है, यह किसी ऐसे सजीव सत्यके आधारपर स्थापित नहीं होती जो उसके घोषित सत्यका सफलतापूर्वक सामना कर सके। पुरानी व्यवस्थाके पक्षपाती ठीक ही करते हैं जब वे सामाजिक सुरक्षा, राजनीतिक व्यवस्था या धार्मिक परंपराके लिये उसे हानिकारक विनाशका दूत मानकर उसे दबानेका यत्न करते हैं; परंतु वह डटा रहता है इसके सिवाय वह कुछ और कर ही नहीं सकता, क्योंकि नाश करना, मिथ्याका विनाश और शक्तिके एक नवीन आधारको उन्मुक्त करना उसका लक्ष्य होता है।

परंतु किस व्यक्तिगत सामर्थ्य या मापदण्डके द्वारा नव-निर्माणका वह अग्रदूत अपने नवीन आधारकी तलाश करेगा अथवा अपनी नवीन मर्यादाओंकी स्थापना करेगा? प्रत्यक्ष ही वह समयकी उपलभ्य जागृतिपर तथा ज्ञानके उन संभव क्षेत्रोंपर निर्भर करेगा जिनतक उसकी अपनी पहुँच है। पहले-पहल यह नव-निर्माण धर्मके क्षेत्रमें व्यक्तिगत प्रबोधके द्वारा हुआ जिसे पश्चिममें एक धार्मिक सैद्धांतिक तर्कसे तथा पूर्वमें दार्शनिक तर्कसे पुष्टि मिली। समाज और राजनीतिमें इसका सूत्रपात प्राकृतिक अधिकार तथा न्यायके कुछ अपरिपक्व तथा असंस्कृत अनुभवसे हुआ। इसके मूलमें कई भाव काम कर रहे थे पीड़ित समाजका क्षोभ एवं आम अत्याचार, अनौचित्य तथा अन्यायके प्रति उज्जाग्रत भाव साथ ही यह धारणा भी कि वर्तमान व्यवस्थाको यदि विशेष अधिकारों तथा स्थापित परंपराओंके अतिरिक्त किसी अन्य कसौटीपर कसा जाय तो उसे किसी प्रकार भी उचित नहीं

ठहराया जा सकता। पहले-पहल तो धार्मिक भाव ही मुख्य प्रेरक था। सामाजिक तथा राजनीतिक हेतुको लेकर जो आरंभिक अव्यवस्थित और उग्र प्रयत्न किये गये थे उनके शीघ्र ही दबा दिये जानेपर वह हेतु मद्धिम पड़ गया और धार्मिक सुधारकी उथल-पुथलसे लाभ उठाते हुए उपकारक मित्रके रूपमें इसीका अनुगामी बना रहा। और जबतक आध्यात्मिक उत्साहकी यह बाढ़ शांत नहीं हो गयी तथा जिन ऐहिक शक्तियोंका इसने अपनी सहायताके लिये आह्वान किया था उनके प्रभावसे यह अपने मार्गसे स्वयं ही भटक नहीं गयी तबतकके लिये वह स्वयं नेतृत्व ग्रहण करनेके अवसरकी प्रतीक्षा करता रहा। यूरोपमें धार्मिक स्वतंत्रताके आंदोलनने ईश्वरप्रेरित शास्त्र, सच्चे ईसाई कर्मकाण्ड तथा धर्ममंदिर (चर्च) की व्यवस्थाके सच्चे आशयका निर्णय करनेके लिये व्यक्तिगत अनुभूति तथा प्रबुद्ध तर्कको पहले तो सीमित और बादमें सर्वोपरि अधिकार प्रदान कर अपना आधार-स्तंभ बनाया। धर्माधिकारी साधारण लोगोंको शास्त्रोंके वास्तविक ज्ञानसे वंचित रखना अपना अधिकार समझते थे और पवित्र निर्देशके स्थानपर कोई दूसरा स्थानापन्न सिद्धांत मढ़नेकी धृष्टता न करते हुए भी उसके अपने ही मनमाने अर्थ लगाकर उसे अपनी नैतिक सत्ताकी सहायतासे तथा शारीरिक हिंसाके द्वारा भी व्यक्तिके विद्रोही अंतःकरणमें बलात् ठूँसना अपना अधिकार समझते थे। इन धर्माधिकारियोंकी अनधिकार चेष्टाओं, मिथ्याचारों तथा क्रूरताओंके विरुद्ध भड़क रही विद्रोहाग्निकी प्रचण्डता ही इस आंदोलनकी माँगकी प्रबलताका मापदंड थी। इस विद्रोहने, जब यह कम गरम और नरम था, कई समझौते किये जिनके फलस्वरूप एपिस्कोपेलियन (Episcopalian) आदि संप्रदायोंका जन्म हुआ। अपने तीव्रतर भावमें इसने कैलविन-शैलीका पवित्रतावाद (Calvinistic Puritanism) उपस्थित किया और जब यह अत्युग्र हो गया तब तो व्यक्तिके निज विचार तथा भावनाने ही असंयत रूप धारण कर लिया और अनेबेप्टिस्ट (Anabaptist), स्वतंत्र (Independent), सोसिनियन (Socinian) तथा अनेक और संप्रदाय खड़े हो गये। पूर्वमें इस प्रकारका आंदोलन, समस्त राजनीतिक अथवा प्रबल विध्वंसकारी सामाजिक भावसे विलग होकर केवल कुछ धार्मिक सुधारकों तथा ज्ञानी महात्माओंको और उपयुक्त सांस्कृतिक तथा सामाजिक कर्मपद्धतियाँ लिये हुए कुछ नवीन मतोंको ही उत्पन्न करता परंतु पश्चिममें इसके अनिवार्य और पूर्वनियत परिणाम हुए नास्तिकवाद तथा ऐहिकवाद। पहले-पहल जब धर्मके परंपरागत रूपोंपर, आत्मा और परमात्माके बीचमें पुजारीवर्गकी

करते हो, क्या वह सचमुच अनादि है और वस्तुतः प्रकृतिका विधान है, अथवा क्या वह भी कालका अपरिपक्व परिणाम है तथा इस समय एक अत्यंत गलत परंपराका रूप धारण किये हुए है? और, जितना कुछ तुम कहते हो उसके बारेमें मैं पूछता हूँ कि क्या यह सब जगतके तथ्योंके साथ एवं औचित्यके विषयमें मेरी जो भावना है, सत्यके विषयमें मेरी जो मान्यता है तथा वास्तविकताके विषयमें मेरा जो अनुभव है उनके साथ मेल भी खाता है?" यदि यह मेल नहीं खाता तो वह विद्रोही व्यक्ति उस बंधनको उतार फेंकता है और सत्य जिस रूपमें उसको दिखायी देता है उस रूपमें ही उसकी घोषणा करता है और ऐसा करते हुए समाजकी तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाके मूलपर ही प्रहार करता है और संभवतः कुछ समयके लिये नैतिक व्यवस्थापर भी आघात करता है, क्योंकि वह सब व्यवस्था एक ऐसे प्रमाणपर आधारित होती है जिसे वह अमान्य करता है और ऐसी परंपरापर निर्भर होती है जिसका वह उन्मूलन करता है, यह किसी ऐसे सजीव सत्यके आधारपर स्थापित नहीं होती जो उसके घोषित सत्यका सफलतापूर्वक सामना कर सके। पुरानी व्यवस्थाके पक्षपाती ठीक ही करते हैं जब वे सामाजिक सुरक्षा, राजनीतिक व्यवस्था या धार्मिक परंपराके लिये उसे हानिकारक विनाशका दूत मानकर उसे दबानेका यत्न करते हैं; परंतु वह डटा रहता है इसके सिवाय वह कुछ और कर ही नहीं सकता, क्योंकि नाश करना, मिथ्याका विनाश और शक्तिके एक नवीन आधारको उन्मुक्त करना उसका लक्ष्य होता है।

परंतु किस व्यक्तिगत सामर्थ्य या मापदण्डके द्वारा नव-निर्माणका वह अग्रदूत अपने नवीन आधारकी तलाश करेगा अथवा अपनी नवीन मर्यादाओंकी स्थापना करेगा? प्रत्यक्ष ही वह समयकी उपलभ्य जागृतिपर तथा ज्ञानके उन संभव क्षेत्रोंपर निर्भर करेगा जिनतक उसकी अपनी पहुँच है। पहले-पहल यह नव-निर्माण धर्मके क्षेत्रमें व्यक्तिगत प्रबोधके द्वारा हुआ जिसे पश्चिममें एक धार्मिक सैद्धांतिक तर्कसे तथा पूर्वमें दार्शनिक तर्कसे पुष्टि मिली। समाज और राजनीतिमें इसका सूत्रपात प्राकृतिक अधिकार तथा न्यायके कुछ अपरिपक्व तथा असंस्कृत अनुभवसे हुआ। इसके मूलमें कई भाव काम कर रहे थे पीड़ित समाजका क्षोभ एवं आम अत्याचार, अनौचित्य तथा अन्यायके प्रति उज्जाग्रत भाव साथ ही यह धारणा भी कि वर्तमान व्यवस्थाको यदि विशेष अधिकारों तथा स्थापित परंपराओंके अतिरिक्त किसी अन्य कसौटीपर कसा जाय तो उसे किसी प्रकार भी उचित नहीं

ठहराया जा सकता। पहले-पहल तो धार्मिक भाव ही मुख्य प्रेरक था। सामाजिक तथा राजनीतिक हेतुको लेकर जो आरंभिक अव्यवस्थित और उग्र प्रयत्न किये गये थे उनके शीघ्र ही दवा दिये जानेपर वह हेतु मद्धिम पड़ गया और धार्मिक सुधारकी उथल-पुथलसे लाभ उठाते हुए उपकारक मित्रके रूपमें इसीका अनुगामी वना रहा। और जबतक आध्यात्मिक उत्साहकी यह बाढ़ शांत नहीं हो गयी तथा जिन ऐहिक शक्तियोंका इसने अपनी सहायताके लिये आह्वान किया था उनके प्रभावसे यह अपने मार्गसे स्वयं ही भटक नहीं गयी तबतकके लिये वह स्वयं नेतृत्व ग्रहण करनेके अवसरकी प्रतीक्षा करता रहा। यूरोपमें धार्मिक स्वतंत्रताके आंदोलनने ईश्वरप्रेरित शास्त्र, सच्चे ईसाई कर्मकाण्ड तथा धर्ममंदिर (चर्च) की व्यवस्थाके सच्चे आशयका निर्णय करनेके लिये व्यक्तिगत अनुभूति तथा प्रवुद्ध तर्कको पहले तो सीमित और बादमें सर्वोपरि अधिकार प्रदान कर अपना आधार-स्तंभ बनाया। धर्माधिकारी साधारण लोगोंको शास्त्रोंके वास्तविक ज्ञानसे वंचित रखना अपना अधिकार समझते थे और पवित्र निर्देशके स्थानपर कोई दूसरा स्थानापन्न सिद्धांत मढ़नेकी धृष्टता न करते हुए भी उसके अपने ही मनमाने अर्थ लगाकर उसे अपनी नैतिक सत्ताकी सहायतासे तथा शारीरिक हिंसाके द्वारा भी व्यक्तिके विद्रोही अंतःकरणमें बलात् ठूँसना अपना अधिकार समझते थे। इन धर्माधिकारियोंकी अनधिकार चेष्टाओं, मिथ्याचारों तथा क्रूरताओंके विरुद्ध भड़क रही विद्रोहाग्निकी प्रचण्डता ही इस आंदोलनकी माँगकी प्रवलताका मापदंड थी। इस विद्रोहने, जव यह कम गरम और नरम था, कई समझौते किये जिनके फलस्वरूप एपिस्कोपेलियन (Episcopalian) आदि संप्रदायोंका जन्म हुआ। अपने तीव्रतर भावमें इसने कैलविन-शैलीका पवित्रतावाद (Calvinistic Puritanism) उपस्थित किया और जब यह अत्युग्र हो गया तव तो व्यक्तिके निज विचार तथा भावनाने ही असंयत रूप धारण कर लिया और अनेवेप्टिस्ट (Anabaptist), स्वतंत्र (Independent), सोसिनियन (Socinian) तथा अनेक और संप्रदाय खड़े हो गये। पूर्वमें इस प्रकारका आंदोलन, समस्त राजनीतिक अथवा प्रबल विध्वंसकारी सामाजिक भावसे विलग होकर केवल कुछ धार्मिक सुधारकों तथा ज्ञानी महात्माओंको और उपयुक्त सांस्कृतिक तथा सामाजिक कर्मपद्धतियाँ लिये हुए कुछ नवीन मतोंको ही उत्पन्न करता परंतु पश्चिममें इसके अनिवार्य और पूर्वनियत परिणाम हुए नास्तिकवाद तथा ऐहिकवाद। पहले-पहल जव धर्मके परंपरागत रूपोंपर, आत्मा और परमात्माके वीचमें पुजारीवर्गकी

मध्यस्थतापर, शास्त्रके अधिकारके स्थानमें पोपके अधिकारकी स्थापनापर शंका की जाने लगी तो आगे चलकर स्वयं शास्त्रपर और फिर समस्त अति-प्राकृतिकवाद (Supernaturalism) पर, धार्मिक विश्वास एवं वहिरंग पद्धतियों तथा संस्थाओंके समान ही अतिबौद्धिक सत्यपर भी शंका की जानी अनिवार्य थी।

कारण, अंततः यूरोपके विकासमें धर्मसुधार (Reformation) की अपेक्षा पुनरुज्जीवन (Renascence) का हाथ अधिक था। 'धर्म-सुधार'में यहूदी मनोवृत्ति तथा धार्मिक, नैतिक प्रवृत्ति काम करती थी, उसकी अपेक्षा 'पुनरुज्जीवन'की प्राचीन यूनानी-रोमन मनोवृत्तिके शक्ति-शालीरूपमें पुनरागमनने इस विकासको अधिक उन्नति प्रदान की। पुनरुज्जीवनने यूरोपको एक ओर तो यूनानी मनकी उन्मुक्त कौतूहलकी वृत्ति, मूल सिद्धांतों तथा युक्तियुक्त नियमोंके लिये अपनी औत्सुक्यपूर्ण खोजकी प्रवृत्ति, प्रत्यक्ष निरीक्षणकी शक्ति तथा व्यक्तिगत तर्कके द्वारा जीवनके तथ्योंका अनुरागपूर्ण बौद्धिक पर्यवेक्षण पुनः प्रदान किये और दूसरी ओर रोमनजातिकी विशद व्यावहारिकता तथा पदार्थोंकी बलशाली उप-योगिता एवं न्याययुक्त सिद्धांतोंके अनुरूप जीवनको सुव्यवस्थित करनेकी बुद्धि प्रदान की। परंतु इन दोनों प्रवृत्तियोंका अनुसरण ऐसी अनुरक्ति, गंभीरता तथा नैतिक एवं धार्मिकप्राय निष्ठाके साथ किया गया जिसका प्राचीन यूनानी-रोमन मनोवृत्तिमें अभाव था और जो यूरोपको यहूदी-ईसाई अनुशासनके साथ अनेकों शताब्दियोंके दीर्घकालीन संबंधसे प्राप्त हुई थी। ये ही वे स्रोत थे जहाँसे पाश्चात्य समाजके व्यक्तिवादी युगने अंतमें व्यवस्था तथा नियंत्रणके उस सिद्धांतकी खोज की जिसकी समस्त मानव-समाजको आवश्यकता है और जिसे, अधिक प्राचीन युगोंमें, पहले-पहल सत्यके नियत प्रतीकोंको मूर्त्त रूप देकर और फिर नैतिक मर्यादा तथा अनुशासनके द्वारा और अंतमें अचूक अधिकार या रूढ़ परंपराओंके द्वारा उपलब्ध करनेका यत्न किया गया था।

यह तो स्पष्ट है कि किसी बाह्य आदर्श अथवा सत्यके किसी सर्वमान्य स्रोतके बिना व्यक्तिगत प्रकाश या मान्यताका अनियंत्रित उपयोग हमारी इस अपूर्ण मानवजातिके लिये एक संकटपूर्ण प्रयोग है। इसके द्वारा वस्तुओंके सत्यके उत्तरोत्तर अनावृत होनेकी अपेक्षा समाजकी विचारधारामें लगातार उतार-चढ़ाव तथा अव्यवस्थाकी संभावना अधिक है। इसी प्रकार व्यक्तिगत अधिकारों अथवा श्रेणीगत स्वार्थों तथा कामनाओंके लिये कठोर आग्रह के द्वारा सामाजिक न्यायकी प्राप्तिका यत्न भी लगातार

संघर्ष और क्रांतिका कारण बन जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वतंत्र जीवन यापन करने और अपने ही विचारों एवं कामनाओंको तृप्त करनेकी अपनी इच्छाको अतिशय महत्त्व देने लगता है, जिससे समाजके शरीरमें एक गहरी आकुलता अथवा तीव्र विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है। इसलिये मानवजातिके प्रत्येक व्यक्तिप्रधान युगके लिये दो परम आवश्यक बातोंकी खोज अनिवार्य है। इसे सत्यका एक ऐसा व्यापक आदर्श ढूँढ़ निकालना चाहिये जिसे सबकी व्यक्तिगत बुद्धि, किसी अन्यायपूर्ण सत्ताके भौतिक प्रतिबंध या बलपूर्वक आरोपके विना ही, आंतरिक प्रेरणावश स्वीकार कर ले। साथ ही सामाजिक व्यवस्थाके किसी ऐसे सिद्धांतपर भी पहुँचना होगा जिसकी स्थापना पदार्थोंके ऐसे सत्यके आधारपर हो जो सर्वत्र सर्वमान्य हो सके। एक ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जो कामनाओं और स्वार्थोंपर लगाम लगा सके। इसके लिये उसे कोई ऐसी बौद्धिक तथा नैतिक कसौटी तो निश्चित करनी ही होगी जिसपर पूरी उतरनेपर ही ये दोनों शक्तिशाली तथा भयंकर शक्तियाँ जीवनपर अपने अधिकार स्थापित करनेको उचित समझ सकें। यूरोपके प्रगतिशील राष्ट्र इस प्रकाश तथा विधानकी खोजमें निकल पड़े, अनुमानात्मक एवं वैज्ञानिक तर्क उनका साधन था और व्यावहारिक सामाजिक न्याय एवं यथार्थ उपयोगिताकी खोज उनके उत्साहका मूलमंत्र।

भौतिक विज्ञानके आविष्कारोंमें उन्होंने उस वस्तुको पा लिया और उत्साहके साथ उसको अपना भी लिया। उन्नीसवीं शताब्दीके यूरोपमें विज्ञानको जो सफल आधिपत्य तथा सर्वध्वंसी एवं अवाध विजय प्राप्त हुई उसका कारण यही था कि विज्ञानके द्वारा, कम-से-कम कुछ कालके लिये, पश्चिमी मनकी महती मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओंकी पूर्ति चरम रूपमें होने लगी थी। व्यक्तिप्रधान युगके इन दोनों परम अभिप्रेत तथ्योंकी खोजको भौतिक विज्ञान निर्दोष रूपसे पूरा करता हुआ प्रतीत होता था। यहाँ अंतमें उन्हें पदार्थोंका एक ऐसा सत्य मिल गया जो किसी संशयास्पद शास्त्र अथवा स्खलनशील मानव प्रमाणोंपर निर्भर नहीं था प्रत्युत प्रकृति-माताने स्वयं जिसे अपनी अनादि पुस्तकमें लिख रखा है; इस पुस्तकको वे सब जिनमें देखनेके लिये धैर्य है तथा सम्मति बनानेके लिये बौद्धिक सच्चाई है, पढ़ सकते हैं। यहाँ हमारे सम्मुख जगत और हमारी सत्ताके नियम, सिद्धांत तथा मौलिक तथ्य उपस्थित हैं जिन्हें सब कोई अपने लिये जब चाहें परख सकते हैं। इसलिये इससे उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्र विवेक-बुद्धिकी अवश्य ही संतुष्टि हो जानी चाहिये और उसे पथप्रदर्शन भी मिल

जाना चाहिये, साथ ही वाह्य दवाव तथा अस्थिर स्वेच्छाचारितासे भी छुटकारा मिल जाना चाहिये। ये नियम तथा तथ्य ऐसे हैं जो व्यक्तिके अधिकारों एवं इच्छाओंको उचित ठहराते हैं और साथ ही उनपर नियंत्रण भी रखते हैं। यह विज्ञान हमारे लिये ज्ञानका एक आदर्श, एक मानदंड प्रस्तुत करता है, जीवनके लिये युक्तिसंगत आधार देता है तथा व्यक्ति और जातिकी प्रगति एवं पूर्णताके लिये एक स्पष्ट रेखाचित्र एवं सर्वोत्तम साधन प्रदान करता है। ऐसे विज्ञानके द्वारा जो प्रमाणित किया जा सके तथा वस्तुओंके एक ऐसे विधान व सत्यके द्वारा, एक ऐसी व्यवस्था और सिद्धांतोंके द्वारा जिनका निरीक्षण तथा जिनके आधार एवं तथ्योंका परीक्षण सब कर सकें और इसीलिये जिनको सब स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर सकें एवं जो तर्कसंगत रीतिसे स्वीकार करने ही पड़े, मानवजीवनको नियंत्रित तथा संगठित करनेका यत्न करना ही यूरोपीय संस्कृतिकी चरम गति है। यही गति मानवसमाजके व्यक्तिप्रधान युगकी परिपूर्त्ति तथा विजयकी गति रही है। और, ऐसा प्रतीत होता रहा है कि यही संभवतः उसके अंतकी भी गति है और व्यक्तिवादकी मृत्यु तथा विस्मृतिका एवं पुराने स्मारकोंकी पंक्तिमें, भूतकी समाधिमें इसको गाड़ देनेका कारण भी यही है।

व्यक्तिगत स्वतंत्र विचारधाराने विश्व-जनीन नियमोंकी जो उपलब्धि की है उसमें व्यक्तिको एक गौण-सी उपज माना गया है और अनिवार्य रूपमें इन नियमोंके द्वारा वह नियंत्रित भी है। इस उपलब्धिका तथा मानवजातिके सामाजिक जीवनको सर्वथा इन नियमोंके यांत्रिक विधानके अनुसार नियंत्रित करनेके इस प्रयत्नका युक्तिसंगत परिणाम स्वयं उस व्यक्तिगत स्वतंत्रताका अपहरण हो जाना है जिसे आधार बनाकर ही यह उपलब्धि तथा यत्न संभव हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी सत्ताके सत्य तथा विधानकी खोजमें व्यक्तिको जिस सत्य तथा विधानकी उपलब्धि हुई है वह उसकी अपनी व्यक्तिगत सत्ताका तो बिलकुल ही नहीं है, प्रत्युत समुदायका, वर्गका, संघ एवं समूहका सत्य तथा विधान है। जिस परिणामकी ओर इसका संकेत है और जिसकी ओर अनिवार्य रूपसे हमें यह खींचे लिये जाता प्रतीत होता है वह एक कठोर आर्थिक अथवा शासनात्मक समाजवादके द्वारा समाजकी एक नवीन व्यवस्था है जिसमें व्यक्तिको उसके अपने हितमें तथा मानवताके हितमें उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रतासे पुनरपि वंचित कर दिया जायगा और जन्मसे लेकर वृद्धत्वपर्यंत हर पदपर तथा हर बातमें उसका समस्त जीवन तथा कर्म उसके लिये राज्यके सुव्यवस्थित

यंत्रके द्वारा निर्धारित* हुआ करेगा। इस अवस्थामें समाजकी पुरातन एशियाई अथवा प्राचीन भारतीय व्यवस्थाका भी, बहुत महत्त्वपूर्ण परिवर्तनोंके साथ, एक नवीन विचित्र-सा रूपांतर हमारे सम्मुख उपस्थित होगा। धार्मिक नैतिक अनुज्ञाके स्थानपर वैज्ञानिक तथा बौद्धिक अथवा प्रकृति-वादी लक्ष्य एवं नियम प्रतिष्ठित होगा, ब्राह्मण शास्त्रकारका स्थान विज्ञान-वेत्ता, व्यवस्थापक तथा आर्थिक विशेषज्ञ ले लेगा। स्वयं नियमका पालन करनेवाले और समाजकी अनुमति तथा सहायताके द्वारा सबको उनके लिये पूर्वनियत मार्गपर—'धर्म'के मार्गपर—बिना विचलित हुए चलनेके लिये बाध्य करनेवाले राजाके स्थानपर उसी प्रकार नियम आदि द्वारा परिचालित और शक्तिप्राप्त समुदायवादी राज्य स्थापित होगा। अपनी-अपनी शक्ति, अधिकारों तथा कर्तव्योंसे संपन्न वर्गोंकी धर्मशासनिक व्यवस्थाके स्थानपर शिक्षा तथा अवसरकी आधारभूत समानता स्थापित होगी जिसका आगे चलकर संभवतः यह परिणाम होगा कि सबके लिये कर्तव्य कुछ ऐसे विशेषज्ञों द्वारा निर्धारित किये जायेंगे जो हमारे विषयमें स्वयं हमारी अपेक्षा भी अधिक ज्ञान रखते होंगे और हमारे लिये गुणकर्मका चुनाव किया करेंगे। विवाह, संतानोत्पत्ति तथा बच्चेकी शिक्षा जैसे पहले शास्त्रों द्वारा नियत होते थे वैसे ही अब वे वैज्ञानिक राज्यके द्वारा निर्धारित हो सकेंगे। प्रत्येक व्यक्तिको सामूहिक शासनके अधिकारियों की देखरेखमें राज्यके लिये एक नियत, दीर्घ अवधिके लिये कार्य करना होगा और संभवतः इस अवधिके अंतमें एक मुक्तिका समय आयगा जो कार्य करनेके लिये नहीं होगा प्रत्युत विश्रामके लिये, आनंद लेनेके लिये तथा व्यक्तिगत रूपमें स्वकीय उन्नति करनेके लिये होगा, जो प्राचीन आर्योंके वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रमका काम देगा। इस प्रकारके समाजतंत्रकी कठोरता अपनेसे पहलेके एशियाई तंत्रकी कठोरतासे कहीं अधिक बढ़-चढ़कर होगी, क्योंकि वहाँ विद्रोहीके लिये, नवीन सुधारवादीके लिये कम-से-कम दो महत्त्वपूर्ण सुविधाएँ तो थीं; उसमें व्यक्तिके लिये समयसे पूर्व भी संन्यास ले सकने,

---

*सामाजिक विकासका इस प्रकारका एक अपूर्ण परंतु अत्युग्र प्रारंभ हमें तानाशाही इटली, नाजी जर्मनी तथा साम्यवादी रूसमें दृष्टिगोचर हो रहा है। अधिकसे अधिक राष्ट्रोंमें इस नवीन क्रमके आरंभको स्वीकार करनेकी प्रवृत्ति हो रही है। उधर इस नवीन अभिक्रमके प्रति पुरानी व्यवस्थाका प्रतिरोध क्रियात्मक न होकर अधिकतर निष्क्रिय ही है। इसमें उस प्रचंडताका, उस उत्साह तथा आत्म-विश्वासका अभाव है जो नव-निर्माणकारी विचारको अनुप्राणित करता है।

स्वतंत्र आध्यात्मिक जीवनके लिये सामाजिक जीवनका त्याग करनेकी स्वतंत्रता विद्यमान थी, साथ ही समुदायके लिये नवीन विचारधाराओंके अनुसार उपवर्ग बनानेकी छूट भी थी जिसके उदाहरण हमें सिक्ख तथा वैष्णव संप्रदायोंमें मिलते हैं। परंतु एक विशुद्ध आर्थिक अथवा कठोर वैज्ञानिक एवं एक सत्तात्मक समाजमें साधारण अवस्थाओंका ऐसा उग्र अतिक्रमण कभी सहन नहीं किया जा सकेगा। और यह भी स्पष्ट है कि शनैः-शनैः सामाजिक आचार तथा रीतियोंकी एक स्थिर प्रणाली वन जायगी तथा समाजवादी सिद्धांतकी एक ऐसी संस्था स्थापित हो जायगी जिनपर क्रियात्मक रूपमें तथा संभवतः बौद्धिक रूपमें भी संशय करनेकी अनुमति नहीं होगी, क्योंकि ऐसा करनेसे वह व्यवस्था शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो जायगी तथा उसकी जड़ें हिल जायंगी इस प्रकार विशुद्ध आर्थिक "गुणकर्म" के आधार पर एक नवीन आदर्श-प्रधान भूमिका (Typal order) की स्थापना हो जायगी और व्यक्तिगत स्वतंत्रताके अपहृत हो जाने के कारण यह भूमिका भी शीघ्र ही बुद्धिवादीय परंपराओंकी एक रूढ़िग्रस्त व्यवस्था वन जायगी। अंतमें विद्रोहके एक अभिनव व्यक्तिप्रधान यगके द्वारा तथा संभवतः चरम दार्शनिक अराजकताके सिद्धांतोंके नेतृत्वमें यह रूढ़िग्रस्त व्यवस्था भी अवश्य टूट-फूट जायगी।

दूसरी ओर ऐसी शक्तियाँ भी क्रियाशील हो रही हैं जो, ऐसा प्रतीत होता है, इस विकासक्रम को इसके इस भयंकर परिणतिपर पहुँचनेसे पूर्व ही कुंठित या परिवर्तित कर सकती हैं। प्रथम तो तर्कप्रधान और भौतिक विज्ञान अपनी सीमाएँ उल्लंघन कर चूके हैं; इसलिये अदूर भविष्यमें ही मनोवैज्ञानिक तथा आंतरात्मिक ज्ञानकी वढ़ती हुई वाढ़ इसे अभिभूत कर लेगी। ज्ञान मानवसत्ताके विषयमें अवश्य ही एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करेगा तथा मानवजातिके लिये एक नूतन क्षितिजका उद्‌घाटन करेगा। साथ ही-साथ तर्कयुग भी प्रकट रूपसे समाप्तिकी ओर अग्रसर हो रहा है। नये विचार संसारपर छा रहे हैं और अर्थपूर्ण शीघ्रताके साथ स्वीकार किये जा रहे हैं—ऐसे शक्तिशाली विचार जैसे नीटशे (Nictzsche) का जीवनेच्छा-सिद्धांत (will-to-live), वर्गसांका वुद्धिकी अपेक्षा अंतर्वोध (Intuition) को अधिक महत्त्व देना अथवा जर्मनीमें अतिबौद्धिक शक्तिको एवं सत्योंकी अतिवौद्धिक क्रमशृंखलाको मान्यता प्रदान करनेकी आधुनिकतम दार्शनिक प्रवृत्ति। ये विचार आर्थिक बुद्धिवादकी किसी भी अपरिपक्व आदर्शवादी व्यवस्थाके लिये अनिवार्य रूपसे विनाशक सिद्ध हो सकते हैं। मानवसमाजमें नवीन प्रकारकी धाराएँ कर्मके क्षेत्रमें क्रियाशील हो चली हैं जिनसे विश्वास होता है कि समाजके व्यक्तिप्रधान युगका स्थान किसी नवीन

आदर्शप्रधान व्यवस्थाको नहीं, प्रत्युत एक ऐसे अनुभवप्रधान युगको दिया जायगा जो सर्वथा एक भिन्न लक्ष्य की ओर ले जानेके लिये एक महान तथा महत्त्वपूर्ण मार्ग भी बन सकता है। यह संशय हो सकता है कि मानव-विकासक्रमके एक अभिनव युग की नव उषामें कहीं हम प्रवेश तो नहीं पा चुके हैं।

दूसरी बात यह है कि पश्चिमने अपनी सफल दिग्विजयमें सोये हुए पूर्वको जगा दिया है और उसके अंदर पश्चिमसे आये व्यक्तिवाद तथा समाजके पुराने परंपरावादी तत्त्वोंके बीच में एक नित्य बढ़ता हुआ संघर्ष छेड़ दिया है। यह परंपरावाद कहीं द्रुत गतिसे तो कहीं धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न हो रहा है, परंतु इसका स्थान पश्चिमी व्यक्तिवादसे सर्वथा भिन्न कोई नवीन वस्तु भी ले सकती है। कुछ व्यक्तियोंका तो यह मत है कि एशियामें भी यूरोपके तर्कयुगका, उसके संपूर्ण भौतिकवाद तथा ऐहिक व्यक्तिवादके सहित, पुनर्जन्म होगा, जब कि यूरोप स्वयं नवीन आचार तथा विचारोंकी ओर अग्रसर हो रहा है। परंतु इसकी किंचिन्मात्र भी संभावना नहीं है। प्रत्युत इसके विरुद्ध संकेत तो यह बतलाते हैं कि पूर्वमें व्यक्तिप्रधान युग न तो दीर्घकालीन होगा और न ही अपने स्वरूपमें मुख्य रूपसे तर्कप्रधान तथा ऐहिकवादी ही होगा। अतः, यदि पूर्व अपनी जागृतिके परिणामस्वरूप अपनी ही प्रेरणाके अनुसार चलता है और एक अभिनव सामाजिक प्रवृत्ति तथा संस्कृतिका विकास करता है तो इसका संसारकी सभ्यताकी दिशापर प्रचुर प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी है। अजाग्रत् पूर्वके ही विचारोंकी पहली प्रतिधाराका जो गंभीर असर यूरोप पर पड़ा है उसके आधारपर हम भविष्यके संभावित प्रभावका अनुमान सहज ही कर सकते हैं। वह प्रभाव जो कुछ भी हो, परंतु पश्चिमके मन तथा जीवनपर जिस यांत्रिक अर्थवादकी मनोवृत्तिने अभीतक अपना सिक्का जमा रखा है उसके अनुसार समाजके पुनर्व्यवस्थापनके पक्षमें तो वह नहीं होगा। पूर्वका प्रभाव तो प्रायः अनुभवप्रधान तथा व्यावहारिक अध्यात्मवादकी दिशामें ही होगा; प्राण एवं शरीर अपनी स्थूल भौतिक प्रकृतिमें हमें जिन शक्तिशाली, पर सीमित उद्देश्योंके सुझाव देते हैं उनसे सर्वथा भिन्न आदर्शोंकी सिद्धिके निमित्त अपनी भौतिक सत्ताको अधिकाधिक उद्घाटित करनेके लिये पूर्व हमें प्रेरित करेगा।

परंतु सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह हुई है कि यूरोपके व्यक्ति-प्रधान युगने व्यक्तिकी खोज करके भविष्यकी विचार-शक्तियोंमें दो परम शक्तिशाली विचार ऐसी दृढ़तासे स्थायी बना दिये हैं कि किसी भी अस्थायी

प्रतिक्रियाके द्वारा उनका सर्वथा उन्मूलन नहीं हो सकता। इनमेंसे प्रथम, जो अब व्यापक रूपमें स्वीकार किया जा चुका है, समाजके अंगोंके रूपमें सब व्यक्तियोंके अधिकारकी जनतंत्रात्मक धारणा है, जिसके अनुसार व्यक्ति पूर्ण-समृद्ध जीवनके तथा व्यक्तिगत रूपमें वे जिस परिमाणमें विकासके योग्य हैं उस विकासके पूर्णत: अधिकारी होते हैं। अब किसी ऐसी व्यवस्थाको एक आदर्शके रूपमें स्वीकार करना संभव नहीं रहा जिसके अनुसार समाजके कुछ वर्ग समस्त प्रगति तथा पूर्ण सामाजिक समृद्धिको अपने ही लिये सुरक्षित रख छोड़ें और दूसरोंके लिये एकमात्र सेवाका ही वंध्य कर्म नियत कर रखें। अब यह निश्चित रूपमें माना जाता है कि सामाजिक विकास तथा समृद्धिका अर्थ समाजके अंदर सब व्यक्तियोंका विकास और उनकी समृद्धि है न कि केवल समूहोंके रूपमें फलना-फूलना, जिसका परिणाम केवल एक या दो वर्गोंके बीचमें ही सत्ता एवं वैभवका वस्तुत: केंद्रित रहना होगा। इस विचारधाराको समस्त प्रगतिशील राष्ट्रोंने पूर्ण रूपसे स्वीकार कर लिया है और संसारकी समाजवादी प्रवृत्तिका यही आधार है, परंतु इसके अतिरिक्त एक और गंभीरतर सत्य भी है जिसे व्यक्तिवादने खोज निकाला है और वह यह है कि व्यक्ति एक सामाजिक इकाई ही नहीं है, उसकी सत्ता, जीवित रहने एवं समृद्ध बननेका उसका अधिकार तथा उसकी माँग केवल समाजमें उसके कार्य तथा उपयोगपर ही निर्भर नहीं है, वह केवल मानवसमूह, संघ अथवा समुदायका एक सदस्यमात्र नहीं है, प्रत्युत वह अपने-आपमें भी कुछ है, वह एक आत्मा है, एक सत्ता है जिसे अपना व्यक्तिगत सत्य एवं विधान सिद्ध करना है, साथ ही जिसे सामूहिक सत्ताके सत्य तथा विधानमें भी अपना स्वाभाविक तथा नियोजित भाग पूरा करना है।* वह अपनी आत्माके लिये और उस शक्तिशाली तथा अद्भुत वस्तु अर्थात् व्यक्तिगत विचार, संकल्प तथा अंत:करणके लिये, जिसपर समाज इतना अविश्वास करता है तथा भूतकालमें जिसे सर्वथा दबा देनेका अथवा विशुद्ध आध्यात्मिक क्षेत्रमें ही सीमित कर देनेका सदा प्रयास करता रहा है, स्वतंत्रता, विस्तार तथा क्रियाशीलता चाहता है। और, अंतमें यदि उसे

---

*नवीन व्यवस्था—फासिस्ट या कम्युनिस्ट—में इस सिद्धान्तको स्वीकार नहीं किया जाता। वहाँ तो व्यक्तिको समाजरूपी शरीरमें एक कोष्ठक अथवा परमाणुका स्थान देकर क्षुद्र बना दिया गया है। एक जर्मन लेखकका कथन है कि "मनुष्य एक व्यक्तिगत सत्ता है इस भ्रमपूर्ण दृष्टिकोणका हमने उन्मूलन कर दिया है। व्यक्तियोंके लिये कोई स्वतंत्रता नहीं है, स्वतंत्रता तो केवल राष्ट्रों या जातियोंके लिये ही होती है।"

अपनी सत्ताके इन अंगोंको विलीन ही करना है तो यह दूसरे लोगोंके आधिपत्यपूर्ण विचार, संकल्प तथा अंतःकरणमें नहीं प्रत्युत किसी ऊँची और परे की सत्तामें करना होगा जिसमें स्वयं उसको तथा अन्य सबको भी स्वतंत्र विकासके लिये सहायता तथा अवसर मिलेंगे। यह एक ऐसा विचार है जिसे यूरोपने बौद्धिक रूपमें स्वीकार किया है तथा पूर्ण बाह्य एवं तलीय महत्त्व प्रदान किया है, परंतु जो मूलमें एशियाकी गहनतम एवं उच्चतम आध्यात्मिक धारणाओंके साथ मेल खाता है एवं भविष्यका निर्माण करनेमें जिसे महत्त्वपूर्ण भाग लेना है।

तीसरा अध्याय

अनुभव-प्रधान युगका आगमन

मानवजातिके व्यक्तिप्रधान युगके विकासका स्वाभाविक लक्ष्य, प्रयास एवं औचित्य, उसका मनोवैज्ञानिक मूल कारण तथा उसकी समस्त प्रवृत्ति— ये सब जीवन, विचार और कर्मके ठोस सत्योंको दोबारा उपलब्ध करनेकी प्रबल आवश्यकता अनुभव करते हैं। इन सत्योंपर तब परंपराओंके उन मानदंडोंके मिथ्यात्वका परदा पड़ा होता है जब अपनी परंपराओंको जन्म देनेवाले सत्य विचारोंको वे भूल चुके होते हैं। पहले-पहल ऐसा प्रतीत होना स्वाभाविक है कि उन विचारोंके सत्यरूपी गूदेको परंपराके छिलकेसे, जिसमें वह बंद हो गया है, मुक्त करनेके लिये स्वयं उन मूल विचारोंके पास प्रकाशके लिये लौटकर जाना ही सबसे छोटा मार्ग है, परंतु इस मार्गमें एक अत्यंत व्यावहारिक बाधा है; अथच, एक और भी मार्ग है जो पदार्थोंके बहिरंग रूपसे परे जाता है और मानवसमाजमें आत्माके विकासके गंभीरतर सिद्धांतोंके अधिक निकट है। परंपराओंसे विरूपित पुरातन मूल विचारोंकी पुनरुपलब्धिमें यह एक व्यावहारिक दोष है कि कुछ समयके बाद इससे उन परंपराओंको पुनः शक्ति मिलने लगती है, जब कि काल-पुरुष उन परंपराओंका अतिक्रमण करके आगे बढ़नेमें यत्नशील रहता है, और यदि या जब सत्या-न्वेषणकी गंभीर प्रवृत्ति अपनी प्रेरणामें शिथिल होने लगती है, तो उस समय ये परंपराए अपना शासन पुनः स्थापित करनेके लिये यत्नशील भी हो सकती हैं। वे पुनर्जीवित हो उठती हैं, निःसंदेह परिशोधित रूपमें, परंतु अभी भी वे शक्तिशाली होती हैं। रूढ़ियोंकी एक नवीन परत जमनी आरंभ हो जाती है पदार्थोंके सत्यपर एक अधिक जटिल अनृतका आवरण पड़ने लगता है। और, यदि ऐसा न भी हो तो भी विकासशील मानवताको सदा अपनी पुरानी विचारधाराकी ओर लौट जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। उसे तो आवश्यकता है विशालतर संसिद्धिकी ओर प्रगति करनेकी, इसमें यदि पुरातन भाव लिये भी जायँ तो भी उन्हें रूपांतरित तथा अतिक्रांत तो करना ही होगा; कारण, वस्तुओंका आधारभूत सत्य सदा एकरस और अनादि होता है, परंतु उसके मानसिक रूप, उसके जीवनके रूप एवं उसकी भौतिक आकृतियाँ निरंतर विकास तथा परिवर्तनकी माँग करती रहती हैं।

यह सिद्धांत एवं आवश्यकता ही व्यक्तिवाद तथा बुद्धिवादके युगको उचित ठहराते हैं और क्रमविकासके वृत्तमें इसे अनिवार्य युगकी स्थिति प्रदान करते हैं, फिर वह युग चाहे कितना भी छोटा क्यों न हो। आलोचनात्मक तर्कका, जो अधिकांशमें अपने कार्यमें विध्वंसकारी होता है, अस्थायी आधिपत्य भी मानवजातिके विकासके लिये परम आवश्यक होता है। भारतवर्षमें राष्ट्रीय विचार तथा जीवनमें बौद्धकालीन महाक्रांतिसे लेकर अबतक आत्मा तथा जीवनके सत्यको पुन: आविष्कृत करने तथा प्राणघातक परंपराओंके परदेके पीछेतक पहुँचनेके लिये निरंतर पुन:-पुन: प्रयत्न होते रहे हैं, किंतु वे यत्न एक ऐसे विशाल तथा सहिष्णु आध्यात्मिक तर्कके द्वारा, एक नमनीय आत्मिक अंतर्बोध और गंभीर अनुभवात्मक अन्वेषणके द्वारा संपादित हुए हैं जो पर्याप्त उग्र और विनाशकारी नहीं थे। यद्यपि वे बड़े-बड़े आंदोलन आंतरिक और विशाल बाह्य परिवर्तनोंका कारण तो बने, परंतु प्रधानताप्राप्त परंपराओंके जुएसे मुक्त होनेमें वे कभी सफल नहीं हो पाये। विघटनात्मक एवं विध्वंसात्मक बौद्धिक आलोचनाके कार्यका उनमेंसे कुछ आंदोलनोंमें यद्यपि सर्वथा अभाव तो नहीं रहा, परंतु वह कभी बहुत आगे भी नहीं बढ़ पाया। विध्वंसकारक शक्तिसे अपर्याप्त सहायता-प्राप्त निर्माणकारक शक्ति अपने नव-निर्माणके लिये विस्तृत और विमुक्त क्षेत्र नहीं प्राप्त कर सकी। यूरोपीय प्रभाव तथा संपर्कके कालमें ही विचारों तथा पदार्थोंके मौलिक एवं प्रभावशाली पुनर्मूल्यनके नवीन युगका सूत्रपात करनेके लिये पर्याप्त शक्तिशाली परिस्थितियाँ एवं प्रवृत्तियाँ अस्तित्वमें आयीं। उन प्रभावोंकी स्वाभाविक विशिष्ट शक्ति सदा—अथवा कम-से-कम अभी निकट भूतकाल तक—बुद्धिवादी, उपयोगितावादी और व्यक्तिवादी रही है। उसने राष्ट्रके मनको प्रत्येक वस्तुको एक नवीन जिज्ञासापूर्ण एवं आलोचनात्मक दृष्टिकोणसे देखनेके लिये बाध्य किया है, और वे लोग भी, जो वर्तमानको 'स्थायी' बनाना चाहते हैं अथवा भूतकालको फिरसे लौटा लाना चाहते हैं, अचेतन अथवा अर्द्धचेतन रूपमें, इस नूतन दृष्टिकोण और इसके तर्कके समुचित मानदंडोंके अनुसार अपने प्रयत्नोंको उचित सिद्ध करनेके लिये बाध्य हुए हैं। समस्त पूर्वमें एशियाके अनुभवप्रधान मानसको जीवन तथा विचारके इन परिवर्तित मूल्योंकी आवश्यकताके अनुसार अपने-आपको ढाल लेनेके लिये बाध्य किया जा रहा है। पाश्चात्य ज्ञानके दबावसे तथा सर्वथा बदली हुई जीवन-आवश्यकता एवं जीवन-परिस्थितिके आग्रहके कारण पूर्व अपनी ओर मुड़कर देखनेके लिये बाध्य हुआ है। जो कार्य पूर्वने अपने अंतरकी प्रेरणा पाकर भी नहीं किया था वही अब उसे बाह्य

आवश्यकताके दबावके कारण बरबस करना पड़ा है। इस बाह्य प्रवृत्तिके साथ बहुत से लाभ जुड़े हुए हैं परंतु साथ ही इसमें बहुतसे संकट भी विद्यमान हैं।

अतः व्यक्तिका तथा संसारका, जिसका वह सदस्य है, सत्य एवं विधान खोज निकालनेके लिये यह व्यक्तिप्रधान युग मानवजातिका मौलिक प्रयास है। जैसा कि यूरोपमें हुआ, यहाँ भी इसका आरंभ, विशेषकर धर्मके क्षेत्रमें, उस मौलिक सत्यकी पुनः-प्राप्तिके यत्नके साथ होना संभव है जिसे परंपराने आच्छादित, विरूप अथवा विकृत कर दिया है। परंतु इसे उस प्रथमपगसे आगे अन्य सत्योंकी ओर बढ़ना है और अंतमें मानवजीवन और कर्मके समस्त क्षेत्रोंमें विचार और व्यवहारकी आधारशिलाओंका सामान्य अनुसंधान करना है। इसका अंतिम अनिवार्य परिणाम होगा धर्म, दर्शन, विज्ञान, कला और समाजका क्रांतिकारी पुनर्निर्माण। यह युग आरंभ में व्यक्तिके मन तथा बुद्धिके प्रकाशके तथा जीवनके प्रति उसकी मांग और जीवनसंबंधी उसके अनुभवके सहारे आगे बढ़ता है। परंतु इसे फिर व्यक्तिसे विश्वकी ओर आना होगा, क्योंकि अपने निजी प्रयत्नोंके फलस्वरूप व्यक्तिको शीघ्र ही पता चल जाता है कि अपनी सत्ताके विधान तथा सत्यके अबाध अन्वेषणके लिये पहले किसी ऐसे विश्वजनीन सिद्धांत तथा सत्यकी खोज कर लेनी आवश्यक है जिसके साथ वह व्यक्तिगत विधान एवं सत्यका समन्वय स्थापित कर सके। विश्वका वह एक अंग है, अपनी अंतरतम आत्माको छोड़कर शेष सत्तामें वह पूर्णतः विश्वके ही अधीन है। इस विशाल सुघटित पिण्डमें वह एक छोटा सा कोष्ठक (Cell) है। उसकी सत्ताका तत्त्व इसी विश्व-पिण्डसे लिया गया है और विश्वके जीवन-विधानके द्वारा ही उसके जीवन-विधानका नियंत्रण तथा निर्णय होता है। जगत्‌संबंधी एक नवीन दृष्टि तथा ज्ञानसे ही उसे अपनी सत्ता, शक्ति, सामर्थ्य एवं सीमाओंके. सत्ताके प्रति अपनी मांगके तथा अपनी वैयक्तिक एवं सामाजिक भवितव्यताके पथ और उसके सुदूर या तात्कालिक लक्ष्यके विषयमें नया दृष्किोण और ज्ञान प्राप्त होने चाहियें।

यूरोपमें तथा आधुनिक कालमें इसने एक स्पष्ट एवं शक्तिशाली भौतिक विज्ञानका स्वरूप धारण कर लिया है। इसकी प्रगति भौतिक विश्वके नियमोंके आविष्कारके द्वारा एवं मानवजीवनकी उन आर्थिक एवं समाज-विज्ञानसंबंधी अवस्थाओंके आधारपर हुई है जिनका निर्धारण मनुष्यकी भौतिक सत्ता, उसकी पारिपार्श्विक स्थितियों, उसके विकासात्मक इतिहास, उसकी शारीरिक, प्राणिक, वैयक्तिक एवं सामूहिक आवश्यकताके आधारपर

हुआ करता है। परंतु कुछ कालके पश्चात् यह अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक जगत्का ज्ञान ही संपूर्ण ज्ञान नहीं है। यह भी प्रतीत हो जाना आवश्यक है कि मनुष्य भौतिक और प्राणमय सत्ताके साथ-साथ मनोमय सत्ता भी है, यहाँ तक कि भौतिक या प्राणमयकी अपेक्षा वह आवश्यक रूपमें मनोमय अधिक है। यद्यपि उसकी चेतन सत्ता उसकी भौतिक सत्ता एवं परिस्थितियोंसे अत्यधिक प्रभावित एवं सीमित है परंतु अपने मूलमें वह उनके द्वारा निर्धारित नहीं होती, प्रत्युत वह उनके प्रति निरंतर प्रतिक्रिया करती है. गुप्त रूपमें उनकी क्रियायोंका निर्धारण करती है, और जीवनके प्रति अपनी मनोवैज्ञानिक मांगकी सामर्थ्यके द्वारा उनके नवनिर्माण पर प्रभाव तक डालती है। मानवजातिके मन और आत्मा तथा उसके प्राण और शरीरके बीचके आपसी संबंधके द्वारा उत्पन्न संभावनाओं, परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियोंके प्रति मनुष्यकी मनोवैज्ञानिक मांगके द्वारा ही उसकी आर्थिक अवस्था तथा सामाजिक संस्थाएँ शासित होती हैं। इसलिए उसे पदार्थोंके सत्यको और उस सत्यके संबंधसे अपनी सत्ताके विधानको खोज निकालनेके लिये अधिक गहरे जाना होगा और अपने तथा पदार्थोंके आभ्यंतरिक रहस्य एवं उनके बाह्य रूपों और परिस्थितियोंकी थाह लेनी होगी।

कुछ समयके लिये तो वह इस कार्यको उस आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक तर्कके बलपर करनेका यत्न कर सकता है जो अब तक उसका आधार है, परंतु अधिक समय तक नहीं। क्योंकि अपने तथा जगत् के अध्ययनमें वह अपनी आत्मा और जगत्की आत्माके साक्षात् संपर्कमें आये विना नहीं रह सकता और उसे पता लगता है कि वह सत्ता इतनी गहन, इतनी जटिल तथा गुप्त रहस्यों एवं शक्तियोंसे इतनी भरपूर है कि उसके सामने उसका बुद्धिजन्य तर्क एक अपर्याप्त प्रकाश तथा स्खलनशील जिज्ञासु है, क्योंकि वह केवल वस्तुओंके बाह्य तल तथा उसके ठीक नीचेके तलका ही सफल विश्लेषण करता है। अत: अब अधिक गहरा ज्ञान प्राप्त करनेकी आवश्यकता अवश्य ही उसे अपने अंदरकी नवीनशक्तियों एवं साधनोंकी खोजमें प्रवृत्त कर देती है। अब उसे पता लगता है कि वह आत्मालोचक बनकर नहीं प्रत्युत सक्रिय रूपमें आत्म-सचेतन होकर, अपनी आत्मामें अधिकाधिक निवास करते हुए तथा बाह्य तलपर ठोकरें खाकर नहीं वरन् अपनी आत्माके द्वारा ही कार्य करते हुए, उसकी अपनी बहिरंग मानसिकता और मनोविज्ञानके पीछे जो तत्त्व विद्यमान है उसके साथ सचेतन समस्वरता स्थापित करके, अपने तर्कको आलोकित करके तथा इस प्रकार जिस गंभीर-

तर प्रकाश तथा शक्तिके प्रति वह उद्घाटित हो रहा है उसके द्वारा अपने कर्मको शक्तिशाली बनाकर ही वह अपने-आपको पूर्णतः जान सकता है। इस प्रक्रियामें तर्कसम्मत आदर्श अंतर्बोधजन्य ज्ञान एवं गंभीरतर आत्मबोधके आदर्शका अनुगामी बनने लगता है; उपयोगितावादी आदर्श अपना स्थान आत्मचेतना तथा आत्मानुभूतिकी अभीप्साको दे देता है, भौतिक प्रकृतिके व्यक्त नियमोंके अनुसार जीवन यापन करनेके नियमका स्थान, जगत्के जीवनमें तथा मानवजातिके आंतर तथा बाह्यजीवनमें जो गुप्त विधान, संकल्प तथा शक्ति क्रियाशील हैं उनके अनुसार जीवन व्यतीत करनेका प्रयास ले लेता है।

ये सब प्रवृत्तियाँ अब व्यक्त रूपमें इस संसारमें विद्यमान हैं—यद्यपि ये हैं अभी भद्दे, आरंभिक एवं अल्प-विकसित रूपमें ही—और एक अर्थपूर्ण द्रुत गतिसे दिन-प्रतिदिन विकसित हो रही हैं। इनके आविर्भाव एवं व्यापक प्रभावका अर्थ मानव-विकासके युक्तिवादी एवं उपयोगितावादी युगसे, जिसे व्यक्तिवादने जन्म दिया है, समाजके एक महत्तर अनुभव-प्रधान युगकी ओर संक्रमण है। इस परिवर्तनका प्रारंभ चिंतनकी धाराओंको पुराने बौद्धिक आदर्शोंकी विरोधी विशाल और गंभीर गतियोंमें तीव्र वेगसे मोड़ देने तथा पुराने मापदडोंको तेजीसे तोड़फोड़ देनेकी क्रियाके साथ हुआ। उन्नीसवीं शताब्दीके भौतिकवादने प्रथम तो एक अद्भुत और गंभीर प्राणात्मवाद (Vitalism) को जन्म दिया जिसने जीवनके मूल और विधानके रूपमें प्रस्थापित नीट्शे (Nietzche) के अस्तित्वेच्छाके सिद्धांतसे लेकर नवीन नानात्ववादी एवं व्यवहारवादी दर्शनपर्यंत विविध स्वरूप धारण किये। वह दर्शन नानात्ववादी इसलिये है कि उसकी दृष्टि आत्माकी अपेक्षा कहीं अधिक जीवनपर केंद्रित है, व्यवहारवादी इसलिये कि वह सत्ताकी व्याख्या ज्ञान एवं ज्योतिकी अपेक्षा कहीं अधिक शक्ति एवं कर्मकी परिभाषामें करना चाहता है। विचारकी ये प्रवृत्तियाँ, जो कल तक विश्वयुद्ध*के छिड़नेसे पहले यूरोप, विशेषकर जर्मनी तथा फ्रांसके जीवन और विचारपर गंभीर प्रभाव रखती थीं, बुद्धिवादसे जीवन तथा कर्मकी ओर जानेके लिये उपरितलीय चेष्टाएँ ही नहीं थीं, यद्यपि स्थूलबुद्धि लोगोंके व्यवहारमें इन प्रवृत्तियोंको प्रायः ऐसा ही रूप मिल जाता था। ये विश्वकी जीवन-आत्माको गंभीरतापूर्वक जानने तथा उसके अनुसार जीवनको परिणत करनेके प्रयत्न थीं और अपनी शैलीमें गंभीर मनोवैज्ञानिक एवं अनुभवात्मक प्रवृत्ति रखती

* प्रथम विश्वयुद्ध।

थीं। उनके पीछेसे, पुराने तर्कात्मक बुद्धिवादके अमान्य हो जानेके कारण उत्पन्न रिक्तामेंसे, एक नवीन अंतर्बोधवादका उदय हो रहा था जिसे अभी अपनी गतिदिशा एवं अपने स्वभावका कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं था और जो जीवनके रूपों तथा शक्तियोंमेंसे उस वस्तुकी खोज कर रहा था जो जीवनके पीछे विद्यमान है और जो आत्माके बंद किवाड़ोंका कभी-कभी अनिश्चित-सा संस्पर्श भी प्राप्त कर लेती है।

संसारकी कला, संगीत एवं साहित्यमें भी, जो सदा ही युगकी प्राणिक प्रवृत्तियोंके निश्चित सूचक होते हैं, निरंतर गंभीरतर रूप धारण करते हुए अनुभववादकी दिशामें गंभीर क्रांति घटित हुई है। भूतकालकी महान् वस्तुवादी कला एवं साहित्यका नवीन युगके मनपर अब वह प्रभाव नहीं रह गया है। जिस प्रकार विचारमें उसी प्रकार साहित्यमें भी पहली प्रवृत्ति एक वृद्धिशील मनोवैज्ञानिक प्राणात्मवादकी थी जो मनुष्यकी भावमय, सौंदर्यमूलक एवं प्राणमय वासनाओं तथा कर्मोंसे उत्पन्न होकर उपरितलपर आती हुई अत्यंत सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक प्रेरणाओं एवं प्रवृत्तियोंके अंतरतम रूपका अभिव्यंजन करनेका यत्न करती थी। ये सब कृतियाँ बड़ी चतुराई एवं सूक्ष्म रीतिसे निर्मितकी गयी थीं, परंतु मनुष्यकी सत्ताके विधानके विषयमें किसी वास्तविक अंतर्दृष्टिसे सर्वथा रहित थीं, ये हमारे उन उपरि-तलीय भावों, संवेदनों एवं कर्मोंके उल्टी ओरके तलसे परे कभी नहीं गयीं जिनके सब अवयवोंका इन्होंने सूक्ष्म रीतिसे अधिक गहराईमें, पर बिना किसी विशाल वा गंभीर ज्ञानकी ज्योतिकी सहायताके विश्लेषण किया है। ये कृतियाँ संभवतः अपेक्षाकृत तात्कालिक रुपमें तो रोचक थीं, परंतु उस प्राचीन साहित्यकी अपेक्षा, जिसका अपने विषयपर कम-से-कम एक दृढ़ एवं विशाल और शक्तिशाली आधिपत्य तो था, कलाके रूपमें साधा-रणतः घटिया थीं। प्रायः इनमें जीवनके स्वास्थ्य एवं सामर्थ्यकी अपेक्षा जीवनकी व्याधिका ही वर्णन मिलता था अथवा आत्माभिव्यंजन एवं आत्म-स्वामित्वकी शक्तिकी अपेक्षा जीवनकी उग्र और अतएव अशक्त एवं अतृप्त वासनाओंकी उच्छृंखलता एवं विद्रोहका ही निरूपण होता था। इस आंदोलनने रूसमें अपनी चरम शक्तिका विकास किया। परंतु इधर इसका स्थान एक अधिक सच्ची मनोवैज्ञानिक कला, संगीत और साहित्यकी प्रवृत्ति-ने ले लिया जो प्राणमयकी अपेक्षा मनोमय, अंतर्बोधमय एवं आंतरात्मिक अधिक थी। बाह्य प्राणात्मवादसे यह वस्तुतः उतनी ही दूर चली गयी थी जितनी कि इससे पूर्ववर्ती प्रवृत्तियाँ भूतकालकी वस्तुवादी मनोमयतासे दूर चली गयी थीं। नवीन दार्शनिक अंतर्बोधवादके समान इस नवीन

आंदोलनका उद्देश्य भी अधिकतर वाह्य आवरणोंको वास्तविक रूपसे फाड़ फेंकना था, जो तत्त्व स्वयं प्रत्यक्षतया अभिव्यक्त नहीं होता उसको मानव-मनकी पकड़में लाना एवं पदार्थोंकी गुप्त आत्माका संस्पर्श तथा उसमें प्रवेश प्राप्त करना था। अधिकांशमें यह आंदोलन अभी निर्वल था, अपने लक्ष्य पर इसका अधिकार वास्तविक नही था एवं अपने रूपोंमें अभी यह अपूर्ण ही था। परंतु मानव-मनके अपने पुराने लंगरको छोड़ देनेकी ओर यह एक निश्चित आरंभिक पग अवश्य था, एवं अन्वेषणकी महत्त्वपूर्ण यात्रामें जिस दिशाकी ओर मनको ले जाया जा रहा है उसका निर्देशक भी था। यह अन्वेषण अंदरकी उस अभिनव सृष्टिका था जिसमें अंततः जीवन एवं समाज-के अंदर वाह्य रूपमें भी एक नवीन संसारका निर्माण होना है। कला और साहित्य भी, बौद्धिक एवं वस्तुवादी विधान एवं प्रकृतिसे हटकर, जिसे हम वस्तुओंका छिपा हुआ अंतर कह सकते हैं, उसमें अनुभवात्मक गवेषणा करनेकी ओर निश्चित प्रवृत्ति ग्रहण किये हुए प्रतीत होते हैं।

जीवनके व्यवहार-क्षेत्रमें कुछ ऐसी उन्नत एवं प्रगतिशील प्रवृत्तियां पहलेसे ही उत्पन्न हो गयी है जो इस गंभीरतर अनुभववादसे प्रेरणा प्राप्त करती हैं। निःसंदेह स्थायी रूपमें अभी कुछ भी संसिद्ध नहीं हो पाया है; सव कुछ अभी परीक्षणात्मक आरंभके रूपमें ही है; इस नवीन भावको मूर्त्त रूप देनेकी ओर यह सव कुछ अभी तो प्रारंभिक टटोलना ही है। संसार-की मुख्य कार्य-प्रवृत्तियां और अभी पिछले दिनोंकी महान् घटनाएं—यथा यूरोपमें राष्ट्रोंमें आपसकी भीषण टक्कर और इसकी पूर्ववर्ती एवं परवर्ती उनके अपने अंदरकी उथल-पुथल और परिवर्तन—पश्चिमकी पुरानी बुद्धिवादी एवं जड़वादी प्रवृत्तियों तथा नवीन परंतु अभी तक केवल वहिरंग रूपमें ही अनुभवात्मक तथा प्राणवादी प्रवृत्तियोंके बीचमें समझौतेके अव्यवस्थित अधूरे संघर्ष एवं अधूरे प्रयत्नका ही परिणाम थीं। इन अनुभवात्मक तथा प्राणवादी प्रवृत्तियोंको जो आत्माकी सच्ची अंतर्वुद्धिकी ज्योतिसे संपन्न नहीं थीं अनिवार्य रूपमें भौतिक एवं वौद्धिक प्रवृत्तियोंको अधिकृत करने एवं उन्हें जीवनके प्रति उनकी उच्छृंखल मांगकी तृप्तिके लिये उपयोगमें लानेको वाध्य होना पड़ा। संसार जीवनेच्छा और अधिकारेच्छाके भयंकर रूपसे परिपूर्ण संगठनकी ओर अग्रसर हो रहा था और यही वह प्रवृत्ति थी जो युद्धकी टक्करके रूपमें प्रकट हुई; इसने अपने लिये जीवनके नवीन रूप, जो इसके मुख्य भाव एवं लक्ष्यको अधिक भले प्रकार अभिव्यक्त करते हैं, या तो खोज लिये हैं या उन्हें खोज रहा है। झूठे ज्ञानसे युक्त इस प्राणमय चालक शक्तिका दासत्वपूर्ण बुद्धिकी महान् शक्ति तथा यंत्रके रूपमें उसके

वशवर्ती तर्करूप साधनके साथ भीषण संयोग हो जानेके कारण ही पिछले विश्व-संघर्षने आसुरी, यहां तक कि राक्षसी रूप धारण कर लिया था और एक सिद्ध जड़वादी विज्ञानकी प्रतिभाने उसके दानवका काम किया, जो उसके विशाल, अति स्थूल एवं निर्जीव चमत्कारोंका दानवी कर्ता था। इस प्रकारसे उत्पन्न विस्फोटक शक्तिका विस्फोट युद्धके रूपमें हुआ और यद्यपि इसके कारण संसार चारों ओर खंडहरोंसे आकीर्ण हो गया तथापि इसके पश्चाद्वर्ती परिणामोंने जहाँ एक विघटनकारी गड़वड़ अथवा कम-से-कम एक मर्मभेदी अव्यवस्थाको असंदिग्ध रूपमें जन्म दिया वहां इस विस्फोटको उत्पन्न करनेवाले भयंकर गठवंधनके अंतके लिये भूमि भी अवश्य तैयार कर दी, और इस लाभप्रद विनाशके द्वारा वे अव मानव-जीवनके क्षेत्रसे उन मुख्य-मुख्य वाधाओंको भी दूर कर रहे हैं जो उच्चतर लक्ष्यकी ओर उसके अधिक सच्चे विकासके मार्गमें वाधक हैं।

इस सवके पीछे मानवजातिकी आशा अव उन आरंभिक एवं अभी तक गौण प्रवृत्तियोंपर लगी हुई है जिनमें मनुष्यके अपनी सत्ताके प्रति, अपने साथी मनुष्योंके प्रति और अपने व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवनकी व्यवस्थाके प्रति एक नवीन अनुभवप्रधान एवं आंतरात्मिक व्यवहारके वीज विद्यमान हैं। युद्धसे पूर्वके युगमें वच्चेके शिक्षण और पालनसंवंधी जो नवीन विचार प्रवल रूपसे प्रचलित थे उनमें इन प्रवृत्तियोंका विशेष प्रभाव दिखायी देता है। पूर्वकालमें शिक्षा वच्चेकी प्रकृतिको शिक्षण एवं ज्ञानके मनमाने ढांचेमें वलात् यंत्रवत् ढालनामात्र थी, जिसमें वच्चेकी व्यक्तिगत आंतरिक प्रवृत्तियोंपर सवसे कम ध्यान दिया जाता था और परिवारमें उसके पालन-पोषणका अर्थ उसकी आदतों, उसके विचारों तथा उसके चरित्रकी स्वभावगत प्रवृत्तियोंको निरंतर दवाना तथा उन्हें परंपरागत धारणाओं अथवा शिक्षकों एवं मातापिताके वैयक्तिक हितों एवं आदर्शोंके अनुसार पूर्व-निश्चित ढाचोंमें अनिवार्य रूपसे ढालना था। यह आविष्कार कि वच्चेकी अपनी वौद्धिक एवं नैतिक शक्तियोंको उनकी संभवनीय उच्चतम योग्यता तक विकसित करना ही शिक्षाका स्वरूप होना चाहिये और वच्चे की प्रकृतिका मनोविज्ञान इसका आधार होना चाहिये एक अधिक अनुभवात्मक और इसीलिये एक अधिक स्वस्थ प्रणालीकी ओर पग वढ़ाना था; परंतु अभी भी इसमें एक त्रुटि थी, क्योंकि अभी भी इसमें वच्चेको एक ऐसी वस्तु समझा जाता था जिसे अपने हाथमें लेना और ढालना अर्थात् शिक्षित करना शिक्षकका कर्तव्य है। तो भी इस धारणामें कम-से-कम इस अनुभूतिकी एक झलक अवश्य विद्यमान थी कि प्रत्येक मानव एक स्वयं-

3

विकसनशील आत्मा है और माता-पिता एवं शिक्षक दोनोंका कार्य यही है कि वे बच्चेको इस योग्य बना दें और उसकी इस प्रकार सहायता करें कि वह स्वयं अपनेको शिक्षित कर सके, स्वयं अपनी बौद्धिक, नैतिक, सौंदर्यग्राहक एवं व्यावहारिक क्षमताओंको विकसित कर सके और एक सजीव सत्ताके रूपमें स्वतंत्रतापूर्वक संवर्द्धित हो सके, न कि उसे किसी जड़ लचीले पदार्थके समान गूँधकर तथा सांचेमें दबाकर किसी विशेष रूपमें ढाल दिया जाय। पर अभी तक न तो यह अनुभव द्वारा जाना गया है कि यह आत्मा क्या है, और न यह कि शिशु अथवा मनुष्यके संबंधमें सच्चे रहस्य की बात यह है कि अपनी अधिक गहरी आत्मा एवं अंदरकी वास्तविक अंतरात्म-सत्ताको प्राप्त करनेमें उसकी सहायता करनी चाहिये। यदि हम इस आंतरात्मिक सत्ताको कभी आगे आनेके लिये असवर दें और इससे भी बढ़कर यदि हम "यात्राके अग्रणी पुरोहितके रूपमें" अग्रभूमिकामें इसका आह्वान करें तो यह शिक्षाका हमारा बहुत-सा कार्य अपने हाथोंमें ले लेगी, मनकी उन निहित शक्तियोंकी उपलब्धिके लिये इसकी क्षमताका भी स्वयं विकास कर लेगी जिनके विषयमें जीवन और मानवसंबंधी हमारी आधुनिक यंत्रानुवर्ती दृष्टि और उनके साथ व्यवहार करनेकी हमारी बाह्य बंधी-बंधायी पद्धतियां हमें कोई अनुभव नहीं प्राप्त करने देतीं और न कोई धारणा ही बनाने देती हैं। शिक्षाकी ये नवीन प्रणालियां इस प्रकारके अधिक सच्चे व्यवहारकी ओर सीधे मार्गपर अग्रसर हैं। प्राणमय एवं भौतिक मानसिकताके परदेके पीछे आंतरात्मिक सत्ताके साथ घनिष्ठतर संपर्क स्थापित करनेके इस यत्नसे और आत्माकी शक्यताओंपर बढ़ती हुई निर्भरतासे हम इस अंतिम आविष्कारपर पहुंच जायंगे कि मनुष्य आंतरिक रूपमें एक आत्मा है एवं भगवान्‌की एक सचेतन शक्ति है, और यदि आत्मा अपनी सत्ताके गुप्त सत्य एवं गंभीरतम विधानको उपलब्ध करना तथा उसके अनुसार जीवन चलाना चाहती है तो अंदरके इस वास्तविक मानवका बाहरकी ओर आह्वान शिक्षाका तथा वस्तुतः समस्त मानवजीवनका सच्चा उद्देश्य होना चाहिये। यही वह ज्ञान था जिसे पुराने लोगोंने धार्मिक तथा सामाजिक प्रतीकवादके द्वारा अभिव्यक्त करनेका प्रयत्न किया था और उस विस्मृत ज्ञानकी ओर लौटनेका मार्ग है अनुभववाद। पहले मनुष्यकी आंतरिक अनुभूतिको गंभीर बनाकर और संभवतः मानवजातिमें अंतर्दृष्टि एवं आत्मज्ञानकी अभूतपूर्व परिमाणमें पुनः स्थापना करके अंतमें उसकी सामाजिक एवं सामूहिक आत्माभिव्यक्तिमें क्रांति उत्पन्न करना ही इसकी परिणति होगी।

इधर इस नवीन युगकी तैयारीमें यह नवजात अनुभववाद व्यक्तियोंके उन संबंधोंमें अथवा सामाजिक विकासकी उन प्रधान विचारधाराओं एवं प्रवृत्तियोंमें जो अभी तक अधिकांशमें बुद्धिवादी एवं जड़वादी हैं और गंभीर-तर अनुभवात्मक प्रवृत्तिका केवल अस्पष्ट सा ही संस्पर्श प्राप्त कर पायी हैं उतना नहीं प्रकट हो पाया, किंतु मनुष्यकी उस नवीन सामूहिक आत्म-चेतनामें, उसके जीवनके उस सुघटित समुदायमें जिसे उसने भूतकालमें सबसे अधिक दृढ़तापूर्वक विकसित किया है और जिसे हम राष्ट्र कहते हैं वह प्रकट हो गया है। इसी क्षेत्रमें, चाहे प्राणमय अनुभववादके रूपमें अथवा आंतरात्मिक अनुभववादके रूपमें, इसने शक्तिशाली परिणाम उत्पन्न करने आरंभ भी कर दिये हैं और इसी क्षेत्रमें इसकी वास्तविक दिशा एवं गति, इसकी न्यूनताएं, इसके खतरे एवं मानवताके अनुभव-प्रधान युगका सच्चा उद्देश्य और अवस्थाएं, इस युगमें प्रवेश प्राप्त करते हुए सामाजिक विकासक्रमकी विशाल क्रांतिका लक्ष्य—ये सब अत्यंत सुस्पष्ट रूपमें हमको दृष्टिगोचर होंगे।

चौथा अध्याय

राष्ट्र-आत्माकी खोज

स्व-विकासके लिये प्रयत्न करना व्यक्तिगत जीवनका मूल विधान एवं उद्देश्य है। चेतन रूपमें अथवा अर्द्धचेतन रूपमें अथवा अंधेकी टटोलके समान अज्ञानपूर्वक वह स्वनिर्माणके लिये अर्थात् अपने निजत्वको पा लेनेके लिये, अपने भीतर ही अपनी सत्ताके विधान एवं शक्तिकी खोज एवं इसकी परिपूर्त्ति करनेके लिये, सदा प्रयत्नशील रहता है और यह उचित भी है। उसका यह उद्देश्य मौलिक, उचित और अनिवार्य है, क्योंकि सब गुण-दोषोंको ध्यानमें रखते हुए और सब प्रतिवादोंके रहते हुए भी यह निश्चित है कि व्यक्ति केवल क्षणभंगुर शरीरधारी प्राणी ही नहीं है अर्थात् मन और शरीरका कोई ऐसा ढांचा नहीं है जो बनता और बिगड़ता रहता है, प्रत्युत वह एक सत्ता है, अनादि सत्यकी एक जीवंत शक्ति है, एक स्वाभिव्यक्तिशील आत्मा है। इसी प्रकार एक समाज, जाति अथवा राष्ट्र-का मूलभूत विधान एवं उद्देश्य भी अपनी परिपूर्त्तिकी खोज करना है। ठीक ही वह आत्मोपलब्धिके लिये यत्न करता है, अपने अंदर ही अपनी सत्ताके विधान एवं उसकी शक्तिको जानने, यथासंभव पूर्णताके साथ उसे चरितार्थ करने, उसकी संभाव्यताओंको सिद्ध करने एवं अपना ही आत्म-प्राकटचकारी जीवन व्यतीत करनेका यत्न करता है। कारण वही है, क्योंकि वह भी एक सत्ता है, अनादि सत्यकी एक सजीव शक्ति है, विराट् पुरुषकी एक आत्माभिव्यक्ति है और अपने ही अंदर विराजमान उसी विश्व-पुरुषके विशेष सत्य, सामर्थ्य एवं अभिप्रायको अपनी ही रीतिसे और अपनी ही योग्यताके परिमाणके अनुसार अभिव्यक्त करने एवं उसकी परिपूर्त्ति करनेके लिये वह यहां उपस्थित है। व्यक्तिके समान ही राष्ट्र अथवा समाजका भी शरीर होता है, एक सुघटित जीवन, एक नैतिक एवं सौंदर्य-ग्राही स्वभाव होता है और इन सब चिह्नों और शक्तियोंके पीछे एक विकसनशील मन एवं एक ऐसी आत्मा होती है जिसके लिये ही इनका अस्तित्व होता है। यह भी देखा जा सकता है कि वह व्यक्तिके समान मूलतः एक आत्मा है, यह नहीं कि उसकी एक आत्मा है। वह एक सामुदायिक आत्मा है जो एक बार पृथक् वैशिष्टच प्राप्त कर लेनेपर अधि-

काधिक सचेतन होती जायगी और जैसे-जैसे वह अपना सम्मिलित कार्य एवं मानसिक शक्ति और सुगठित आत्म-अभिव्यंजक जीवन विकसित करेगी वैसे-वैसे वह अपनेको उत्तरोत्तर पूर्ण रूपसे उपलब्ध करती जायगी।

व्यक्तिगत आत्मा और समुदाय-आत्माकी समानता उनके हर पहलूमें होती है, क्योंकि यह समानतासे अधिक है; यह स्वभावकी वास्तविक तदात्मता होती है। भेद केवल इतना है कि सामुदायिक-आत्मा बहुत अधिक जटिल होती है, क्योंकि उसकी भौतिक देहके अंगोंके रूपमें केवल प्राणमय अवचेतन कोष्ठकोंके संघातके स्थानपर आंशिक रूपमें चेतन मनोमय शक्तियोंकी बहुत बड़ी संख्या विद्यमान रहती है। इसी कारण वह जो-जो स्वरूप धारण करती है उनमें पहले-पहल वह अधिक अव्यवस्थित, बेडौल और कृत्रिम-सी प्रतीत होती है; क्योंकि उसके सम्मुख अधिक कठिन कार्य होता है, अपनी उपलब्धिके लिये उसे अधिक समयकी आवश्यकता होती है, वह तरल अधिक होती है और कठिनाई के साथ ही उसकी देहका गठन बन पाता है। अस्पष्ट रूपमें चेतन स्व-निर्माणकी अवस्थासे बाहर निकलनेमें जब वह समर्थ हो पाती है तब उसकी प्रथम निश्चित स्वचेतना अनुभवनिष्ठके स्थान-पर अधिकतर वस्तुनिष्ठ (objective) होती है और यदि कुछ सीमा तक अनुभवनिष्ठ होती भी है तो वह स्वभावत: ही उपरितलीय अथवा शिथिल एवं अस्पष्ट-सी होती है। यह वस्तुनिष्ठता राष्ट्रके उस सामान्य भावुकतापूर्ण विचारमें बड़ी प्रबलताके साथ प्रकट होती है जो इसके भौगोलिक, अत्यंत बाह्य और स्थूल रूपमें ही केंद्रित रहता है, जिस देशमें हम वास करते हैं उसके लिये, हमारे पूर्वजोंके देश, हमारे जन्मके देश, पितृ-भूमि, मातृभूमि, जन्मभूमिके लिये उत्कट प्रेम इसका उदाहरण है। जब हमें अनुभव होने लगता है कि भूमि तो देशका बाह्य आवरणमात्र है, यद्यपि वह सचमुच अत्यंत जीवंत आवरण है और राष्ट्रपर अपने प्रभावकी दृष्टिसे शक्तिशाली भी है, जब हम यह अनुभव करने लगते हैं कि इसकी सच्ची देह तो वे पुरुष और स्त्रियां हैं जो राष्ट्र-इकाईके निर्माता हैं और यह देह एक निरंतर परिवर्तनशील परंतु व्यक्तिकी देहके समान सदा वही रहनेवाली देह है तब हम एक सच्ची अनुभवात्मक सामुदायिक चेतनाकी ओर अग्रसर होते हैं। तभी हमारे लिये ऐसा अनुभव करनेकी संभावना उत्पन्न होती है कि समाजकी भौतिक सत्ता भी केवल एक स्थूल अस्तित्वमात्र नहीं प्रत्युत एक अनुभवात्मक शक्ति है। अपने आंतरिक रूपमें यह कहीं अधिक एक महान् समवाय-आत्मा है जिसमें आत्मिक जीवनकी संभावनाएं एवं विभीषिकाएं दोनों ही निहित हैं।

पश्चिममें मानवताके समस्त ऐतिहासिक कालपर समाजकी वस्तुनिष्ठ दृष्टिका ही साम्राज्य रहा है; पूर्वमें इसका पूर्ण आधिपत्य तो कभी नहीं हो पाया परंतु पर्याप्त रूपमें यह वहां शक्तिशाली अवश्य रही है। शासक, प्रजा और विचारक समान रूपसे अपने-अपने राष्ट्रीय अस्तित्वको एक राजनीतिक स्थिति, अपनी सीमाओंका विस्तार, अपने आर्थिक हित और फैलाव, अपने नियम, संस्थाएं और इन सबका कार्य-व्यापार मानते रहे हैं। यही कारण है कि बाह्य तल पर सब जगह राजनीतिक एवं आर्थिक उद्देश्योंकी ही प्रधानता रही है और इतिहास इन्हींके क्रिया-कलाप और प्रभावोंका लेखा रहा है। व्यक्ति ही एक इस प्रकारकी अनुभवात्मक और मनोवैज्ञानिक शक्ति रहा है जिसे ज्ञानपूर्वक स्वीकार किया गया है और जिससे इनकार नहीं किया जा सकता। यह प्रधानता इतनी अधिक मात्रामें रही है कि अधिकांश आधुनिक इतिहासवेत्ता और कुछ राजनीतिक विचारक इस परिणामपर पहुंचे हैं कि प्राकृतिक विधानके अनुसार बाह्य आवश्यकताएं ही वास्तविक निर्णायक शक्तियां हैं, शेष सब या तो इन शक्तियोंका परिणाम हैं अथवा इनकी आकस्मिक घटनाएं हैं। वैज्ञानिक इतिहासका स्वरूप तो कुछ इस प्रकारका माना जाता रहा है मानो वह राजनीतिक कार्योंके परिस्थितिगत उद्देश्योंका, आर्थिक शक्तियों एवं वृद्धि-विकासकी क्रीड़ा तथा संस्थाओंकी विकास-गतिका एक लेखा और मूल्यांकन हो। कुछ थोड़ेसे लोगोंने, जो मनोवैज्ञानिक तत्त्वको महत्त्व देते हैं, अपनी दृष्टि व्यक्तियोंपर ही केंद्रित रखी है और वे इतिहासको अधिकतर जीवन-चरित्रोंका एक संग्रह ही मानते हैं। भविष्यका अधिक सच्चा और अधिक विशाल विज्ञान यह जान लेगा कि ये सब अवस्थाएं राष्ट्रीय विकासके अपूर्ण-चेतन युगपर ही लागू होती हैं। उस समय भी एक महत्तर अनुभवात्मक शक्ति व्यक्तियों, संस्थाओंकी नीतियों, उनके आर्थिक आंदोलनों एवं परिवर्तनोंकी पृष्ठभूमिकामें सदा कार्य कर रही थी, परंतु अधिकांशमें इसका कार्य अवचेतन रूपमें जाग्रत् मनकी अपेक्षा हमारी प्रच्छन्न आत्माके रूपमें ही हो रहा था। जब समुदाय-आत्माकी अवचेतन शक्ति उपरितलपर आगे आती है तभी राष्ट्र अपने अंदरकी अनुभवात्मक सत्ताको अधिकृत करनेकी ओर अग्रसर होने लगते हैं, चाहे कितनी भी अस्पष्ट अथवा अपूर्ण रीतिसे ही क्यों न हो वे अपनी आत्माकी उपलब्धि करने लगते हैं।

निःसंदेह इस अनुभवात्मक सत्ताका एक अस्पष्ट-सा भाव सामुदायिक मानसिकताके बाह्य तलपर भी सदा काम करता रहता है। परंतु यह अस्पष्ट भाव जब कुछ स्पष्ट रूप धारण करने भी लगता है तो इसका

क्षेत्र प्रायः छोटी-छोटी अमुख्य बातों, राष्ट्रीय प्रवृत्तियोंकी निजी विशेषताओं, अभ्यासों, पक्षपातों एवं विशिष्ट मानसिक प्रवृत्तियों तक ही सीमित रहता है। यूं कहें कि अंदरकी अनुभवात्मकताका यह बाह्य वस्तु-आत्मक भाव होता है। जैसे मनुष्य अपने-आपको एक देह और प्राणके रूपमें कुछ नैतिक अथवा अनैतिक स्वभावसे युक्त भौतिक प्राणीके रूपमें ही देखनेका अभ्यासी है तथा मनकी वस्तुओंको अपने-आपमें ही कोई मौलिक वस्तु अथवा किसी मौलिक वस्तुका प्रतीक न मानकर उन्हें भौतिक जीवनके उत्कृष्ट पुष्प एवं अभिप्राप्ति मानता है, वैसे ही और उससे भी अधिक समुदाय भी अपनी अनुभवात्मक सत्ताके उस छोटेसे भागको, जिसका उसे ज्ञान हो जाता है, ऐसा ही मानता है। निश्चय ही समुदाय अपनी प्रकृतिकी निजी विशेषताओं, अभ्यासों एवं पक्षपातोंके साथ सदा चिपटा रहता है, परंतु अज्ञान-पूर्ण बाह्य भौतिक ढंगसे ही; वह उनके स्थूल रूपको ही अत्यधिक महत्त्व देता है और जिस तत्त्वके वे प्रतीक होते हैं तथा जिस वस्तुको वे अज्ञानपूर्ण रीतिसे अभिव्यक्त करनेका यत्न करते हैं उसमें वह कदापि प्रवेश नहीं कर पाता।

न केवल राष्ट्रोंमें ही अपितु सभी समुदायोंमें भी यही नियम लागू होता रहा है। चर्च एक संगठित धार्मिक समुदाय है और यदि जगत्की किसी भी वस्तुको अनुभवात्मक होना चाहिये तो धर्मको तो ऐसा होना ही चाहिये। क्योंकि जहां यह केवल अतिप्राकृतिक प्रामाण्यसे युक्त कोई नैतिक मत नहीं होता, वहां इसके अस्तित्वका कारण आत्माकी खोज और उपलब्धि ही होता है। परंतु इसके संस्थापकों और उनके तुरंत बादके उत्तराधिकारियोंके समयको छोड़कर लगभग समस्त धार्मिक इतिहासका रूप बाह्य वस्तुओं, बाह्य प्रथाओं, विधि-विधान, शास्त्र-प्रमाण, मंदिरोंके प्रशासन, मतों और मान्यताओंके स्वरूपोंपर ही बल देनेका रहा है। यूरोप-के धार्मिक इतिहासके समस्त बाह्य रूपको देखिये, वह विषमताओं, रक्त-रंजित वाद-विवादों, "धार्मिक" युद्धों, अत्याचारों, राज्यीय चर्चोंका और अन्य भी जो कुछ आध्यात्मिक जीवनका सर्वथा विरोधी है उस सबका विचित्र भ्रष्टाचारी दुःख-सुखमय एक नाटक है, अभी कुछ थोड़े समयसे ही लोगोंने गंभीरता-पूर्वक यह विचार करना आरंभ किया है कि ईसाई धर्म, कैथोलिक धर्म और इसलामका वास्तविक अर्थ और उनकी सच्ची आत्मा क्या है अर्थात् अपने वास्तविक रूप और मूलतत्वमें वे क्या हैं।

परंतु समुदाय-चेतनाकी यह नवीन मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति अब बड़ी द्रुत गतिसे, एक विशिष्ट रूपमें, उपरितलपर आती हुई दिखायी दे रही है। अब पहले तो हमें राष्ट्रकी आत्माकी चर्चा सुन पड़ती है, और इससे भी

अधिक हमारे उद्देश्यके अनुकूल यह है कि राष्ट्र सचमुच ही अपनी आत्माकी टटोल करते हुए, आत्माकी उपलब्धिका प्रयास करते हुए और सार्वजनीन जीवन एवं कर्ममें सचेतन रूपसे इसे क्रियाशील बनानेके लिये यत्न करते हुए प्रतीत होते हैं। यह तो स्वाभाविक ही है कि यह प्रवृत्ति अधिकतर नवीन राष्ट्रोंमें अथवा उन राष्ट्रोंमें जो राजनीतिक पराधीनता अथवा पराजयसे पीड़ित होते हुए भी अपने निजत्वकी उपलब्धिके लिये संघर्ष कर रहे हैं, अधिक बलशाली हों, क्योंकि ऐसे राष्ट्रोंको अपने तथा दूसरे राष्ट्रोंमें भेद का अनुभव करनेकी अधिक आवश्यकता है, ताकि उन्हें अपनेमें विलीन कर लेने अथवा उनका अस्तित्व ही मिटा देनेकी प्रवृत्ति रखनेवाले शक्तिशाली अतिजीवनके विरुद्ध वे अपने व्यक्तित्वको स्थापित कर सकें और उसका औचित्य ठहरा सकें। और ठीक इसीलिये कि उनका बाह्य जीवन निर्बल होता है और प्रतिकूल परिस्थितियोंमें केवल अपनी ही शक्तिसे उसकी पुष्टि करना कठिन होता है वे अधिकतर अपने व्यक्तित्व और निज-ख्यापनकी सामर्थ्यको उस वस्तुमें खोज सकते हैं जो अनुभवात्मक एवं मनोवैज्ञानिक हो अथवा कम-से-कम जिसका अनुभवात्मक अथवा मनोवैज्ञानिक महत्त्व हो।

अतएव इस प्रकारकी परिस्थितियोंमें पड़े हुए राष्ट्रोंमें आत्मोपलब्धिकी यह प्रवृत्ति अत्यंत बलशाली रही है तथा उनमेंसे कुछ में तो इस प्रवृत्तिने एक नवीन प्रकारके राष्ट्रीय आंदोलनकी सृष्टि भी की है, जैसा कि आयर्लैण्ड तथा भारतमें हुआ है। बंगालके स्वदेशी-आंदोलनका मूल उद्देश्य इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं था, इसी प्रकार आयरिश आंदोलनकी भी उसकी आरंभिक अवस्थामें, जब तक उसने पूरी तरहसे शुद्ध राजनीतिक रूप धारण नहीं किया था, मूल वृत्ति यही थी। भारतमें बंगालके एक उपराष्ट्रके रूपमें उदय होनेकी गति संपूर्णतया और प्रबल रूपमें अनुभवात्मक थी और बादके घटनाक्रममें तो इसने अत्यंत सचेतन रूपमें यह अनुभवात्मक रूप धारण कर लिया था। बंगालके 1905 के आंदोलनने न केवल एक देशके रूपमें अपितु एक आत्माके रूपमें, एक मनोवैज्ञानिक, लगभग आध्यात्मिक सत्ताके रूपमें राष्ट्रविषयक सर्वथा नवीन भावनाका अनुसरण किया। अपने आर्थिक एवं राजनीतिक उद्देश्योंसे काम करते हुए भी उसने इन्हें अनुभवात्मक भावनाके द्वारा शक्तिशाली बनानेका यत्न किया और इन्हें अपने-आपमें लक्ष्य मान लेनेके स्थानपर आत्माभिव्यंजनका साधन बनानेका यत्न किया। परंतु फिर भी हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि अपनी आरंभिक अवस्थाओंमें इन आंदोलनोंने अपनी तलीय विचारधारामें बाह्य एवं अधिकतर राजनीतिक स्वचेतनाके पुराने उद्देश्योंका ही अनुसरण किया।

निःसंदेह पश्चिमकी अपेक्षा पूर्व सदा अनुभवप्रधान अधिक रहा है और ईरान, भारत अथवा चीनके राजनीतिक आंदोलनोंमें, यहाँ तक कि जापानके पुनरुत्थानके अत्यंत अनुकरणात्मक आंदोलनमें भी हमें यह अनुभवात्मक रंग दृष्टिकोचर होता है। परंतु यह अनुभववाद अभी पिछले कुछ समयसे ही स्वचेतन बना है। इससे हम इस निर्णयपर पहुँच सकते हैं कि कुछ राष्ट्रोंके द्वारा ज्ञानपूर्वक एवं इच्छापूर्वक प्रयुक्त यह अनुभववाद मानवतामें एक व्यापक परिवर्तनका चिह्न एवं पूर्वगामी निर्देशमात्र रहा है तथा स्थानीय परिस्थितियोंसे इसकी प्रगतिमें सहायता भी प्राप्त होती रही है, परंतु यह इनपर न तो निर्भर रहा है और न किसी रूपमें यह उनकी उपज ही है।

यह व्यापक परिवर्तन एक असंदिग्ध तथ्य है। इस युगमें राष्ट्रीय एवं सामुदायिक जीवनकी प्रवृत्तियोंका यह एक मुख्य व्यापार है। जिस भावनाको आयर्लैंड तथा भारतने सबसे पहले अपने 'निजत्वकी उपलब्धि'का निश्चित रूप प्रदान किया था,—जो उपलब्धि भूतकालके पराधीन अथवा विपत्तिग्रस्त राष्ट्रोंकी दूसरोंके समान हो जानेकी प्रेरणा तथा आकांक्षासे इतनी भिन्न है,—वह अब राष्ट्रीय जीवनका अधिकाधिक व्यापकरूपमें स्वीकृत लक्ष्य बन रही है। इससे बड़े-बड़े खतरों और भयंकर भूलोंके लिये मार्ग तो अवश्य खुल जाता है, परंतु आज 'काल-पुरुष'की मानवजातिसे जो यह मांग है कि इसे न केवल व्यक्तिमें, अपितु राष्ट्रमें और स्वयं समूची मानवजातिकी एकतामें भी अपनी गभीरतर सत्ताको, अपने अंतरतम विधानको, अपनी वास्तविक आत्माको, अनुभवात्मक रीतिसे ही उपलब्ध करना होगा और कृत्रिम मानदंडोंका परित्याग करके उसके अनुसार ही जीवन बनाना होगा, उसकी यह आवश्यक आधारभूमि है। युद्धसे पहले सब जगह यह प्रवृत्ति अपनी तैयारी कर रही थी और आंशिक रूपमें उपरितल पर प्रकट भी होने लगी थी, परंतु जैसा हमने ऊपर कहा है, यह प्रक्रिया अधिक व्यक्त रूपमें जर्मनी जैसे नये राष्ट्रोंमें अथवा आयर्लैण्ड तथा भारत जैसे पराधीन राष्ट्रोंमें चल रही थी। युद्धके झटकेने अपने आरंभसे ही तुरंत तथा कुछ कालके लिये उग्र सैनिक रूपमें—इसी गंभीर-तर आत्म-चेतनाको सर्वत्र जन्म दे दिया। आरंभिक अवस्थामें उसके अभिव्यक्त भाव अधिकांश रूपमें अत्यंत भद्दे और प्रायः वास्तविक रूपमें बर्बर तथा प्रतिक्रियात्मक स्थूलताका नमूना थे, विशेषकर इसमें ट्यूटानिक पतनकी पुनरावृत्तिकी प्रवृत्ति विद्यमान थी। यह केवल 'स्वचे-तन' होनेकी तैयारी ही नहीं थी, जो कि सर्वथा उचित है, अपितु यह केवल अपने ही लिये और निजत्वके अंदर केंद्रित रहनेकी प्रवृत्ति थी,

जिसको यदि एक विशेष सीमासे बाहर ले जाया जाय तो वह एक विनाशकारी भूल बन जाती है। कारण, यदि मानवजातिके अनुभवप्रधान युगको सर्वोत्तम फल उत्पन्न करने हैं तो यह आवश्यक है कि राष्ट्र न केवल अपनी आत्माके विषयमें ही सचेतन हों, अपितु एक-दूसरेकी आत्माके विषयमें भी सचेतन हों; उन्हें न केवल आर्थिक एवं बौद्धिक रूपमें ही, अपितु अनुभवात्मक तथा आध्यात्मिक रूपमें भी एक दूसरेका सम्मान करना, परस्पर सहायता करना एवं लाभ उठाना सीखना चाहिये।

जर्मनीका उदाहरण और आक्रमण एक महान् निर्णायक शक्ति रहा है; उदाहरण इसलिये कि कोई भी दूसरा राष्ट्र इतने सचेतन रूपसे, इस प्रकार विधिपूर्वक, इतनी बुद्धिमत्ताके साथ तथा बाह्य दृष्टिकोणसे इतनी सफलतापूर्वक अपनेको उपलब्ध करने, शक्तिशाली बनाने, अपने स्वके अनुसार जीवन-निर्माण करने और अपनी सत्ताकी सामर्थ्यसे अधिक-से-अधिक लाभ उठानेका यत्न नहीं कर पाया है; उसका आक्रमण इसलिये कि स्वयं इसके आक्रमणका स्वरूप एवं उसके घोषित आदर्श इस प्रकारके थे जो आक्रांत राष्ट्रोंमें स्व-रक्षणकी स्वचेतना जाग्रत् कर देनकी प्रवृत्ति रखते थे और आक्रमणकारीकी इस अद्भुत शक्तिका स्रोत क्या है इसका बोध प्राप्त करनेके लिये उन्हें बाध्य कर देते थे और यह प्रतीति भी करवा देते थे कि अनुरूप शक्ति प्राप्त करनेके लिये उन्हें भी उन्हीं गंभीरतर स्रोतोंमें ज्ञानपूर्वक खोज करनी चाहिये। अनुभवप्रधान भूमिकाके लिये तैयारी करते हुए राष्ट्रका यह अत्यंत अद्भुत उदाहरण इस समय जर्मनीके रूपमें हमारे सामने था, क्योंकि प्रथम तो उसको एक विशेष प्रकारकी दृष्टि प्राप्त थी—यद्यपि यह दृष्टि दुर्भाग्यसे अंतर्ज्योतिसे युक्त न होकर बौद्धिक थी—तथा उस दृष्टिका अनुसरण करनेका साहस भी उसमें था—यहाँ भी दुर्भाग्यवश आध्यात्मिक साहसकी दृढ़ता न होकर केवल प्राणमय और बौद्धिक 'साहस' ही था,—और दूसरे, वह अपने भाग्यका स्वामी था, अतः निज दृष्टिको क्रियात्मक रूपमें परिणत करनेके लिये अपने जीवनकी व्यवस्था करनेकी सामर्थ्य रखता था। बाह्य रूपोंमें भटककर हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि जर्मनीकी शक्तिका निर्माता बिस्मार्क था अथवा उसका संचालक कैसर विल्हैल्म द्वितीय था। बल्कि इस बढ़ते हुए राष्ट्रके लिये बिस्मार्कका आगमन तो कई प्रकारसे दुर्भाग्यका ही कारण बना, क्योंकि उसके कठोर और बलशाली हाथने जर्मनीकी अनुभवात्मकताको उचित समयसे बहुत पहले ही आकार धारण करने और कर्मक्षेत्रमें कूद पड़नेके लिये बाध्य कर दिया। यदि अंतःचेतना और परिपक्वताके लिये जर्मनीको और अधिक लंबा समय मिल

जाता तो चाहे वह मानवताके लिये संभवतः इतना प्रेरणाप्रद सिद्ध न होता परंतु अपने-आप तो इतने विनाशकारी परिणामोंसे बच ही जाता। इस महान् अनुभवात्मक शक्तिका, जिसको बाह्य कर्ममें इतना विकृत कर दिया गया था, वास्तविक स्रोत वस्तुतः जर्मनीके राजनीतिज्ञों अथवा सैनिकोंमें नहीं था—जो अधिकांशमें प्रायः निम्न कोटिके ही मनुष्य थे—प्रत्युत उसके महान् दार्शनिकों, कांट, हीगल, फिख्टे, नीटशे, उसके महान् विचारक और कवि गेटे, उसके महान् संगीतज्ञ बीथोवन तथा वाग्नेरमें तथा उस जर्मन आत्मा एवं स्वभावकी सभी विशिष्टताओंमें था जिसके वे प्रतिनिधि थे। जिस राष्ट्रकी सर्वोपरि संसिद्धि प्रायः पूर्ण रूपसे दर्शन और संगीतके दो क्षेत्रोंमें ही रही हो, अनुभववादकी प्रवृत्तिमें उसका नेतृत्व एवं अनुभवप्रधान युगके आरंभोंपर उसका गहरा प्रभाव—अच्छा अथवा बुरा—पड़ना स्पष्ट ही पूर्वनिश्चित था।

जर्मनीके पूर्व-निर्धारित भाग्यका यह एक पहलू था, दूसरा उसके विद्वानों, शिक्षा-शास्त्रियों, वैज्ञानिकों तथा व्यवस्थापकोंमें मिलेगा। यह था उद्योग, सच्चा परिश्रम, विचारोंके प्रति निष्ठा तथा कर्मके लिये सच्ची एवं परिश्रम शील भावना जिसके लिये यह राष्ट्र चिरकालसे विख्यात रहा है। किसी जातिको अनुभवात्मक शक्तियोंका चाहे कितना भी अधिक उच्च प्रसाद प्राप्त हो परंतु मनुष्यकी जटिल प्रकृतिके निम्न भागके विकासकी यदि वह उपेक्षा करती है तो वह विचार एवं कल्पना और तथ्योंकी दुनियाके बीच-में, दृष्टि (vision) और शक्तिके बीचमें उस सेतुका निर्माण करनेमें असमर्थ रहेगी जो समस्त सिद्धिको संभव बनाता है; उसकी उच्चतर शक्तियां संसारके लिये आनंद एवं प्रेरणाका कारण बन सकती हैं परंतु जब तक वह निम्नतर पाठका पारायण नहीं करती तब तक वह अपने जगत्को कभी अधिकृत नहीं कर सकती। जर्मनीमें वह सेतु विद्यमान था परंतु अधिकांश-में वह एक अंधकारपूर्ण गुफामेंसे गुजरता था जिसके नीचे एक खाई विद्य-मान थी, क्योंकि विचारकों तथा संगीतज्ञोंके अनुभवात्मक मनसे विद्वानों तथा व्यवस्थापकोंके वस्तुवादी मन तक शुद्ध धाराका प्रवाह नहीं पहुंच पाता था। नीट्शेकी शिक्षाओंका राष्ट्रीय तक अंतर्राष्ट्रीय कार्योंमें ट्राईटश-के (Treitschke) के द्वारा दुरुपयोग, जो कि उस दार्शनिकके लिये भी अत्यंत दुःखका कारण बनता, इस दूषित भाव-संप्रेषणका एक उदाहरण है। परंतु भाव-संप्रेषण तो हो ही रहा था। अर्ध-शताब्दीसे अधिक काल तक जर्मनी अपनी सत्ताके एवं सृष्टिके सत्यकी खोज करनेके लिये अपने अंदर, पदार्थोंमें तथा विचारोंपर, अंतर्निरीक्षणकी गंभीर दृष्टि डालता

रहा और जो कुछ वह प्राप्त कर चुका था अथवा वह समझता था कि उसने प्राप्त कर लिया है उसको व्यवस्थित करनेके बाह्य साधनोंकी ओर एक अर्द्ध शताब्दी भर वैज्ञानिक खोजकी धैर्यपूर्ण आंखें लगाये बैठा रहा। परिणामस्वरूप कुछ काम तो हुआ ही, कुछ काम तो वस्तुतः शक्तिशाली एवं विशाल रूपमें भी हुआ, किंतु कुछ दिशाओंमें, यद्यपि सब दिशाओंमें नहीं, कार्य कुरूप तथा क्षोभजनक-सा हुआ। दुर्भाग्यवश कर्मकी ये दिशाएं ठीक वही मुख्य पद्धतियां थीं जिनमें भूल करनेका परिणाम अपने लक्ष्यको ही खो बैठना होता है।

यह तो कहा ही जा सकता है कि जो कुछ कार्य संपन्न हुआ उसका अंतिम परिणाम,—युद्ध, विनाश, कठोर सशस्त्र आक्रांता और बीभत्स नाजी राज्यके प्रति भयंकर प्रतिक्रिया—न केवल पर्याप्त रूपमें निराशाजनक है अपितु इस मार्गको त्याग देने और अधिक पुराने एवं सुरक्षित मार्गोंको अपनानेके लिये स्पष्ट रूपसे चेतावनी-स्वरूप भी है। परंतु बड़ी-बड़ी शक्तियोंका दुरुपयोग उनके सदुपयोगके विरुद्ध कोई युक्ति नहीं हो सकता। पीछे की ओर लौटना तो असंभव होता है, वस्तुतः यह प्रयत्न ही सदा भ्रममूलक सिद्ध होता है। हम सबको भी वही करना है जिसके लिये जर्मनीने यत्न किया है, परंतु यह ध्यान रखना है कि हमें उस ढंगसे नहीं करना है जिस ढंगसे जर्मनीमें किया गया था। अतः यह जाननेके लिये कि यह असफलता क्यों हुई और कहां हुई, हमें युद्ध-भूमिके रक्तरंजित कुहरे तथा धूम्रमय अंधकारपूर्ण किंकर्तव्य-विमूढ़ता एवं अस्त-व्यस्ततासे परे, जो इस समय संसारको भयभीत किये हुए हैं, दूर तक दृष्टि डालनी है, क्योंकि यह असफलता तो उसके कार्योंने जो दिशा ग्रहण की उससे प्रकट होने लगी थी और इसने कुछ समयके लिये पूर्ण विनाशका ही रूप धारण कर लिया था, केवल सत्यकी खोज करनेवाले निष्पक्ष विचारकको तो यह पहले से ही स्पष्ट दिखायी दे रही थी। उसको भी उसी विपत्तिका सामना करना पड़ा जिसका कभी-कभी योगमार्गके, सचेतन आत्मान्वेषणकी कलाके—एक ऐसे मार्गके जिसमें साधारण मनुष्यपर सामान्यतः आनेवाली आपत्तियोंसे कहीं कधिक आपत्तियोंके अभिक्रमका भय रहता है—जिज्ञासुको तब सामना करना पड़ता है जब कि वह एक झूठे प्रकाशका अनुसरण करके अपना आध्यात्मिक विनाश कर बैठता है। उसने भूलसे अपने प्राणमय अहंकारको ही अपना-आप समझ लिया था, उसने खोज तो अपनी आत्माकी की परंतु प्राप्त वह केवल अपनी प्राण-शक्ति ही कर सका। कारण, असुरके समान उसने यह कहा कि "मेरा शरीर, मेरा प्राण, मेरा मन, मेरा स्वभाव

ही मैं हूं", और आसुरिक बलके साथ इनसे चिपट गया। उसने विशेषकर यह घोषित किया कि "मेरा प्राण और शरीर ही मैं हूं"। किसी भी मनुष्य अथवा राष्ट्रके लिये इससे बड़ी भूल और कोई नहीं हो सकती। मनुष्य या राष्ट्रकी आत्मा इससे अधिक कुछ है, इससे अधिक दिव्य वस्तु है, वह अपने यंत्रोंकी अपेक्षा अधिक महान् है और किसी भौतिक, प्राणमय, मनोमय अथवा स्वभावात्मक ढांचेमें उसे कैद नहीं रखा जा सकता। अतः, इस आत्माको किसी ढांचेमें—चाहे फिर वह झूठा सामाजिक ढांचा, बृहत्काय सामूहिक मानव डिनोसोरस (dinosaurus) के कवचमय दृढ़ सामाजिक शरीरके समान ही क्यों न हो—कैद रखनेका परिणाम यही हो सकता है कि आंतरिक सत्य सत्ताके विकासमें बाधा पड़ जायगी और अन्तमें वह क्षय या विनाश घटित होगा जो उन सब चीजोंको जो नमनशील और अनुकूलनीय नहीं है आक्रांत कर देता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि अनुभववाद भी सच्चा और झूठा दो प्रकारका होता है और अनुभवात्मक प्रवृत्ति जिन भूलोंका शिकार बन सकती है वे भी उतनी ही बड़ी होती हैं जितनी बड़ी कि उसकी संभावनाएं; वे बड़ी-बड़ी आपदाओंका अवसर बन सकती हैं। यदि मानवजातिके लिये सामाजिक विकासकी इस अनुभवप्रधान अवस्थाके मार्गको सुरक्षित बनाना है तो इस भेदको स्पष्ट रूपमें समझ लेना परमावश्यक है।

पाचवाँ अध्याय

सच्चा और झूठा अनुभववाद

मानव-विकासमें अनुभव-प्रधान अवस्था एक ऐसी मार्मिक अवस्था है जब जाति प्रतीकों, आदर्शों और परंपराओंसे आगे बढ़कर वैयक्तिक सत्तापर तलीय रूपमें दृष्टि डालती है जिससे वह उसके सत्य और व्यवहारके ठीक विधानको तथा विश्वके विधान तथा तलीय और बाह्य सत्यके साथ उसके संबंधको जान सके; तभी वह अधिक गहराईसे देखना, बाह्यके पीछे तथा ऊपरी तलके नीचेकी वस्तुओंको जानना तथा अनुभव करना और अतएव भीतरसे ही जीवन यापन करना आरंभ करती है। अनात्म पदार्थोंके ज्ञानसे तथा जगत् और जीवनके इस वस्तुवादी विचारके अनुसार जीवन यापन करनेसे परे हटकर आत्मज्ञानकी ओर, आत्मामें एवं आत्माके द्वारा जीवन-यापन करनेकी ओर अग्रसर होनेके लिये यह एक पग है। सब कुछ इस बातपर निर्भर करता है कि यह पग किस प्रकार उठाया जाता है, किस प्रकारकी अनुभवात्मकतापर हम पहुंचते हैं तथा आत्मज्ञानमें कितना आगे हम बढ़ते हैं। कारण, यहां भ्रांतिके खतरे उतने ही बड़े और व्यापक होते हैं जितने कि ठीक प्रकारकी जिज्ञासाके परिणाम। प्रतीकों, आदर्शों तथा परंपराओंके युग अपने चहुंओर सीमाओंकी दीवार खड़ी करके ही इस भयसे बच पाते हैं, और क्योंकि अंतमें यह रक्षक दीवार ही अज्ञान-का बंदीगृह बन जाती है, इसे तोड़ना पड़ता है और अंतरानुभववादके जोखिमभरे परंतु फलप्रद साहसिक मार्गको अपनाना पड़ता है।

अंतरात्माके द्वारा उपलब्ध आत्मज्ञानकी सहायतासे हमको पता लगता है कि हमारी सत्तामें अनेक औपचारिक, सम्मुख रहनेवाली, उपरितलीय अथवा प्रतिनिधि सत्ताएं रहती हैं और आत्मा केवल एक है जो सर्वथा गुप्त और वास्तविक है। उपरितलीय दृश्य-सत्तामें निवास करना और भूलसे उसको ही वास्तविक आत्मा समझ लेना एक सामान्य भूल है, शेष सब भूलोंका मूल है और उन सब गलतियों और कष्टोंका कारण है जिनके प्रति मनुष्य अपनी मनोमय प्रकृतिके कारण खुला हुआ है। मनुष्यके अपने व्यक्तिगत रूपमें अथवा समाजके समवेत मन तथा शरीरके साथ एकीभूत एक सामाजिक इकाईके रूपमें अपनी आंतरात्मिक सत्ताके

विधानके अनुसार जीवन वितानेके प्रयत्नमें हम इस सत्यको लागू कर सकते हैं।

आधुनिक सभ्यता जिस विशिष्ट प्रवृत्तिकी ओर झुक रही है उसका स्वरूप यही है। हर जगह हम पदार्थोंको समझनेके लिये अनुभव-प्रधान दृष्टिकोणका प्रयोग करने लगे हैं, चाहे वह है अभी वहुत कम तथा अंधेकी टटोलके समान प्रारंभिक ही। शिक्षाके क्षेत्रमें, जैसे-जैसे वच्चा वृद्धि पाता हुआ मनुष्य वनता है, उसकी मानसिक अवस्थाका ज्ञान प्राप्त करना और अपनी अध्यापन तथा प्रशिक्षणकी पद्धतियोंका इसी आधारपर निर्माण करना हमारा लक्ष्य है। वच्चेको अपनी बौद्धिक, रसात्मक, भावनात्मक, नैतिक एवं आध्यात्मिक सत्ता तथा अपने सामाजिक जीवन और अपनी प्रवृत्तियोंको अपनी ही प्रकृति तथा शक्यताओंमेंसे विकसित करनेमें उसकी सहायता करना ही नवीन लक्ष्य है। यह लक्ष्य उस पुरानी शिक्षा-पद्धतिके लक्ष्यसे सर्वथा भिन्न है जिसके अनुसार एक विशेष परिमाणमें रूढ़िभूत ज्ञान वच्चेके प्रतिरोध करते हुए मस्तिष्कमें वलात् ठूंस दिया जाता था और उसकी संघर्ष करती हुई अभिभूत प्रवृत्तियोंपर सदाचारका परंपरागत विधान हठात् लाद दिया जाता था।* अव तो अपराधीके प्रति व्यवहारमें भी अत्यंत सुसंस्कृत समाज, विद्रोहके वदलेके रूपमें अथवा दूसरोंके लिये उदाहरण उपस्थित करनेके विचारसे, उसे एक ऐसा कानून तोड़नेवाला मानकर ही पूर्णतया संतुष्ट नहीं हो जाते जो दंड, वंदीगृह, आतंकित किये जाने, फांसीपर लटकने अथवा शारीरिक एवं नैतिक रीतिसे पीड़ित किये जानेके योग्य है। प्रत्युत अव उसे समझनेका, उसकी आनुवंशिक, पारिपार्श्विक तथा आंतरिक त्रुटियोंका लिहाज रखनेका तथा उसे वाहरसे कुचल देनेके स्थानपर अंदरसे उसका परिवर्तन करनेका अधिकाधिक यत्न किया जाता है। स्वयं समाज-विषयक सामान्य दृष्टिकोणसे हम समुदाय, राष्ट्र अथवा मनुष्योंके अन्य किसी भी निश्चित समूहको एक ऐसा सजीव संगठन मानने लगे हैं जिसकी अपनी आंतरिक सत्ता है और तदनुसार जिसका संवर्धन तथा स्वाभाविक विकास होता है, इस विकासको पूर्ण और फलप्रद वनाना उसका कर्तव्य है। यहां तक तो सव ठीक है। वस्तुओंके विषयमें इस नवीन दृष्टिके अनुसार वृहत्तर ज्ञान,

---

*अव तानाशाही राज्योंमें इस आंदोलनको कठोर धक्का लगा है, क्योंकि वहां सिद्धांत यह है कि व्यक्तिकी कोई सत्ता नहीं है, केवल समाजका जीवन ही प्रधान वस्तु है, परंतु अधिक स्वतंत्र देशोंमें इस नवीन विशाल दृष्टिकोणको अभी भी प्राधान्य प्राप्त है।

जाते हैं अथवा मारे जाते हैं, क्योंकि दूसरेके विनाश अथवा शोषणके द्वारा जीवित रहनेके भयंकर प्रयत्नमें हम अपनी शक्तिको क्षीण और अपने चरित्रको भ्रष्ट कर लेते हैं। जो अपनी निज सत्तामें निवास करता है केवल वही स्थायी रह सकता है और सामान्यतः दूसरोंको आहार बनाना अपने-आपको भी मृत्युके अधिकारमें देना है तथा उसका पूर्वनिश्चित आहार बन जाना है।

इसमें संदेह नहीं कि जब तक हम आत्मज्ञानके बिना रहते हैं तब तक हम इससे भिन्न और कुछ नहीं कर सकते। मनुष्यों और राष्ट्रोंको अहंकी रीतिसे ही सोचना और कर्म करना पड़ता है, क्योंकि अपने आत्म-अज्ञानकी अवस्थामें वे केवल इसी प्रकारके जीवनसे परिचित होते हैं और 'जीना' उनकी ईश्वर-प्रदत्त प्रवृत्ति है। इसलिये न जीनेकी अपेक्षा वे अहमात्मक शैलीसे ही जीयेंगे, उसपर चाहे कानून, नैतिकता और क्रियात्मक सामान्य बुद्धिके प्रति तथा अनुभवप्रदत आत्मसंयमकी जो भी रोक-थाम लगी हो। परंतु अनुभववादका वास्तविक स्वरूप ही आत्मज्ञानके लिये यत्न करना और सच्चे आत्मज्ञान तथा अंदरकी सामर्थ्यके आधार पर जीवन चलाना है, और यदि हम नये रूपमें पुरानी भूलको दोहराते हैं तो इसमें कोई वास्तविक लाभ नहीं है। इसलिये हमारे लिये यह जान लेना आवश्यक है कि वास्तविक व्यक्ति अहं नहीं है, अपितु वह एक ऐसा दिव्य व्यक्तित्व है जो हमारे विकासके द्वारा हमारे अंदर उदय होनेके लिये तैयारी कर रहा है। इसका उदय और इसकी तृप्ति ही वह सच्चा उद्देश्य है जिसे अनुभवात्मक रीतिसे अपने गंभीरतम विधान और सत्यको जानने और परिपूर्ण करनेकी आंतरिक खोज करती हुई मानवताको अधिकाधिक अपना लक्ष्य बनाना चाहिये, केवल अपने निम्न भागोंकी अहंकार-युक्त जीवन-इच्छाकी तृप्ति उसका उद्देश्य नहीं होना चाहिये।

व्यक्तिको जो दूसरा आंतरात्मिक सत्य अवगत कर लेना है वह यह है कि वह केवल 'अपना आप' ही नहीं है अपितु अपनी समस्त जातिके साथ उसका ठोस संबंध है,—जो कुछ उसका सजातीय नहीं प्रतीत होता उसे थोड़ी देरके लिये हम अलग छोड़ देते हैं। जो कुछ हम हैं उसकी अभिव्यंजना व्यष्टिके द्वारा हुई है, परंतु साथ ही समष्टिके द्वारा भी। और यद्यपि प्रत्येकको अपनी संसिद्धि अपनी ही रीतिसे प्राप्त करनी है तथापि इनमेंसे कोई भी एक दूसरेसे स्वतंत्र रूपमें सफल नहीं हो सकता। समाजको अपने अधिक उत्तम विकास अथवा अपनी परितृप्तिके लिये व्यक्तिको कुचल देने अथवा मिटा देनेका कोई अधिकार नहीं है। उधर व्यक्तिको भी, कम-से-कम जबतक वह संसारमें जीवित रहना चाहता

है, केवल अपनी अकेलेकी ही तृप्ति तथा उन्नतिके लिये, अपने साथी व्यक्तियोंके प्रति उदासीन रहनेका और उनके साथ संघर्ष करते रहने अथवा स्वार्थमय निजू लाभकी प्राप्तिके लिये यत्न करनेका कोई अधिकार नहीं है। और जब हम उसके अधिकारका निषेध करते हैं तो किसी सामाजिक, नैतिक अथवा धार्मिक आधार-बिंदुसे नहीं करते, परंतु अत्यंत प्रत्यक्ष आधार पर और स्वयं जगत्के विधानको ही दृष्टिमें रखकर निषेध करते हैं। क्योंकि न तो समाज और न ही व्यक्ति अपनी परिपूर्णतापर्यंत इस प्रकार विकास कर सकता है। हर बार जब कि समाज एक व्यक्तिको कुचल देता है अथवा मिटा देता है, वह स्वयं अपने ऊपर आघात कर रहा होता है और अपने जीवनको प्रेरणा और वृद्धिके अमूल्य स्रोतोंसे वंचित कर रहा होता है। व्यक्ति भी अपने-आप फल-फूल नहीं सकता, क्योंकि सर्व-समष्टि अर्थात् अपने साथी व्यक्तियोंकी एकता तथा समवाय-भाव ही इस समय उसका स्रोत और निधि है। यही वह वस्तु है जिसकी संभावनाओंकी अभिव्यंजना वह अपने व्यक्तिगत रूपमें करता है,—चाहे इसके तात्कालिक स्तरसे वह बहुत ऊंचा ही क्यों न उठ चुका हो,—और अपने गठनमें वह इसका ही परिणाम है। इसकी अधोगति अंतमें उसके अपने ही जीवन स्रोतोंको हानि पहुंचाती है और इसकी वृद्धिसे उसकी अपनी वृद्धि होती है। सच्चा अनुभववाद हमको यही सिखाता है। प्रथम, हम अपने अहं अथवा अपनी सत्ताके अंगोंसे अधिक उच्च आत्मा हैं, दूसरे हम अपने जीवन और अपने अस्तित्वमें केवल अपना-आप ही नहीं हैं अपितु सर्वात्मक भी हैं। क्योंकि सबके साथ गुप्त रूपसे हमारा ठोस संबंध है, चाहे हमारा अहं उसे ठुकराये अथवा उसके विरुद्ध संघर्ष करनेका यत्न करे, परंतु उससे हम बच नहीं सकते। भारतका यह एक प्राचीन अनुसंधान है कि हमारा वास्तविक 'स्व' एक परम सत्ता है और यही हमारी सच्ची आत्मा है, और यहां हमारा कार्य उसकी ही खोज करना और सचेतन रूपमें वही कुछ बन जाना है। दूसरे वह परम सत्ता सबके अंदर एक ही है, व्यष्टिमें और समष्टिमें वही अभिव्यक्त हो रही है। दूसरों के साथ अपनी एकताको स्वीकार तथा अनुभव करके ही हम अपनी सच्ची आत्मसत्ताकी पूर्ण रूपसे परिपूर्त्ति कर सकते हैं।*

---

*इस सत्यका एक दूसरा पहलू भी है जिसमें आपसकी यह निर्भरता इतनी अनिवार्य नहीं है, परंतु वह आध्यात्मिक विकासकी एक प्रक्रिया है और उसका प्रस्तुत विषयके साथ कोई संबंध नहीं है।

व्यक्तिके संबंधमें, सिद्धांत रूपमें, मानवजातिको इन दो सत्योंका कुछ अस्पष्ट-सा आभास हुआ है, यद्यपि इन दोनों सत्योंको व्यवहारमें लानेके लिये कुछ अत्यंत निर्बल और अधूरे प्रयत्न ही किये गये हैं, और जातिके जीवनका नौ बटा दस हिस्सा तो इनका खंडन ही करता रहा है। जहां कहीं बाह्य रूपमें इनके विधानको कुछ स्वीकार भी किया गया है वहां भी यही कुछ हुआ है। परंतु ये सत्य केवल व्यक्तिपर ही लागू नहीं होते अपितु राष्ट्रपर भी उतने ही लागू होते हैं। जर्मन अनुभववादकी पहली भूल यहीं थी। निरपेक्ष सत्ता तथा व्यक्ति और विराट्के विषयमें तर्क करते हुए उसने अपने अंदरकी ओर दृष्टि डाली और उसने देखा कि वास्तवमें वह 'निरपेक्ष' अपने-आपको जीवनमें 'अहं'के रूप में प्रकट कर रहा प्रतीत होता है; आधुनिक विज्ञानके निर्माणोंके आधार पर तर्क करते हुए उसे 'व्यक्ति' केवल 'सामुदायिक अहंसत्ता'के एक कोष्ठकके रूपमें दिखलायी दिया। अतः यह 'सामुदायिक अहंसत्ता' ही जीवनकी सबसे महान् वास्तविक संगठित अभिव्यक्ति है और सबको उसके ही अधीन होना चाहिये, क्योंकि प्रकृति और उसके विकासकी इस प्रकार ही सबसे अधिक सहायता और सिद्धिकी जा सकती है। मानवताकी एक विशाल सामुदायिकसत्ताका अस्तित्व तो है परंतु अभी यह आरंभिक और अव्यवस्थित सत्ता है। सामुदायिक जीवनका जो भाग इस समय सबसे अधिक योग्य और व्यवस्थित है, पहले उसका अधिक उत्तम विकास कर लिया जाय। इस प्रकार सबसे अधिक उन्नत राष्ट्रोंकी अथवा संभवतः सबसे अधिक उन्नत एक राष्ट्रकी,—एक ऐसी सामुदायिक राष्ट्र-सत्ताकी जिसने प्रकृतिके उद्देश्यको सर्वोत्तम रीतिसे सिद्ध कर लिया है और इसलिये भागवत इच्छा भी यही है कि उसकी विजय और उसका ही शासन हो,—क्रियात्मक रूपमें वृद्धि और पूर्णता होकर तथा उसका ही आधिपत्य स्थापित होकर इस बृहत् सामुदायिक सत्ताका सर्वोत्तम रूपसे विकास हो सकता है। क्योंकि समस्त संगठित प्राणियोंमें, समस्त आत्म-चेतन सत्ताओंमें सदा संघर्ष होता रहता है; यह संघर्ष कभी प्रत्यक्ष, कभी अप्रत्यक्ष, कभी पूर्ण रूपसे तथा कभी आंशिक रूपसे होता है और सर्वोत्कृष्टकी विजयके द्वारा जातिकी सर्वोत्तम प्रगति होती है। वह सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र फिर कौनसा था जो सबसे अधिक उन्नत, निजत्वकी अनुभूतिसे युक्त, कुशल और उच्चतम संस्कृतिसे युक्त था, यदि वह सर्वसम्मतिमें और जर्मनीकी अपनी दृष्टिमें जर्मन राष्ट्र नहीं था? तब फिर जर्मनीकी सामुदायिक अहं-सत्ताकी अभिपूर्त्ति करना, उसकी वृद्धि करना

और उसका आधिपत्य स्थापित करना ही तर्कसम्मत विधान था, साथ ही मानवताका परम कल्याण और महान् सर्वश्रेष्ठ टयूटानिक जातिका उद्देश्य था।*

इस अहमात्मक 'स्व'-दृष्टिसे कुछ तर्क-सम्मत परिणाम निकले हैं और उनमेंसे प्रत्येक एक अनुभवात्मक भूल है। पहला, क्योंकि व्यक्ति समुदायका एक कोष्ठकमात्र है, उसका जीवन राष्ट्रके कुशल जीवनके पूर्णतः अधीन होना चाहिये। उसे अवश्य ही कुशल बनाना चाहिये—उसकी शिक्षा, उसके समुचित रहन-सहन तथा अनुशासित जीवन एवं उसकी सुप्रशिक्षित और अधीनस्थ चेष्टाकी देखरेख राष्ट्रको करनी चाहिये—परंतु मशीनके एक पुर्जेके रूपमें अथवा राष्ट्रीय जीवनके अनुशासित साधनके रूपमें ही। प्रेरक होना चाहिये समाजको और कर्मी होना चाहिये व्यक्तिको। परंतु वह अस्पष्ट-सी वस्तु, 'सामुदायिक सत्ता' थी कहां और किस प्रकार वह अपने-आपको एक आत्म-चेतन सत्ताके रूपमें ही नहीं अपितु एक संगठित और कुशल सामुदायिक संकल्प-शक्ति और स्व-निर्देशक शक्तिके रूपमें अभिव्यक्त कर सकती थी? वह थी राज्य, इसी में रहस्य निहित था। राज्य पूर्ण हो, वह अधिपति, सर्वव्यापक, सर्वज्ञाता, सर्वसमर्थ हो। इस प्रकार ही सामुदायिक अहंभाव सुकेंद्रित हो सकता था, अपने-आपको उपलब्ध कर सकता था और उसका जीवन शक्ति, संगठन और कुशलताके उच्चतम शिखरतक जा सकता था। इस प्रकार जर्मनीने राज्य-सिद्धांत-विषयक उस आधुनिक बढ़ती हुई भूलका सूत्रपात किया और इसीप्रकार व्यक्तिकी वृद्धिशील, और अंतमें उसको आमूल विनाश की ओर ले जानेवाली पराधीनताकी आधारशिला रखी। जर्मनीको इससे लाभ क्या हुआ यह भी हम देख सकते हैं। एक बहुत बड़ी समवाय-शक्ति तथा अपने लक्ष्यकी पूर्त्तिके लिये साधनोंके रूपमें एक विशेष प्रकार की पूर्णता, कुशल वैज्ञानिक अभियोजन तथा आर्थिक, बौद्धिक एवं सामाजिक कुशलताका एक उच्चसामान्यस्तर—ये सब और इनके अतिरिक्त वह महती एवं अद्भुत अल्पकालिक शक्ति प्राप्त हुई जो कि किसी महान् विचारकी ज्ञानपूर्ण अभिपूर्त्ति किसी मनुष्य अथवा राष्ट्रको प्रदान करती है। उसको हानि क्या हुई, यह अभी किंचित् ही प्रकट हो पाया है—

---

*अब तो बल कुछ वहांसे हट गया है तथा अधिकांशमें रक्त, जाति, जीवन-अवकाश-संबंधी स्थूल प्राणिक भावनाओं पर दिया जाने लगा है। परंतु पुराना विचार अब भी विद्यमान है और इस नये भावको अधिक शक्ति प्रदान कर रहा है।

वह हानि थी उस सब गंभीरतर जीवन-दृष्टिकी, अंतर्ज्ञान तथा व्यक्तित्व की शक्तिकी, आंतरात्मिक मधुरता एवं विशालताकी जो एक स्वतंत्र व्यक्ति अपनी जातिके लिये अपने उपहारके रूपमें भेंट करता है।

दूसरे, क्योंकि राज्य ही परमोच्च सत्ता है, भगवान्‌का प्रतिनिधि है अथवा मानव-अस्तित्वकी उच्चतम अनुभूत कार्य-प्रणाली है और व्यक्तिसे आज्ञा पालन करवानेका, बिना ननुनचके सेवा प्राप्त करनेका एवं उसके समस्त कर्मके परिचालनका उसे दैवी अधिकार प्राप्त होता है, राज्य और समाजकी सेवा ही नैतिकताका परम विधान है। राज्यके अंतर्गत समस्त दूसरे नैतिक नियम भी इस विधानके अंदर आ जाते हैं और इससे ही स्वीकृति प्राप्त करते हैं, क्योंकि वहां किसी विद्रोही अहंवादको स्वीकृति नहीं दी जा सकती; कारण, व्यक्तिगत अहंसत्ताको राज्यकी अहंसत्तामें खो जाना चाहिये अथवा उसका ही भाग बन जाना चाहिये और सामुदायिक इच्छाके द्वारा निर्णीत सामुदायिक कल्याणकी अधीनतामें आंतरिक अथवा वाह्य संघर्षकी समस्त स्थिति समाप्त कर देनी चाहिये। परंतु दूसरे राज्यों, दूसरी सामुदायिक अहंसत्ताओंके साथ संबंधमें सामान्य अवस्था तथा व्यावहारिक नियम अब भी युद्धके ही हैं; अभी भी इनमें से प्रत्येक अहंसत्ताके आपसी संबंध संघर्षके हैं, वे एक-दूसरेकी घोर विरोधी हैं, प्रत्येक अपनी ही परिपूर्त्तिके लिये यत्नशील है, प्रत्येकके अपने-अपने क्षेत्रमें दूसरोंके द्वारा वाधाएं और रुकावटें खड़ीकी जाती हैं। दूसरे राज्योंके साथ संबंधमें राज्यका समस्त व्यवहार युद्धका ही है, शस्त्रोंका युद्ध, व्यापारका युद्ध, विचारों और संस्कृतिका युद्ध, ऐसे सामुदायिक व्यक्तित्वोंका युद्ध जिनमेंसे प्रत्येक इस संसारको अपने ही अधीन करने अथवा कम-से-कम संसारमें अपने लिये ही प्रधान स्थिति, प्रधान पद प्राप्त करनेके यत्नमें है। इस अवस्थामें सफलताकी नैतिकताके अतिरिक्त अन्य किसी नैतिक भावको प्रवेश प्राप्त नहीं हो सकता, यद्यपि नैतिकताका वहाना युद्धका एक लाभदायक हथियार अवश्य वन सकता है। जर्मन राज्यकी, जर्मन समुदायकी, जो उसकी वृहत्तर तथा वास्तविक आत्मा है, सेवा करना एक जर्मन व्यक्तिके लिये, देशमें अथवा वाहर विदेशमें, कहीं भी रहते हुए मुख्य कर्तव्य है और इस लक्ष्यको पूरा करनेमें जिस तरीकेसे सफलता मिलती है वही उचित है। अयोग्यता, असमर्थता, असफलता, केवल यही अनैतिक भाव हैं। युद्धमें जिस तरीकेसे भी राज्यको सैनिक सफलता प्राप्त होती है वही उचित है। और शांतिमें वह प्रत्येक विधि उचित है जो उस युद्धकी तैयारीमें सहायक है, क्योंकि राष्ट्रों-

में शांति भी युगकी एक प्रच्छन्न अवस्थामात्र है और जिस प्रकार युद्ध भौतिक रूपसे कायम रहने और आधिपत्य प्राप्त करनेके लिये एक साधन है, उसी प्रकार व्यापार भी आर्थिक रूपसे जीवित रहने तथा आधिपत्य स्थापित करनेका साधन है। वस्तुतः व्यापार भी एक दूसरे प्रकारका युद्ध है, जीवन-संघर्षका एक दूसरा विभाग है, एक भौतिक है तो दूसरा प्राणमय है, और जैसा कि विज्ञानने हमें विश्वास दिला रखा है, प्राण और शरीर ही संपूर्ण सत्ता है।

तीसरे, क्योंकि सर्वोत्कृष्टके जीवित रहनेमें ही मानवजातिका परम कल्याण है, और अयोग्यको मिटा देने तथा कम योग्यको अपनेमें आत्मसात् कर लेनेसे ही सर्वोत्कृष्ट जीवित रह सकता है, जर्मन संस्कृतिके द्वारा संसारपर विजय ही मानव-प्रगतिका सीधा मार्ग है। परंतु इस दृष्टिसे संस्कृति ज्ञानकी केवल एक अवस्था अथवा विचारोंका और नैतिक एवं सौंदर्यात्मक प्रवृत्तियोंकी एक प्रणाली अथवा उनका एक ढांचा ही नहीं है; संस्कृति विचारोंके द्वारा शासित जीवन है, परंतु वे विचार जीवनके सत्योंपर आश्रित होने चाहियें और उनका इस प्रकार संगठन किया जाना चाहिये कि वे जीवनको उसकी उच्चतम कुशलता तक पहुंचा दें। इसलिये उस समस्त जीवनको जो इस प्रकारकी संस्कृति तथा कुशलताके योग्य नहीं है मिटा देना चाहिये अथवा कुचल देना चाहिये और उस समस्त जीवनको जो इसके योग्य तो है परंतु अभी इसतक पहुंच नहीं पाया हाथमें ले लेना तथा आत्मसात् कर लेना चाहिये। परंतु योग्यता तो सदा वर्ग और श्रेणीसे संबंध रखती है और मनुष्यमें यह यह जातिसे संबंध रखती है। अतः तर्कके अनुसार केवल टयूटानिक (अब इसका प्रसिद्ध नाम नार्डिक है) जातिकी ही पूर्ण रूपसे योग्य है; इसलिये टयूटानिक जातियोंको जर्मनीमें ले लेना चाहिये और उन्हें जर्मन समुदायका अंग बना लेना चाहिये। जो जातियां कम योग्य हैं, परंतु सर्वथा अयोग्य नहीं हैं उन्हें जर्मन बना लेना चाहिये, दूसरी जो निराशाजनक रीतिसे अवनतिकी ओर अग्रसर हैं जैसे यूरोप और अमरीकाकी लैटिन जातियां अथवा जो स्वाभाविक रीतिसे ही निम्नकोटिकी हैं जैसे अफ्रीका, एशियाके अत्यधिक लोग हैं, उनमें जहां-जहां संभव हो उनके स्थानपर दूसरे आ जाने चाहियें जैसे कि हैरीरो (Herreros) जातिकी दशामें हुआ, अथवा जहाँ ऐसा असंभव हो वहाँ उनपर अपना आधिपत्य जमा लेना चाहिये, उनका शोषण करना चाहिये और उनके साथ उनकी निम्न अवस्थाके अनुसार व्यवहार करना चाहिये। इस प्रकार

ही विकासकी प्रगति हो सकेगी, इसी प्रकार मानवजाति अपनी पूर्णता की ओर बढ़ सकेगी।*

हमें यह अनुमान करनेकी आवश्यकता नहीं है कि समस्त जर्मनीकी विचारधारा इसी प्रकारकी कठोरतापूर्ण ढंगकी थी, जैसा कि बहुत दिनों तक समझा जाता रहा था, अथवा यह कि बहुसंख्यक जनताकी सचेतन विचार-प्रवृत्ति इसी प्रकारकी थी। परंतु इतना ही पर्याप्त है कि विचारकों तथा प्रभावशाली व्यक्तियोंकी एक शक्तिशाली अल्प संख्या राष्ट्रीय जीवनपर अपना अधिकार जमा ले और उसपर कुछ विशेष प्रवृत्तियोंका इस प्रकार प्रभाव डाले कि व्यावहारिक रूपमें उन्हींका प्रभुत्व हो जाय, अथवा जहाँ कहीं सचेतन रीतिसे मनमें इस विचारके भर देने का यत्न न भी हो वहां भी, कम-से-कम उनकी अवचेतनामें, इस प्रकारकी एक सामान्य प्रवृत्ति ही प्रवाहित कर दे। और इस समयकी वास्तविक घटनाएं यही प्रकट करती प्रतीत होती हैं कि सामुदायिक जर्मन मन पर कुछ सचेतन रूपमें, कुछ अवचेतन रूपमें अथवा आंशिक रीतिसे प्रकट रूपमें इस प्रकारके सिद्धांतने ही अधिकार जमा रखा था। इस भयंकर तर्ककी कठोरताका उपहास करना अथवा जिन विचारों और तथ्योंकी उसने उपेक्षाकी है उनपर व्यंग कसना तो सहज है और क्रियात्मक रूप में अपने कर्ममें कुछ छिपेसे, कुछ अधूरेसे रूपमें, कम साहसके साथ इसके सिद्धांतोंका अनुसरण करते हुए इससे भागना, भय खाना, घृणा करना और तिरस्कारके साथ इसका त्याग करना तो और भी सरल है। परंतु इसकी अपेक्षा अधिक लाभदायक तो यह होगा कि हम इसको इस दृष्टि-से देखना आरंभ कर दें कि इसकी पृष्ठभूमिमें जो शक्तिशाली सच्चाई विद्यमान थी और है वही इसकी शक्तिका रहस्य है और इसकी भूलों-में भी एक प्रकारकी विकृत निष्कपटता विद्यमान है; ऐसी सच्चाई जो अपने आचार-व्यवहारपर और जीवनके तथ्योंपर सीधी दृष्टि डालनेका यत्न करती है और ऐसी निष्कपटता जो उस व्यवहारके वास्तविक सिद्धांतोंकी घोषणा कर सकती है, ऐसी नहीं कि किसी सामयिक कूटनीति-की अवस्थाको छोड़कर अन्यत्र दूसरे सिद्धांतोंकी मुखसे तो घोषणा करे और अपने व्यवहारमें उनकी उपेक्षा करे। और, यदि इस जर्मन आदर्श-

---

*यह तीस वर्षसे भी अधिक पहले लिखा गया था, परंतु पीछेकी घटनाओंने इस वर्णनके सत्यको ठीक सिद्ध कर दिया है और सामने ला दिया है ; यह सत्य वस्तुतः बहुत कम प्रत्यक्ष था।

को न केवल कुछ समयके लिये युद्धक्षेत्रमें और इसकी घोपणा करनेवाले राष्ट्रके अथवा राष्टोंकी सामुदायिक सत्तामें पराजित करना है, जैसा कि असफल रीतिसे युद्धकालमें हुआ था, अपितु मानवके मन तथा मानवजाति-के जीवनमें भी इसको असफल बनाना है, तो जो कोई इससे अधिक श्रेष्ठ विधानपर पहुंचे हैं उन्हें भी उतनी निष्कपटता और एक कम विकृत सच्चाईको व्यवहारमें लाना होगा।

इस जर्मन आदर्शके स्पष्ट ही दो पहलू हैं, आंतरिक और वाह्य, राज्य राष्ट्र अथवा समुदायका मतवाद और अंतर्राष्ट्रीय अहंवादका मत-वाद। पहलेके विपयमें तो यह कहना ठीक है कि यद्यपि जर्मनी युद्ध-क्षेत्रमें कुछ समयके लिये पूरी तरहसे कुचल दिया गया था, परंतु मानव-जातिकी नैतिक भावनाके अनुसार तो उसकी विजय ही हुई प्रतीत होती है। व्यक्तिकी सहायता प्राप्त करनेके स्थानपर राज्यके द्वारा उसको निर्दय रूपमें वाध्य किये जानेका सिद्धांत*—निःसंदेह व्यक्तिके निजू और सर्वसामान्यके हितके लिये, परंतु हानि पहुंचानेके लिये मजबूर करनेका दावा ही कौन करता है?—सब जगह मुख्य रूपसे प्रचलित है, अथवा एक शक्तिशाली और व्यापक विचारधाराके रूपमें बढ़ रहा है। व्यक्ति-गत स्वतंत्रताके पक्षपाती तो अब नैतिक रूपमें एक पराजित और क्षीण होती हुई सेना है, जो अब केवल किसी भावी प्रतिक्रियाकी आशामें ही अथवा अपने सिद्धांतको जितना हो सके सर्वनाशसे बचानेकी आशासे ही अपना संघर्प जारी रख सकती है। वाह्य अर्थात् अंतर्राष्ट्रीय पक्षमें विचारों का संघर्प अभी जारी है, परंतु प्रारंभसे ही कुछ भविष्यसूचक चिह्न दिखायी दे रहे थे*। और अब, जब कि युद्ध अपने वाह्य रूपमें समाप्त हो चुका है और इसके आरंभिक मनोवैज्ञानिक परिणाम प्रकट हो रहे हैं, हम यह देख सकते हैं कि कि धाराके किस ओर वहनेकी संभावना है। युद्ध एक भयंकर शिक्षक है, और युद्धमें भौतिक जीत प्रायः नैतिक

---

*सदा ही समाजवाद, वोलशेविक कम्यूनिज्म अथवा तानाशाहीवादके रूपमें नहीं। व्यक्तिवादी लोकतंत्र और स्वतंत्रताके सिद्धांतों पर नाममात्रको आधारित दूसरे शासन-तंत्रोंने भी इनको विरोधी नामोंका जामा पहनाकर अथवा केवल मौखिक रूपसे इनकी घोपणा करके स्वयं इन्हीं प्रवृत्तियोंका अनुसरण करना आरंभ कर दिया है।

*अंतर्राष्ट्रीय सभा कभी भी विरोधी चिह्न नहीं थी। आकस्मिक अथवा अस्थायी रूप से चाहे उससे कुछ भी भलाई सिद्ध होती हो परंतु वस्तुतः यूरोपके द्वारा शेप संसार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेका और समस्त संसार पर दो-तीन मुख्य राष्ट्रोंका प्रभुत्व स्थापित करनेका यंत्र वह अवश्य ही वन सकती थी।

पराजयकी ओर ले जाती है। जर्मनी युद्धमें पराजित हुआ परंतु बादके संघर्षमें विजयी हुआ। जर्मनीका पुराना सिद्धांत अधिक कठोर और भयंकर अवतारके रूपमें उमड़कर समस्त यूरोपपर छा जानेकी धमकी दे रहा है।

यदि हम अपनेको धोखा देना नहीं चाहते तो यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस क्षेत्रमें भी जर्मनीने अंतर्राष्ट्रीय व्यवहारकी कुछ प्रबल और वास्तविक प्रवृत्तियों तथा सिद्धांतोंको व्यवस्थित रूप दिया है, और उस सबका, जो अबतक केवल प्रतिरोध करनेका दावा करता था अथवा जिसने उनके प्रस्तुत रूपको सचमुच बदल दिया था, उसने परित्याग कर दिया है। यदि एक पवित्र अहंवादको ही—यह शब्द टयूटानिक आविष्कार नहीं है—अंतर्राष्ट्रीय संबंधोंपर शासन करना.है तब फिर इस जर्मन स्थितिके बलको अस्वीकार करना कठिन है। निम्न कोटिकी तथा अधोगतिशील जातियोंके विषयमें यह सिद्धांत जर्मन विचारकोंसे इतर दूसरे लोगोंने घोषित किया था और सबल लोगोंने निर्बलोंपर सैनिक आधिपत्य और व्यापारिक शोषणकी जो प्रक्रिया बरती उसमें कठोरताको कम कर देनेवाली प्रवृत्तियोंका प्रचलन इन्हीं सिद्धांतोंका कारण रहा है। जर्मनीने तो जो कुछ किया है वह यही है कि उसने इसे अधिक विस्तारमें तथा अधिक कठोर रीतिसे काममें लानेका यत्न किया है, और यूरोपीय, एशियाई तथा अफ्रीकन जातियोंपर समान रूपसे इसका प्रयोग किया है। उसके सैनिक तरीकोंकी अथवा औपनिवेशिक या आंतरिक राज्यनीतिक अत्याचारके तरीकोंकी कठोरता और पाशविकता अपनी भयंकरतम अवस्थामें भी,—एक समय इसके विरुद्ध जो बहुत कुछ कहा जाता था वह सब इसके शत्रुओंका जान-बूझकर गढ़ा हुआ असत्य सिद्ध हो चुका है—जातिमें प्राचीन और मध्यकालीन कठोरहृदयताको पुनर्जीवित करनेके लिये कुछ पिछली प्रवृत्तियोंका स्पष्ट रूप धारण करना मात्र ही थी। सैनिक आवश्यकताके आधारपर युद्धमें और व्यापारिक शोषणके दौरानमें अथवा विद्रोह तथा अव्यवस्थाके दबानेके लिये जनसंहार और अत्याचारपूर्ण व्यवहारका प्रयोग और उसे उचित ठहरानेका यत्न, यूरोपके कुछ सीमावर्ती प्रदेशों*की तो कुछ बात ही मत कहो, अन्य महाद्वीपोंमें अभी कुछ समय

---

*मिश्र, आयर्लैंड, भारत और फिर अबीसीनिया, स्पेन और चीनको देखिये, जहां कहीं भी मनुष्य दूसरे मनुष्य पर और राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अभी शक्ति की सहायतासे आधिपत्य जमानेका प्रयत्न करते हैं।

पहलें ही भले प्रकार दृष्टिगोचर हो चुका है। एक दृष्टिकोणसे तो यह अच्छा ही हुआ है कि इन वस्तुओंके तर्क को चरम सीमा तक पहुंचानेके भयंकर उदाहरण मानवजातिकी मनश्चेतनाके पटपर उग्र रीतिसे अंकित किये गये हैं, क्योंकि बुराईके समस्त पर्दे हटाकर उसका नग्न रूप प्रकट करनेसे, अच्छाई और बुराईके मध्य मार्गमें रुक जानेकी अपेक्षा दोनोंमेंसे एकका चुनाव कर लेनेकी आवश्यकता मानव-चेतनापर बलात् अंकित हो जायगी। यदि मानवजाति अपने अंत:करणकी आंखोंपर पट्टी बांध लेना चाहती है और अपने पाशविक अहंकारको उसके औचित्यके पुराने विचारों के अनुसार ही बल देना पसंद करती है तो उसका भविष्य अंधकारमय है, क्योंकि विधिने स्पष्ट दिखला दिया है कि कर्मका सिद्धांत मखौल नहीं है।

परंतु जर्मनीकी सारी गलतीका मूल ही प्राण और शरीरको आत्मा माननेकी भूल कर बैठना है। कहा जाता है कि यह सिद्धांत 'ओडीन' धर्मकी प्राचीन बर्बरताकी ओर लौट जाना मात्र है। परंतु यह सत्य नहीं है, यह एक नूतन और आधुनिक सिद्धांत है जिसका जन्म दार्शनिक तर्कको भौतिक विज्ञानके निष्कर्षोपर तथा दार्शनिक अनुभववादको 'आधुनिक' विचारकी वस्तुवादी, व्यावहारिक-प्रत्यक्षवादी विचारधारापर लागू करनेसे हुआ है। जर्मनीने जिस प्रकार व्यक्तिवादी स्थितिको अपनी सामुदायिक अनुभवात्मक सत्ताकी अभिप्राप्तिके लिये प्रयुक्त किया है, उसी प्रकार उसने अभी पिछले कालकी भौतिकवादी एवं प्राणवादी विचारधाराका भी प्रयोग किया है और उसे अनुभवात्मक दर्शनसे सुसज्जित कर दिया है। इस प्रकार जर्मनी एक संकर सिद्धांतपर, एक ऐसे वस्तुवादी अनुभववादपर पहुँचा जो वास्तविक अनुभववादी युगके सच्चे लक्ष्यसे कोसों दूर है। इस गलतीको जतानेके लिये यह देखना आवश्यक है कि मनुष्य और राष्ट्रका सच्चा व्यक्तित्व किस वस्तुमें विद्यमान है। वह उसके भौतिक, आर्थिक, यहाँतक कि सांस्कृतिक जीवनमें भी विद्यमान नहीं है, क्योंकि ये वस्तुएँ तो केवल साधन और सहायक हैं, अपितु वह किसी अधिक गहरी वस्तुमें अवस्थित है जिसकी जड़ें अहंमें नहीं हैं। उसका आधार तो उस आत्मतत्त्वमें है जो भिन्नताओंमें भी एक है और जो संघर्ष तथा प्रभुत्वको आधार न मानकर समानताके आधारपर प्रत्येककी भलाईका समन्वय शेष संसारकी भलाईके साथ करता है।

छठा अध्याय

जीवनके वस्तुवादी और अनुभववादी दृष्टिकोण

व्यक्तिवादका सिद्धांत यह है कि मानव अपने-आपको एक पृथक् अस्तित्व मानकर अपनी ही बुद्धि द्वारा शासित अपनी इच्छाके अनुसार अपना विकास और जीवनकी परिपूर्त्ति करने और अपनी मानस प्रवृत्तियों, भावनामय एवं प्राणमय आवश्यकताओं तथा निज भौतिक सत्ताकी संतृप्ति करनेके लिये स्वतंत्र है। यह इस व्यक्तिगत स्वातंत्र्य तथा अधिकारमें दूसरोंके भी व्यक्तिगत स्वातंत्र्य तथा अधिकारका मान करनेकी बाध्यताको छोड़कर अन्य किसी सीमाको स्वीकार नहीं करता। इस स्वातंत्र्य और इस बाध्यताका संतुलन एक ऐसा सिद्धांत है जिसे व्यक्तिवादीयुगने समाजको नया रूप देनेके लिये अपनाया था। क्रियात्मकरूपमें इसने अधिकारों तथा कर्तव्यों, स्वतंत्रता तथा नियम-कानून और अनुमतियों तथा प्रतिबंधोंके बीचमें पारस्परिक समझौतेके समन्वयको ही व्यक्तिगत जीवन तथा सामाजिक जीवनकी योजनाके रूपमें अपनाया। इसी प्रकार व्यक्तिवादी युगने राष्ट्रोंके जीवनमें स्वतंत्रताको अपना आदर्श बनाया और राष्ट्रोंके आपसके समुचित व्यवहारके रूपमें एक दूसरेकी स्वतंत्रताका मान करनेके अन्योन्य-भावको दृढ़तया स्थापित करनेका यत्न किया, यद्यपि अपने वास्तविक क्षेत्रकी अपेक्षा इस विषयमें उसे सफलता कम मिली। जीवन-विषयक इस विचारधाराके अनुसार व्यक्ति और राष्ट्र दोनोंको ही समान रूपसे पूर्ण अधिकार है कि वे अपने कार्योंका स्वतंत्रतापूर्वक संचालन करें और चाहें तो कुसंचालन करें, और जबतक वे दूसरे व्यक्तियों अथवा राष्ट्रोंके अधिकारों और स्वतंत्रतामें हस्तक्षेप नहीं करते तबतक उनके अपने अधिकारों तथा स्वतंत्रतामें कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। वस्तुत: व्यक्ति अथवा राष्ट्रका 'अहं' इन सीमाओंके अंदर रहना पसंद नहीं करता; इसलिये जिस प्रकार व्यक्ति व्यक्तिके बीच उन सिद्धांतोंको, जिनका उल्लंघन किया गया हो, बलात् मनवानेके लिये राष्ट्रके सामाजिक विधानका सहारा लिया गया है उसी प्रकार एवं उसी उद्देश्यसे अंतर्राष्ट्रीय विधानको विकसित करनेके लिये भी इसका आश्रय लिया गया है। इन विचारोंका प्रभाव अभी भी शक्ति रखता है। अभी पिछले यूरोपीय संघर्षमें राष्ट्रोंकी

स्वतंत्रताको ही आदर्शके रूपमें सामने रखककर युद्ध छेड़ा गया था, हालाँकि निश्चित तथ्य यह था कि युद्धका आरंभ वस्तुतः स्वार्थोंकी परस्पर टक्करसे हुआ था। भविष्यकी कठिनाइयोंको सुलझानेकी चिंता करनेवाले अधिकतर व्यक्तियोंको जो सबसे अधिक आकर्षक तथा व्यावहारिक सुलझाव प्रतीत होता है वह यह है कि जिस प्रकार सामाजिक विधान व्यक्तियोंके अहंको संयत रखता है उसी प्रकार एक ऐसे शक्तिशाली अंतर्राष्ट्रीय विधानका भी विकास होना चाहिये जो राष्ट्रोंके अहंको संयत रख सके*।

उधर आधुनिक विज्ञानके विकासने नवीन विचारों तथा प्रवृत्तियोंको जन्म दिया है, एक ओर तो अतिशय व्यक्तिवादको अथवा यूँ कहें कि प्राणमय अहंकारको और दूसरी ओर इसके सर्वथा विरोधी समुदायवादके आदर्शको। जीवनका अन्वेषण करते हुए विज्ञानको पता लगा कि अपना अस्तित्व बनाये रखनेके लिये, अपनी परिपूर्त्ति और संवृद्धिके लिये पारिपार्श्विक परिस्थितियोंसे अधिक-से-अधिक लाभ उठानेके लिये संघर्ष करना ही समस्त जीवनकी मूल प्रवृत्ति है। मानव-विचारने अपने स्वभावगत मनमाने तथा कठोर ढंगसे आधुनिक ज्ञानके इस पहलूको लेकर इसके आधारपर नवीन प्रकारके सिद्धांत गढ़ डाले, जिससे न केवल दूसरोंको अपने उपयोगमें लाकर बल्कि दूसरोंको हानि पहुँचाकर भी व्यक्तिके अपनी इच्छाके अनुसार जीवन बितानेके अधिकारको सिद्धांतका रूप दे दिया गया। इस दृष्टिके अनुसार व्यक्तिके लिये जीवनका पहला लक्ष्य यह हो जाता है कि जितने कालतक वह जीवित रह सकता है जिये, बलवान, योग्य, शक्तिशाली बने, अपनी पारिपार्श्विक स्थितियों तथा अपने साथियोंपर आधिपत्य जमाये और इस कठोर और अहंकारमय पद्धतिसे अपनी पूर्ण सामर्थ्यतक अपने-आपको ऊपर उठाये एवं यथाशक्ति आनंदका उपभोग करे। नीत्शेके जैसे दर्शन तथा अराजकतावादके कुछ विशेष रूप—विचारकका वह आदर्शवादी अराजकतावाद नहीं जो कि आदर्श तर्कबुद्धिका अपने युक्तिसंगत परिणामको पहुँचा हुआ पुराना व्यक्तिवाद है—और साम्राज्यवादके भी कुछ रूप इस प्रकारके विचारोंसे यद्यपि उपजे तो नहीं, परंतु बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं और बलवान् बने हैं।

---

*अब शायद बहुत थोड़ेसे व्यक्तियोंको छोड़कर और कोई इसमें विश्वास नहीं करता और वे भी अब कम होते जा रहे हैं, क्योंकि राष्ट्रों की सभाके बड़े-बड़े सदस्योंने अपने अहंकार और कुटिलताके कारण आरंभसे ही इसका निरंतर दुरुपयोग किया है अथवा इसके ठीक रूपसे क्रियाशील होनेमें रुकावट डाली है, इसलिये अब यह निर्बलता तथा असफलताके सन्निपातसे ग्रस्त हो चुका है।

दूसरी ओर जीवनके अन्वेषणमें विज्ञानको तत्समान ही यह भी पता लगा कि उग्र रूपसे निज सत्ताकी स्थापना की अपेक्षा दूसरोंके साथ सहयोगमें तथा सामुदायिक आत्म-विकासके नियमके अधीन व्यक्तिगत जीवन न केवल सर्वोत्तम रीतिसे सुरक्षित हो जाता है तथा कुशल बन जाता है अपितु प्रकृति, वस्तुतः, व्यक्तिको नहीं, वरन् श्रेणीको कायम रखनेका प्रयत्न करती है और उसके मूल्योंके मापदण्डमें पृथक्-पृथक् प्राणी अथवा कीटाणुकी अपेक्षा गुट, गिरोह, छत्ते अथवा समूहको एवं एक मानव-व्यष्टिकी अपेक्षा मानव-समुदायको अधिक महत्त्व दिया जाता है। अतः वस्तुओंके वास्तविक विधान तथा स्वभावके अनुसार, व्यक्तिको सर्वके लिये ही जीना चाहिये और अपनी आत्म-परिपूर्त्तिके लिये जीवित रहने तथा जातिके जीवनको अपनी निज आवश्यकताओंका अनुसारी बनानेके स्थानपर अपने-आपको निरंतर जातिकी वृद्धि, कुशलता तथा प्रगतिके अधीन रखना चाहिये और उसपर अपनेको बलिदान कर देना चाहिये। आधुनिक ज्ञानके इस उल्टे पहलूका मानव-मनपर जो प्रभाव पड़ा हुआ है उससे ही आधुनिक समुदायवाद अपनी विजयशील शक्ति प्राप्त करता है। हम देख चुके हैं कि जर्मन मनने किस प्रकार इन दोनों विचारोंको लिया और मानव-जीवनके वर्तमान तथ्योंके आधारपर उन्हें संयुक्त कर दिया। उसने इस बातकी पुष्टि की कि व्यक्ति पूर्णतया समुदाय, राष्ट्र अथवा राज्यके अधीन है। दूसरी ओर उतने ही बलके साथ उसने दूसरे राष्ट्रों अथवा संपूर्ण मानवजातिके यावत् राष्ट्रोंके किसी एक या सब समुदायोंके मुकाबलेमें एक पृथक् राष्ट्रके अहंपूर्ण निज-अस्तित्वका भी समर्थन किया।

परंतु राष्ट्रवादी एवं साम्राज्यवादी अहंके इस विचार तथा व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय स्वतंत्रता तथा पृथक्ताके पुरातन व्यक्तिवादी सिद्धांतके बीचमें चलनेवाले इस संघर्षके पीछे जातिके लिये मानव विश्व-मुक्तिवाद अथवा समवायवादका एक नूतन विचार ऊपर उभरनेका यत्न कर रहा है। यदि यह शक्तिशाली बननेमें सफल हो गया तो राष्ट्रीय पृथक्ता और स्वतंत्रताके आदर्शको यह उसी प्रकार अभिभूत कर सकता है जिस प्रकार स्वयं समाजमें उसने व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा पृथक् आत्म-परिपूर्णताके आदर्शको अभिभूत कर लिया है। राष्ट्रसे इस नवीन विचारकी माँग यह है कि वह अपनी मुक्त पृथक्ताको वृहत्तर समवायके जीवनमें चाहे मिला न दे, बलिदान न कर दे, परंतु उसके अधीन अवश्य कर दे, फिर वह समवाय चाहे साम्राज्यवादी समुदाय हो अथवा कोई महाद्वीपीय, अथवा सांस्कृतिक संघ हो, जैसा कि संयुक्त यूरोप अथवा मानवजातिके समग्र एकीकृत जीवनके विचारमें हो सकता है।

अनुभववादका सिद्धांत मानव-विचारधारा और कर्ममें प्रविष्ट होकर दृष्टिकोणमें, संचालक शक्ति और जीवनके स्वरूपमें तो अवश्य ही वड़ा परिवर्तन कर देता है, परंतु उसके अंगभूत तथ्योंमें वह पहले-पहल कोई अंतर उत्पन्न करता हुआ नहीं प्रतीत होता। अनुभववाद और वस्तुवाद एक ही प्रकारके आधारसे अर्थात् व्यक्ति और समुदायसे, इनमेंसे प्रत्येककी मन, प्राण तथा शरीरकी विविध-शक्तियोंवाली जटिल प्रकृति और उनकी आत्म-परिपूर्त्ति एवं समस्वरताके विधानकी खोजसे आरंभ करते हैं। परंतु वस्तुवाद विश्लेषणात्मक बुद्धिके आधारपर चलता हुआ समस्त समस्याको बाह्य तथा यांत्रिक दृष्टिसे देखता है। संसारको वह एक वस्तु, एक पदार्थ, एक ऐसी प्रक्रियाके रूपमें देखता है जिसका अध्ययन उसे एक आलोचक बुद्धिके द्वारा करना है। यह बुद्धि उन तत्त्वोंके तथा और जो कुछ उसे देखना है उसके समग्र रूपसे अपने-आपको भाव-रूपमें बाहर ही रखती है और इन सबका बाहरसे इस प्रकार निरीक्षण करती है जैसे कोई किसी जटिल यंत्रका निरीक्षण करता है। इस प्रक्रियाके नियमोंको कुछ इस प्रकारके बहुतसे यांत्रिक नियम या स्थिर शक्तियाँ माना जाता है जो व्यक्ति अथवा समुदायपर क्रियाशील रहती हैं और जब बुद्धिके द्वारा उनका निरीक्षण और विवेक कर लिया जाता है तब एक संकल्पके द्वारा अथवा किसी भी संकल्पके द्वारा उनका संगठन और पूर्ण प्रयोग करना होता है, यह प्रयोग बहुत कुछ उसी प्रकारका होता है जैसे विज्ञान अपने आविष्कृत नियमोंका प्रयोग करता है। व्यक्तिकी अपनी अमूर्त्त बुद्धि और संकल्पशक्ति, उसकी सत्ताके शेष भागोंसे अलग होकर एक शासक अधिकारीके रूपमें उसपर ये विधान अथवा नियम लागू करती है अथवा दूसरे व्यक्तियों अथवा समुदायके संकल्प और बुद्धियाँ उसपर ये नियम लागू करते हैं। ये विधान अथवा नियम स्वयं समुदायपर भी किसी ऐसे शासन-यंत्रका रूप धारण करनेवाली उसकी अपनी समन्वय-बुद्धि और संकल्पशक्तिके द्वारा जिसे मन समुदायके जीवनसे पृथक् मानता है अथवा किसी ऐसे अन्य समुदायकी बुद्धि और संकल्पशक्तिके द्वारा लागू करने होते हैं जो इससे बाहर है या जिसका वह स्वयं किसी-न-किसी रूपमें भाग है। इस प्रकार आधुनिक राजनीतिक विचारधारामें राज्यको अपने-आपमें ही इस प्रकारकी एक सत्ता माना जाता है मानो समाज और इसके व्यक्तियोंसे यह कोई पृथक् स्वतंत्र सत्ता हो, कोई ऐसी वस्तु हो जिसे अपने-आपको उनपर थोपनेका तथा किसी औचित्य, भलाई एवँ स्वार्थके विचारकी परिपूर्त्तिके लिये उनपर शासन करनेका अधिकार हो

और बजाय इसके कि इन वस्तुओंका विकास उनके अपने अंदर और उनके अपने ही द्वारा एक ऐसी वस्तुके रूपमें हो जिसकी ओर उनकी अपनी आत्मा और प्रकृति वृद्धि पानेके लिये अंत:प्रेरित हो, एक नियंत्रक और निर्मायक शक्ति इन वस्तुओंको बलात् उनपर थोप देती है। जीवनको एक सुव्यवस्था तथा सुसंचालनके द्वारा एवं एक ऐसे यंत्रके द्वारा, जिसमेंसे गुजरकर इसे उपयुक्त रूप दिया जाता है, परिचालित करना तथा समस्वरित और पूर्ण बनाना होता है। अपनेसे बाहरका एक विधान--व्यक्तिगत बुद्धिके द्वारा जब इस विधानका आविष्कार अथवा निर्णय होता है तथा व्यक्तिगत संकल्पके द्वारा जब इसे स्वीकार अथवा क्रियात्मक रूपमें लागू किया जाता है तब भी यह अपनेसे बाहरका ही रहता है--वस्तुवादका अधिशासक विचार है; व्यावहारिक कर्म-प्रणालीके विषयमें इसका दृष्टिकोण है व्यवस्था, क्रमस्थापन और पूर्णताकी यंत्रात्मक प्रक्रिया।

अनुभववाद अंदरसे आरंभ होता है और हरवस्तुको एक धारक तथा विकासशील आत्म-चेतनताकी दृष्टिसे देखता है। एतद्विषयक विधान हमारे अंदर रहता है; जीवन एक स्वयं सृजनकारी प्रक्रिया, एक वृद्धि एवं विकास है, जो पहले-पहल अवचेतन तथा फिर अर्धचेतन होता है और अंतमें अधिकाधिक पूर्णताके साथ उस सब कुछके प्रति सचेतन होता जाता है, जो कि हम गुप्त रूपमें हैं और जो हम अपने अंदर धारण किये हुए हैं। इसकी प्रगतिका सिद्धांत है एक बढ़ता हुआ आत्मानुबोध, आत्मानुभूति और इसके परिणाम-स्वरूप आत्मनिर्माण। बुद्धि और संकल्प आत्माकी केवल प्रभावशाली गतियाँ हैं; बुद्धि आत्माभिज्ञाकी एक प्रक्रिया और संकल्प आत्म-व्यापन और आत्म-निर्माणके लिये एक शक्ति है। इसके अतिरिक्त बुद्धि तथा बौद्धिक संकल्प उन साधनोंके अंगमात्र हैं जिनके द्वारा हम अपने-आपको पहचानते तथा अपनी अनुभूति प्राप्त करते हैं। अनुभववाद हमारी प्रकृति और सत्ताको एक विशाल और बहुमुखी दृष्टिसे देखनेकी तथा हमारे अंदर ज्ञान और कार्यसिद्धिकी बहुत-सी शक्तियोंको स्वीकार करनेकी प्रवृत्ति रखता है। यहाँतक कि बाह्य एवं वस्तुवादी रीतिसे परे अपनी पहली ही गतिमें यह बुद्धिके कार्यको गौण स्थान देकर उसके महत्त्वको कम कर देता है और बुद्धिके अधिकारके विरोधमें जीवन-प्रेरणा तथा मूलभूत अस्तित्व-संकल्प (Will-to-be) की श्रेष्ठताको स्वीकार करता है अथवा ज्ञानकी किसी ऐसी अधिक गभीर शक्तिका अस्तित्व स्वीकार करता है जिसे आजकल 'अंतर्बोध'की शक्ति कहते हैं। यह शक्ति पदार्थोंको उनके अखंड रूपमें, उनके सत्यमें, उनके अंदरकी समस्त गहनता एवं

समस्वरतामें जानती है जब कि बौद्धिक तर्क विश्लेषण करता है, मिथ्या-रूप दे देता है, वाह्य रूपोंकी स्थापना करता है और केवल एक यांत्रिक व्यवस्थाके द्वारा ही सामंजस्य स्थापित करता है। परंतु वस्तुतः हम देख सकते हैं कि इस अंतर्वोधसे अभिप्रेत हैं आत्म-सचेतनता अर्थात् पदार्थको उसके तत्त्व एवं रूपोंमें अनुभव करना, देखना और समझना, न कि उसके निजी सत्य, प्रकृति तथा शक्तियोंका उनके यांत्रिक रूपमें विश्लेपण करना। अनुभववादकी समस्त प्रेरणा आत्मातक पहुँचनेकी, आत्मामें रहनेकी, आत्मा द्वारा देखनेकी, आंतर और वाह्य रूपमें, पर सदा आंतरिक प्रेरणा तथा केंद्रसे, आत्माके सत्यको जीवनमें क्रियान्वित करनेकी होती है।

परंतु स्वयं आत्माके सत्यका प्रश्न तो रह ही जाता है, आत्मा क्या है, उसके रहनेका वास्तविक स्थान कहाँ है; और यहाँ अनुभववादको भी उन्हीं तत्त्वोंसे निपटना पड़ता है जिनसे जीवन तथा अस्तित्वके वस्तुवादी दृष्टिकोणको निपटना पड़ता है। हम व्यक्तिगत जीवन और चेतनाको ही आत्मा मानकर अपने-आपको उसमें केंद्रित कर सकते हैं और उसकी शक्ति, स्वतंत्रता, बुद्धिशील ज्ञान तथा संतृप्ति और आनंदको जीवनका उद्देश्य मान सकते हैं और इस प्रकार एक अनुभवात्मक व्यक्तिवादपर पहुँच सकते हैं। दूसरी ओर हम सामुदायिक चेतना, समवाय-आत्मापर भी वल दे सकते हैं, और इस प्रकार मनुष्यको इस समुदाय-आत्माकी ही एक अभिव्यंजनामात्र समझ सकते हैं; मनुष्य अपनी व्यक्तिगत एवं पृथक् सत्तामें अनिवार्यरूपेण अपूर्ण है और वह उस विशालतर सत्ताके द्वारा ही पूर्ण वन सकता है, इसलिये उसके जीवनको जातिकी वृद्धिशील शक्ति, कुशलता, ज्ञान, आनंद और निज परिपूर्णताके अधीन करनेमें, यहाँतक कि जातिकी वेदीपर उसकी वलि दे देनेमें भी हम प्रवृत्त हो सकते हैं; जिस परिमाणमें व्यक्ति समुदाय अथवा जातिके जीवन और उसकी उन्नतिके लिये अपने-आपको अर्पित कर सकता है, हम उसको उसी परिमाणमें महत्त्व देनेके लिये तैयार होते हैं उससे अधिक नहीं। हम व्यक्तिपर कठोरता करनेका तथा उसको वौद्धिक और व्यावहारिक रीतिसे इस वातकी शिक्षा देनेका अपना न्यायसंगत अधिकार मान सकते हैं कि समुदायके साथ अपने संबंधके अतिरिक्त व्यक्तिको किसी प्रकार स्वतंत्र जीवन यापन करनेका तथा अपने-आपको पूर्ण वनानेका कोई अधिकार नहीं है। तो फिर मनुष्यकी व्यक्तिगत विचारधारा, उसके कर्म तथा उसके अस्तित्वका निर्णय उपर्युक्त तथ्योंके द्वारा ही होगा और उसकी व्यक्तिगत सत्ताके लिये एक ऐसा विधान वनानेके अधिकारकी माँग, जो उसकी निज प्रकृतिका

विधान हो तथा जिसकी परिपूर्त्ति करना उसका स्वतःसिद्ध अधिकार हो, विचारकी स्वतंत्रताके लिये उसकी माँग जिसमें भूल करनेकी भी स्वतंत्रता अनिवार्यतः शामिल हो और कर्म करनेकी ऐसी स्वतंत्रताकी माँग जिसमें ठोकर खाने और पाप करनेकी स्वतंत्रता हो, सर्वथा उद्दण्डता और असंभव कल्पना ही मानी जायगी। तब सामूहिक आत्मचेतनाको हर अवसरपर व्यक्तिके जीवनमें हस्तक्षेप करनेका अधिकार होगा, उसे उसकी समस्त एकांतता तथा पृथक्तासे, उसकी अपने निजत्वमें समस्त एकाग्रता, अलगाव, समस्त स्वाधीनता एवं निज-पथ-प्रदर्शनसे वंचित कर देनेका अधिकार होगा और समुदायकी आत्म-संतुष्टिके लिये वह जिसे सर्वोत्कृष्ट विचारधारा, सर्वोच्च संकल्प और न्यायतः प्रमुख भाव, प्रवृत्ति तथा आवश्यकताकी भावना एवं कामना समझती है उसके अनुसार ही व्यक्तिके लिये भी वह प्रत्येक वस्तुका निर्णय करेगी।

परंतु इस 'स्व' (Self) के भावको हम विशाल भी बना सकते हैं और जिस प्रकार प्रत्यक्षवादी विज्ञान प्रकृतिकी एक ऐसी विश्वव्यापी शक्तिको अनुभव करता है जो एक ही वास्तविक सत्ता है और प्रत्येक वस्तु जिसकी एक प्रक्रियामात्र है, उसी प्रकार हम अनुभवात्मक आंतरिक रूपमें एक ऐसी विश्वजनीन (विराट्) सत्ता अथवा पुरुषके अनुभवपर पहुँच सकते हैं जो जगत्, व्यक्ति और समुदाय सबको अपनी आत्म-अभिव्यक्तिकी समान शक्तियोंके रूपमें समदृष्टिसे देखता हुआ उनमें अपनी परिपूर्त्ति सिद्ध कर रहा है। स्पष्ट ही, यही आत्मज्ञान बहुत हदतक ठीक हो सकता है, क्योंकि यह जगत्-प्रक्रियाके भिन्न-भिन्न पहलुओं और मानवताकी अनादि प्रवृत्तियोंको अधिक व्यापकतासे धारण करता है तथा उनका समाधान करता है। इस दृष्टिमें न तो व्यक्तिका पृथक् विकास और न ही समुदायका सर्वग्राही विकास आदर्श हो सकता है, अपितु दोनोंकी समान, साथ-साथ और जहाँतक हो सके समानांतर वृद्धि ही, जिसमें प्रत्येक दूसरेकी परिपूर्त्तिमें सहायक होता है, आदर्श हो सकती है। प्रत्येक व्यक्तिमें उसकी अपनी स्वतंत्र आत्मानुभूतिका सत्य तथा दूसरोंके जीवनमें निज आत्मानुभूतिका सत्य निहित होता है और जैसे-जैसे विशालता और शक्तिमें उसकी वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे उसे एक विराट् पुरुषकी समस्त व्यक्तिगत सत्ताओं और सब समवाय-सत्ताओंकी समस्वरतापूर्ण एवं स्वाभाविक वृद्धिकी अधिकाधिक अनुभूति तथा कामना करनी चाहिये एवं उसमें अधिक सहयोग देना तथा भाग लेना चाहिये। ठीक दृष्टिसे देखनेपर ये दोनों पृथक्, परस्परविरोधी

अथवा प्रवृत्तिके वस्तुतः प्रतिरोधी मार्ग नहीं प्रतीत होंगे प्रत्युत सामान्य अस्तित्वकी एक ही प्रेरणा और सहयोगी गतियाँ दिखायी देंगे जो एक-दूसरेसे पृथक् होकर एक समृद्धतर और विशालतर एकताके साथ तथा पारस्परिक परिणामके लिये एक-दूसरेमें पुनरपि आ मिलेंगे।

इसी प्रकार प्रत्यक्षवादी अन्वेषणके समान ही आत्माके लिये अनुभव-वादी खोज प्रधानतया सचेतन भौतिक जीवनके साथ तादात्म्य स्थापित करनेकी ओर प्रवृत्त हो सकती है, क्योंकि यहाँपर मानसिक और प्राणमय गतियों और सामर्थ्योंके लिये शरीर ही ढाँचा एवं निर्णायक आधार है अथवा वह ऐसा प्रतीत होता है। अथवा, यह खोज प्राण-सत्ताके साथ हमारे अंदरके प्राण-पुरुष और उसकी भावनाओं, कामनाओं, प्रेरणाओं और शक्ति, समृद्धि तथा अहंकारमय परिपूर्त्तिकी आकांक्षाओंके साथ अपना तादात्म्य कर सकती है। अथवा, यह इस धारणाकी ओर उठ सकती है कि मनुष्य मानसिक एवं नैतिक सत्ता है, यह उसकी आंतरिक वृद्धि, तथा शक्ति एवं पूर्णता—वैयक्तिक और सामूहिक—को प्रथम स्थान प्रदान करके इसे हमारे अस्तित्वके सच्चे उद्देश्यके रूपमें हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर सकती है। एक प्रकारका व्यावहारिक एवं बहिर्गत अनुभव-वादी जड़वाद एक संभव दृष्टिकोण है, परंतु इसमें अनुभववादी प्रवृत्ति देरतक नहीं टिक सकती। क्योंकि अनुभववादकी स्वाभाविक प्रेरणा सदा अंदरकी ओर जानेकी होती है और यह अपनी अनुभूति तथा संतुष्टि प्राप्त करना तभी आरंभ करती है जब कि इसे अंदर ही पूर्ण-सचेतन जीवन प्राप्त हो जाता है और जब इसे अपनी समस्त सामर्थ्य, अपना आनंद और अपनी शक्तिशाली संभाव्यताएँ परिपूर्णताके लिये दबाव डालती हुई दिखायी देने लगती हैं। इस स्थितिमें पहुँचकर मनुष्य अपने-आपको एक ऐसे गंभीर प्राणमय अस्तित्व-संकल्पके रूपमें अनुभव करने लगता है जो शरीरको एक यंत्रके रूपमें प्रयुक्त कर रहा है और मनकी शक्तियाँ जिसकी सेविकाएँ और मंत्रिणियाँ हैं। यह उस प्राणवादका स्वरूप है जिसने पिछले कुछ कालसे विविध आकर्षणकारी रूपोंमें मानवकी विचारधाराके निर्माणमें इतना बड़ा भाग लिया है और अभी भी उसपर बड़ा भारी प्रभाव डाल रहा है। इससे परे हम उस अनुभवात्मक आदर्शवादपर पहुँचते हैं जिसका अब उदय हो रहा है एवं जो मुख्यता प्राप्त करनेकी ओर अग्रसर है और जो मानवकी अंतरतम धार्मिक, सौंदर्यात्मक, अंतर्बोधात्मक, उसकी उच्चतम बौद्धिक तथा नैतिक, उसकी गभीरतम सहानुभूतिक और भावमय प्रकृतिकी परितृप्तिमें मानवकी परिपूर्त्तिका अभीप्सु है, एवं इनको ही हमारी

सत्ताकी पूर्णता और हमारे अस्तित्वका समस्त उद्देश्य मानते हुए भौतिक और प्राणमय जीवनका भी संचालन इनके अनुसार करना चाहता है। ये वस्तुएँ अपने-आपमें कोई स्वतंत्र मूल्य रखनेकी अपेक्षा विविध रूपोंमें प्रवाहित होते हुए अनुभवात्मक जीवनके संभाव्य चिह्न तथा यंत्र मानी जाने लगी हैं। रहस्यवाद और गुह्यवादकी ओर एवं प्राण तथा शरीरसे स्वतंत्र एक आत्माके अन्वेषणकी ओर एक विशेष प्रवृत्ति इस नवीन आंदोलनकी सहचरी है—व्यक्तिवाद तथा बहिर्मुख बुद्धिवादका आधिपत्य रह चुकनेके पश्चात् आधुनिक जीवनके लिये ये नूतन वस्तुएँ हैं—और इसकी वास्तविक दिशा और इसके निज स्वरूपको पुष्टि प्रदान करती हैं।

परंतु यहाँ भी अनुभववादके लिये और परे जाना तथा वास्तविक आत्माको मनसे भी कहीं अधिक विशाल वस्तुके रूपमें खोज निकालना संभव है। तब फिर मन, प्राण और देह तो इस जगत्‌में इस आत्माकी वृद्धिशील अभिव्यक्तिके यंत्रमात्र बन जाते हैं—ऐसे यंत्र जो प्रधानतामें तो इसके समान नहीं हैं, परंतु 'समस्त'में अपनी आवश्यकताकी दृष्टिसे इसके समान हैं, ताकि हमारी आत्माभिव्यंजनाके तत्त्वोंके रूपमें उनकी पूरी-पूरी पूर्णता, समस्वरता तथा एकता हमारे जीवनके सच्चे उद्देश्यके लिये अनिवार्य बन जाय। और, वस्तुतः वह उद्देश्य भी जीवन, शरीर और मनको अपने-आपमें पूर्ण करना नहीं, वरन् उन्हें विकसित करना होगा, जिससे कि वे हमारे आंतरिक एवं बाह्य जीवनमें उस ज्योतिर्मय आत्माको, उस गुप्त भगवान्‌को, जो हम सबमें, हर एक सत्ता, अस्तित्व, वस्तु एवं प्राणीमें एक है और फिर भी नाना-रूप है, अभिव्यक्त करनेके लिये उपयुक्त आधार और समर्थ यंत्र बन सकें। व्यक्तिगत तथा सामाजिक मानवजीवनका आदर्श तब उसका एक ऐसा प्रगतिशील रूपांतर होगा जिसमें वह परात्पर एवं विश्वात्माके आनंद, शक्ति, प्रेम, ज्योति एवं सौंदर्यमें सचेतन रूपसे विकसित होता जायगा।

सातवाँ अध्याय

सामाजिक विकासका आदर्श विधान

हमारी प्रगतिका सच्चा विधान एवं हमारे सामाजिक अस्तित्वका संपूर्ण उद्देश्य हमारे सम्मुख तभी स्पष्ट हो सकता है जब कि हम आधुनिक विज्ञानके समान न केवल यह ही जान लें कि मनुष्य अपने भूतकालिक भौतिक और प्राणिक विकासमें क्या कुछ रहा है, अपितु यह भी कि उसका भावी मानसिक एवं आध्यात्मिक भाग्य और प्रकृतिके विकासक्रममें उसका स्थान क्या है। यही कारण है कि मानव-प्रगतिमें अनुभवात्मक युग सदा ही अपरिमेय रूपमें अधिक फलप्रद एवं निर्माणकारक होते हैं। दूसरे युगोंमें वह उस आंतरिक वास्तविकताके किसी ऐसे बाह्य आकार, मूर्त्ति अथवा प्रकारको ही ग्रहण करता है जिसे प्रकृति उसके अंदर अभि-व्यक्त करनेका प्रयास कर रही है, या फिर वह किसी यांत्रिक प्रवृत्तिका अनुसरण करता है अथवा प्रकृतिके बाह्य प्रभावोंके साँचेमें अपने-आपको ढाल लेता है। परंतु यहाँ अनुभवात्मक रीतिसे अपने अंदर लौटकर वह पुनः अपने निजत्वको प्राप्त कर लेता है, पुनः अपने जीवन तथा उसकी अनंत संभावनाओंके मूलतक पहुँच जाता है और एक नवीन एवं पूर्ण आत्म-सृजनकी शक्तिशाली संभावना उसके क्षितिजमें उदित होने लगती है। वह प्रकृतिमें अपना वास्तविक स्थान जान लेता है एवं अपने भाग्यकी महानताके प्रति उसकी आँखें खुल जाती हैं।

अस्तित्व एक अनंत और इसीलिये वर्णनातीत एवं असीम वास्तविकता है जो जीवनके बहुविध मूल्योंमें अपने-आपको मूर्त्तिमान् करती है। कम-से-कम हमारे अस्तित्वके क्षेत्रमें इसका आरंभ इसके अपने एक भौतिक रूपसे होता है। वह रूप ठोस पदार्थका एक ऐसा साँचा होता है जिसके भीतर तथा जिसके आधारपर वह जगत्, पृथ्वी एवं शरीरकी सृष्टि कर सकता है। उनपर वह अपनी दृढ़ छाप लगाता है और अपनी गतिविधिके मौलिक विधानको निश्चित कर लेता है। वह विधान यह है कि सब वस्तुएँ अपनी सत्ता और मूलमें एक हैं, अपने अस्तित्वके सामान्य विधानमें, अपनी परस्पर-निर्भरतामें तथा अपने संबंधोंकी सर्वसामान्य शैलीमें एक हैं। परंतु लक्ष्य एवं सत्ताकी इस एकताको प्रत्येक अपनी ही विधिसे

सिद्ध करता है और प्रत्येकके लिये विभिन्नताका भी एक अपना ही विधान होता है जिसके अनुसार वह विश्वजीवनको समृद्ध बनाता है। जड़तत्त्वमें विभिन्नता परिसीमित होती है; प्रकारोंका भेद तो होता है, परंतु साधारण-तया प्रत्येक प्रकारके व्यक्तियोंमें समानता होती है। इन व्यक्तियोंकी अपनी अलग गति होती है, फिर भी उस गतिमें एक समानता रहती है। कुछ सूक्ष्म-से भेदके साथ वे एक विशेष प्रकारकी शैलीका अनुसरण करते हैं और उनमें एक ही प्रकारके गुणोंका संग्रह रहता है। ब्योरेकी छोटी-छोटी समानताओंको छोड़कर एक ही प्रकारमें विभिन्नताकी प्राप्ति उस वर्गमें उपजातियोंके भेद उत्पन्न करके सिद्ध की जाती है। ये उप-जातियाँ एक ही जातिके सामान्य प्रकार, वर्ग एवं उपवर्गका भाग होती हैं। मनके स्वचेतन हो जानेसे पहले जीवनके विकासमें इस नियमकी ही प्रधानता रहती है। परंतु जैसे-जैसे जीवन प्रगति करता है और विशेषकर जब मन प्रकट होता है तब व्यक्तिमें भी, उसी अनुपातमें, और अधिक विशाल एवं महत्त्वपूर्ण विभिन्नताकी सामर्थ्य उत्पन्न होती जाती है। निःसंदेह, उसे प्रकृतिके तथा अपने वर्गके सामान्य विधानके अनुसार प्रगति करनेकी स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है, परंतु साथ ही अपनी सत्ताके व्यक्तिगत विधानके अनुसार प्रगति करनेकी स्वतंत्रता भी वह प्राप्त कर लेता है।

मनुष्य जो कि प्रकृतिगत मनोमय प्राणी है, प्रकृतिके कम विकसित प्राणियोंसे अपने व्यक्तित्वकी अधिक विकसित शक्तिके कारण तथा उस मनोमय चेतनाके उन्मुक्त होनेके कारण भिन्न है जिसके द्वारा अंतमें वह अपने-आपको, सत्ताके अपने विधानको और अपने विकासकी प्रगतिको अधिकाधिक समझ सकता है, वह उनसे उस मनोमय संकल्पशक्तिके उन्मुक्त होनेके कारण भी भिन्न है जिसके द्वारा विराट् संकल्पशक्तिके गुप्त नियंत्रणमें वह अपने साधनों और विकासकी धाराओंकी अधिकाधिक व्यवस्था कर सकता है, और अपनी उस सामर्थ्यके कारण भी, जिसके द्वारा वह अंतमें अपने-आपसे एवं अपनी मनोमयतासे ऊपर उठ सकता है और उस सत्ताके प्रति अपनी चेतनाको उद्घाटित कर सकता है जिसके अंदरसे मन, प्राण एवं शरीर निःसृत होते हैं। चाहे इस समय कितनी ही अधूरी रीतिसे हो परंतु फिर भी अपनी उच्चतम अवस्थामें वह उस सद्वस्तुकी, जो उसकी सच्ची सत्ता है, किसी चेतनाको प्राप्त कर सकता है, जैसा कि पार्थिव प्रकृतिमें कोई दूसरी सत्ता नहीं कर सकती; वह सचेतन रूपमें आत्मतत्त्व, 'विचार' एवं 'संकल्प'को अधिकृत कर सकता है जिनसे कि वह निर्मित

हुआ है और इनके द्वारा ही वह अपनी प्रकृतिका स्वामी बन सकता है, आजकी भाँति अभिभूत कर लेनेवाली परिस्थितियोंसे निरंतर जूझनेवाला नहीं, अपितु अपनी प्रकृतिका अधिकाधिक अधीश्वर बन सकता है। ऐसा करनेके लिये मनके द्वारा और मनसे भी परे के साधनोंके द्वारा आत्मातक प्रकृतिमें अपने-आपको अभिव्यंजित करनेवाली आत्मातक पहुँचना और अपनी सत्तामें, अपनी शक्ति, अपनी चेतना, अपने संकल्प एवं अपने ज्ञानमें उसके साथ एक हो जाना तथा मानव एवं भागवत रीतिसे अपने-आप तथा जगत् दोनोंको अधिकृत करना ही—न केवल मानव-अस्तित्वके विधान एवं स्वभावके अनुसार परंतु भगवान्‌में मानव-अस्तित्वकी परिपूर्ति एवं जगत्‌में भगवान्‌की परिपूर्त्तिके सिद्धांतके अनुसार भी—मानवकी भवितव्यता है और उसके व्यक्तिगत एवं सामाजिक अस्तित्वका लक्ष्य है*।

यह सब पहले-पहल व्यक्तिके द्वारा ही संपन्न किया जाता है और इसी उद्देश्यके लिये मनुष्य व्यक्तिगत आत्मा बना है ताकि वह 'एक' अपने-आपको प्रत्येक मानव-सत्तामें देख सके और अभिव्यक्त कर सके। व्यक्तिगत मानव-सत्ता इस उद्देश्यको बिना किसी सहायताके अपनी ही मनःशक्तिके द्वारा पूरा नहीं कर सकती। उसे अपनी मानसिकताके ऊपर अपनी अतिचेतन सत्तामें निहित गुप्त भगवान्‌की सहायताकी आवश्यकता है, अपने इर्द-गिर्द प्रकृतिमें एवं साथी मनुष्योंमें विराजमान गुप्त भगवान्‌की भी उसे आवश्यकता है। प्रकृतिकी प्रत्येक वस्तु मानवको अपने अंदरकी दिव्य संभावनाका विकास करनेके लिये अवसर प्रदान करती है। और, यह ऐसा अवसर है जिसका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करनेकी मनुष्यको सापेक्ष स्वतंत्रता प्राप्त है, यद्यपि साधनोंका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग दोनों ही अपने परिणामोंमें विराट् संकल्पशक्तिके द्वारा इस प्रकार शासित होते हैं कि अंततः वे उसकी सत्ता एवं भवितव्यताके विकासमें उसके सहायक ही सिद्ध होते हैं। उसके इर्द-गिर्दका समस्त जीवन उसके अंदरके भागवत उद्देश्यकी सिद्धिके लिये एक सहायता है, प्रत्येक मानव उसका सहकर्मी है

*यह कहा जा सकता है कि, क्योंकि मनुष्य एक ऐसी मनोमय सत्ता है जो मन, प्राण एवं शरीरके द्वारा परिसीमित है, मनसे परेकी इस शक्ति अर्थात् अतिमानसिक शक्ति के विकास तथा संगठनका अर्थ एक नवीन मानवोत्तर जातिका सृजन होगा और उसके लिये मानव तथा मानवोचित शब्दोंका प्रयोग उपयुक्त नहीं रहेगा। निःसंदेह यह सत्य है, परंतु मानवजातिकी संभाव्य भवितव्यता भी विद्यमान है, चाहे सबके लिये समान रूपमें या एक ही समयमें न हो परंतु सबके लिये एक अंतिम परिणतिके रूपमें तो यह विद्यमान है ही।

और वह सहयोग और एकताके द्वारा अथवा संघर्ष एवं विरोधके द्वारा उसकी सहायता करता है। वह अपनी भवितव्यताको व्यक्तिगत 'पुरुष'के रूपमें और व्यक्तिगत आत्माके लाभके लिये ही नहीं सिद्ध करता,—अकेली अपनी मुक्ति ही उसका संपूर्ण आदर्श नहीं है—परंतु जगत्के लिये अथवा जगत्में भगवान्के लिये, सबके अंदर और साथ ही सबके ऊपर विराजमान भगवान्के लिये वह मुक्तिका अभिलाषी है, न कि सबसे अलग केवल एक व्यक्तिके अंदर भगवान्के लिये। इसे वह वास्तवमें अपने पृथक् व्यक्तिगत संकल्पके दबावके द्वारा नहीं, अपितु अपने विकासचक्रके लक्ष्यकी ओर अग्रसर विराट् संकल्पकी गतिके दबावसे सिद्ध करता है।

इसलिये जैसे-जैसे वह अपनी सत्ता, प्रकृति और भवितव्यताके सच्चे स्वरूपके प्रति सचेतन होता जाता है और आजकी भाँति इसके केवल एक भागके प्रति ही जाग्रत् नहीं रहता, वैसे-वैसे सारे समाजका भी यह उद्देश्य बन जाना चाहिये और बन ही जायगा कि वह प्रथम जीवन और वृद्धिके लिये ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करे जिनसे मानवव्यष्टि—अलग-अलग व्यक्ति या वर्ग अथवा कोई विशेषाधिकार-युक्त जाति नहीं, अपितु अपनी-अपनी सामर्थ्यके अनुसार व्यक्तिगत रूपमें सब मनुष्य—और मानव-जाति अपने व्यक्तियोंकी प्रगतिके द्वारा इस दिव्य पूर्णताकी ओर पग बढ़ा सके। दूसरे, जैसे-जैसे मानवजाति जीवनमें भगवान्के किसी स्वरूपके अधिकाधिक समीप पहुँचती जाय और अधिकाधिक मनुष्य इसतक पहुँचने लगें—क्योंकि युगचक्र अनेक होते हैं और प्रत्येक चक्रमें मनुष्यके अंदरके भगवान्का एक विशेष स्वरूप होता है—वैसे-वैसे प्रकाश, शक्ति, सौंदर्य, समस्वरता एवं आत्माके आनंदको जो प्राप्त किये जा चुके हैं और जो एक अधिक मुक्त एवं श्रेष्ठतर मानवतामें अपने-आपको उँडेल रहे हैं, मानव-जातिके साधारण जीवनमें अभिव्यक्त करना उसका उद्देश्य बनते जाना चाहिये। स्वतंत्रता और समस्वरता, दोनों, विभिन्नता तथा एकताके दो आवश्यक तत्त्वोंको अभिव्यक्त करती हैं,—स्वतंत्रता व्यक्ति, समुदाय एवं जातिकी, और समस्वरता जो कि सह-योजित हो व्यक्तिकी शक्तियोंकी, समुदायमें सब व्यक्तियों, जातिगत समुदायों तथा मानवजातिके अंदरकी सब जातियोंके प्रयत्नोंकी,—ये दो स्वस्थ प्रगति एवं सफल प्राप्तिके लिये आवश्यक परिस्थितियाँ हैं, इन्हें सिद्ध करने और इन्हें मिला देनेके लिये मानवजातिने अपने समस्त इतिहासमें अज्ञानके साथ अथवा अधूरे ज्ञानके साथ सदा प्रयत्न किया है। यह कार्य वस्तुतः बहुत कठिन है एवं सर्वथा अधूरे तरीकेपर समझा गया है और बुद्धि और इच्छाओंने कुछ इस प्रकारके

परंतु मानवजातिकी इस सामान्य प्रवृत्ति एवं सामान्य भवितव्यताके अंतर्गत प्रत्येक मनुष्यको, व्यक्तिगत रूपमें, इस सामान्य उद्देश्यका अनुसरण अपनी निज प्रकृतिकी धाराके अनुसार करना है और अंतरसे ही वृद्धि प्राप्त करते हुए अपनी संभाव्य पूर्णता तक पहुँचना है। केवल इस प्रकार ही मानवजाति किसी गंभीर, जीवंत और दृढ़मूलवस्तु तक पहुँच सकती है। समुदायमें यह प्रकृति किसी पाशविक, तमोमय अथवा यांत्रिक रीतिसे नहीं लायी जा सकती। सामुदायिक आत्माको यह समझनेका कोई अधिकार नहीं कि व्यक्ति उसके शरीरका केवल एक क्षुद्र कोष्ठक है, उसके भवनकी एक ईंटमात्र है, उसके सामुदायिक जीवन और वृद्धिका एक निष्क्रिय यंत्र है। मानवताका निर्माण इस ढंगसे नहीं हुआ है। यदि हम इस तत्त्वको दृष्टिमें नहीं रखते कि प्रत्येक मानव व्यक्तिगत रूपमें एक आत्मा है और समस्त मानव-शक्यताएं उसकी अपनी सत्तामें ही केंद्रित हैं तो हम मानवके अंदरकी दिव्य सत्ता तथा मानव-जन्मके गुप्त रहस्यको नहीं समझ सकते। मानवको इसी संभाव्य शक्तिको ढूंढ़ निकालना है, विकसित करना है एवं अपने अंदरसे बाहरकी ओर कार्यान्वित करना है। कोई शासन, कोई विधाननिर्माता अथवा सुधारक उसे सर्वथा ठीक-ठीक किसी एक निर्दोष नमूनेमें नहीं गढ़ सकता, कोई धर्म-संप्रदाय अथवा पुरोहित बाह्य क्रियाओंके द्वारा उसे मुक्ति प्रदान नहीं कर सकता, कोई धर्मसंघ, जातिगत जीवन अथवा आदर्श, कोई राष्ट्र, संस्कृति अथवा मतवाद अथवा कोई नैतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक शास्त्र स्थिर रूपमें उसको यह आदेश देनेका अधिकारी नहीं माना जा सकता कि "तुम मेरे इस तरीकेपर और इस सीमा तक कर्म एवं प्रगति कर सकते हो और किसी अन्य रीतिसे चलनेकी अथवा इससे अधिक उन्नति करनेकी तुम्हें अनुमति नहीं दी जायगी।" ये वस्तुएँ अस्थायी रूपमें उसकी सहायक हो सकती हैं अथवा नियंत्रणका काम कर सकती हैं और जितना वह इनका प्रयोग कर सकता है और फिर इन्हें भी पार कर इनकी सहायतासे अपने व्यक्ति-भावका नियमन और शिक्षण कर सकता है पर अंतमें इसके दिव्य स्वातंत्र्यकी प्रस्थापना कर सकता है, उतना ही वह प्रगति करता है। अनादि कालसे ही वह युगक्रमोंका यात्री है और उसका मार्ग सदा आगे की ओर है।

यह सत्य है कि उसका जीवन और उसकी प्रगति संसारके लिये है, परंतु अपने जीवन और अपनी प्रगतिसे वह संसारको उतनी ही सहायता प्रदान कर सकता है जितना कि वह उन्मुक्त और विशाल रूपमें अपने वास्तविक आत्मस्वरूपमें स्थित होता है। निःसंदेह उसे अपने मार्गमें

संबंध होता है, समृद्ध बनाता है। आधुनिक कालमें यह समाज ही राष्ट्र है। राष्ट्रीय जीवनको समृद्ध बनाकर ही वह मानवताके समग्र जीवनकी सहायता करता है, यद्यपि उसकी सहायताका केवल यही एक रूप नहीं है। परंतु यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि वह सीमाबद्ध नहीं है और इन संगठनोंमें से किसीके भी द्वारा वह आबद्ध नहीं किया जा सकता। वह न तो सामंत, व्यापारी, योद्धा, पुरोहित, विद्वान्, कलाकार, किसान अथवा कारीगरमात्र है और न केवल कोई धर्मावलम्बी, दुनियादार अथवा राजनीतिज्ञ ही है; न ही वह अपनी राष्ट्रीयतामें सीमित हो सकता है, वह केवल अंग्रेज अथवा फ्रांसीसी, जापानी अथवा भारतीय ही नहीं है। यदि अपने एक भागमें वह एक राष्ट्रका है तो अपने दूसरे भागमें वह उससे आगे बढ़कर मानवतासे संबंधित हो जाता है। उसमें एक ऐसा भाग भी है जो मानवता तक ही सीमित नहीं है और वह सबसे बड़ा भाग है। उस भागमें वह भगवान्से, सब प्राणियोंके जगत्से तथा भविष्यके देवताओंसे संबंधित है। निःसंदेह उसमें अपने-आपको सीमित कर लेने और अपनी पारिपार्श्विक स्थितियों और समुदायके अधीन कर देनेकी प्रवृत्ति भी है, परंतु साथ ही उतनी ही आवश्यक उसमें विस्तार पानेकी एवं परिस्थिति और संस्थाओंसे ऊपर उठ जानेकी प्रवृत्ति भी है। एक पशु, व्यक्तिगत रूपमें पूर्णतः अपने वर्ग-वैशिष्ट्यसे अधिकृत होता है और जब वह अपना एक गिरोह बना लेता है तो उस गिरोहके अधीन हो जाता है। व्यक्तिगत रूपमें मनुष्यने जगत्में अभिव्यक्त आत्माकी अनंतता, जटिलता और उन्मुक्त विविधताका कुछ-कुछ भागी बनना आरंभ कर दिया है। और, यदि उसकी व्यवस्थित बाह्य प्रकृतिमें उन वस्तुओंका कोई चिह्न नहीं मिलता तो कम-से-कम उसकी संभाव्य शक्तिमें तो ये विद्यमान हैं ही; यह केवल कोई रूप-रेखारहित अनिश्चित तत्त्व नहीं है, यह तो निरंतर प्राप्त होनेवाले उपादानको अधिक-से-अधिक हस्तगत करके एवं उसे निरंतर आत्मसात् करके और अपने व्यक्तिगत स्वभावके विधानके अनुसार उसे अपनी वृद्धि एवं दिव्य विस्तारमें सहायक तत्त्वके रूपमें रूपांतरित करके अपने-आपको समृद्ध बनानेकी उसकी प्रवृत्ति है।

इस प्रकार समुदाय व्यक्ति और मानवताके बीचकी स्थिति है एवं वही महत्त्व रखता है जो कि मध्यस्थका होता है। इसका अस्तित्व केवल अपने लिये नहीं है, अपितु उन दोनोंके लिये भी है और उनकी पारस्परिक परिपूर्त्तिमें सहायता करनेके लिये है। व्यक्तिको मानवजातिमें निवास करना है और इसी प्रकार मानवजातिको भी व्यक्तिमें निवास

करना है। परंतु मानवजाति एक इतना बड़ा समुदाय है और सदा रहा है कि यह अन्योन्य-भाव मानवजातिके सामान्य मनमें न तो अधिक घनिष्ठ ही बन सका और न इसका अधिक अनुभव ही किया जा सका; यदि मानवता जीवनकी एक सुसंचाल्य इकाई बन भी जाय तो भी सामूहिक विभेद बनाये रखनेके लिये और समग्र मानव-समुदायकी विभिन्न प्रवृत्तियोंको केंद्रित एवं संयुक्त करनेके लिये मध्यके वर्ग और समुदाय तो रहेंगे ही। इसलिये कुछ समयके लिये समाज अर्थात् बिरादरी व्यक्तिके लिये मानवताके स्थानपर विराजमान रहेगी ही, चाहे इसे व्यक्ति और मानवताके बीचमें रोधक बनकर क्यों न खड़ा होना पड़े और व्यक्तिके विश्व-व्यापकताके भाव और सहानुभूतिकी विशालताको सीमित ही क्यों न करना पड़े। फिर भी बिरादरी, समाज या राष्ट्रका अपनी ही उन्नति, पूर्णता तथा महानताकी प्राप्तिको मनुष्यके जीवनका एकमात्र उद्देश्य मान लेना अथवा व्यक्ति एवं शेष मानवजातिके मुकाबलेमें केवल अपने लिये ही जीवित रहना, आत्मरक्षणके रूपमें अथवा आक्रमणके रूपमें इनमेंसे एकको मनमानी रीतिसे अधिकृत कर लेना और दूसरेके विरुद्ध अपने विरोधपूर्ण स्व-ख्यापनको जगत्‌में अपने कर्मका विधान बना लेना—एक अस्थायी आवश्यकता नहीं जैसी कि वह दुर्भाग्यसे है—समाजों, जातियों, धर्मों, बिरादरियों, राष्ट्रों एवं साम्राज्योंका यह अधिकार-प्रदर्शक व्यवहार स्पष्ट ही उसी प्रकार मन व बुद्धिकी एक भूल है, जिस प्रकार व्यक्तिका अपने अहंकारमें अपने लिये ही जीवित रहनेका दावा एक गलती और सत्यका भ्रंश है।

इस गलतीके द्वारा जिस सत्यको विकृत रूप दिया जाता है वह बिरादरी एवं व्यक्ति दोनोंके लिये समान है। राष्ट्र अथवा बिरादरी एक ऐसा संगठित जीवन है जो मानव-प्रकृतिके सामान्य नियमोंके अनुसार आत्माकी अभिव्यंजना करता है और अपनी सत्ताके विधानके अनुसार और अपने समष्टिगत व्यक्तित्वकी प्रकृतिके अनुसार अपने निजविकास एवं अपनी भवितव्यताके अनुशीलनके द्वारा मानवजातिके विकास और भवितव्यताके कार्यमें सहायता पहुँचाता है और आंशिक रूपमें उसकी पूर्ति करता है। व्यक्तिके समान ही उसको भी अपना निजी अस्तित्व रखनेका अधिकार है। दूसरे राष्ट्रोंके द्वारा अपनी राष्ट्रीयताके अपहरणके विरुद्ध तथा मानवजातिकी एकरूपता एवं उसके सैनिक नियंत्रणके किसी उग्र प्रयास द्वारा अपने पृथक् विकासपर आक्रमणके विरुद्ध अपने अस्तित्वकी रक्षा करनेका उसे उचित अधिकार है। अपने निजत्वके अनुसार जीवन

यापन करनेके लिये आग्रह करनेका और उसके अपने अंदर निहित अपने गुप्त भावके अनुसार निरंतर विकास करनेका अथवा यूँ कहें कि अपनी प्रकृतिके विधानके अनुसार चलनेका उसे पूरा अधिकार है। अपने इस अधिकारकी उसे न केवल अपने लिये अथवा मुख्य रूपमें अपने लिये ही, अपितु मानवताके लाभके लिये भी पुष्टि करनी चाहिये। क्योंकि हम वस्तुतः उन्हीं अवस्थाओंको अपना अधिकार कह सकते हैं जो हमारे मुक्त एवं समुचित विकासके लिये आवश्यक हैं, और फिर यहाँ इसलिये भी हमारा अधिकार है कि यह संसारके विकासके लिये एवं मानवजातिकी भवितव्यताकी परिपूर्त्तिके लिये भी आवश्यक है।

परंतु किसी व्यक्तिके समान ही समुदाय अथवा राष्ट्रके लिये अपने निजत्वमें रहनेके अधिकारका यह तात्पर्य नहीं है कि साहीके समान वह अपने-आपको सिकोड़ ले, अपने कट्टर आग्रहोंमें, पक्षपातों, सीमाओं, अपूर्णताओं, अपनी भूतकालकी एवं वर्तमान कालकी सफलताओंके आकार अथवा ढाँचेमें अपने-आपको बंदी बना ले और शेष संसारके साथ मनोमय अथवा भौतिक व्यापार एवं आदान-प्रदानसे अथवा आध्यात्मिक या व्यावहारिक रीतिसे मिलने-जुलनेसे इनकार कर दे, क्योंकि इस प्रकार वह न तो उन्नति कर सकता है और न अपने-आपको पूर्ण ही बना सकता है। जिस प्रकार व्यक्ति दूसरोंके जीवनके सहारे जीवित रहता है उसी प्रकार राष्ट्र भी दूसरे राष्ट्रोंके आधारपर, उनसे अपने मनोमय, आर्थिक एवं भौतिक जीवनके लिये उपादान प्राप्त करके ही, जीवित रहता है। परंतु राष्ट्रको यदि सुरक्षित रीतिसे जीवित रहना है तथा स्वस्थ संवृद्धि प्राप्त करनी है तो उसे इस उपादानको अपनी निज प्रकृतिके विधानके अनुसार आत्मसात् करना एवं उसके अधीन रखना होगा, उसे परिवर्तित करके अपने ही तत्त्व जैसा बना लेना होगा एवं अपने उन्मुक्त संकल्प तथा चेतनाके द्वारा उससे काम लेना होगा। दूसरेकी प्रकृतिके सिद्धांत अथवा नियमका उसपर बलात् लागू किया जाना अथवा उसके अपने व्यक्तित्वको नष्ट करनेके लिये दबाव डालना स्वयं उसके अस्तित्वके लिये ही खतरा है, उसकी सत्ताको क्षति पहुँचाना है, उसके पैरोंमें बेड़ियाँ डाल देना है। जिस प्रकार व्यक्तियोंका अपने अंदरसे उन्मुक्त विकास समुदायकी वृद्धि तथा पूर्णताके लिये सर्वोत्तम परिस्थिति है, उसी प्रकार समुदाय अथवा राष्ट्रका भी अपने अंदरसे उन्मुक्त विकास मानवजातिकी वृद्धि एवं पूर्णताके लिये सर्वोत्तम अवस्था है।

इस प्रकार व्यक्तित्वका अपने अंदरसे उन्मुक्त विकास सिद्ध करना

ही व्यक्तिका विधान है, परंतु साथ ही दूसरोंके उसी प्रकारके उन्मुक्त विकासका सम्मान करना, उसमें सहायता देना और उनसे स्वयं सहायता प्राप्त करना भी इसी विधानमें शामिल है। अपने जीवनको समाजके जीवनके साथ सुसमन्वित कर देना और वृद्धि एवं पूर्णताके लिये एक विकास-शक्तिके रूपमें अपने-आपको मानवताके ऊपर उँडेल देना भी उसका विधान है। इसके समान ही राष्ट्र एवं समुदायका भी यह विधान है कि वह व्यक्तिके विकासमें सहायता करते हुए तथा व्यक्तिसे पूरा लाभ उठाते हुए परंतु साथ ही दूसरे राष्ट्रों एवं समुदायोंके उन्मुक्त विकासका सम्मान करते हुए, उनकी सहायता करते हुए और उनसे सहायता प्राप्त करते हुए अपने अंदरके उन्मुक्त विकासके द्वारा अपने सम्मिलित जीवनमें पूर्णता लाये; साथ ही मानव समुदायके जीवनके साथ अपने जीवनको सुसमन्वित कर देना और वृद्धि एवं पूर्णताकी साधक एक शक्तिके रूपमें अपने-आपको मानवतापर उँडेल देना भी उसके विधानका एक भाग है। मानवजातिका विधान यह है कि वह अपने-आपमें भगवान्‌की सिद्धि एवं अभिव्यक्तिके लिये समस्त व्यक्तियों, राष्ट्रों एवं मनुष्योंके समुदायोंके उन्मुक्त विकास और संसिद्धियोंका पूरा लाभ उठाते हुए अपने विकासकी ऊर्ध्वगति का अनुसरण करे और उस दिनके लिये कार्य करती जाय जबतक कि वह केवल आदर्श रूपमें ही नहीं, अपितु वास्तविक रूपमें भी एक भागवत परिवार बन सकेगी। परंतु अपना एकीकरण कर लेनेके पश्चात् भी उसे अपने व्यक्तियों और अपने अंतर्गत समुदायोंके उन्मुक्त विकास एवं कर्मका सम्मान करना होगा, उनकी सहायता करनी होगी और उनसे सहायता प्राप्त करनी होगी।

स्वभावत: यह एक ऐसा आदर्श विधान है जिसे इस अपूर्ण मानवजातिने अभीतक वास्तविक रूपमें कभी हस्तगत नहीं किया और आगे भी हस्तगत करनेमें बहुत समय लग सकता है। मानव आप अपना स्वामी नहीं है, बल्कि वह अपने-आपको पा लेनेके लिये यत्नशीलमात्र है; वह सचेतन रूपमें कुछ न समझता हुआ, स्थूल रीतिसे, अवचेतन अथवा अर्धचेतन रूपमें अपनी प्रकृतिके विधानकी प्रेरणाको मानते हुए, ठोकरें खाते हुए, झिझकते और अटकते हुए एवं अपने ऊपर और दूसरोंपर अत्याचारके लंबे क्रमके पश्चात् सत्य और असत्य, उचित और अनुचित, दबाव और विद्रोह एवं भद्दी व्यवस्थाओंके द्वारा आगे बढ़ा है; अभीतक न तो उसे ज्ञानकी वह विशदता ही प्राप्त है, न मनकी वह लचक और न स्वभावकी वह विशुद्धता, जो उसे विरोध और सैनिक नियंत्रण, दबाव, जोड़-तोड़

तथा कलहके विधानके स्थान पर स्वतन्त्रता एवं समस्वरताके विधानका अनुसरण करनेकी सामर्थ्य प्रदान कर सकती है। फिर भी जब ज्ञानकी वृद्धि हो रही है और अपूर्व द्रुतगतिसे इसका विस्तार हो रहा है, जब योग्यता सर्वसाधारणगत वस्तु बन रही है, जब मनुष्य तथा राष्ट्र एक-दूसरेके समीप खिच रहे हैं और आंशिक रूपमें एकतामें बँध रहे हैं,—यद्यपि यह असमाधेय, अस्तव्यस्त उलझनसे युक्त गड़बड़झालेकी ही एकता है,—जब कि एक-दूसरेका परिचय प्राप्त करनेके लिये वे बाध्य किये जा रहे हैं और अपने निजके विषयमें, मानवजाति, भगवान् एवं जगत्के विषयमें अधिक गंभीर रीतिसे ज्ञान प्राप्त करनेके लिये प्रेरित हो रहे हैं, जब मनुष्यों तथा राष्ट्रोंके लिये आत्मानुभूतिका विचार सचेतन रूपसे सामने आ रहा है, तब एक अनुभवप्रधान युगका यही मुख्य कार्य है। इस प्रकारके युगमें मानवका यही स्वाभाविक कार्य है और यही उसकी सज्ञान आशा होनी चाहिये कि वह अपने-आपको सच्ची रीतिसे जाने तथा अपनी सत्ता और अपने विकासके आदर्श विधानको खोज निकाले और यदि फिर भी वह अपनी अहंमय प्रकृतिके कारण आदर्श रीतिसे उसका अनुसरण न कर सके, तो भी वह उसे सदा अपने सम्मुख अवश्य रखे और धीरे-धीरे वह मार्ग ढूँढ़ ले जिसके द्वारा वह उसके व्यक्तिगत एवं सामाजिक अस्तित्वका अधिकाधिक विधायक तत्त्व बन सके।

आठवाँ अध्याय

सभ्यता तथा बर्बरता

एक बार जब हमने यह निश्चय कर लिया कि पूर्ण व्यक्तित्व तथा पूर्ण आदान-प्रदानका यह नियम ही व्यक्ति, समुदाय तथा जातिका आदर्श विधान है और एक मुक्त विभिन्नताके बीचमें पूर्ण ऐक्य, यहाँतक कि एकीकरण ही उसका लक्ष्य है, तो अब हमें अधिक स्पष्ट रूपसे यह समझने का यत्न करना है कि जब हम आत्मानुभूतिको व्यक्तित्व एवं सामाजिक विकासका गुप्त अथवा प्रकट प्रयोजन कहते हैं, तो इससे हमारा क्या तात्पर्य होता है। अभी हमें मानवजातिको एक इकाई मानकर संपूर्ण जातिके विषयमें विचार नहीं करना है, अभी तो राष्ट्र ही हमारी सबसे बड़ी, ठोस और जीवंत इकाई है। व्यक्तिसे आरंभ करना इसलिये भी सर्वोत्तम है कि समस्त मानवताके समष्टिगत आत्मा तथा जीवनकी अपेक्षा व्यष्टिके स्वभावके विषयमें हमें अधिक पूर्ण और अधिक घनिष्ठ ज्ञान एवं अनुभव है; दूसरे, समाज अथवा राष्ट्र अपनी महत्तर जटिलतामें भी एक विशाल एवं समवेत व्यक्तित्व है, समुदाय-पुरुष है। अत: जोकुछ व्यक्तिके बारेमें सत्य है वही सामान्य सिद्धान्तमें बृहत्तर इकाईके लिये भी सत्य होना चाहिये। और फिर जैसा कि हम कह चुके हैं स्वतंत्र व्यक्तिका विकास पूर्ण समाजके विकासकी पहली शर्त है। इसलिये हमें व्यक्तिसे आरंभ करना है; वही हमारा निर्देशक और आधार है।

मनुष्यकी आत्मा एक गुप्त और गुह्य वस्तु है; वह मनुष्यका शरीर नहीं है, वह उसका प्राण नहीं है और वह उसका मन भी नहीं है, यद्यपि विकास-शृङ्खलामें मानव एक मनोमय सत्ता है, मनु है। इसलिये न तो उसकी भौतिक, न प्राणमय और न ही उसकी मनोमय प्रकृतिकी पूर्णता उसकी आत्म-सिद्धिकी अंतिम सीमा अथवा सच्चा मानदंड बन सकती है। वे उसकी अभिव्यक्तिके साधन हैं, गौण चिह्न हैं, उसके अपने निजत्वकी खोजके आधार, उसके निजत्वके मूल्य एवं उसकी व्यावहारिक मुद्रा हैं, उन्हें कुछ भी कह लीजिये परंतु वे वह तो नहीं हैं जोकुछ कि वह गुप्त रूपमें स्वयं है और जिसे वह अंधकारमें टटोल रहा है अथवा जो कुछ वह प्रकट एवं आत्म-चेतन रूपसे बननेके लिये यत्नशील है। मानवने अपने विषयमें इस सत्यको

समष्टि-रूपमें कभी अधिकृत नहीं किया और इस समय भी कुछ थोड़ेसे व्यक्तियोंको छोड़कर जिन्हें इस सत्यकी दृष्टि एवं आत्मानुभूति प्राप्त है, जाति इस सत्यसे वंचित है। इन व्यक्तियों को अवतार, द्रष्टा, संत अथवा देवदूत मानकर मानवजाति इनकी पूजा भले ही करे, परंतु इनके पदचिह्नों पर चलनेमें वह असमर्थ है। कारण, हमारे विकासके अधीश्वर, 'अधि-आत्मा' (Over-soul) के 'काल' (Time) की गतिमें अपने ही विशाल पद-प्रक्षेप होते हैं, अपने ही महान्‌युग, मंदगतिके प्रदेश एवं द्रुत विस्तारके मार्ग होते हैं, जिन्हें शक्तिशाली अर्ध-दिव्य व्यक्ति तो छलांग मारकर लांघ सकता है, परंतु अर्ध-पशुके स्वभावसे युक्त मानव-जाति अभी तक उनका अतिक्रमण नहीं कर सकती। विकासका क्रम वनस्पतिसे पशु और पशुसे मानव पर्यंत गति करता है। मानवमें उनका आरंभ अवमानव (Sub-human) की अवस्थासे होता है। उसे अपने अंदर पशुकी यहां तक कि धातुओं और वनस्पतिकी प्रकृति भी धारण करनी पड़ती है। उसकी भौतिक प्रकृति इन्हींसे बनी है, उसके प्राणपर इन्हींका अधिकार है, और उसके मनपर भी इन्हींका आधिपत्य है। कई प्रकारकी जड़ताके लिये उसका झुकाव, वनस्पतिके समान वृद्धि पानेकी उसकी तत्परता, भूमिके प्रति उसका राग और मूलके साथ तथा सब प्रकारके सुरक्षित आश्रयोंके साथ उसका लगाव, दूसरीओर उसकी खानाबदोशी एवं लूटखसोटकी प्रवृत्तियां, प्रथाओं और समुदायकी व्यवस्थाके प्रति उसकी अंधदासता, उसकी सामुदायिक गतियां तथा समुदाय-सत्तासे आनेवाले अवचेतन सुझावोंके प्रति उसका सदा खुला रहना, क्रोध और भय के जुएके प्रति उसकी अधीनता, दण्डकी आवश्यकता तथा दण्डपर उसकी निर्भरता, अपने विषयमें स्वयं सोचने और कर्म करनेकी उसकी अयोग्यता, सच्ची स्वतंत्रताके लिये उसकी असमर्थता, नवीनताके प्रति उसका अविश्वास, बौद्धिक रीतिसे ज्ञान प्राप्त करने और उस ज्ञानको आत्मसात् करनेमें उसकी मंदता, उसकी अधोगामिनी प्रवृत्ति और निम्नगा भौतिक दृष्टि, अपनी वंशपरंपराके प्रति उसकी प्राणगत एवं भौतिक निर्भरता—ये सब तथा और भी कई भाव उसने अपने प्राण, शरीर और भौतिक मनके अवमानवीय स्रोतोंसे विरासतके रूपमें प्राप्त किये हैं। इस विरासतका ही यह परिणाम है कि अपनी स्थितिसे ऊपर उठनेका कार्य उसे सबसे कठिन पाठ और सबसे अधिक दुःखदायी प्रयत्न प्रतीत होता है। परंतु अपने निम्न भावका अतिक्रमण करके ही प्रकृति अपने विकास-क्रमकी प्रक्रियामें महान् डग भरती है। जो कुछ वह रह चुका है उससे शिक्षा लेना, परंतु जो कुछ वह बन सकता है उसे भी जानना और

उसके अनुसार वृद्धि प्राप्त करना ही वह कार्य है जो इस मनोमय मनुष्यके लिये नियत किया गया है।

सभ्यताके इस युगका समय, जबकि जातिकी सामान्य चेतनाके लिये आत्माको शरीरके साथ पूर्ण रूपसे एकाकार कर लेना संभव था, अब बीत रहा है, और हमें आशा करनी चाहिये कि सदाके लिये ही बीत रहा है। पूर्णबर्बरता (Barbarism)का यह प्रथम विशिष्ट लक्षण है। शरीर और भौतिक जीवनको ही सर्वाधिक महत्व देना, भौतिक शक्ति, विकास और सामर्थ्यको ही मानवत्वका मानदण्ड मानना, भौतिक निश्चेतनामेंसे उठनेवाली सहज-प्रेरणाओंके अधिकारमें रहना, ज्ञानको निर्बलता एवं हीनता मानकर उसका तिरस्कार करना अथवा उसे एक व्यक्तिगत विशेषता कहकर मनुष्यत्व का आवश्यक अंग न मानना, ये एक बर्बरकी मानसिकताके लक्षण हैं। बाल्यकालके पैतृक प्रवृत्तियोंके अनुसार वृद्धि पानेके समयमें यह बर्बर-प्रवृत्ति मनुष्यमें पुनः प्रकट होने लगती है और यह याद रखना चाहिये कि बाल्यावस्था वह समय है जबकि शरीरका विकास ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है, किंतु सभ्य मानवतामें वयःप्राप्त मनुष्यके लिये इसकी संभावना समाप्त होती जा रही है। क्योंकि, प्रथम तो आधुनिक जीवनके दबावके कारण मानव-जातिकी प्राण-प्रवृत्ति ही बदल रही है। मनुष्य अब उतना भौतिक न रहकर प्राणमय और आर्थिक प्राणी अधिक बन रहा है। यह बात नहीं कि वह अपने जीवनसंबंधी विचारमें शरीर और उसके विकासको अथवा प्राणिक सत्ता और उसके सुन्दर गुणोंके उचित पोषण और उनके आदरको स्थान नहीं देता अथवा नहीं देगा, अपितु शरीरकी सुन्दरता, स्वास्थ्य एवं सौष्ठव, उसकी शक्ति एवं उसका समस्वरतापूर्ण विकास पूर्ण मानवत्वके लिये आवश्यक वस्तुएं हैं और पहलेकी अपेक्षा अधिक अच्छी और बुद्धिमत्तापूर्ण रीतिसे इनपर ध्यान दिया जा रहा है। परंतु शरीरको अब प्रथम महत्व नहीं दिया जा सकता, जो संपूर्ण प्रधानता उसे एक बर्बरकी मानसिकतामें प्राप्त थी वह तो भला अब इसे प्राप्त ही कहां हो सकती है।

यद्यपि मनुष्यने ऋषियोंके इस संदेशको कि 'अपने-आपको जानो', न तो वस्तुतः सुना है और न समझा है, परंतु उसने 'विचारक' के इस संदेशको कि, 'अपने-आपको शिक्षित करो', अवश्य स्वीकार कर लिया है और इससे भी अधिक उसने यह समझ लिया है कि शिक्षासे संपन्न होनेपर अपना ज्ञान दूसरोंको प्रदान करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है। मानवजातिमें सामान्य शिक्षाकी आवश्यकताके विचारका तात्पर्य यह है कि जाति इस बातको स्वीकार करती है कि वास्तविक मनुष्य प्राण और शरीर नहीं है अपितु मन

है, और मनके विकासके विना वह सच्चे मानवत्वको अविकृत नहीं कर सकता। शिक्षाके संबंधमें उसके विचार इस समय भी मुख्यतः बुद्धि और मानसिक योग्यता तथा जगत् और वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त करनेके ही हैं, परंतु गौण रीतिसे नैतिक शिक्षणके भी हैं और—हैं यद्यपि अभी अधूरी रीतिसे—ललित कलाकी शक्तियोंको विकसित करनेके भी हैं। विवेकयुक्त विचारशील व्यक्ति होना, नैतिकतासे संपन्न होना, अपने संस्कारों और भावनाओंको अपने संकल्प एवं बुद्धिकी सत्यतासे वशमें रखना, जगत्के और अपने भूतकालके विषयमें जो कुछ जानना चाहिये उसके ज्ञानसे तथा उस ज्ञानके आधारपर अपने सामाजिक एवं आर्थिक जीवनको बुद्धिमत्तापूर्वक सुसंगठित करनेकी योग्यतासे संपन्न होना और अपने प्राणिक अभ्यासों एवं अपनी भौतिक सत्ताको ठीक-ठीक व्यवस्थित करना, यही वह विचारधारा है जिसका सभ्य मानवजातिपर इस समय आधिपत्य है। तत्त्वतः यह पुराने यूनानी आदर्शकी ओर लौटना और उसका एक इस प्रकार का वृहत्तर विकास करना है जिसमें योग्यता और उपयोगितापर अधिक बल हो परंतु जिसमें सुंदरता और सुघड़तापर बहुत कम आग्रह हो। किंतु हम आशा कर सकते हैं कि यह तो केवल अस्थायी रूप होगा और ज्योंही आधुनिक प्रगतिका व्यापारिक युग व्यतीत होगा त्योंही खोये हुए तत्त्व निश्चित रूपमें अपना पुराना महत्त्व पुनरपि उपलब्ध कर लेंगे, और इस उपलब्धिके साथ, जो अभी दिखायी तो नहीं देती परंतु जो अनिवार्य है, मनुष्यके मनोमय सत्ताके रूपमें विकसित होनेके लिये समस्त आवश्यक तत्त्व भी हमें प्राप्त हो जायेंगे।

प्राचीन यूनानी अथवा यूनानी-रोमन सभ्यताके विनाशके अन्य कारणोंके साथ-साथ एक कारण यह भी था कि अपने समाजमें इसने संस्कृतिका सामान्य प्रचलन केवल अधूरी रीतिसे ही किया था, और अपने चारों ओरसे वह मनुष्योंके ऐसे बड़े समुदायोंसे घिरी हुई थी जिनके मनपर बर्बर स्वभावका अधिकार था। सभ्यता तबतक कभी सुरक्षित नहीं रह सकती जबतक वह सुसंस्कृत मनोमयताको कुछ थोड़े-से लोगोंमें सीमित रखते हुए, अपने वक्षमें अज्ञानके एक विशाल पिण्डका एक वृहत् असंस्कृत मानव-समुदायका, निम्न श्रमजीवी समाजका पोषण करती है। ज्ञान यदि ऊपरसे अपनी वृद्धि नहीं करता तो नीचेसे अज्ञानकी रात्रिमें डूब जानेका भय उसे सदा ही लगा रहेगा और यदि वह ऐसे विशाल जन-समुदायोंको, जो बर्बरकी स्वाभाविक उग्रता और शक्तिसे भरपूर हैं और जो किसी भी समय सभ्य लोगोंके भौतिक शस्त्रोंको—उनकी संस्कृति द्वारा बौद्धिक रूपांतर प्राप्त किये विना ही—अधिकृत कर सकते हैं, अपनी परिधिके बाहर एवं अपने

प्रकाशसे वंचित रहने देता है तो वह और भी अधिक अरक्षित हो जाता है। यूनानी रोमन संस्कृति अंदर और बाहर दोनों ओरसे नष्ट हो गयी थी, बाहरसे टयूटानिक बर्बरताकी बाढ़ोंके कारण और अंदरसे अपनी शक्तिके ह्रासके कारण। इस संस्कृतिने निम्न समुदायको कुछ परिमाणमें आराम और मनोविनोद तो प्रदान किया परंतु उन्हें प्रकाशके स्तर तक ऊपर नहीं उठाया। जब जन-समुदायके लिये प्रकाश आया तो वह इस पुरानी संस्कृति के शत्रु ईसाई धर्मके रूपमें बाहरसे ही आया। निर्धन, पददलित तथा अज्ञानी वर्गका आवाहन करते हुए ईसाई धर्मने उनकी आत्मा और नैतिक सत्ताको अधिकृत करनेका यत्न किया परंतु उनके चिंतनलील मनकी ओर उसने बहुत ही कम ध्यान दिया या बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया; वह इस बातसे संतुष्ट था कि यदि हृदयको धार्मिक सत्य अनुभव कराया जा सकता है तो मनके अँधकारमें पड़े रहनेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। जब बर्बर जातियोंने पश्चिमी जगत्पर अधिकार जमा लिया तब ईसाई धर्मने उन्हें भी इसी प्रकार ईसाई बना लेनेमें ही संतोष किया परंतु उन्हें बौद्धिक जीवन प्रदान करनेको उसने अपने कर्त्तव्यका कोई भाग नहीं समझा। बुद्धिके उन्मुक्त क्रीड़नके प्रति अविश्वास और संशयकी भावनासे युक्त ईसाई प्रचारक तथा साधु-संन्यासी बुद्धि-विरोधी बन गये; अब यह कार्य अरब लोगोंके लिये ही रह गया था कि वे इस अर्ध-बर्बर ईसाई जगत् में तथा 'पुनरुत्थान'के अर्ध-नास्तिक भावोंमें वैज्ञानिक एवं दार्शनिक प्रवृत्तियोंका पुनः प्रवेश करावें, और उन्होंने यूरोपके पुनरुज्जीवन प्राप्त करते हुए मनमें उन्मुक्त बौद्धिक संस्कृतिके पुनरागमनके लिये धर्म और विज्ञानके बीचमें एक दीर्घकालीन संघर्षका सूत्रपात किया। यदि ज्ञानको जीवित और स्थिर रहना है तो उसके लिये आक्रमणकारी बनना आवश्यक है; अपने नीचे अथवा इर्दगिर्द एक विस्तृत अज्ञानका क्षेत्र रहने देना मानवताको असभ्यताके पुनरावर्तनके सतत भयके प्रति खुला रखना है।

आधुनिक जगत् पुराने रूपमें अथवा पुराने परिमाणमें इस भयके पुनरावर्तनके लिये अवसर नहीं देता। इसको रोकनेके लिये विज्ञान विद्यमान है। इसने संस्कृतिको स्थिर रहनेके साधनोंसे युक्त कर दिया है। इसने सभ्य जातियोंको संगठन, आक्रमण, एवं आत्मरक्षणके लिये ऐसे अस्त्रोंसे लैस कर दिया है जिनका कोई भी असभ्य जाति सफलतापूर्वक तबतक प्रयोग नहीं कर सकती जबतक वह असभ्यतासे छुटकारा नहीं पा लेती और एकमात्र विज्ञानके द्वारा ही प्राप्त होनेवाले ज्ञानको हस्तगत नहीं कर लेती। उसने यह भी जान लिया है कि अज्ञान एक ऐसा शत्रु है जिसकी

अवहेलना नहीं की जा सकती और जहाँ कहीं भी यह विद्यमान है वहाँसे इसे दूर करनेके लिये उसने अभियान कर दिया है। सामान्य शिक्षाका आदर्श भी, कम-से-कम मस्तिष्कको कुछ वस्तुओंकी जानकारी देने एवं क्षमताको संवर्द्धित करनेकी हदतक, अपने जन्मके लिये न सही पर अपनी अधिकतर क्रियात्मक संभावनाओंके लिये उसका ऋणी है। उसने सव ओर अजेय दृढ़ताके साथ अपनी जड़ जमा ली है और तीनों महाद्वीपोंमें मनुष्योंके मनमें ज्ञान वढ़ानेकी उत्कट अभिलाषा उत्पन्न कर दी है। उसने सामान्य शिक्षाको राष्ट्रीय शक्ति और योग्यताके लिये अनिवार्य शर्त वना दिया है और इसीलिये न केवल प्रत्येक स्वतंत्र राष्ट्रमें वल्कि ऐसे प्रत्येक राष्ट्रमें भी जो स्वतंत्र होना और जीवित रहना चाहता है इसके लिये अभिलाष जाग्रत् कर दी है। इसलिये ज्ञान और बौद्धिक क्रियाके मानव-जातिमें व्यापक वन जानेमें अव केवल कुछ समयकी ही वात है। क्योंकि अव तो इसके मार्गमें कुछ राजनीतिक और कुछ आर्थिक अड़चनें ही विद्यमान हैं, और युगकी विचारधारा एवं प्रवृत्तियाँ इनपर विजय पानेके लिये प्रयास कर रही हैं। सारांश यह कि विज्ञानने मानवजातिके वौद्धिक क्षितिजोंका उपयोगी रूपमें विस्तार कर दिया है और उसकी सामान्य वौद्धिक सामर्थ्यको शक्तिशाली रीतिसे ऊपर उठा दिया है, उसे पैना और प्रचंड वना दिया है।

यह ठीक है कि विज्ञानकी पहली प्रवृत्तियाँ जड़वादी रही हैं और इसकी असंदिग्ध सफलताएँ भौतिक विश्व, शरीर एवं भौतिक जीवनके ज्ञान-तक ही सीमित रही हैं। परंतु यह जड़वाद शरीरके साथ आत्माकी एकाकारताके पुराने भावसे सर्वथा भिन्न वस्तु है। इसकी प्रकट प्रवृत्तियाँ चाहे कुछ भी रही हों, परंतु वस्तुतः यह मनोमय सत्ता अर्थात् मानवकी एवं वुद्धिकी सर्वोपरि श्रेष्ठताको स्वीकार करनेवाला अवश्य रहा है। विज्ञान अपनी मुख्य प्रकृतिमें ज्ञान है, वौद्धिकता है, और इसका समस्त कर्म मनःशक्तिका अपने प्राणमय एवं भौतिक ढाँचे और पारिपार्श्विक स्थितिपर अपनी दृष्टि डालनेका एवं जीवन और जड़तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करनेका, उनपर विजय प्राप्त करनेका और उनपर अपना प्रभाव स्थापित करनेका रहा है। वैज्ञानिक 'मानव' है, चिंतनशील है, वह जड़ प्रकृतिकी शक्तियोंका ज्ञान प्राप्त करके उनपर विजय प्राप्त कर रहा है। प्राण और जड़तत्त्व ही अंतमें हमारी खड़े होनेकी भूमि हैं, हमारा निम्न आधार हैं, और उनकी प्रक्रियाओंका, उनकी ठीक-ठीक संभावनाओंका एवं मानवको ये जो अवसर प्रदान करते हैं, उनका ज्ञान प्राप्त करना उस ज्ञानका एक भाग

है जो इनको अतिक्रांत करनेके लिये आवश्यक है। प्राण और शरीरका हमें अतिक्रमण करना है, परंतु उनका उपयोग भी करना है, साथ ही उन्हें पूर्ण भी वनाना है। भौतिक प्रकृतिके नियमों और संभावनाओंको हम तवतक पूर्णतया नहीं जान सकते जवतक अतिभौतिक प्रकृति और उसके नियमों एवं संभावनाओंको हम न जान लें। इसलिये हमें अपने भौतिक ज्ञानकी पूर्णताके पश्चात् मन और चैत्य-पुरुपसंवंधी नूतन विद्याओंके विकास और पुरानी विद्याओंकी खोजके लिये यत्न करना होगा। इस नवीन युगका आरंभ अव हमारे सम्मुख हो रहा है। परंतु भौतिक विद्याओंकी पूर्णता प्रथम आवश्यकता थी और प्रकृतिका ज्ञान प्राप्त करने तथा अपने संसारको अधिकृत करनेके मानवके नूतन प्रयत्नमें इसे उसके मनके शिक्षणके लिये प्रथम क्षेत्र वनना था।

अपने निपेघात्मक कार्यमें भी विज्ञानके जड़वादको एक काम करना था, पर इससे मानव मनको अंतमें, जड़वादका अतिक्रमण करते समय, लाभ ही पहुँचेगा। जड़वादके विजयी हो जानेकी उत्फुल्लतामें विज्ञानने दर्शनको तुच्छ समझा तथा उसे एक ओर रख दिया; इस प्रकार भावात्मक और कर्मप्रवण दिशा ग्रहण करनेसे इसे जो प्रवानता मिली उसने काव्य और कलाकी भावनाको निरुत्साहित किया और उन्हें जो प्रमुख स्थान संस्कृतिमें प्राप्त था उससे उन्हें च्युत कर दिया। फलस्वरूप काव्यके ह्रास और पतनका युग आरंभ हो गया। उसने छंदवद्ध गद्यका रूप तथा लय ग्रहण कर लिये, वहुत थोड़ेसे लोगोंको छोड़कर और किसीको उसके लिये आकर्षण नहीं रहा। चित्र-कलाने अपरिमित ज्यामितिक आकारोंकी शैलीके मोड़का अनुसरण किया तथा भीपण आकारों और सुझावोंका समर्थन किया। आदर्श गौण वन गया और उसका स्थान प्रत्यक्ष वस्तुस्थितिने ले लिया। इसने यथार्थवाद और उपयोगितावादको उत्साहित किया; अव विज्ञान वर्मसंवंवी गूढ़वादके साथ संघर्षमें आया और धर्म और धार्मिक भावनाको नष्ट करनेमें भी उसे एक प्रकारसे सफलता ही प्राप्त हुई। परंतु दर्शन भी तव तीव्र रूपमें कोरे सिद्धांतवादकी वस्तु वन गया था, वह विचारों और शब्दोंके संसारमें कोरे सिद्धांत-रूप सत्योंकी खोजका ही प्रयत्न था। उसने वस्तुओंकी वास्तविक सत्यताकी खोज नहीं की जैसा कि उसे करना चाहिये था; यह खोज करके ही मानव-सत्ता अपना विधान एवं आदर्श तथा अपनी पूर्णताका सिद्धांत जान सकती है। कविता और कला इतनी सांस्कृतिक वस्तुएँ वन गयीं कि जीवनके सौंदर्य और अलंकारके रूपमें उनकी गिनती करना सभव नहीं रहा; उनका

विषय शब्दों, रूपों एवं कल्पनाओंका सौंदर्य अधिक बन गया और सत्य और सौंदर्यको तथा वस्तुओंमें विश्वके इंद्रियगम्य रूपोंके कारण छुपे हुए सजीव विचार एवं गुप्त दिव्यताको मूर्त्त रूपमें देखना तथा उसे अर्थपूर्ण रूपमें प्रस्तुत करना कठिन हो गया। स्वयं धर्मने भी मतों और आडंबरपूर्ण उत्सवों, संप्रदायों, धर्मसंघोंका रूढ़ रूप धारण कर लिया, कुछ थोड़ेसे व्यक्तियोंको छोड़कर अधिकतर इसका संबंध आध्यात्मिकताके सजीव स्रोतोंसे विच्छिन्न हो गया। अतएव, निषेधवादका युग आवश्यक हो गया। इन सब चीजोंको पीछे हटना पड़ा तथा अपने अंदरकी ओर लौटना पड़ा। साथ ही इनके लिये सनातन स्रोतोंके अधिक निकट आना आवश्यक हो गया। अब जब कि निषेधवादका दबाव समाप्त हो चुका है और ये अब फिर सिर उठा रही हैं, हम देखते हैं कि ये अपने सत्यकी खोज करनेमें लगी हैं, तथा अपने अंदरकी ओर लौटकर और एक नयी आत्मोप-लब्धिके द्वारा पुनः जीवित हो रही हैं। इन्होंने विज्ञानके उदाहरणसे यह सीख लिया है या सीख रही हैं कि सत्य ही जीवन एवं शक्तिका रहस्य है तथा अपने निज सत्यको प्राप्त करके इन्हें मानव-जीवनके सेवक बन जाना चाहिये।

परंतु यदि विज्ञानने इस प्रकार हमें एक विशालतर एवं गभीरतर संस्कृतिके युगके लिये तैयार किया है और यदि अपने जड़वादके रहते हुए भी और कुछ इसी जड़वादकी सहायतासे ही उसने बर्बर मनोमयतावाले वास्तविक जड़वादकी पुनरावृत्तिको असंभव बना दिया है, तो साथ-ही-साथ इसने जीवनके प्रति अपने व्यवहार एवं अपने आविष्कारोंके द्वारा, थोड़े-बहुत अप्रत्यक्ष रूपमें, एक-दूसरे ही प्रकारकी बर्बरताको प्रोत्साहन भी दिया है—इस वस्तुको हम दूसरे किसी नामसे नहीं पुकार सकते—यह है उद्योग-व्यवस्थाकी, व्यापारिक तथा अर्थप्रधान युगकी बर्बरता, जो इस समय अपनी परिणतिकी ओर एवं अपने अंतकी ओर गति कर रही है। यह आर्थिक बर्बरता मुख्यतया प्राणमय मनुष्यसे संबंध रखती है जो भूलसे अपनी प्राणसत्ताको ही आत्मसत्ता समझ लेता है और उसकी तृप्तिको ही जीवनका मुख्य लक्ष्य बना लेता है। प्राणका विशेष गुण है कामना एवं अधिकारकी सहज-प्रवृत्ति। ठीक जिस प्रकार भौतिक बर्बर अपने शरीरके सौष्ठव, भौतिक-शक्ति, स्वास्थ्य एवं पराक्रमको अपना मानदण्ड एवं लक्ष्य बना लेता है, इसी प्रकार प्राण-प्रधान अथवा आर्थिक बर्बर भी आवश्यकताओं और कामनाओंकी पूर्त्ति तथा संपत्तिके संग्रहको अपना मानदण्ड एवं लक्ष्य बनाता है। उसके लिये सुसंस्कृत, श्रेष्ठ, विचारशील,

नैतिक अथवा धार्मिक व्यक्ति आदर्श व्यक्ति नहीं है प्रत्युत सफल व्यक्ति ही आदर्श व्यक्ति है। अधिगतकरना, सफलहोना, उत्पादन करना, संग्रह करना एवं अपने अधिकारमें रखना ही उसका अस्तित्व है। धनका संग्रह, अधिकाधिक धनका संग्रह, संपत्तिपर संपत्ति जुटाये जाना, बहुलता, आडंबर, विषय-सुख, भद्दा एवं कलाविहीन विलास, सुविधाओंकी अधिकता, सौंदर्य एवं श्रेष्ठतासे रहित जीवन, विकृत तथा निष्ठुरतापूर्वक विधि-विधानोंके स्वरूपमें बद्ध धर्म, व्यापार एवं व्यवसायके रूपको प्राप्त राजनीति एवं शासन-व्यवस्था, स्वयं विलासको भी व्यापारका रूप दे देना,—यह व्यापारवादका स्वरूप है। एक प्राकृत अविमुक्त, अर्थप्रधानवृत्तिवाले मनुष्यके लिये सौंदर्य एक निरर्थक वस्तु अथवा बाधा है, कविता छिछोरापन है या फिर आडंबर एवं विज्ञापनबाजीका एक साधन है। सुखको वह सभ्यता समझता है तथा सामाजिक सम्मानको आचार; व्यवसायका प्रोत्साहन, व्यापार-क्षेत्रोंकी प्राप्ति, राष्ट्र-पताकाकी ओटमें स्वार्थपूर्ण शोषण एवं व्यापारका अनुगमन उसके लिये राजनीति है; पुण्यात्मक परंपरागत विधानका पालन अथवा कुछ प्राणिक भावनाओंकी तृप्तिको वह धर्म समझता है। वह शिक्षाका मूल्य यही समझता है कि इससे मनुष्य प्रतिस्पर्धामें तथा सामाजीकृत उद्योग-व्यवसायके जगत्में सफलताके लिये सुसज्जित होता है, विज्ञानका महत्त्व वह उपयोगी आविष्कारों एवं ज्ञानमें, सुखके साधनों एवं सुविधाओंमें, तथा उत्पादनकी उस मशीनरीमें समझता है जिससे वह उसे सन्नद्ध कर देता है। यह महत्त्व उसकी संगठन, नियमन और उत्पादनके प्रोत्साहनकी शक्तिमें भी है। समृद्ध, संपन्न तथा सफल महान् धनपति एवं उद्योगका संगठन करनेवाले ही इस व्यापार-युगके अति मानव हैं और इस युगके समाजके छिपे हुए पर वास्तविक शासक हैं।

इनकी मौलिक बर्बरता इस बातमें है कि ये प्राणमय सफलता, तृप्ति, उत्पादनशीलता, संग्रह, संपत्ति, उपभोग, सुख और सुविधाके पीछे केवल इन्हींके लिये दौड़ते हैं। सत्ताका प्राणमय भाग भी समग्र मानव-अस्तित्वमें एक वैसा ही भाग है जैसा कि भौतिक भाग; इसका अपना स्थान है, परंतु इसे अपने स्थानसे आगे नहीं बढ़ने देना चाहिये। समाजमें रहते हुए मनुष्यका जीवन भरापूरा और सुव्यवस्थित होना चाहिये, परंतु इस शर्तपर कि यह जीवन सच्चा और सुन्दर भी हो। प्राण और शरीरका अस्तित्व स्वयं अपने लिये ही नहीं है प्रत्युत ये अपनेसे एक उच्चतर वस्तुके वाहन और यंत्र हैं। इन्हें मनोमय पुरुषकी श्रेष्ठतर आवश्यकताओंके अधीन बनाना है तथा सत्यं, शिवं एवं सुन्दरम्के एक बृहत्तर विधानके

द्वारा सुसंस्कृत तथा विशुद्ध बनाना है; उसके पश्चात् ही मानव-पूर्णताकी समग्रतामें ये अपना उचित स्थान ग्रहण कर सकते हैं। इसलिये एक ऐसे व्यापारिक युगमें जिसका असंस्कृत एवं बर्बरआदर्श सफलता, वासनामय तृप्ति, उत्पादनशीलता तथा आधिपत्यके भावोंसे युक्त है मानव-आत्मा कुछ विशेष प्रकारके लाभ और अनुभवोंके लिये थोड़े समयके लिये विचार तो सकती है, परंतु स्थायी रूपमें रह नहीं सकती। इस कालमें यदि वह अधिक समयतक रहेगी तो जीवन रुद्ध हो जायगा और अपनी अनावश्यक वृद्धिके फलस्वरूप नष्ट हो जायगा, अथवा अपने स्थूल विस्तारके लिये अधिक बल लगानेसे फूट जायगा; एक वृहत्-काय असुरके समान अपने ही भारसे क्षयको प्राप्त हो जायगा, अपने ही बोझके नीचे दब जायगा।

नवाँ अध्याय

सभ्यता तथा संस्कृति

प्रकृति अपना कार्य जड़तत्त्वसे आरंभ करती है, उसके छिपे हुए प्राणको उसके अंदरसे विकसित करती है, प्राणमें निवर्तित पड़े हुए मनके समस्त अपक्व उपादानको बाहर लाती है, और जब वह स्वयं तैयार हो जाती है तब वह 'मन'को स्वयं अपनी तथा प्राण और जड़तत्त्वकी घटनाओं एवं इनके प्रकट व्यापारों तथा गुप्त नियमोंको, इनकी सामान्य एवं विशेष संभावनाओं और शक्तियोंको समझनेके निमित्त एक महान् मानसिक प्रयासमें जुटा देती है, जिससे कि इनमें निहित समृद्धिका पूर्ण लाभ उठाया जा सके, सर्वोत्तम और अधिक-से-अधिक समस्वरतापूर्ण रीतिसे इनका उपयोग किया जा सके, और पार्थिव प्राणियोंमें केवल मनुष्यको ही स्पष्टरूपसे प्राप्त विवेकयुक्त संकल्पशक्तिकी क्रियाके द्वारा इन्हें उच्चतम एवं विशालतम संभावित लक्ष्यतक पहुँचाया जा सके। अपनी प्रगतिकी इस चौथी अवस्थामें ही प्रकृति मानवताके स्तरपर पहुँचती है। परमाणु तथा प्राकृतिकतत्त्व अचेतन जड़पदार्थका निर्माण करते हैं, उद्भिज जीवनयुक्त सत्ताका विकास करता है और पशु मनस्तत्त्वके असंस्कृत उपादानको तैयार करता है और एक विशेष प्रकारकी यांत्रिक व्यवस्थामें संघटित कर देता है, परंतु सबसे अंतिम कार्य, इन सबका ज्ञान एवं नियंत्रण तथा आत्मज्ञान एवं आत्म नियंत्रण, केवल प्रकृतिकी मनोमय सत्ता, मनुष्यके करनेके लिये छोड़ा गया है। जो कार्य प्रकृतिने उसे सौंपा है उसे वह ठीक तरहसे कर सके, इसके लिये प्रकृति उसे भौतिक रीतिसे और कुछ सीमातक मनोमय रीतिसे अपने पशु-जीवनके विकासके स्तरोंमेंसे बार-बार गुजरनेके लिये बाध्य करती है, और यद्यपि वह अपनी मनोमय सत्तासे संपन्न है फिर भी प्रकृति उसे जड़तत्त्व और प्राणतत्त्वमें तथा उसके अपने शरीर और प्राणमय भागमें रुचिके साथ, यहाँतक कि एक प्रकारकी तन्मयताके साथ निरंतर निवास करनेके लिये प्रवृत्त करती है। मनुष्यके अंदर प्रकृतिको जो बृहत्तर लक्ष्य अभिप्रेत है उसके लिये यह आवश्यक है। शरीर और प्राणमें मनुष्यकी पहली स्वाभाविक तन्मयता संकुचित एवं अज्ञानपूर्ण होती है। जैसे-जैसे उसकी बुद्धि और मानसिक शक्ति

बढ़ती जाती है वह कुछ हदतक अपनेको मुक्त करता जाता है, ऊँचा उठनेमें समर्थ बनता जाता है, परंतु अभी भी वह आवश्यकता एवं कामनावश प्राणमय एवं भौतिक जड़ोंसे बँधा हुआ रहता है और उसे अपने इस मूलकी ओर बृहत्तर कौतूहलके साथ, उपयोगकी अधिक सामर्थ्यके साथ, एक अधिकाधिक उच्च मनोमय और अंतमें एक अधिक आध्यात्मिक लक्ष्यके साथ बार-बार लौट आना पड़ता है। क्योंकि उसके युग उसके लिये उत्तरोत्तर संवृद्धिके क्रम-चक्र हैं, परंतु अभी उनमें समस्वरता एवं समन्वय अधूरे हैं और प्रकृति उसे उग्र रीतिसे वापिस मूलतत्त्वोंकी ओर पुनः लौटा लाती है, कई बार तो उसे सर्वथा अपनी आरंभिक अवस्थाओं-तक ही घसीट लाती है, ताकि प्रगति एवं आत्म-परिपूर्त्तिकी एक अधिक विशाल नवीन प्रवृत्तिको लेकर वह फिर नये सिरेसे आरंभ कर सके।

प्रथम दृष्टिपातमें यह दिखायी देगा कि चूँकि 'मनुष्य मुख्यतया एक मनोमय सत्ता है इसलिये ज्योंही वह प्राण और शरीरकी परेशानीसे छुटकारा पा ले तथा जिन स्थूल आवश्यकताओंको हमारी भौतिक एवं पाशविक प्रकृति हमपर लाद देती है, उनकी अनिवार्य तृप्तिका प्रबंध कर लें, त्योंही मानसिक शक्तियोंका विकास एवं मनोमय जीवनकी समृद्धि उसका उच्चतम ध्येय, उसका एकमात्र तन्मयतापूर्ण ध्येय हो जाना चाहिये। ज्ञान, विज्ञान, कला, चिंतन, नैतिकता, दर्शन, धर्म, ये मनुष्यके वास्तविक व्यापार हैं, ये उसके सच्चे कर्म हैं। उसका अपना अस्तित्व उसके लिये केवल जन्म, वृद्धि, विवाह, आजीविकोपार्जन, परिवारका पालन-पोषण और फिर मृत्यु ही नहीं है : यह तो प्राणिक एवं भौतिक जीवन हुआ, पशु-जीवनके क्रमका मानव-संस्करण, भागवत क्रम-चक्रमें एक छोटे-से पाशव विभाग तथा अंश-वृत्तका मानव-विस्तार हुआ, प्रत्युत मनोमय बन जाना, मानसिक रीतिसे वृद्धि पाना और अपने अंतरमें एवं अंतरसे बाहरकी ओर ज्ञानपूर्वक एवं शक्तिशाली रीतिसे जीवनयापन करना उसका मानवत्व है। परंतु यहाँ प्रकृतिका एक दोहरा लक्ष्य रहता है, मानवके निर्माणके उद्देश्यमें निरंतर ही उसके दो भाव काम करते हैं। यहाँ मनुष्यको नियंत्रण तथा सृजन करनेकी विधिकी स्वयं प्रकृतिसे ही शिक्षा प्राप्त करनी है, परंतु स्पष्टतः प्रकृति यही नहीं चाहती कि मनुष्य केवल नियंत्रण एवं सृजन करे, एवं अपने-आपका, अपने अंतरके अस्तित्वका तथा अपनी मनो-मयताका नवीन तथा श्रेष्ठतर रूपोंमें निरंतर पुनर्निर्माण करे, अपितु उसी अनुपातमें वह अपनी पारिपार्श्विक स्थितियोंका नियंत्रण एवं पुनर्निर्माण भी करे। उसे अपने मनको केवल अपने ऊपर ही नहीं लगाना अपितु

प्राणपर, जड़तत्त्व एवं भौतिक अस्तित्वपर भी लगाना है। यह सब केवल पार्थिवविकासके विधान एवं स्वभावसे ही खूब स्पष्ट प्रतीत नहीं होता अपितु उसके अपने अतीत तथा वर्तमानके इतिहाससे भी भली प्रकार प्रकट होता है। इन अवस्थाओं एवं उसकी उच्चतम अभीप्साओं और प्रवृत्तियोंके निरीक्षणसे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कहीं केवल आंतरिक और बाह्य रूपमें विस्तार प्राप्त करना ही तो उसका लक्ष्य नहीं रखा गया अथवा क्या ऊपरकी ओर वृद्धि पानेका, जिसप्रकार उसने अपनी आरंभिक पशु-स्थितिका अद्भुतरीतिसे अतिक्रमण किया है, उसी प्रकार अद्भुतरीतिसे अब अपने निजत्वका अतिक्रमण करके, मनोमय और फिर मानवसे भी कुछ और बन जानेका, एक आध्यात्मिक एवं दिव्य सत्ता बन जानेका लक्ष्य भी उसकी भवितव्यताके अंतर्गत है। और, यदि वह ऐसा नहीं भी कर सकता तो भी उसे अपना मन अपनेसे परेकी वस्तुके प्रति तो उद्घाटित करना ही पड़ेगा तथा इस प्रकार अपनेसे किसी वृहत्तर सत्तासे उसे जो प्रकाश और शक्ति प्राप्त होते हैं उनके द्वारा उसे अपने जीवनका शासन करना होगा। अपनेअंदर एवं जगत्के अंदर भगवान्की सचेतन अनुभूति मानवके अस्तित्वका एक परमतथ्य है और उस अनुभूतिके अंदर वृद्धि प्राप्त करना उसकी प्रकृतिका उद्देश्य भी हो सकता है। बात कुछ भी हो, परंतु यह तो स्पष्ट है कि जीवनकी परिपूर्णता ही उसका उद्देश्य है, यही उसके लिये संभव विशालतम और उच्चतम जीवन है, चाहे फिर वह एक परिपूर्ण मानवताके रूपमें हो चाहे एक नवीन दिव्य जातिके रूपमें हो। यदि हम मानवके व्यक्तिगत अस्तित्वके अभिप्रायका और उसके समाजके पूर्ण उद्देश्य एवं आदर्शका ठीक-ठीक निर्णय करना चाहते हैं तो हमें उसके अंदर समग्रताकी आवश्यकताको एवं अपने निजी अस्तित्वसे ऊपर उठनेकी प्रवृत्तिको समझ लेना चाहिये।

सामान्यतया संस्कृतिसे हमारा मतलब मनोमय जीवनका स्वयं उसके लिये ही अनुशीलन करना होता है। परंतु संस्कृति शब्द स्वयं संदिग्धार्थक है और हमारे अपने विचार तथा पूर्वसंचित भावोंके अनुसार इसके संकुचित अथवा व्यापक अर्थ किये जा सकते हैं। हमारा मानव-अस्तित्व एक जटिल वस्तु है तथा अनेक तत्त्वोंसे निर्मित है। सबसे पहले इसका निम्नतर और आधारभूतस्तर है जो विकासके क्रममें प्राणमय स्तरके सबसे अधिक समीप है। फिर इस स्तरके दो पहलू हैं, इंद्रियों, संवेदनों तथा आवेगोंका मनोमय जीवन, जिसमें प्रकृतिके अनुभवात्मक उद्देश्यकी प्रधानता रहती है यद्यपि उसका बाह्य वस्तुगतरूप क्षेत्रका काम देता

है; दूसरा मनोमय पुरुषका क्रियात्मक अथवा गति-शक्तिपूर्ण जीवन जिसका कर्म करनेवाले अंगों तथा कर्मके क्षेत्रके साथ संबंध रहता है और जिसमें प्रकृतिका बाह्य उद्देश्य प्रधान रहता है, यद्यपि अनुभवात्मक उसके लिये क्षेत्रका काम देता है। इस क्रममें आगे, अधिक उच्च अवस्थामें, एक ओर तो नैतिकसत्ता और उसका नैतिकजीवन है और दूसरी ओर सौंदर्यात्मक सत्ता और उसका सौंदर्यलक्षी जीवन। इनमेंसे प्रत्येक उस आधारभूत मनके स्तरको अधिकृत करनेका, उसपर अपना प्रभुत्व जमानेका एवं उसके अनुभवों तथा उसकी क्रियाओंको अपने ही उपयोगमें लगानेका यत्न करता है, इनमें एक न्याय (Right)के विकास एवं आराधनके लिये, तथा दूसरा सुन्दरम् (Beauty)के विकास एवं आराधनके लिये यत्नशील रहता है। और, फिर इन सबसे ऊपर हमारे अंदर बुद्धि-पुरुष है जो इन सबसे लाभ उठाते हुए, इनकी सहायता करते हुए, इनका निर्माण करते हुए प्रायः इनपर पूर्णतया शासन करनेका यत्न करता है। मानवकी उच्चतम सिद्धस्थिति बुद्धिका जीवन है अथवा बोधयुक्त संकल्पकी गतिशील शक्तिसे युक्त व्यवस्थित एवं समस्वरित बुद्धितत्त्व है जो मानव-रथका सारथि है और जिसे होना भी चाहिये।

परंतु मनुष्यकी बुद्धि पूर्णतया और एकमात्र तर्कयुक्त बुद्धि तथा तर्कयुक्त संकल्पसे ही नहीं बनी है, अपितु इसके अंदर एक ऐसी वस्तु का भी प्रवेश है जो अधिक गंभीर, अधिक अंतर्ज्ञानयुक्त, अधिक उत्कृष्ट एवं शक्तिशाली, परंतु बहुत कम स्पष्ट, बहुत कम विकसित है और अभीतक अपने निजप्रकाश और शक्तिसे भी युक्त नहीं है और जिसके लिये अभीतक कोई उपयुक्त नाम भी हमारे पास नहीं है। परंतु कुछ भी हो, इसका विशिष्ट गुण है एक प्रकारकी ज्योतिर्मयताकी खोज करना,—यह तर्ककी शुष्क ज्योति नहीं और न ही हृदयकी आर्द्र एवं उमड़ पड़नेवाली ज्योति है, अपितु यह तो एक वैद्युत तेज है, एक सौर भास्वरता है। वस्तुतः यह अपने-आपको गौण बनाकर भी रख सकती है और अपनी क्षणिक द्युतियोंके द्वारा बुद्धि एवं हृदयको केवल सहायता ही पहुँचाती है; परंतु इसमें एक दूसरी प्रेरणा भी है जो इसकी स्वाभाविक प्रेरणा है और जो बुद्धिका भी अतिक्रमण कर जाती है। वह बौद्धिक सत्ताको प्रकाश देनेका यत्न करती है, नैतिकसत्ता, सौंदर्यात्मक सत्ता, भावनामय एवं क्रियाशील सत्ताको, यहांतक कि इंद्रियों एवं संवेदनोंको भी प्रकाश देनेका यत्न करती है। दिव्यवाणीके रूपमें वह हमारे लिये प्रेरणा प्रस्तुत करती है, वैद्युतिक द्युतियोंके द्वारा मानों वह किसी आवृत्त

वस्तुको अनावृत्त कर देती है। वह एक प्रकारके गुह्य अथवा आंतरात्मिक चमत्कारके रूपमें अथवा एक निश्चित परंतु मनोमय मानवके लिये लगभग अति-प्राकृतिक प्रकाशके रूपमें एक ऐसे सत्यका दर्शन करवाती है जो तर्क, बुद्धि तथा भौतिक विज्ञानके द्वारा प्रदत्त ज्ञानकी अपेक्षा अधिक महान् एवं सत्य है. एक ऐसे न्यायका जो नैतिकतावादी की सदाचारकी योजनासे अधिक विशाल एवं दिव्य है, एक ऐसे सौंदर्यका जो कलाकार द्वारा अर्पित वासनामय अथवा कल्पनात्मक सौंदर्यकी अपेक्षा अधिक गंभीर, व्यापक एवं आकर्षक है, एक ऐसे आह्लाद एवं दिव्य संवेदनशीलताका, जिसके सम्मुख साधारण भावावेग निर्बल और फीके पड़ जाते हैं; वह इंद्रियों तथा संवेदनोंसे परेके एक ऐसे भावका, दिव्यतर जीवन एवं कर्मकी एक ऐसी संभावनाका हमारे सम्मुख उद्‌घाटन करती है जिसे मनुष्यके जीवनका साधारण व्यापार उसकी प्रवृत्तियों तथा उसकी दृष्टिसे छिपाये रखता है। बुद्धिसे लेकर नीचेकी ओर हमारी सत्ताके समस्त निम्न भागोंपर इस प्रेरणाके अत्यधिक विभिन्न, अत्यंत खंड-खंड और प्राय: अत्यंत अस्पष्ट एवं भ्रमपूर्ण प्रभाव पड़ते हैं, परंतु अंतमें इसी लक्ष्यकी ओर यह मनुष्यको इन असंख्य विकृतियोंके बीचमेंसे लिये जा रही है। दिखावटी मत-मतांतरोंकी पद्धतियों एवं धार्मिक रीतियोंमें फँसकर वह नष्ट हो जाती है अथवा कम-से-कम मंद पड़कर दब जाती है। परंपरावादी धर्मोंकी स्थूलता निर्दय रीतिसे इसे क्षुद्र एवं हीन-मूल्य मुद्रामें परिवर्तित करके इसे अपने लिये व्यापारका साधन बना लेती है। परंतु फिर भी वह एक ऐसा प्रकाश है जिसकी खोजमें धर्मभाव तथा मानव आध्यात्मिकता सदासे संलग्न हैं और इनके बुरे-से-बुरे अध:पतनमें भी उसकी एक फीकी-सी ज्योति बनी रहती है।

मानवकी सबसे बड़ी परेशानियाँ और बाधाएँ ये हैं कि उसकी मानसिक सत्ता ऐसी जटिल है कि इसमें कोई भी एक ऐसा तत्त्व विद्यमान नहीं है जो सुरक्षित रीतिसे दूसरे तत्त्वोंको अधीन कर सके, तथा उसे कोई ऐसा निश्चित तथा विश्वसनीय प्रकाश प्राप्त नहीं है जो बुद्धि एवं विवेकके संकल्पको उनकी डगमग अवस्थामें पथ दिखा सके तथा दृढ़ता प्रदान कर सके। उसकी मानसिकताके समस्त प्रतिकूल भेदभाव, विरोध, प्रतिरोध, संघर्ष, परिवर्तन, पुनरावृत्तियाँ एवं विकृतियाँ, उसके विचारों, उसकी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियोंके बीचका समस्त अस्तव्यस्त संग्राम, जो उसके यत्नोंको जटिल बना देता है, उसकी सत्ताके इन अनेक भागोंकी परस्पर-भ्रमपूर्ण भावनाओं तथा आपसमें टकरानेवाले अधिकारके भावोंके कारण उत्पन्न हुए हैं। उसका तर्क एक ऐसा न्यायाधीश है जो परस्पर-

विरोधी निर्णय देता है, वादियोंसे घूस लेता है तथा उनके प्रभावमें आ जाता है; उसका विवेकसंपन्न संकल्प एक ऐसा शासक है जो अपने साम्राज्यके विभिन्न भागोंके आपसी विरोधोंसे, स्वयं अपने ही पक्षपातपूर्ण भावसे एवं अपनी चरमअसमर्थतासे परेशान हो जाता है। फिर भी, इन सब परिस्थितियोंके बीचमें उसने संस्कृति एवं मनोमय जीवनके विषयमें कुछ मोटे विचार बना लिये हैं और उनके विषयमें उसके संघर्षमय भाव कुछ ऐसी निश्चित दिशाओंका अनुसरण करते हैं जो स्वयं उसकी ही प्रकृतिके विभेदों द्वारा निर्धारित होती हैं और एक पृथक् मानदंडको अथवा एक समग्र सामंजस्यको प्राप्त करनेके लिये किये गये उसके अनेकों प्रयत्नों द्वारा प्रवृत्तियोंके एक सामान्य विधानके ढाँचेमें ढाली जाती हैं।

सबसे पहले हमारे सम्मुख सभ्यता और बर्बरताका भेद आता है। साधारण लोक-प्रचलित दृष्टिके अनुसार सभ्यताका अर्थ एक ऐसे नागरिक सभ्य समाजकी अवस्था है जिसमें शासन है, रक्षाका प्रबंध है, जो संगठित है, शिक्षित है, ज्ञान एवं साधन-संपन्न है, इसके विरुद्ध एक दूसरी स्थिति है जिसमें ये सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं अथवा जिसमें इनके विद्यमान होनेकी आशा नहीं की जाती। एक विशेष अर्थमें अमरीकन मूल निवासी बसूटो जाति एवं फिज्जी टापुओंके निवासियोंकी भी अपनी सभ्यता थी; उनमें भी एक कठोर यद्यपि सरलरीतिसे संगठित समाज विद्यमान था, एक सामाजिकविधान, कुछ नैतिकविचार, एक धर्म, एक प्रकारका शिक्षण तथा बहुत-से ऐसे गुण भी उनमें विद्यमान थे जिनमेंसे, ऐसा कहा जाता है, कुछका आधुनिक सभ्यतामें बुरी तरह अभाव है, परंतु उन्हें जंगली एवं असभ्य कहनेमें हम सब एकमत हैं, ऐसा प्रतीत होता है चूँकि इसका मुख्य कारण उनका असंस्कृत एवं सीमित ज्ञान है, उनके साधनोंकी आरंभिक स्थूलता एवं उनके सामाजिक संगठनकी अत्यंत सरलता है। समाजकी अधिक विकसित अवस्थाओंमें हमें अर्घ-सभ्य तथा अर्घ-बर्बर नाम उपलब्ध होते हैं जिनका भिन्न-भिन्न प्रकारकी सभ्यताएँ एक-दूसरेके लिये प्रयोग करती हैं और उनमें जो कोई कुछ समयके लिये प्रधान तथा भौतिक रूपमें सफल होती है, उसकी आवाज इस विषयमें स्वभावतः ही सबसे ऊँची एवं अधिक आत्मविश्वाससे युक्त होती है। पहले लोग अधिक स्पष्ट-वक्ता एवं सरल होते थे तथा सामान्य सभ्यतामें अपनेसे भिन्न लोगोंको दस्यु अथवा म्लेच्छका निंदित नाम देकर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट रूपमें प्रकट कर देते थे। सभ्यता शब्दका, जैसा कि अब यह प्रयुक्त होता है, केवल एक सापेक्ष-सा अर्थ रह गया है, अथवा इसका अब कोई निश्चित

अर्थ नहीं रह गया है। इसलिये इसमें जो कुछ अस्थायी अथवा अप्रकृत भाव है उसे अलग हटाकर हम इसका यह विशेष अर्थ निश्चित कर सकते हैं कि बर्बरता समाजकी वह अवस्था है जिसमें मनुष्य सर्वथा अपने प्राण, शरीर एवं अपने आर्थिक तथा भौतिक अस्तित्वमें ही तल्लीन रहता है,—पहले-पहल केवल उनका पर्याप्त रूपमें भरण-पोषण करनेमें ही वह लगा रहता है, उनके विशालतर एवं समृद्धतर कल्याणके लिये अभी प्रवृत्त नहीं होता;—और इस अवस्थामें अपने मानसिक विकासके लिये उसके पास साधन भी थोड़े होते हैं और प्रवृत्ति भी कम होती है, जब कि सभ्यता समाजकी वह अधिक विकसित अवस्था है जिसमें एक पर्याप्त विकास-संपन्न सामाजिक एवं आर्थिक संगठनमें, इसके सब भागोंमें नहीं तो अधिकतर भागोंमें, मनोमय जीवनकी क्रिया भी जोड़ दी गयी होती है। कुछ समयके लिये इनमेंसे कुछ भागोंको एक ओर रख दिया जाता है अथवा उन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया जाता अथवा इन्हें निष्क्रिय रखकर अस्थायी रूपमें निर्जीव बना दिया जाता है, परंतु फिर भी समाज प्रकट रूपमें सभ्य हो सकता है, बल्कि अत्यधिक सभ्य भी हो सकता है। इस दृष्टिकोणमें समस्त ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक सभ्यताओंका समावेश हो जायगा और समस्त बर्बरताको एक ओर रख दिया जायगा, चाहे वह फिर अफ्रीकाकी हो अथवा यूरोप या एशियाकी अथवा हूण, गोथ, बंदाल या तुर्कोंकी। यह तो स्पष्ट ही है कि बर्बरतामें भी सभ्यताके मोटे-मोटे स्थूल आरंभिक लक्षण रह सकते हैं, और यह भी स्पष्ट है कि एक सभ्य समाजमें बर्बरता विशाल परिमाणमें अथवा बहुत-से अवशेषोंके रूपमें रह सकती है। इस अर्थमें सब समाज अर्ध-सभ्य होते हैं। भविष्यकी अधिक विकसित मानवता पीछे दृष्टि डालकर हमारी आजकलकी सभ्यताके युगपर कितना आश्चर्य और क्षोभ अनुभव करेगी तथा इसे मिथ्या आचारों तथा अनाचारोंसे पूर्ण एक अधूरी सभ्यताका काल बतायगी। परंतु मुख्य बात यह है कि जिस समाजको हम सभ्य कह सकते हैं उसमें मनुष्यका मन क्रियाशील होना चाहिये, मनोमय व्यापार विकसित होना चाहिये तथा मनोमय पुरुषके उच्च मनमें उसके जीवनकी व्यवस्था एवं उन्नतिके विषयमें एक स्पष्ट विचारधारा स्वचेतन रूपमें विद्यमान होनी चाहिये।

परन्तु एक सभ्य समाजमें आंशिक, अधूरे एवं व्यावहारिक सभ्य मनुष्य तथा सुसंस्कृत मनुष्यके बीचमें अभी भी एक भेद विद्यमान है। इसलिये यह स्पष्ट दिखायी देगा कि केवल सभ्यताके साधारण लाभोंमें भाग लेना ही मनुष्यको वास्तविक मनोमय जीवनतक ऊपर उठा देनेके लिये पर्याप्त

नहीं है, इसके लिये अभी एक और अधिक विकासकी, एक उच्चतर उत्थानकी आवश्यकता होती है। पिछली पीढ़ीके लोग सुसंस्कृत तथा असंस्कृत मनुष्यके बीचमें प्रवल भेद किया करते थे तथा इससे उनका क्या अभिप्राय होता था इसे वे पर्याप्त स्पष्ट रीतिसे समझते थे। मोटे रूपमें उनके लिये असंस्कृत व्यक्ति वह था जो बाहरसे सभ्य जीवन व्यतीत करता हो, सभ्यताके समस्त साधनोंसे संपन्न हो, जिसके पास प्रचलित विचारों, राग-द्वेषों, रूढ़ियों एवं भावनाओंका संग्रह-सा हो और वह उनका बखान करता हो, परंतु उच्च विचारोंके प्रति जड़ हो, स्वतंत्र मुक्त विवेकके प्रयोगसे रहित तथा सौंदर्य और कलाके भावोंसे अपरिचित हो; धर्म, नैतिकता, साहित्य, जीवन, जिस वस्तुको भी वह छूता हो, अपने स्पर्शसे वह उसे भद्दा रूप दे देता हो, वह फिलिस्तीन वस्तुतः आजकलका सभ्य बर्वर है। अपने प्राण और शरीरके साथ मूढ़ रागके कारण, अपनी प्राणमय आवश्यकताओं एवं प्रवृत्तियोंके कारण तथा एक निरे पारिवारिक एवं आर्थिक मानव-पशु जीवनके कारण वह प्रायः अर्ध-सभ्य भौतिक एवं प्राणमय बर्बर होता है, परंतु मौलिक एवं सामान्य रूपमें वह मनोमय बर्वर है, सामान्य संवेदन-प्रधान मानव है। इसका अर्थ यह है कि उसका मनोमय जीवन मनके निम्न स्तरसे, संवेदनात्मक, आवेग-संवेगमय, भावनामय एवं क्रियात्मक व्यवहारके जीवनसे संबंध रखता है; यही मनोमय पुरुषका प्रथम स्तर है। इन सबमें वह खूब क्रियाशील और खूब शक्तिशाली हो सकता है, परंतु एक उच्चतर प्रकाशके द्वारा वह उनपर शासन नहीं करता और न ही वह उन्हें मुक्ततर एवं श्रेष्ठतर ऊँचाईकी ओर ऊपर उठा ले जानेका यत्न करता है, प्रत्युत वह उच्च शक्तियोंको नीचे, अपनी इंद्रियोंके, इंद्रिय-संवेगोंके, अपने अज्ञानपूर्ण तथा असंस्कृत आवेगोंके, अपनी स्थूल उपयोगितावादी क्रियात्मकताके निम्न स्तर तक खींच लाता है। उसकी सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति बहुत ही कम विकसित होती है, सौंदर्यके लिये या तो उसके अंदर कोई झुकाव ही नहीं होता अथवा उसकी सौंदर्यविषयक रुचि इतने अधिक भद्दे प्रकारकी होती है कि वह सौंदर्यमय कृति एवं सौंदर्यबोधके सामान्य स्तरको निम्न एवं ग्राम्य बना देनेमें सहायता देती है। प्रायः वह सदाचारके विषयमें बहुत कट्टर होता है, सदाचार-संबंधी व्यवहारमें सामान्यतया वह संस्कृतियुक्त मनुष्यसे भी कहीं अधिक सजग रहता है, परंतु उसकी नैतिक सत्ता भी उतनी ही स्थूल एवं अविकसित होती है जितना कि उसके व्यक्तित्वका शेष भाग होता है; उसकी नैतिक सत्ता रूढ़िबद्ध, अपरिमार्जित तथा अबोध होती है, वह रुचियों एवं

अरुचियों, पक्षपातों तथा प्रचलित सामाजिक रीतियों तथा सम्मानके भावोंके साथ उसके मोहका संग्रहमात्र होती है; वह सामान्यतः स्वीकृत व्यवहारके प्रति न तो खुले रूपमें विद्रोह ही करना पसंद करता है और न ही उसकी अवहेलना करना ; यह भाव उसका बुद्धिगत भाव नहीं होता अपितु यह उसके संवेदनशील मनमें बद्धमूल होता है। उसका नैतिक झुकाव भी उसके मनके संवेदनशील भागका एक अभ्यास होता है; यह एक सामान्य संवेदनशील व्यक्तिका सदाचार है। उसके पास बुद्धि एवं विवेकयुक्त संकल्पका आभास तो होता है, परंतु ये वस्तुएँ उसकी अपनी नहीं होतीं, प्रत्युत ये सामुदायिक मनका ही भाग होती हैं जो उसे पारिपार्श्विक वातावरणसे प्राप्त हुई होती हैं। इनमेंसे जितना कुछ भाग उसका अपना होता है वह केवल क्रियात्मक, संवेदनात्मक तथा आवेगात्मक बुद्धि एवं संकल्प तथा व्यावहारिक नियमों एवं अभ्यासगत भावोंकी यंत्रवत् पुनरावृत्ति होता है, किसी वास्तविक विचार अथवा विवेकपूर्ण धारणाओंका प्रयोग नहीं होता। उनका प्रयोग करनेसे वह कुछ अधिक विकसित मनोमय सत्ता नहीं बन जाता, जैसा कि कोई सामान्य लंदन-निवासी अपने निवाससे अपने व्यवसायके स्थानतक आने-जानेसे विकसित शरीरवाला व्यक्ति नहीं बन जाता, एवं जैसे किसी बैंकका लेखक-कर्मचारी प्रतिदिन अपने देशके आर्थिक जीवनमें जो योग देता है उससे वह कोई विकसित आर्थिक साधनोंवाला व्यक्ति नहीं बन जाता। वह मानसिक रूपमें क्रियाशील नहीं, वरन् प्रतिक्रियाशील रहता है, और यह एक सर्वथा भिन्न अवस्था है।

यह फिलिस्तीन अर्थात् असंस्कृत मनोमय बर्बर समाप्त नहीं हो गया है, प्रत्युत बहुसंख्यक रूपमें विद्यमान है, हाँ, अब उसका उतना राज्य नहीं रह गया है। संस्कृतिके पुत्रोंने ठीक अर्थोंमें अभी विजय तो नहीं पा ली है, परंतु उन्होंने पुराने राक्षससे छुटकारा अवश्य पा लिया है और उसके स्थानपर एक नये असुरको प्रतिष्ठित कर लिया है। यह है संवेदनशील मानव, जिसमें कम-से-कम उच्च शक्तियोंका कुछ विवेकपूर्ण उपयोग करनेकी आवश्यकता जाग्रत् हो चुकी है और जो मानसिक रूपमें क्रियाशील होनेके लिये भी प्रयत्नशील है। उसे ठोक-पीटकर, डरा-धमकाकर तथा शिक्षाके द्वारा इस क्रियाशीलतामें धकेला गया है तथा इसके अतिरिक्त वह नवीन सूचनात्मक ज्ञानके, नवीन बौद्धिक रीतियोंके, नूतन विचारों तथा नवीन आंदोलनोंके एक भँवरके बीचमें रहता है, और इनसे वह अपने-आपको निरंतर अछूता नहीं रख सकता। नूतन विचारोंके प्रति भी वह

खुला हुआ है वह उनको अधिकृत कर सकता है और फिर कुछ अस्त-व्यस्त-से तरीकेसे उन्हें इधर-उधर बिखेर भी सकता है। वह आदर्शोंको ठीक अथवा गलत रीतिसे समझ सकता है, उन्हें क्रियात्मक रूप देनेके लिये व्यवस्था कर सकता है और ऐसा प्रतीत होगा कि वह उनके लिये संघर्ष कर सकता है, मृत्युतकका आलिगन कर सकता है। उसे इस बातका ज्ञान है कि उसे नैतिक, सामाजिक एवं विज्ञान और धर्मकी समस्याओंके विषयमें सोच-विचार करना है, नूतन राजनीतिक प्रगतियोंका स्वागत करना है, विचार, अन्वेषण एवं कर्मकी नवीन गतियोंको जो आधुनिक जगत्-क्षेत्रमें एक-दूसरेके पीछे दौड़ रही हैं अथवा उससे टकराती हैं उसे उस सहानुभूतिपूर्ण विवेककी दृष्टिसे देखना है, जो वह अब तक प्राप्त कर सकता है। वह काव्यका अध्ययन करता है, उपन्यासों और सामाजिक साहित्यको पी जाता है—उसमें संभवतः तुम्हें कोई टैगोरका विद्यार्थी अथवा ह्विटमैन (Whitman) का प्रशंसक मिल जायगा, सौंदर्य तथा रसके विषयमें संभवतः उसके पास कोई परिमार्जित विचार तो नहीं हैं, परंतु उसने सुन रखा है कि कला भी जीवनका सर्वथा नगण्य भाग नहीं है। इस दीर्घकाय असुर-मूर्त्तिकी छाया सब ओर विद्यमान है। यही अध्ययनशील महान् जनसमुदाय है, समाचार-पत्र तथा साप्ताहिक एवं मासिक समालोचना-पत्र सब इसीके हैं; उपन्यास, काव्य एवं कला इसका मनोरंजन करनेके लिये हैं; रंगमंच, सिनेमा तथा रेडियोका अस्तित्व इसके लिये ही है। भौतिक विज्ञान अपने ज्ञान तथा आविष्कारोंको द्रुत गतिसे इसके द्वारपर प्रस्तुत किये जा रहा है और इसके जीवनको अनंत यंत्र-कलासे सुसज्जित करता जा रहा है। राजनीतिको इसके अनुरूप ही स्वरूप दिया जाता है। यह वही है जिसने पहले-पहल स्त्रियोंके मताधिकारका विरोध किया और फिर स्वयं उसकी स्थापना भी की, यही व्यापारमें सहयोगवाद, अराजकतावाद, श्रेणी-संघर्ष, श्रमजीवी-विद्रोहका विकास कर रहा है तथा उन संघर्षोंका सूत्रपात कर रहा है जिनके विषयमें बताया जाता है कि ये विचारोंके अथवा संस्कृतियोंके संघर्ष हैं—यह एक भयंकर प्रकारका संघर्ष है, जो इस नवीन बर्बरताके ही स्वरूपमें ढाला गया है—अथवा यह वही है जो कुछ ही दिनोंमें रूसमें उन राज्य-क्रांतियोंको ला सकता है जिन्हें गंभीर शिक्षित लोगोंके शताब्दी-लंबे यत्न और कष्ट भी लानेमें असमर्थ रहे। इसका आगमन ही आधुनिक जगत्को पुनर्गठित करनेका प्रेरक कारण बना है। यदि किसी लैनिन, किसी मुसोलिनी अथवा किसी हिटलरको इतनी शीघ्र एवं आश्चर्यचकित कर

देनेवाली सफलता मिली, तो एक अभिप्रेरक शक्तिके रूपमें यह ही उसका कारण था, उन्हें विजयश्रीकी ओर ले जानेके लिये यही सद्यःप्रत्युत्तरशील एवं क्रियाशील मानव विद्यमान था, यह एक ऐसी शक्ति थी, जिससे उनसे पहलेके कम भाग्यशाली नेतागण वंचित थे। इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तनके पहले परिणाम हमारी प्रगतिकी मनोवांछाके लिये प्रोत्साहन देनेवाले सिद्ध हुए हैं, परंतु विचारकके लिये तथा उच्च एवं उन्नत संस्कृतिके प्रेमियोंके लिये ये कुछ निराशाजनक ही रहे हैं। क्योंकि यद्यपि इसने संस्कृतिको अथवा संस्कृतिके बाह्य आकारको कुछ सीमातक लोक व्यापक तो बना दिया है, परंतु प्रथम दृष्टिमें ऐसा नहीं प्रतीत होता कि नीचेसे बहुसंख्यामें इन अर्ध-सभ्य लोगोंके आ मिलनेसे यह कुछ ऊपर उठी है अथवा इसे कोई दृढ़ता ही प्राप्त हुई है। और न ऐसा प्रतीत होता है कि संसार पहलेकी अपेक्षा अपने श्रेष्ठतम व्यक्तियोंकी बुद्धि और विवेकपूर्ण संकल्पकी शक्तिके द्वारा अधिक सीधे तौरपर पथप्रदर्शन ही पा रहा है। अभी भी व्यापारवाद ही आधुनिक सभ्यताका केंद्र बना हुआ है, एक उत्तेजना-प्रधान कर्मवाद अभी भी इसकी प्रेरक शक्ति है। आधुनिक शिक्षाने उत्तेजनाप्रधान मानवका सामुदायिक रूपमें उत्थान नहीं किया है; इसने तो केवल मानवके लिये कुछ ऐसी वस्तुओंको जिनका वह पहले अभ्यस्त नहीं था, उदाहरणार्थ मानसिक कर्म तथा व्यवसायको, बौद्धिक, यहाँतक कि रसात्मक संवेदन एवं आदर्शवादकी भावनाओंको आवश्यक बना दिया है। वह अब भी प्राणिक स्तरपर रहता है, परंतु इसके लिये वह अब ऊर्ध्वसे प्रेरणा चाहने लगा है। मानसिक रूपमें व्यस्त रहनेके लिये उसे लेखकोंकी एक सेना चाहिये जो उसके लिये एक प्रकारका बौद्धिक भोजन प्रस्तुत करते रहें। उसके अंदर सब प्रकारके सामान्य सूचनात्मक ज्ञानके लिये पिपासा है, परंतु इस ज्ञानको समन्वित अथवा आत्मगत करनेके लिये न तो उसे चिन्ता है और न उसके पास इसके लिये समय ही है, परंतु लोकप्रिय वैज्ञानिक ज्ञानके लिये, ऐसे नवीन विचारोंके लिये, जो यदि उसके सम्मुख शक्तिशाली एवं चमत्कारपूर्ण रीतिसे प्रस्तुत किये जायँ, तो वह उन्हें ग्रहण कर सके, ऐसे बहुत प्रकारके मनोमय संवेदनों एवं आवेगोंके लिये, ऐसे आदर्शोंके लिये, जिनके विषयमें वह यह मान लेना चाहता है कि वे उसके व्यवहारको प्रेरणा देनेवाले हैं और जो कभी-कभी उसे एक विशिष्ट प्रकारका रंग दे भी देते हैं, उसके अंदर अभिलाषा रहती है। अभी भी उसकी स्थिति असंस्कृत मनोमय सत्ताकी कर्मशील तथा उत्तेजना-प्रवण स्थिति ही है, परंतु कुछ अधिक खुली हुई एवं उदार है। और सुसंस्कृत तथा शिक्षितवर्ग यह अनुभव करता है

कि ऐसा मानव उसकी वातको जितना सुननेके लिये तैयार होता है, वैसा निपट फिलिस्तीन कभी नहीं रहा; हाँ, यह आवश्यक है कि पहले उसे उत्तेजित कर लिया जाय एवं उसका मनोरंजन कर लिया जाय, फिर ऐसे मानवमें उनके विचारोंको क्रियात्मकरूप मिलनेका इतना अधिक अवसर हो सकता है, जितना पहले कभी नहीं रहा था। इसका परिणाम यह हुआ है कि विचार, कला और साहित्य वहुत सस्ते हो गये हैं; योग्यता, यहाँतक कि प्रतिभा भी सामान्य लोगोंके सफलताके कुंजोंमें केलि करने लगी है; लेखक. विचारक एवं वैज्ञानिक वहुत कुछ रोमन घरोंमें रहनेवाले सुसंस्कृत ग्रीक गुलामकी स्थितिको पहुँच गया है जहाँ उसे अपने स्वामीके लिये काम करना, उसे प्रसन्न रखना, उसका मनोरंजन करना तथा उसे शिक्षित करना होता था और साथ ही उसकी रुचियों एवं अनुरक्तियोंपर सजग दृष्टि रखनी होती थी और जो व्यवहार और भाव उसके स्वामीके मनको भा जाते थे, उन्हें कुशलताके साथ वार-वार दोहराना उसका कर्तव्य हो जाता था। एक शव्दमें उच्च मनोमय जीवन अच्छे और वुरे दोनों परिणामोंके साथ लोकायत्त, संवेदनप्रधान तथा क्रियाशील वन गया है। विश्वासकी आँख इस सवके वीचमेंसे संभवतः यह देख सकती है कि एक विशाल परिवर्तन प्रारंभ हो चुका है यद्यपि अभी वह आरंभिक अवस्थामें ही है। यदि सौंदर्यको नहीं तो कम-से-कम विचार एवं ज्ञानको तो श्रोतागण मिल सकते हैं, यहाँतक कि थोड़े समयमें ही ये एक व्यापक, अस्पष्ट, परंतु अंतमें अपने परिणामोंको पैदा करनेके लिये एक प्रभावशाली संकल्प जाग्रत् कर सकते हैं। प्रत्यक्षवादके इस ऊपरी परदेके पीछे संस्कृति और उन मनुष्योंके समुदायकी जो समझने और जाननेके लिये गंभीरतापूर्वक सोचते और यत्न करते हैं, विशाल वृद्धि हुई है और प्रत्यक्षवादी मनुष्यमें भी रूपांतरकी प्रक्रिया प्रारंभ हो गयी है। विशेषतः शिक्षाकी नवीन प्रणालियाँ, समाजके नवीन सिद्धांत क्रियात्मक संभावनाके क्षेत्रमें आने शुरु हो गये हैं, जिनसे संभवतः एक दिन ऐसी घटना घटित होगी जो अभी अज्ञात है, अर्थात् मनुष्योंकी एक ऐसी जातिकी--केवल एक वर्गकी नहीं--सृष्टि होगी, जिन्होंने कुछ सीमातक अपने मनोमय पुरुषको प्राप्त एवं विकसित कर लिया होगा; वह सुसंस्कृत मनुष्यजाति होगी।

दसवाँ अध्याय

सौंदर्यात्मक तथा नैतिक संस्कृति

संस्कृतिका भाव अब हमारे सम्मुख कुछ और अधिक स्पष्ट होने लगा है अथवा कम-से-कम इसने अपने स्वाभाविक विरोधी तत्त्वोंको स्पष्ट तौरपर विषम मानोंके रूपमें अपनेसे पृथक् कर दिया है। यह तो नितांत स्पष्ट है कि अमानसिक एवं निपट भौतिक जीवन ही संस्कृतिका विरोधी तत्त्व है और यह ही बर्बरता है। बौद्धिकतासे रहित, प्राणमय, असंस्कृत आर्थिक जीवन तथा स्थूल पारिवारिक जीवन भी, जिसका एकमात्र उद्देश्य धनोपार्जन, संतानोत्पादन तथा उसका भरण-पोषण है, उसके विरोधी हैं, ये एक दूसरे प्रकारकी और इससे भी भद्दी बर्बरताके रूप हैं। जिस व्यक्तिमें इनकी प्रधानता होती है एवं जिसमें उच्चतर वस्तुओंका कोई विचार नहीं होता, ऐसे व्यक्तिको हम सभी असंस्कृत तथा अविकसित मानवका नाम देते हैं, वह जंगली मनुष्यका ही एक प्रवृद्ध रूप है और यदि वह किसी सभ्य राष्ट्र एवं ऐसे समाजमें वास करता भी है, जो संस्कृति तथा परिमार्जित जीवनके विषयमें एक सामान्य विचारधारा तथा कुछ व्यवस्थित व्यवहार तक पहुँच चुका है, तो भी वह मनुष्य मूलतः बर्बर ही है। जिन समाजों अथवा राष्ट्रोंपर यह छाप पड़ी हुई है, उन्हें हम एकमतसे बर्बर अथवा अर्ध-बर्बरका नाम देते हैं। जब कोई राष्ट्र या युग ज्ञान, विज्ञान तथा कलाका तो विकास कर लेता है, परंतु अपने सामान्य दृष्टिकोणमें, जीवन तथा विचारके अभ्यासोंमें, वह ज्ञान, सत्य, सौंदर्य तथा जीवनके उच्च आदर्शोंके द्वारा नहीं, वरन् स्थूल प्राण, जीवनके व्यावसायिक तथा आर्थिक दृष्टिकोणके द्वारा शासित होना पसंद करता है, तो हम कहते हैं कि वह राष्ट्र अथवा युग एक अर्थमें तो सभ्य हो सकता है, परंतु सभ्यताके अपने प्रभूत तथा अतिशय उपादानों एवं साधनोंसे युक्त होते हुए भी सुसंस्कृत मानवताकी अनुभूति अथवा संभावनाकी आशासे वह बहुत दूर है। इसलिये अपने विजयी तथा परिपूर्ण उत्पादनके साथ और भौतिक विज्ञानके महान् विकास एवं वृद्धिके कार्योंमें अपनी सफलताओंके साथ भी उन्नीसवीं शताब्दिकी इस यूरोपीय सभ्यताको हम एक प्रकारसे निंदित ही ठहराते हैं, क्योंकि इसने इन सब वस्तुओंका उपयोग व्यापारवाद तथा

निम्न-प्राणिक सफलताके लिये ही किया है। इसके विषयमें हम यही कहते हैं कि मानवताको जिस पूर्णताकी अभीप्सा करनी चाहिये वह यह नहीं है और यह प्रवृत्ति उच्चतर मानव-विकासकी स्थितिकी ओर न ले जाकर उल्टे उससे दूर ले जाती है। इसके विषयमें हमारा निश्चित निर्णय यही है कि संस्कृतिके युगके रूपमें यह युग प्राचीन एथेन्स, पुनरुत्थानके इटली तथा प्राचीन अथवा पौराणिक भारतवर्षकी अपेक्षा घटिया ही था। कारण, उन युगोंके सामाजिक संगठनमें चाहे कितनी ही त्रुटियाँ रही हों और यद्यपि उनका वैज्ञानिक ज्ञानका क्षेत्र तथा उनकी भौतिक सफलता, दोनों बहुत घटिया थे, परंतु जीवनकी कलामें वे अधिक बढ़े हुए थे, उसके उद्देश्यको वे अधिक अच्छी तरह जानते थे एवं मानव-पूर्णताके किसी सुस्पष्ट आदर्शको अपना लक्ष्य मानकर उसके लिये तीव्र रूपमें अभीप्सा करते थे।

स्वयं मनोमय जीवनके क्षेत्रमें भी, इसकी केवल व्यावहारिक तथा शक्तिशाली क्रियाशीलतामें अथवा मनोमय प्रभावसे युक्त आवेगों तथा संवेदनोंकी धारामें, उस परंपरागत व्यवहार तथा उन सामान्य भावनाओं, अभ्यासगत धारणाओं तथा विचारों एवं पक्षपातोंके अनुसार जीवन चलाना जो अपने अंदरके नहीं होते वरन् पारिपार्श्विक स्थितियोंसे प्राप्त किये जाते हैं, मनका कोई स्वतंत्र उन्मुक्त प्रयोग न करते हुए बहुमतके अंध-विधानके अनुसार बिना सोचे-समझे स्थूल रीतिसे जीवन व्यतीत करना, और इसके अतिरिक्त उन इन्द्रियों और बाह्य संवेदनोंके द्वारा ही जीवन यापन करना जो विशेष परंपराओंके द्वारा शासित तो हों, पर न तो पवित्रता एवं प्रकाशसे युक्त हों और न सौंदर्यके किसी विधान द्वारा परिपूत ही हों—यह सब संस्कृतिके आदर्शके विरुद्ध है। कोई मनुष्य सभ्य जीवनकी समस्त बनावट अथवा सारी सजधजके साथ रह सकता है एवं सभ्यताके अनंत साधनोंका उपभोग भी कर सकता है, परंतु इससे वह वास्तविक अर्थोंमें विकसित मनुष्य नहीं बन जाता। जीवनके इस प्रकारके विधानका अनुकरण करता हुआ समाज शक्तिशाली, भद्र, सुव्यवस्थित, सफल, धार्मिक, नैतिक तथा और जो चाहो हो सकता है, परंतु होता वह फिलिस्तीन (असंस्कृत) समाज ही है; यह एक ऐसा बंदीगृह है जिसे मानव-आत्माको तोड़ना ही होगा। क्योंकि मानव-आत्मा जबतक इसमें निवास करती है, वह एक घटिया, प्रेरणारहित तथा अवृद्धि-शील मनोमय अवस्थामें ही रह रही होती है; निम्न-स्तरमें वह खूब बढ़ती है, वह मनुष्यकी उच्च क्षमताओं द्वारा नहीं, बल्कि निम्न इंद्रियाश्रित मनके स्थूल भावों द्वारा शासित होती है। और उसके लिये केवल

यह भी स्पष्ट है कि मुख्यतः अथवा एकांततः सौंदर्यात्मक संस्कृति भी हो सकती है। इस प्रकार शीघ्र ही एक-दूसरेके साथ संघर्षमें आनेवाले दो आदर्श बन जाते हैं जो स्वभावतः एक-दूसरेके विरोधमें, आपसमें अविश्वास यहाँतक कि घृणाकी भावना लेकर खड़े हो जाते हैं अथवा एक-दूसरेपर टेढ़ी दृष्टि डालने लगते हैं। सौंदर्यग्राही मनुष्य नैतिक नियंत्रणके प्रति असहिष्णु हो उठता है, वह इसे अपनी रसिक प्रवृत्तिकी स्वतंत्रताके मार्गमें बाधा तथा अपने कलामय भाव तथा कलाके गुणके खुले प्रयोगपर बलात्कार समझता है। वह स्वाभाविक रूपमें भोगवादी ही होता है, क्योंकि सौंदर्य और आनंद अविभाज्य शक्तियाँ हैं, और नैतिक नियंत्रण आनंदोपभोग को तथा प्रायः सर्वथा निर्दोष भोगोंको भी कुचल देता है तथा आनंदकी मानव-प्रवृत्तिपर कड़े बंधन लगा देता है। सौंदर्यप्रिय मानव नैतिक शासनको तभी स्वीकार कर सकता है, जब वह सुन्दरताका रूप धारण कर ले, अथवा ऐसा भी हो सकता है कि सुन्दरताके सृजनके लिये वह नैतिकताको ही अपना यंत्र बना ले, परंतु यह तभी जब कि वह इस नैतिकताको अपनी प्रकृतिके रसतत्त्वके अधीन बना सकता हो। यह ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार वह धर्मकी ओर प्रायः उसके सौंदर्य, वैभवके प्रदर्शन, शानदार रीतियोंसे, एवं भावनाओंकी संतृप्ति, शांति अथवा काव्यमय आदर्शवाद तथा अभीप्सासे आकर्षित होता है। अथवा हम ऐसा भी कह सकते हैं कि वह धर्मके भोगवादी पहलुओंके द्वारा आकर्षित होता है। जब इन वस्तुओंको वह पूरी तरहसे स्वीकार भी कर लेता है तब भी वह इन्हें इनके अपने लिये ही स्वीकार नहीं करता। इसीलिये तो नैतिक मनुष्यकी रसवादके प्रति स्वाभाविक घृणा और भी बढ़ जाती है। वह कला तथा सौंदर्यात्मक भावको ढीला-सा, नरम-सा, स्वाभाविक रूपमें कुछ अनियंत्रित-सा समझता है, इसलिये वह उनमें विश्वास नहीं रखता। भावनाओं एवं वासनाओंके लिये इसके आकर्षणके कारण वह इसे एक उच्च एवं कठोर आत्म-नियंत्रणके लिये घातक समझता है। यह उसको भोगवाद दिखायी पड़ता है और उसको ऐसा प्रतीत होता है कि भोगवादी प्रवृत्ति अनाचारात्मक और प्रायः दुराचारात्मक होती है। उसके लिये यह समझना कठिन हो जाता है कि एक अत्यंत सँकरे क्षेत्र और सतर्कतापूर्वक सुरक्षित सीमाके बाहर रस-प्रवृत्तिका उपयोग कठोर नैतिक जीवनके साथ किस प्रकार जोड़ा जा सकता है। वह एक ऐसे पवित्रतावादका विकास कर लेता है जो सिद्धांत-रूपमें भोगवादका विरोध करता है; अपनी अतियोंमें ही नहीं—और एक प्रबल प्रवृत्ति उत्तरोत्तर पूर्णतः तल्लीन करने तथा

अतियोंकी ओर ले जानेवाली होती ही है—अपितु अपने मूल स्वभावमें भी वह तत्त्वतः पवित्रतावादी ही रहता है। हमारी अपनी प्रकृतिके इन दोनों पहलुओंके संबंधके बारेमें हमारी जो गलतफहमी है वह हमारे मानव-वृद्धिक्रमकी एक अनिवार्य परिस्थिति है; मनुष्यको इन दोनों स्थितियोंको पृथक्-पृथक् इनकी संपूर्ण संभावनाओंतक और इनकी चरम अवस्थामें अनुभव करना चाहिये जिससे कि वह अपनी योग्यताओंके समस्त विस्तारको समझ सके।

समाज केवल व्यक्तिका ही विस्तार है। इसीलिये व्यक्तियोंके प्रकारों (Types)में विभिन्नता तथा विरोध सामाजिक और राष्ट्रीय प्रकारोंकी विभिन्नता तथा विरोधके रूपमें प्रकट होता है। सामाजिक स्वरूपोंमें हमें इसके उत्कृष्ट उदाहरण नहीं मिलेंगे, क्योंकि ये स्वरूप इन प्रवृत्तियोंपर कोई प्रकाश नहीं डालते, अपितु ये तो स्वयं भी भ्रष्टरूप, विकृतियाँ किंवा भ्रममात्र होते हैं। नैतिक प्रवृत्तिके उदाहरणके लिये हमें मध्यवर्गकी वह तंग, मंद एवं परंपरावादी धार्मिकता नहीं लेनी चाहिये जो उन्नीसवीं शताब्दीके इंगलैंडमें एक अत्यधिक प्रधानतत्त्वके रूपमें विद्यमान थी। वह कोई नैतिक संस्कृति नहीं थी, अपितु सभ्यताके एक विशेष स्तरपर कुलीन वर्गमें सम्मानशीलताका जो सामान्य भाव सर्वत्र पाया जाता है उसका एक स्थानीय भेदमात्र थी—यह तो सीधा-सादा फिलिस्तीनवाद था। इसी प्रकार सौंदर्यवृत्ति समाजके उदाहरणके रूपमें हम केवल किसी बोहिमियन समाजको अथवा पुनःस्थापनके समयके लंदनको या उसके अपने इतिहासके किन्हीं छोटे कालोंमें पेरिसको नहीं ले सकते। उनका दावा जो कुछ भी हो, उनका सिद्धांत तो सदा एक ऐसे इंद्रियोन्मुख भोगवादी मनुष्यकी विलासिता रहा है जिसे एक छिछले बुद्धिवाद एवं सौंदर्यवादने नैतिकताकी परंपराओंसे मुक्त कर दिया है। पवित्रतावादी इंगलैंडको भी हम नैतिक प्रकारके उदाहरणके रूपमें नहीं ले सकते, कारण, यद्यपि वहाँ चरित्र एवं नैतिक व्यक्तित्वके विषयमें एक कठोर तथा अतिरंजित संस्कृति विद्यमान थी, परंतु निर्णायक प्रवृत्ति वहाँ भी धार्मिक थी, और धार्मिक प्रवृत्ति हमारी दूसरी अनुभववादी प्रवृत्तियोंसे सर्वथा भिन्न प्रकारकी वस्तु है, यद्यपि इसका शेष सब प्रवृत्तियोंपर भी प्रभाव पड़ता है, परंतु यह सर्वथा ही एक भिन्न एवं मौलिक वस्तु है और व्यावहारिक रूपमें इसको अलग ही मानना चाहिये। इस प्रकारके सच्चे उदाहरण प्राप्त करनेके लिये, चाहे वे सदा सर्वथा शुद्ध प्रकारके न भी हों, हमें कालक्रममें कुछ पीछे लौटना पड़ेगा और आरंभिक प्रजातंत्रात्मक 'रोम'के साथ अथवा

स्वयं 'ग्रीस'में स्पार्टाकी पैरीक्लीयन एथेंसके साथ तुलना करनी होगी। क्योंकि जैसे-जैसे हम काल-प्रवाहमें, वर्तमान समयके विकासक्रममें, आगे बढ़ते हैं, मानवता सामूहिक रूपमें, अपने भूतकालीन सामुदायिक अनुभवोंको साथ लेते हुए, अधिकाधिक जटिल बनती जा रही है तथा पुराने विभिन्न रूप पुनः नहीं बन पाते अथवा विकृत रूपमें एवं कठिनाईसे बन पाते हैं।

प्रजातांत्रिक रोम—विजित ग्रीसका संस्पर्श प्राप्त करने एवं अंतमें उसके द्वारा बंदी बना लिये जानेके पश्चात्—मानव-इतिहासमें अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं अद्भुत मनोवैज्ञानिक घटनाओंमेंसे एक है। मानव-विकासके दृष्टिकोणसे यह घटना हमारे सम्मुख एक ऐसे उच्च एवं दृढ़ चरित्र-निर्माणके अनूठे अनुभवके रूपमें आती है जो सौंदर्यके भावद्वारा प्रदत्त मधुरतासे, एवं बुद्धिके उपयोगसे चरित्रमें जो प्रकाश प्राप्त होता है उससे रहित है और धार्मिक प्रवृत्तिकी प्रेरणासे भी वंचित है; कारण, रोमका प्रारंभिक मत अज्ञानपर आधारित था, वह एक मिथ्या प्रकारकी धार्मिकता था और उसमें सच्ची धर्मभावनाका सर्वथा अभाव था। तत्कालीन रोम एक ऐसे मानव-संकल्पका मूर्त्त उदाहरण था, जो मनके आवेगात्मक एवं इंद्रियजन्य संवेगात्मक भागको दवा देने और उसपर शासन स्थापित करनेके लिये यत्नशील था, जिससे कि वह एक निश्चित नैतिक ढंगका आत्म-प्रभुत्व प्राप्त कर ले। इस आत्म-प्रभुत्वने रोमन प्रजातंत्रको अपने पड़ोसी जगत्पर भी अधिकार स्थापित करने तथा अपने जन-विधान तथा व्यवस्थाको दूसरे राष्ट्रोंपर आरोपित करनेके लिये समर्थ बना दिया। जिन साम्राज्य-वादी राष्ट्रोंने इतने अधिक परिमाणमें सफलता प्राप्त की, उन सबकी संस्कृतिमें अथवा उनकी प्रकृतिमें, उनके निर्माण अथवा विस्तार-कालमें, संकल्पका यह प्रभुत्व तथा चरित्रबल रहा ही है, साथ ही आत्मानुशासन तथा आत्माधिपत्यकी वह प्रेरणा भी रही है जो नैतिक प्रवृत्तिकी आधार-शिला है। दूसरी नैतिक सभ्यताओंके समान रोम तथा स्पार्टामें भी आचारसंबंधी त्रुटियाँ विद्यमान थीं, उनमें कुछ ऐसे रीति-रिवाज प्रचलित थे जिन्हें उस समय सहन किया जाता था अथवा जान-बूझकर प्रोत्साहन दिया जाता था और जिन्हें हम अनाचार कह सकते हैं। नैतिक सदाचारके अधिक कोमल एवं अधिक सूक्ष्म तत्त्वोंका विकास करनेमें वे असफल रहे, परंतु यह कोई मौलिक महत्त्व की बात नहीं है। मनुष्यमें नैतिक विचार बदलता रहता है और अपने क्षेत्रका विस्तार करता रहता है, परंतु सच्ची नैतिक सत्ताके तत्त्व सदा वही रहते हैं, अर्थात् संकल्प, चरित्र, आत्मशासन तथा आत्माधिपत्य।

यदि हम पीछे लौटकर इस सभ्यताके महत्त्वपूर्ण उदाहरणोंपर दृष्टि डालें तो इसकी न्यूनताएँ एकदम सामने आ जाती हैं। प्राचीन रोम और स्पार्टा विचार, कला, काव्य एवं साहित्यसे, अधिक विस्तृत मनोमय जीवन तथा मानव-जीवनके समस्त सुख-साधनों एवं आनंदोंसे वंचित थे; उनकी जीवन-कला जीवनके आनंदको बहिष्कृत अथवा निरुत्साहित करती थी। वे विश्वाससे शून्य थे, जैसा कि नितांत नैतिक व्यक्तिमें स्वतंत्र तथा नमनीय विचारधारा एवं रसात्मक प्रवृत्तिके प्रति सदा अविश्वास रहता ही है। प्रजातांत्रिक रोमके प्रारंभिक भावने उसमें प्रवेश करनेवाले ग्रीक प्रभावोंको अपनेसे दूर ही रखा। ग्रीक शिक्षकोंके शिक्षणालयोंको बंद कर दिया गया, ग्रीक दार्शनिकोंको प्रवासित कर दिया गया और रोमके सबसे अधिक आदर्शवादी व्यक्ति ग्रीक भाषाको भयावह एवं ग्रीक संस्कृतिको घृणास्पद वस्तु मानने लगे। रोमने सहज-प्रेरणावश यह अनुभव किया कि उसके द्वारपर एक शत्रु आ पहुँचा है, उसने ग्रीक प्रभावको अपने जीवन-सिद्धांतके लिये एक विरोधी एवं विनाशकारी शक्ति समझा। स्पार्टा यद्यपि एक ग्रीक नगर था तथापि उसने अपने सुविचारित प्रशिक्षण, विधान तथा शिक्षा-व्यवस्थामें रसात्मक तत्त्वके रूपमें केवल सैनिक-संगीत और कविताको ही स्थान दिया और फिर भी जब उसे युद्धके लिये एक कविकी आवश्यकता पड़ी तो उसे एथेंसके ही एक कविको बुलाना पड़ा। यहाँतक कि प्लेटोके कल्पनात्मक (Utopian) सिद्धांतोंमें भी हमें एक एथेंस-निवासीके विशाल और सौंदर्य-ग्राही मनपर इस संस्कारगत अविश्वासके प्रभावका एक विचित्र उदाहरण मिलता है। प्लेटोको अपनी 'प्रजातंत्र' नामकी रचनामें अपने आदर्श समाज-विधानमें पहले तो कवियोंकी निंदा करनी पड़ी और फिर उन्हें बहिष्कृत ही कर देना पड़ा। इन शुद्ध नैतिक संस्कृतियोंका अंत ही इनकी अपर्याप्तताका साक्षी है। या तो ये भविष्यके आकर्षण तथा तृप्तिके लिये अपने पीछे सर्वथा कुछ न छोड़कर अथवा बहुत कम ही छोड़कर चलती बनती हैं, जैसे स्पार्टाकी सभ्यता चली गयी या फिर अस्वाभाविक प्रतिबंध तथा दबावके विरुद्ध मनुष्यकी जटिल प्रकृतिके विद्रोहके सम्मुख ये धराशायी हो जाती हैं, जैसे कि आरंभिक रोमन सभ्यताका स्वरूप पीछेके प्रजातंत्रात्मक एवं साम्राज्यवादी रोमके अहंभाव और उसकी भोग-विलासकी उच्छृङ्खलताके रूपमें पतित हो गया। मानव-मनको सोचने, अनुभव करने, उपभोग करने तथा विस्तार प्राप्त करनेकी आवश्यकता रहती है। विस्तार तो इसका स्वयं स्वभाव ही है और प्रतिबंध तो वहींतक लाभदायक रहता है, जहाँतक वह मनके विस्तारको

दृढ़ बनाये रखने, मार्ग दिखलाने और शक्ति प्रदान करनेमें सहायक होता है। जिन सभ्यताओं अथवा युगोंने विकासके लिये विवेकपूर्ण स्वतंत्रता प्रदान नहीं की है, फिर चाहे उनके उद्देश्य कितने ही उच्च क्यों न रहे हों अथवा उनकी व्यवस्था अपने-आपमें कितनी ही सुन्दर क्यों न रही हो, मानव-मन उन्हें संस्कृतिका नाम प्रदान करनेसे इनकार कर देता है।

दूसरी ओर उन युगों और सभ्यताओंको पूर्ण संस्कृतिका नाम प्रदान करनेके अपने लोभको हम संवरण नहीं कर सकते, जिन्होंने चाहे उनके अंदर कुछ भी दोष रहे हों, उन्मुक्त मानव-विकासको प्रोत्साहन दिया है जो प्राचीन ऐथेंसके समान विचार, सौंदर्य एवं जीवनके आनंदपर केंद्रित रहे हैं। परंतु एथेंसके विकासमें दो पृथक्-पृथक् काल रहे हैं, एक कला तथा सौंदर्यका फिडियास तथा सोफोक्लीसका एथेंस, और दूसरा विचारका अर्थात् दार्शनिकोंका एथेंस। पहले कालमें सुन्दरताका भाव एवं जीवनके लिये स्वतंत्रताकी आवश्यकता तथा जीवनके उपभोगका भाव, निर्णायक शक्तियाँ रही हैं। यह एथेंस चिंतन तो करता था, परंतु उसका चिंतन कला एवं कविताके रूपमें, संगीत और नाटक एवं निर्माण-कला तथा मूर्त्ति-कलाकी रचनाओंके रूपमें होता था। बौद्धिक वाद-विवादमें भी वह आनंद लेता था, परंतु किसी सत्यपर पहुँचनेके लिये उतना नहीं जितना कि स्वयं चिंतनके आनंद और विचारोंके सौंदर्यके लिये। उसके अंदर सदाचारसंबंधी व्यवस्था भी थी, क्योंकि इसके बिना किसी समाजका अस्तित्व ही नहीं रह सकता, परंतु उसके अंदर कोई सच्ची नैतिक प्रेरणा अथवा नैतिक आदर्श विद्यमान नहीं था, केवल एक परंपरागत एवं रिवाजी सदाचारमात्र था। और जब नैतिकताके विषयमें विचार किया जाता था तो इसकी अभिव्यक्ति, सौंदर्यम्, सुन्दरम् एवं शोभनीयके रूपमें ही की जानेकी प्रवृत्ति होती थी। इसका धर्म भी सौंदर्यका धर्म था और वह आनंददायक कर्मकांड, त्योहारों एवं कलामय कृतियोंके लिये तथा बाह्य धार्मिक आचारोंके स्पर्शको लिये हुए रसिकतापूर्ण आमोद-प्रमोदके लिये एक अवसर होता था। परंतु सदाचारके बिना, किसी प्रकारके उच्च अथवा दृढ़ अनुशासनके बिना जीवनमें स्थायित्व बनाये रखनेवाली कोई शक्ति नहीं होती। एथेंसने एक आश्चर्यजनक शताब्दीमें ही अपनी प्राणशक्ति खर्च कर डाली और उसने उसे निर्बल, संकल्प-शून्य, जीवन-संघर्षमें सफल होनेमें असमर्थ तथा निर्माण-शक्तिसे शून्य बना दिया। कुछ समयतक तो उसका झुकाव ठीक उसी वस्तुकी ओर रहा जिसकी उसके अंदर कमी थी, अर्थात् सत्यकी गंभीर खोज एवं नैतिकतापूर्ण आत्मानुशासनकी विधियोंके विकासकी

ओर; परंतु इस विषयमें वह केवल चिंतन ही कर सका, इस चिंतनको सफलताके साथ क्रियात्मक रूपमें नहीं ला सका। इसके पश्चात्‌के हैलेनिक मनने तथा एथेंसके सांस्कृतिक केंद्रने रोमको नैतिक अनुशासनका वह तितिक्षावादी (Stoic) विधान प्रदान किया, जिसने उसे उसके साम्राज्य-वादकी पहली शताव्दीकी उच्छृङ्खल विलासिताके वीचमें भी वचा लिया, परंतु एथेंस अपने-आप क्रियात्मकरूपमें तितिक्षावादी न वन सका। तितिक्षावादी विचारसे उसपर ऐसा कुछ वन जानेके लिये दवाव पड़ता था जिसके लिये 'एथेंस'में तथा 'हैल्लास'के चरित्रगत स्वभावमें न तो क्षमता विद्यमान थी और न उत्पन्न ही हो सकती थी। तितिक्षावाद उसके स्वभावका परिपूरक न होकर उसके प्रतिकूल था।

जव हम इसके दूसरे महत्त्वपूर्ण उदाहरण, पुनरुत्थान-कालके इटलीकी ओर आते हैं तो जीवनमें रसात्मक दृष्टिकोणकी अपर्याप्तता और भी अधिक स्पष्टरूपसे प्रकट होने लगती है। इस पुनरुत्थान-कालको एक समय मुख्य रूपसे विद्याका उत्थान-काल समझा जाता था, परंतु अपनी इस भूमध्य-सागरीय जन्मभूमिमें इसका स्वरूप कला, काव्य. एवं जीवनके सौंदर्यका प्रस्फुटन ही अधिक रहा है। 'हैल्लास'के चरित्रसंवंधी शिथिलतम कालमें भी जितना संभव था उससे भी अधिक परिमाणमें इटलीमें सौंदर्यात्मक संस्कृति नैतिक झुकावसे वंचित हो रही थी, वल्कि किसी समय तो यह नैतिकताकी विरोधी भी हो जाती थी तथा साम्राज्यवादी रोमकी विलासितापूर्ण उच्छृङ्खलताका स्मरण कराती थी। इसमें विद्याकी जिज्ञासा तथा कौतूहलका भाव तो था, और यद्यपि इसने दर्शन एवं भौतिक विज्ञानके लिये मार्गको उन्मुक्त करनेमें सहायता भी प्रदान की परंतु उच्च विचार एवं सत्यकी ओर तथा वुद्धिकी अधिक परिमार्जित सफलताओंकी ओर इसने स्वयं अपने-आपको वहुत ही कम लगाया। इसने धर्मको इतना भ्रष्ट वना दिया कि नैतिक मनोवृत्तिवाले टयूटानिक राष्ट्रोंमें सुधारकी भयंकर विद्रोहाग्नि भड़क उठी। सुधारवादके इस विद्रोहने धार्मिक विचारकी स्वतंत्रताकी रक्षा तो की, परंतु वस्तुतः यह वुद्धिका विद्रोह अधिक नहीं था—यह कार्य भौतिक विज्ञानके लिये छोड़ दिया गया था—प्रत्युत नैतिकताकी सहजप्रेरणा तथा इसकी नैतिक आवश्यकताका विद्रोह था। इसके पश्चात् आनेवाला इटलीका अवसाद तथा उसकी शिथिलतापूर्ण निर्बलता उसकी सौंदर्यात्मक संस्कृतिके कालके वड़े भारी दोषका अनिवार्य परिणाम थे, और अव पुनर्जागरणके लिये उसे विचार एवं संकल्प एवं चरित्रकी एक नवीन प्रेरणाकी आवश्यकता थी जो उसे मेजिनीने प्रदान की। यद्यपि

नैतिक प्रेरणामात्र मानव-सत्ताके विकासके लिये अपने-आपमें पर्याप्त नहीं है फिर भी संकल्प, चरित्र, आत्मानुशासन एवं आत्माधिपत्य उस विकासके लिये अनिवार्य हैं। वे तो मनोमय शरीरकी रीढ़ हैं।

न तो नैतिक सत्ता और न सौंदर्यात्मक सत्ता ही संपूर्ण मानव है और न इनमेंसे कोई एक उसका अधिष्ठातृ-तत्त्व ही हो सकती है। ये तो केवल दो महत्त्वपूर्ण अंग हैं। नैतिक व्यवहार ही समस्त जीवन नहीं है, और कहा जाय कि यह जीवनका तीन-चौथाई भाग है तो यह भी संशयास्पद गणना होगी। किसी भी ऐसी निश्चयात्मक भाषामें हम इसकी स्थितिका वर्णन नहीं कर सकते, परंतु अधिक-से-अधिक हम यह कह सकते हैं कि संकल्प, चरित्र और आत्मानुशासनके केंद्रीय तत्त्व मानवकी आत्मपूर्णताके लिये प्रथम शर्त हैं। रसात्मक भाव भी तत्समान ही अनिवार्य है, क्योंकि उसके विना मनोमय पुरुषकी आत्मपूर्णता अपने लक्ष्यतक नहीं पहुँच सकती। मनोमय स्तरपर लक्ष्य सत्य, शक्ति, सौंदर्य तथा मानव-अस्तित्वके आनंदकी ठीक तथा सामंजस्यपूर्ण अधिकृति और उनका उपभोग है। परंतु मानव-जीवनके व्यवस्थाक्रममें इनमेंसे कोई भी भाव उच्चतम सिद्धांत नहीं माना जा सकता। हम इन्हें आपसमें मिला सकते हैं, सौंदर्य तथा आनंदकी सहायतासे नैतिकताके भावको विशालता प्रदान कर सकते हैं और इसकी कठोरता तथा तपस्याकी प्रवृत्तिको ठीक करनेके लिये इसमें कोमलता, प्रेम, मधुरता तथा नैतिकताके भोगवादी पहलूको ला सकते हैं। हम इसमें जीवनको टिकाऊपन तथा पवित्रता प्रदान करनेवाले आवश्यक संकल्प, तपस्या तथा आत्मानुशासनको लाकर जीवनके आनंदको स्थिर बना सकते हैं, उसे मार्ग दिखला सकते हैं तथा उसे शक्तिशाली बना सकते हैं। हमारी मनोवैज्ञानिक सत्ताकी ये दो शक्तियाँ, जो हमारे अंदर शक्तिके मूलतत्त्व एवं आनंदके मूलतत्त्वकी प्रतिनिधि हैं—भारतीय शब्द तपस् तथा आनंद अधिक गंभीर तथा उद्बोधक हैं*—इस प्रकार एक-दूसरेसे सहायता प्राप्त कर सकती हैं, एक समृद्धतर और दूसरी विशालतर आत्माभिव्यक्तिको पा सकती है। परंतु इतना समाधान होनेके लिये भी

---

*तपस् विराट् पुरुषका 'शक्ति' देनेवाला वह चेतन तत्त्व है जिसके द्वारा जगत्का निर्माण होता है, उसका पोषण तथा शासन होता है। शक्ति, संकल्प, गतिशक्ति (Energy) तथा सामर्थ्य, प्रत्येक क्रियाशील तत्त्व तथा क्रियाशील बनानेवाले तत्त्वोंके समस्त रूप इसमें सम्मिलित हैं। 'आनन्द' विराट् चेतनाका मूल आह्लाद है और क्रिया-रूपमें इस आत्मसृष्टि तथा आत्मानुभूतिका उल्लास है।

यह आवश्यक है कि एक ऐसी उच्चतर शक्ति इन्हें अपने हाथमें लेकर इन्हें प्रकाशमय बनाये जो दोनोंको समान रूपसे समझती और पहचानती हो और इनके उद्देश्यों और गुणोंको विशद रूपमें अलग-अलग कर सकती हो और फिर इन्हें मिला भी सकती हो। यह उच्चतर शक्ति हमारे लिये मानवकी बुद्धिशक्ति तथा बोधयुक्त संकल्पके रूपमें प्रस्तुत हुई प्रतीत होती है। यह हमारी परम उच्च सामर्थ्य है और अपने स्वाधिकारसे ही यह हमारी प्रकृतिकी मूर्धाभिषिक्त सम्राज्ञी प्रतीत होती है।

ग्यारहवाँ अध्याय

जीवनकी शासक तर्क-बुद्धि

हमारे आंतरिक तथा बाह्य जीवनकी व्यवस्थाके लिये बुद्धि विवेकयुक्त संकल्पका प्रयोग करती है और विकासकी वर्तमान अवस्थामें यह मनुष्यकी सबसे अधिक विकसित शक्ति है। इसे सर्वोच्च शक्ति माना जाता है, क्योंकि हमारी मानव-सत्ताकी जटिलताओंमें यही सर्व-शासक एवं स्व-शासक शक्ति है। मनुष्यको दूसरे पार्थिव प्राणियोंसे इस कारण विशिष्ट माना जाता है कि उसमें अपने जीवनके लिये एक नियमकी, अपनी सत्ता तथा अपने कर्मके लिये एक ऐसे विधानकी, व्यवस्था तथा आत्म-विकासके लिये एक ऐसे सिद्धांतकी खोज करनेकी सामर्थ्य विद्यमान है जो उसकी प्राकृतिक अवस्थाका प्रारंभिक संस्कारगत, मौलिक तथा यंत्रात्मक स्वयंचालित विधान नहीं है। जिस सिद्धांतकी वह खोज कर रहा है वह न तो किसी निश्चित प्राकृतिक नमूनेकी अपरिवर्तनशील तथा अप्रगतिशील व्यवस्था है और न ही अपने परिवर्तनकी प्रक्रियामें वह उस तरहका यांत्रिक विकास ही है जो हमें निम्न दर्जेके प्राणि-क्रममें दृष्टिगोचर होता है। वह एक ऐसा विकास है जो व्यक्तिकी अपेक्षा वर्गके जीवनमें ही अधिक क्रियाशील होता है तथा जिसका विकास हो रहा होता है उसको न तो इसका ज्ञान होता है और न ही उस विकासमें उस प्राणीका सचेतन सहयोग ही प्राप्त होता है। मनुष्य एक ऐसा युक्तियुक्त विधान चाहता है जिसका वह स्वयं ही अधिष्ठाता एवं स्वामी हो अथवा कम-से-कम आंशिक रूपमें उसका स्वतंत्र शासक हो। वह एक ऐसे प्रगतिशील क्रमकी कल्पना भी कर सकता है जिसके द्वारा वह अपनी शक्तियोंका उनकी मूलगत सीमाओं एवं क्रियाओंसे कहीं अधिक विकास तथा वृद्धि कर सकता हो। वह एक इस प्रकारके युक्तियुक्त विकासक्रमका भी श्रीगणेश कर सकता है जिसका वह स्वयं निर्णय करनेवाला हो अथवा, कम-से-कम, जिसका वह एक अचेतन यंत्र बना रहे और इससे भी अधिक एक सहयोग प्रदान करनेवाला एवं निरंतर अनुमति देनेवाला भागीदार बना रह सके। शेष समस्त पार्थिव अस्तित्वको उसकी अपनी प्रकृतिने ही एक असहाय दास बनाकर निर्दयतापूर्वक दबा रखा है, परंतु मनुष्यमें तो यह सहज-प्रेरणा काम कर

रही है कि वह अपना मानवत्व पाकर अपनी प्रकृतिका स्वामी वन जाय तथा स्वतंत्र हो जाय।

इसमें संदेह नहीं कि यह सब कुछ प्रकृतिका ही कार्य है और यह प्रेरणा भी प्रकृतिकी ही है; सत्ताके जिस तत्त्वसे मनुष्यकी मानवता वनी है उसी तत्त्वसे मानवकी प्रेरणाका उदय होता है और उन्हीं प्रक्रियाओंके द्वारा होता है जिनकी अनुमति वह तत्त्व देता है और जो उस तत्त्वके लिये स्वाभाविक होती हैं। परंतु फिर भी यह एक दूसरे प्रकारकी 'प्रकृति' है, सत्ताकी एक ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्तिके लिये 'प्रकृति' आत्म-चेतन बन जाती है, और अपने-आपको एवं संभाव्य शक्तियोंको जान लेने, उनमें संशोधन एवं परिवर्तन करने तथा उन्हें विकसित करनेका यत्न करती है, साथ ही वह उनपर सचेतन रूपसे प्रयोग करनेका भी यत्न करती है। इस परिवर्तनमें एक महत्त्वपूर्ण आत्म-उपलब्धि हस्तक्षेप करने लगती है, एक ऐसी वस्तु प्रकट होती है जो भौतिक तत्त्वमें तथा जीवनकी प्रथम व्यवस्थामें छिपी हुई रहती है और जो पशुके अंदर मनके रहते हुए भी उसमें स्पष्ट रूपसे प्रकट नहीं हुई है। यह वस्तुओंमें आत्मतत्त्वका अभिव्यंजन होता है जो पहले अपनी प्राकृतिक एवं वहिरंग क्रियाओंमें छिपा हुआ, तल्लीन एवं कम-से-कम उपरितलपर अपने-आपको भूला हुआ होता है। इसके पश्चात्, जैसे कि पशुमें होता है, यह उपरितलमें कुछ हदतक तो सचेतन हो जाता है, परंतु फिर भी असहाय रूपमें अपनी प्रकृतिकी क्रियाओंके ही अधीन रहता है, अज्ञानवश अपने-आपपर एवं अपनी गतियोंपर नियंत्रण नहीं कर सकता। परंतु अंतमें मनुष्य-रूपमें यह अपनी चेतनाकी दृष्टि अपने ऊपर डालता है, व्यक्तिमें उसकी स्वभावगत क्रियाओंको जानने तथा शासित करनेका यत्न करता है और फिर व्यक्तिके द्वारा तथा अनेक व्यक्तियोंकी समवेत बुद्धि एवं शक्तिके द्वारा मानवजातिकी तथा सामान्य पदार्थोंकी प्रकृतिकी क्रियाओंपर भी यथासंभव शासन स्थापित करनेका प्रयत्न करता है। अपने ऊपर तथा पदार्थोंपर अपनी चेतनाको लगा देनेका कार्य, जिसका कि मनुष्य प्रतिनिधित्व करता है, प्रकृतिके क्षेत्रमें आत्माके पार्थिव विकासक्रममें एक महान् और अद्भुत संक्रान्तिक घटना है, एक सुदीर्घ तथा प्रगतिशील घटना-क्रम है। पृथ्वीके भूतकालमें इससे पहले भी अन्य संक्रमणकारी घटनाएँ हुई हैं, उदाहरणार्थ जब कि पृथ्वीपर सचेतन प्राणि-जीवनका प्रथम प्रादुर्भाव हुआ था। और निस्संदेह इसके भविष्यमें एक और ऐसी घटना भी होनी चाहिये जिसमें एक उच्चतर आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक चेतनाका प्रादुर्भाव होगा तथा उसको मनके कार्योंपर

लगाया जायगा। परंतु इस समय जो सत्ता कार्य कर रही है वह है मनमें एक आत्म-सचेतन आत्मा, मनोमयसत्ता, मनोमयपुरुष, जो अपने-आपको एवं जीवनको एक युक्तियुक्त व्यवस्थामें ले आनेके लिये तथा मानवयंत्रकी शक्तियों तथा सामर्थ्योंके किसी अनिश्चित और संभवतः किसी अनंत विकासके लिये संघर्ष कर रहा है।

मनुष्यके ज्ञानका साधन केवल तर्कयुक्त बुद्धि ही नहीं है। समस्त कर्म, समस्त प्रतीति, समस्त रसानुभव तथा संवेदन, समस्त प्रवृत्ति एवं संकल्प, समस्त कल्पना एवं सृजन ज्ञानकी एक विश्वजनीन तथा बहुमुखी शक्तिके सूचक हैं तथा इस ज्ञानके प्रत्येक रूप अथवा प्रत्येक शक्तिके अपने स्वभाव एवं विधानमें क्रम एवं व्यवस्थाका अपना सिद्धांत विद्यमान है, अपने अनुकूल इसका अपना तर्क है, तथा बौद्धिक विवेक इसको जो प्रकृति, क्रम अथवा व्यवस्थाका विधान प्रदान करता है, उसके अनुसार अथवा यदि बौद्धिक विवेकका इन सब गतियोंपर अपना नियंत्रण होता, तो वह स्वयं जिस ढंगसे चलता, उसके अनुसार चलनेकी इसको आवश्यकता नहीं है, उसके साथ तदाकार होनेकी आवश्यकता तो दूर रही। परंतु दूसरी वस्तुओंकी अपेक्षा बुद्धिको यह सुविधा अधिक है कि वह अपने-आपको कर्मसे अलग कर सकती है, इससे पीछे हटकर तटस्थरूपमें खड़ी हो सकती है, निष्पक्षरूपमें इसे समझ सकती है, इसकी प्रक्रियाओंका विश्लेषण कर सकती है तथा इसके तत्त्वोंको अलग-अलग कर सकती है। जीवन-युक्त सत्ताकी कोई भी अन्य शक्तियाँ अथवा क्षमताएँ यह कार्य नहीं कर सकतीं। कारण, प्रत्येकका अस्तित्व अपने ही विशिष्ट कर्मके लिये है, और जो कार्य वह कर रही होती है उसीमें वह कुछ सीमित भी होती है, जिस प्रकार बुद्धि देख सकती है उस प्रकार अपनेसे परे, चहुँ ओर तथा अंदर देखनेमें ये असमर्थ हैं। प्रत्येक शक्तिके अंदर जो प्रज्ञाका तत्त्व निहित होता है वह उस शक्तिके कर्ममें निरंतर विद्यमान तथा उसके साथ रहता है। वह उसे अपना स्वरूप-निर्माण करनेमें सहायता देता है, परंतु वह स्वयं भी अपनी स्वनिर्मित आकृतियोंके द्वारा सीमित होता है। उस प्रज्ञाका अस्तित्व कर्मकी परिपूर्त्तिके लिये होता है स्वयं ज्ञानके लिये नहीं, यदि ज्ञानके लिये होता भी है तो कर्मके केवल एक अंगके रूपमें ही होता है। इसके अतिरिक्त उसका संबंध केवल विशिष्ट कर्म अथवा सामयिक कर्मके साथ होता है और न तो वह विचारपूर्वक पीछेकी ओर दृष्टि डालती है और न विवेकपूर्वक आगेकी ओर; स्पष्ट समन्वयकी सामर्थ्यके साथ वह दूसरे कर्मों अथवा शक्तियोंपर भी दृष्टि डालनेका

यत्न नहीं करती। इसमें संदेह नहीं कि जीवनयुक्त सत्ताकी दूसरी विकसित शक्तियाँ, उदाहरणके लिये पशु अथवा मानवके प्रवृत्तिगत संस्कार,—मनुष्यके संस्कार केवल इसीलिये निर्बल होते हैं कि वे बुद्धिके संशयों और अन्वेषणोंके कारण विचलित होते रहते हैं—अपने अंदर अपने ही भूतकालके अनुभवकी शक्ति, अपनेको ढाल लेनेकी संस्कारगत शक्तिसे संपन्न होती हैं। यह सबका सब वस्तुतः संगृहीत प्रज्ञा ही होती है और इसे कभी-कभी वे शक्तियाँ इतनी दृढ़ताके साथ पकड़े रहती हैं कि यह निधि पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक निश्चित थातीके रूपमें हस्तांतरित होती रहती है। परंतु यह सब केवल संस्कार-गत होनेके कारण तथा अपने ऊपर स्वयं विचारपूर्वक दृष्टि डालनेकी सामर्थ्य न होनेके कारण, जीवनके कार्य-कलापको चलानेके लिये वस्तुतः बहुत उपयोगी है, परंतु जबतक तर्क-बुद्धि इसको अपने हाथमें न ले ले तबतक मनुष्यके विशिष्ट उद्देश्यकी सिद्धिके लिये यह किसी कामका नहीं है; वह विशिष्ट उद्देश्य है प्रकृतिमें आत्माके व्यापारका एक नवीन क्रम, सचेतन आत्माका शक्तिके कार्योंपर एक उन्मुक्त, युक्तिसंगत, विवेकपूर्वक समन्वयकारी, बोधपूर्वक आत्मदर्शी तथा बुद्धिपूर्वक अनुभवशील आधिपत्य।

उधर तर्कका अस्तित्व ज्ञानके लिये है, वह अपनेको कर्ममें बह जानेसे रोक सकता है, कर्मसे अलग, तटस्थ खड़ा रह सकता है, कर्ममें प्रवृत्त शक्तियोंकी क्रियाओं तथा क्षमताओंका विवेकपूर्वक अध्ययन कर सकता है, उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकता है, उनमें संशोधन अथवा परिवर्तन कर सकता है, उन्हें अधिक अच्छा बना सकता है तथा उनका गठन और पुनर्गठन कर सकता है, कहीं उन्हें दबा सकता है तो कहीं छूट भी दे सकता है तथा एक विवेकयुक्त सुबोध, संकल्पयुक्त एवं संगठित पूर्णताके लिये यत्नशील बन सकता है। यह तर्क (Reason) ही विज्ञान है, यह सचेतन कला है, यह गवेषणा है, यह निरीक्षण है तथा तथ्योंके अंतर्निहित सत्यको अधिकृत और व्यवस्थित कर सकता है; यह अनुमान है तथा संभाव्य क्षमताके सत्यको उन्मुक्त कर सकता है तथा उसकी पूर्व-सूचना दे सकता है। यह विचार (Idea) तथा उसकी परिपूर्त्ति है, यह स्वयं आदर्श एवं उसकी चरितार्थता है। यह तात्कालिक प्रकट स्वरूपके आरपार देख सकता है तथा उसके पीछे छिपे हुए सत्योंको अनावृत कर सकता है। यह सेवक है, परंतु समस्त उपयोगिताओंका स्वामी भी है, तथा समस्त उपयोगिताके भावोंको एक ओर रखकर सत्यकी, स्वयं सत्यके लिये ही, निरपेक्ष रीतिसे खोज कर सकता है और इसे पाकर

नवीन संभाव्य उपयोगिताके भावोंकी एक पूरी दुनिया ही अनावृत कर सकता है। इसलिये यह एक सर्वप्रधान सामर्थ्य है जिसकी सहायतासे मनुष्यने अपने-आपको अधिकृत कर लिया है, जिसके द्वारा वह अपनी शक्तियोंका अध्ययन करनेवाला एवं स्वामी बना है, एवं जिसकी सहायतासे वह ऐसा देव बना है जिसके ऊपर, अपने ऊर्ध्व आरोहणके लिये उसके अंदरके दूसरे देवता सहायताके लिये निर्भर रहते हैं, वह ग्रीक पौराणिक गाथाका प्रोमिथियस है, मानवजातिका सहायक, शिक्षक, उन्नायक, मित्र तथा उसे सभ्य बनानेवाला है।

पिछले कुछ कालसे तर्क-बुद्धिकी इस सर्वप्रधानताके प्रति मानव-मनमें एक महत्त्वपूर्ण विद्रोह दिखायी देने लगा है, जिसे हम बुद्धिका अपने प्रति तथा अपनी सीमाओंके प्रति असंतोष कह सकते हैं, और साथ ही मनुष्यमें अपनी प्रकृतिकी दूसरी शक्तियोंको अधिक स्वतंत्रता एवं अधिक महत्त्व प्रदान करनेकी प्रवृत्ति भी दिखायी देने लगी है। मनुष्यके अंदर तर्ककी प्रधानता सदा ही अपूर्ण रही है; वस्तुतः इसका शासन क्षोभपूर्ण, संघर्षमय, प्रतिरोधयुक्त तथा प्रायः असफल रहा है। परंतु फिर भी मानवजातिके सर्वोत्तम विवेकने इसे प्रामाणिक तथा विधान-निर्माता स्वीकार किया है। इसका एकमात्र सर्व-स्वीकृत प्रतिद्वंद्वी है श्रद्धायुक्त विश्वास। केवल धर्म ही अपने इस दावेमें शक्तिशाली रीतिसे सफल हुआ है कि इसके सामने तर्कको चुप रहना चाहिये, अथवा यह कि ऐसे भी क्षेत्र हैं जिनमें इसका प्रवेश नहीं हो सकता और जहाँ केवल श्रद्धायुक्त विश्वासकी ही सुनवाई होनी चाहिये; परंतु कुछ समयके लिये तो धर्मको भी अपनी इस सर्वोपरि मान्यताको छोड़ना पड़ा अथवा ढीला कर देना पड़ा तथा तर्कके आधिपत्यके सामने सिर झुका देना पड़ा। जीवन, कल्पना, भावुकता तथा जीवनकी नैतिक और सौंदर्यात्मक आवश्यकताने स्वयं अपने लिये ही अपना अस्तित्व रखनेके तथा अपने ही झुकावका अनुसरण करनेके अपने दावेपर बल दिया है और क्रियात्मक रूपमें उन्होंने अपने दावेको प्रायः बलात् मनवा भी लिया है। परंतु फिर भी उन्हें सामान्यतः तर्कके निरीक्षण तथा आंशिक नियंत्रणमें ही रहकर कार्य करना पड़ा है तथा न्यायाधीश एवं निर्णायकके रूपमें इसका मत लेना पड़ा है। परंतु अब मानवजातिके मनमें अपने ऊपर शंका करनेकी तथा यह प्रश्न करनेकी प्रवृत्ति अधिक बढ़ती जा रही है कि क्या जीवन इतनी अधिक विशाल, गंभीर, जटिल एवं रहस्यमय वस्तु नहीं है कि केवल बुद्धिकी शक्तियाँ पूरी तरहसे उसपर न तो अधिकार जमा सकती हैं और न शासन ही कर सकती हैं। अस्पष्ट

रूपसे यह अनुभव किया जा रहा है कि तर्क-बुद्धिसे महत्तर भी कोई देवता है।

कुछ लोगोंके लिये वह देवता स्वयं प्राण अथवा प्राणके अंदर छिपा हुआ संकल्प है। उनका दावा है कि प्राणका ही राज्य होना चाहिये और बुद्धि वहींतक उपयोगी है जहाँतक वह प्राणकी सेवा करती है। प्राणको तर्क-बुद्धिके मनमाने नियंत्रणके द्वारा न तो दबाना ही चाहिये और न उसके महत्त्वको कम ही करना चाहिये, उसे यांत्रिक भी नहीं बनने देना चाहिये। प्राणके अंदर इसकी अपेक्षा महत्तर शक्तियाँ हैं जिन्हें उन्मुक्त क्रीड़ाका अधिक अवसर देना चाहिये, क्योंकि केवल उन्हींका विकास होता है तथा वे ही सृजन करती हैं। दूसरी ओर यह अनुभव किया जाता है कि तर्क कुछ अधिक विश्लेषणात्मक तथा स्वच्छंद है, अपने विभेदों, निश्चित वर्गीकरणों तथा उनपर आश्रित बँधे-बंधाये नियमोंके द्वारा जीवनको मिथ्या रूप दे देता है, तथा ज्ञानकी, अंतर्ज्ञानकी अथवा कोई और गभीरतर एवं विशालतर शक्ति भी है जो अस्तित्वके रहस्योंमें अधिक गहरी पहुंच रखती है। इस विशालतर आत्मीय शक्तिका अस्तित्वकी गहराइयों तथा इसके स्रोतोंके साथ अधिक तादात्म्य है और यह हमें जीवनके अविभाज्य सत्य तथा मौलिक वास्तविकताएँ प्रदान करनेमें अधिक समर्थ है, किसी कृत्रिम अथवा यांत्रिक भावमें नहीं, अपितु अस्तित्वके अंदरके गुप्त संकल्पके पूर्वज्ञानके साथ तथा अपनी विशाल, सूक्ष्म एवं अनन्त विधियोंके साथ स्वतंत्रतापूर्वक सामंजस्य रखते हुए उन्हें क्रियात्मक रूप देनेमें भी समर्थ है। वस्तुतः मानव-मनका बढ़ता हुआ अनुभववाद जिस वस्तुको धुँधले रूपमें देखने लगा है वह यह है कि आत्मा ही वह सर्व-सत्ता-संपन्न देवता है जो तर्क-बुद्धिको अपने एक मंत्रीके रूपमें उपयोग में ला सकता है, परंतु अपनी क्षमताओंको सीमित किये विना तथा अपने अस्तित्वके व्यवहारको कृत्रिम बनाये बिना अपने-आपको अपनी बौद्धिकताके निरीक्षणमें नहीं ला सकता।

सच्चे ज्ञानकी निःस्वार्थ भावसे खोज ही तर्क-बुद्धिकी उच्चतम क्षमता है, क्योंकि यह इसकी विशुद्ध एवं स्वाभाविक शक्ति है। जब ज्ञानकी खोज स्वयं ज्ञानके लिये ही की जाती है, केवल तभी हम सच्चे ज्ञान तक पहुँच सकते हैं। इसके पश्चात् हम उस ज्ञानको भिन्न-भिन्न उद्देश्योंके लिये प्रयोगमें ला सकते हैं। परंतु यदि आरंभसे ही कुछ विशेष उद्देश्य हमारे सम्मुख होंगे तो हमारी बौद्धिक प्राप्ति परिमित हो जायगी एवं वस्तुओंके विषयमें हमारी दृष्टि भी सीमित हो जायगी, सत्य विकृत हो

जायगा क्योंकि हम उसे किसी विशेष विचार अथवा उपयोगिताके साँचेमें ढाल लेंगे और उसमेंका जो भाग उस विशिष्ट विचार अथवा उपयोगितासे टक्कर खाता होगा, उसकी अवहेलना कर देंगे अथवा उसका परित्याग कर देंगे। निःसंदेह ऐसा करनेसे तर्क अपने उद्दिष्ट विचार अथवा उपयोगिताके क्षेत्रमें कुछ सीमातक अपने महान् अपरोक्ष बलसे कार्य करने लगेगा, ठीक उसी तरह जिस तरह पशुके अंदर कुछ विशेष सीमाओंमें किसी विशेष उद्देश्यके लिये स्वाभाविक संस्कार अधिक बलके साथ कार्य करता है, परंतु उन सीमाओंके बाहर वह अपने-आपको सर्वथा पंगु ही अनुभव करता है। साधारण मनुष्य भी वस्तुतः—जैसे कि पशु अपने परंपरा-प्राप्त संस्कारको प्रयोगमें लाता है—इसी प्रकारकी अनन्य भक्तिके साथ किसी विशेष लाभकी प्राप्तिके लिये अपनी तर्क-बुद्धिको काममें लाता है अथवा अभ्यासगत तथा परंपरा-प्राप्त तर्कको अपने जीवनके आवश्यक व्यावहारिक स्वार्थोंके लिये उपयोगी परंतु कम अज्ञानपूर्ण रीतिसे प्रयोगमें लाता है। चिंतनशील व्यक्ति भी साधारणतः कुछ विशेष रुचिके विचारोंको कार्यरूपमें लानेमें ही अपने तर्कको सीमित रखता है। जो कुछ इनके लिये उपयोगी अथवा सहायक अथवा अनुकूल नहीं होता अथवा जो इनके औचित्यको स्वीकार नहीं करता, उसकी वह अवहेलना करता है, उसे अस्वीकार कर देता है, या फिर उसका क्रियात्मक रूपमें विरोध करता है अथवा उसमें गंभीर परिवर्तन कर देता है,—सिवाय इसके कि जहाँतक जीवन स्वयं उसे इन परिवर्तनोंको कुछ समयके लिये स्वीकार कर लेनेके लिये बाध्य कर देता है अथवा उसे सचेत कर देता है कि परिवर्तनोंकी आवश्यकताकी अवहेलना करना अपने लिये खतरा मोल लेना होगा। मनुष्यके तर्कको प्रायः इन सीमाओंमें ही कार्य करना होता है। साधारणतया तो वह प्रायः किसी एक स्वार्थकी अथवा कई एक स्वार्थोंकी सिद्धिके लिये ही यत्न करता है। वह जीवन तथा अस्तित्वके समस्त सत्यको, नैतिकता, सौंदर्य, तर्क-बुद्धि एवं आत्माके ऐसे प्रत्येक सत्यको जो उसके स्वीकृत मतों अथवा स्वार्थोंसे टक्कर खाता है कुचल देता है या उसे कुचलता हुआ आगे बढ़ता जाता है, उसकी अवहेलना करता है अथवा उसे एक ओर फेंक देता है। यदि इन बाह्य तत्त्वोंको वह स्वीकार करता भी है तो केवल नाममात्रके लिये, व्यावहारिक रूपमें नहीं, या फिर वह इनके रूपको तोड़-मरोड़कर, इनपर एक ऐसा पानी चढ़ाकर स्वीकार करता है जिससे इनका प्रयोजन ही नष्ट हो जाता है अथवा इनका भाव विकृत हो जाता है अथवा वह इनके अर्थोंको ही

काँट-छाँट देता है। साधारण मन*के इन स्वार्थों, आवश्यकताओं, संस्कारों, वासनाओं, पक्षपातों, परंपरागत विचारों एवं मान्यताओंकी दासतासे ही तो मानव-अस्तित्वकी विवेकहीनता बनी है।

परंतु जो मनुष्य विचारोंके द्वारा अपने जीवनका नियंत्रण करनेमें समर्थ है अर्थात् जो यह समझता है कि अपनी व्यक्तिगत सत्ता तथा समस्त सत्ताके ज्ञात सत्यों एवं सिद्धांतोंकी जीवनमें स्पष्ट रूपसे अभिव्यंजना होनी चाहिये, एवं जो इनका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये स्वयं खोज करता है अथवा दूसरोंसे जाननेका यत्न करता है, वह भी प्रायः अपने विवेक-युक्त मनका उच्चतम, मुक्त तथा निःस्वार्थ उपयोग करनेमें समर्थ नहीं होता। जिस प्रकार दूसरे लोग अपने स्वार्थों, पक्षपातों, संस्कारों अथवा वासनाओंके अत्याचारके शिकार होते हैं, उसी प्रकार वह भी अपने विचारोंका शिकार होता है। वस्तुतः इन विचारोंको ही वह अपने स्वार्थोंमें बदल देता है, अपने पक्षपातों तथा वासनाओंसे उन्हें धुँधला बना देता है और उनके विषयमें मुक्त भावसे सोचनेमें असमर्थ होता है। उनकी सीमाएँ, दूसरे भिन्न तथा विरुद्ध विचारोंके साथ उनके संबंध तथा इन दूसरे विचारोंके अस्तित्वका समान अधिकार—इन सब विषयोंपर विवेकपूर्वक सोचनेमें वह असमर्थ होता है। इस प्रकार, जैसा कि हम निरंतर ही देखते हैं, व्यक्ति, मनुष्योंके समुदाय, बल्कि पूरी संततियाँ ही कुछ विशेष नैतिक, धार्मिक, सौंदर्यात्मक तथा राजनीतिक विचारों अथवा विचारोंके समवायमें बह जाते हैं, आवेगमें आकर उनका पक्ष लेते हैं, उनमें अपना स्वार्थ देखकर उनका अनुसरण करते हैं, उन्हें जीवनका एक विधान एवं चिरस्थायी नियम बना देनेका यत्न करते हैं तथा अपने इस कर्मके प्रवाहमें बह जाते हैं, वे अस्तित्वके ठीक ज्ञानके लिये तथा इसके लिये युक्त एवं बुद्धिपूर्ण व्यवस्था बनानेके लिये स्वतंत्र एवं निष्पक्ष तर्क-बुद्धिका प्रयोग नहीं कर पाते। इस प्रकारके विचारोंकी कुछ सीमातक तो परिपूर्त्ति हो जाती है, कुछ कालके लिये उनका बोल-बाला रहता है, परंतु स्वयं उनकी सफलता ही निराशा उत्पन्न कर देती है तथा उनकी आँखें खोल देती है। इसका पहला कारण तो यह है कि वे मनुष्यके

---

* मनुष्य का साधारण मन वस्तुतः चिंतनशील मन नहीं होता; साधारण मनको प्राणांतर्गत मन या प्राणमय मन कह सकते हैं, जिसने चिंतन करना और यहां तक कि तर्क करना भी सीख लिया है, परंतु वह सब होता है अपने ही उद्देश्यों के लिये तथा अपने ही ढंग से; सच्चे बोधयुक्त मनकी रीति से वह चिंतन नहीं करता।

निम्न एवं विवेकहीन जीवनके साथ समझौते तथा संधि करके ही सफल हो सकते हैं, जिससे उनकी उपयोगिता कम हो जाती है एवं उनके प्रकाश तथा वैभवपर धब्बा लग जाता है। प्राय: ही उनकी विजयको अवास्तविकताका दोषी ठहराया जाता है, और जिस विश्वास तथा उत्साहने उन्हें विजय दिलायी थी उसपर संशयका कुठाराघात होता है और उससे उनकी मोह-निद्रा भंग हो जाती है। परंतु, यदि ऐसा न भी हो तो भी वे विचार अपने-आपमें तो पक्षपातपूर्ण तथा अपर्याप्त होते ही हैं। इसलिये, इतना ही नहीं कि उनकी विजय अत्यंत आंशिक होती है, बल्कि यदि उनकी सफलता पूर्ण भी हो तो भी उससे निराशा तो उत्पन्न होगी ही, क्योंकि वे जीवनका संपूर्ण सत्य नहीं हैं और इसलिये वे सुरक्षित रीतिसे जीवनका नियंत्रण नहीं कर सकते और न ही इसे पूर्ण बना सकते हैं। हमारी तर्क-बुद्धि जिन सिद्धांतों तथा विधानोंको जीवनपर लादनेका प्रयास करती है, जीवन उनसे छुटकारा पा लेता है, वह यह घोषणा करता है कि वह इतना अधिक जटिल है, अनंत शक्तियों एवं क्षमताओंसे इतना भरपूर है कि मानवकी बुद्धि मनमानी रीतिसे उसे पादाक्रांत नहीं कर सकती।

मानव-विधानोंके अंतमें असफल हो जानेका यही कारण हैं, क्योंकि जीवनपर तर्क-बुद्धिके अपूर्ण एवं भ्रमपूर्ण प्रयोगके अतिरिक्त वे कभी और कुछ नहीं रहे। और, यदि कहीं उन विधानोंमें स्पष्टता एवं विवेक रहा भी है तो उन्होंने सदा यह दावा किया है कि उनके विचार ही जीवनका पूर्ण सत्य हैं और इस रूपमें ही लागू करनेका उन्होंने यत्न भी किया है। जीवनका संपूर्ण सत्य तो वे कभी हो ही नहीं सकते थे; और अंतमें जीवनने उन्हें तोड़फोड़ डाला अथवा उनकी जड़ें खोखली कर दीं तथा अपनी अपरिमेय विशाल गतिका अनुसरण यथावत जारी रखा। इस प्रकार, मानवजाति अपने स्वार्थों तथा संवेगोंके लिये अपनी तर्क-बुद्धिको सहायता एवं औचित्यके साधनके रूपमें प्रयुक्त करती हुई, कर्मके लिये एक पक्षपातपूर्ण, मिश्रित एवं अपूर्ण विवेककी प्रेरणाको मानती हुई, आंशिक सत्योंके द्वारा जटिल समग्रताओंपर नियंत्रण करनेका प्रयत्न करती हुई, सदा यह विश्वास करती हुई कि वह सफलताके मुकुटको हस्तगत करनेके अब समीप ही है, और सदा ही अंतमें यह अनुभव करती हुई कि उसे जो कुछ सिद्ध करना है उसका अभीतक सर्वथा एक नगण्य भाग अथवा कुछ नहींके बराबर ही वह सिद्ध कर पायी है, वह एक अनुभवसे दूसरे अनुभवतक ठोकरें खाती चली आ रही है। जीवनपर तर्क-बुद्धिका प्रयोग करनेके लिये अपनी प्रकृतिके द्वारा मजबूर, परंतु केवल

आंशिक विवेकसे युक्त, अपने-आपमें ही सीमित और अपने निम्न भागोंके आक्रमणके कारण भ्रांत यह और कुछ कर भी तो नहीं सकती थी। क्योंकि, सीमित मानव-बुद्धिके पास अपने-आपमें पर्याप्त कोई निजू प्रकाश नहीं है; निरीक्षणसे, अनुभवसे, कर्मसे, भूलों तथा ठोकरोंमेंसे होकर ही इसे अधिक विशाल अनुभवकी ओर बढ़ना पड़ता है।

परंतु इस सतत असफलताके पीछे सदा एक विश्वास भी निरंतर बना रहा है। वह यह कि मानव-बुद्धि अंतमें अपनी कठिनाइयोंपर निश्चय ही विजय प्राप्त कर लेगी, वह अपने-आपको पवित्र एवं महान् बना लेगी, अपने कार्यमें पर्याप्त समर्थ हो जायगी और अंतमें विद्रोही जीवनको अपने नियंत्रणमें ले आयेगी। क्योंकि संसारमें ठोकरें खाते हुए कर्म करनेके साथ-साथ मनुष्यके अंदर व्यक्तिगत विचारक भी सदा प्रयास करता रहा है तथा उसने अधिक ऊँची क्षमता प्राप्त कर ली है और मानवके साधारण विचार-स्तरोंसे भी ऊपर वह अधिक उत्तुंग तथा निर्मल वातावरणमें पहुँच चुका है, इस प्रयासमें तर्क-बुद्धि ही क्रियाशील रही है जो सदा ज्ञानकी ही खोज करती है और अपने लिये सत्यको पा लेनेके लिये सदा धैर्यके साथ यत्नशील रहती है, पक्षपातरहित होकर तथा विकार उत्पन्न करनेवाले स्वार्थोंके हस्तक्षेपके बिना हर वस्तुका अध्ययन करने, विश्लेषण करने तथा हर वस्तुके सिद्धांत तथा प्रक्रियाको जाननेके लिये प्रयत्न करती है। दर्शन, विज्ञान, विद्या, बौद्धिक कलाएँ जो मनुष्यकी आलोचनात्मक बुद्धिके युगोंके परिश्रमका परिणाम हैं, सब इसी प्रयत्नकी परिणति हैं। आधुनिक युगमें विज्ञानकी प्रेरणावश इस प्रयत्नने विशाल रूप धारण कर लिया तथा कुछ कालतक तो इसने न केवल प्रकृतिकी क्रियाओंके लिये अपितु मानवके सब कर्मोंके लिये भी सत्य सिद्धांतों तथा प्रक्रियाके पर्याप्त नियमोंका सफलतापूर्वक निरीक्षण करनेका तथा अंतिम रूपमें उन्हें निश्चित कर देनेका दावा किया है। इस प्रयत्नसे महान् कार्य सिद्ध हुए हैं, परंतु अंतमें यह सफल नहीं हुआ है। मानव-मनको अब यह प्रतीत होने लगा है कि लगभग प्रत्येक समस्याके अंतस्तलको इसने अछूता ही छोड़ दिया है और केवल उपरितलपर तथा विशिष्ट क्रियाओंकी श्रृंखलापर ही इसने प्रकाश डाला है। एक महत्त्वपूर्ण तथा क्रमबद्ध वर्गीकरण तथा यांत्रीकरण, नित्य-वर्धमान ज्ञानका एक महान् आविष्कार तथा व्यावहारिक परिणाम अवश्य संपन्न हुआ है परंतु यह सब हुआ है वस्तुओंके बाह्य भौतिक तलपर ही। सत्यकी विशाल गुहाएँ अभी नीचे विद्यमान हैं जिनमें वास्तविक स्रोत, रहस्यमय शक्तियाँ तथा अस्तित्वके गुह्य निर्णायक प्रभाव छिपे पड़े

हैं। अव प्रश्न यह है कि क्या बौद्धिक तर्क इन गंभीरतर तथा महत्तर वस्तुओंके विषयमें पर्याप्त बोध देनेमें अथवा बोधयुक्त संकल्पके द्वारा उनका उसी प्रकार विवेचन करनेमें कभी समर्थ होगा जिस प्रकार उसने भौतिक शक्तियोंकी, यद्यपि अभी अपूर्ण रीतिसे परंतु सफल परिणामोंके पर्याप्त प्रदर्शनके साथ, व्याख्या करने तथा उन्हें नियमवद्ध करनेमें सफलता प्राप्त की है। परंतु ये दूसरी शक्तियाँ भौतिक प्रकृतिकी शक्तियोंकी अपेक्षा कहीं अधिक विशाल, अधिक सूक्ष्म, अत्यधिक गहरी, अधिक छिपी हुई, अधिक दुर्ग्राह्य तथा परिवर्तनशील हैं।

हमारे अस्तित्वपर शासन करनेके यत्नमें बुद्धिकी सारी कठिनाई यह है कि वह अपनी ही प्रकृतिगत सीमाओंके कारण जीवनकी जटिलता अथवा इसकी सर्वांगीण गतियोंमें इसपर क्रिया नहीं कर सकती। उसे जीवनको कई भागोंमें विभक्त कर देना पड़ता है, कुछ अस्वाभाविक-सी श्रेणियोंमें इसका वर्गीकरण करना पड़ता है, सीमित आधारपर कुछ ऐसी पद्धतियाँ बनानी पड़ती हैं जिनका दूसरे तत्त्वोंके द्वारा निराकरण हो जाता है अथवा उनकी व्यवस्था बिगड़ जाती है अथवा इन दूसरे तत्त्वोंके द्वारा उनका निरंतर शोधन होता रहता है, और इस प्रकार क्रमवद्ध संभावनाओंका चुनाव किया जाता है, परंतु किसी क्रमसे रहित संभाव्यताओंके एक नवीन प्रवाहके फूट पड़नेसे यह क्रम भी टूट जाता है। लगभग ऐसा प्रतीत होगा कि मानों दो जगत् हैं, बुद्धिके लिये उपयुक्त विचारोंका जगत् तथा जीवनका वह जगत् जो बुद्धिके पूरे नियंत्रणमें नहीं आता, और इन दो जगतोंके बीचकी खाईको उपयुक्त रीतिसे पाटना बुद्धि और बोधयुक्त संकल्पकी सामर्थ्य तथा अधिकार-क्षेत्रसे वाहर है। ऐसा दिखायी देगा कि या तो वे केवल प्रायौगिक समाधानोंकी एक शृंखला-सी खड़ी कर सकते हैं अथवा कुछ ऐसे विधानोंकी शृंखला वना सकते हैं जो मनमाने ढंगके तथा क्रियात्मक रूपमें अव्यवहार्य अथवा केवल आंशिक रूपमें व्यवहार्य होते हैं। जीवनके साथ संघर्ष करते हुए मनुष्यकी तर्क-बुद्धि या तो प्रायौगिक हो जाती है अथवा अव्यावहारिक रूपमें कल्पनाशील वन जाती है।

तर्क अपने-आपको जीवनका केवल सेवक भी वना सकता है, औसत मनुष्य इससे जितने कामकी माँग करता है, अपने-आपको वह उतनेतक सीमित भी रख सकता है। मनुष्यके स्वार्थों, वासनाओं एवं पक्षपातोंके लिये साधन तथा औचित्य प्राप्त करनेमें तथा उन्हें युक्तिका भ्रमपूर्ण वसन पहनानेमें वह संतुष्ट रहता है अथवा वह उन्हें उनकी अपनी ही सुरक्षित

एवं ज्ञानयुक्त व्यवस्था अथवा सतर्कताके नियम तथा अपना पर्याप्त आत्म-संयम प्रदान कर सकता है जिससे अधिक गुरुतर आघातों तथा अत्यधिक दु:खदायी परिणामोंको रोकनेमें वह समर्थ हो सके। परंतु यह तो स्पष्ट रूपमें अपनी सत्ता अथवा अपने उच्चतम अधिकारसे पदच्युत होना है और जिस आशाको लेकर मानव अपनी यात्राके लिये चला है उसकी प्रतारणा करना है। वह पुनरपि, वस्तुत: निष्पक्ष रूपमें, अर्थात् जीवनके सिद्धांतों तथा प्रक्रियाओंपर निष्पक्ष आलोचनात्मक दृष्टि डालकर जीवनके तथ्योंको अपना सुरक्षित आधार बना सकता है, परंतु इस बुद्धिमत्तापूर्ण निश्चयके साथ कि उसे अज्ञातके क्षेत्रमें बहुत दूरतक आगे जानेका साहस नहीं करना है और न अपने केवल दृश्य अथवा प्राकृत अस्तित्वकी तात्कालिक यथार्थताओंसे बहुत दूरतक ऊपर ही उठना है। किंतु यहाँ फिर वह अपना पदत्याग कर देता है, या तो वह केवल आलोचक और निरीक्षक बन जाता है अथवा फिर जहाँतक वह नियम बनानेका यत्न करता है, वह तात्कालिक संभावनाओंके सँकरे क्षेत्रतक ही सीमित रहता है और मनुष्यके आदर्शवादके रक्षक-गुणका अर्थात् मनुष्यकी अधिक ऊँची संभावनाओं-की ओर ले जानेवाली गतिका परित्याग कर देता है। बुद्धिके ऐसे सीमित व्यवहारसे जो केवल सामयिक एवं बाह्य प्राणमय तथा भौतिक व्याव-हारिकताके अधीन हो, मनुष्य चिरकालतक संतुष्ट नहीं रह सकता, क्योंकि मनुष्यकी प्रकृति उसे ऊँचाइयोंकी ओर धकेलती है; अपने निजत्वसे ऊपर उठनेके लिये निरंतर यत्न करने तथा अप्राप्त वस्तुओंकी, यहाँतक कि तात्कालिक दृष्टिमें असंभव वस्तुओंकी प्राप्ति करनेके लिये प्रकृति उससे निरंतर माँग करती है।

दूसरी ओर जब हमारी प्रकृति अधिक उच्च प्रयासकी ओर अग्रसर होने लगती है तो तर्क अपने-आपको जीवनसे अलग कर लेता है। नि:स्वार्थ तथा निष्पक्ष ज्ञानके लिये किया गया यत्न ही तर्कको किसी ऐसी ऊँचाईपर उठा ले जाता है जहाँ उसका उस दूसरे ज्ञानसे संबंध-विच्छेद हो जाता है, जो हमारे संस्कारों एवं हमारी प्रवृत्तियोंमें निहित रहता है; वह ज्ञान, चाहे वह कितना भी अपूर्ण, धुँधला तथा सीमित क्यों न हो, उस विराट् संकल्पशक्तिका गुप्त कर्म है जो अस्तित्वमें निहित है और सब पदार्थोंका उनकी प्रकृतिके अनुसार सृजन एवं संचालन करती है। यह ठीक है कि भौतिक विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र भी सदा संपूर्णत: निष्पक्ष तथा नि:स्वार्थ नहीं होते। वे अपने ही विचारों, अपने ही पक्षपातपूर्ण विधानों, शीघ्रतासे प्राप्त अपने सामान्य अनुमानोंके अत्याचारोंके

शिकार हो जाते हैं तथा व्यावहारिकताकी ओर मनुष्यकी स्वाभाविक अंत:प्रेरणाके कारण वे इन भावोंको जीवनपर बलात् लागू करनेका यत्न करते हैं। परंतु फिर भी वे ऐसे अव्यावहारिक विचारों या आदर्शों या कठोर नियमोंके जगत्में चले जाते हैं जो जीवनकी जटिलताको अपनी पकड़में नहीं ला सकते। आदर्शवादी विचारक, दार्शनिक, कवि एवं कलाकार, यहाँतक कि सदाचारवादी भी, वस्तुत: वे सब जो विचारोंके जगत्में ही निवास करते हैं, जब व्यावहारिक जीवनका समीपसे सामना करते हैं तो अपने-आपको असमर्थ-से अनुभव करते हैं तथा जीवनपर अपने विचारोंके अनुसार शासन करनेके अपने प्रयत्नोंमें निरंतर असफल होते हैं। उनका बड़ा शक्तिशाली प्रभाव तो होता है, परंतु सीधे तरीकेसे सफलतापूर्वक व्यवस्थित कर्मके द्वारा नहीं, अपितु परोक्ष रीतिसे होता है। अधिकतर तो जीवनके क्षेत्रमें वे अपने विचार फेंकते हैं और जीवन उनका उपयोग अपने अंदरकी गुह्य संकल्प-शक्तिके निर्णयके अनुसार करता है। यह बात नहीं है कि शुद्ध प्रत्यक्षवादी व्यावहारिक व्यक्ति अपने सीधे कर्मके द्वारा कुछ अधिक सफल होता है, क्योंकि जीवनके अंदरकी गुह्य संकल्पशक्ति उसके कर्मको भी अपने हाथमें ले लेती है तथा उसे व्यावहारिक व्यक्तिके अभिप्रायसे सर्वथा भिन्न दूसरे उद्देश्योंके लिये उपयोगमें लाती है। वस्तुत: आदर्श एवं आदर्शवादी भी आवश्यक हैं। आदर्श जीवनका रस एवं सत्व है तथा आदर्शवादी सर्वाधिक शक्तिशाली पूर्वद्रष्टा तथा जीवनके अभिप्रायके लिये सहायक होते हैं। परंतु आप अपने आदर्शको एक विधानमें बाँध दीजिये और तुरंत ही उसका असफल होना आरंभ हो जायगा; अपने सामान्य नियमों तथा निश्चित विचारोंका एक कल्पनाशील व्यक्तिकी तरह व्यवस्थित रूपमें प्रयोग करनेका यत्न कीजिये और शीघ्र ही जीवन बाँध तोड़कर उमड़ पड़ेगा अथवा उन नियमोंकी पकड़मेंसे पेच खाकर निकल पड़ेगा अथवा तुम्हारी व्यवस्थाको, उसके नाममात्रके अस्तित्वके रहते हुए भी, किसी ऐसे रूपमें बदल देगा जिसे उसका मूल आविष्कर्ता पहचान भी नहीं सकेगा, बल्कि उसे वह उन विचारोंका, जिन्हें वह इस प्रकार सदाके लिये स्थिर कर देना चाहता था, विरोधी बताकर अमान्य कर देगा।

हमारी कठिनाईका मूल यह है कि हमारे आंतरिक तथा बाह्य समस्त जीवन एवं अस्तित्वके स्वयं आधारमें ही कोई ऐसी वस्तु है, एक परम, अनंत तत्त्व है जिसे बुद्धि कभी भी अपने अधिकारमें नहीं ला सकती। जीवनके हर पदार्थके पीछे एक परम सत्ता विद्यमान है जिसकी वह पदार्थ

अपने ढंगसे खोज कर रहा है; प्रत्येक सीमाबद्ध वस्तु उस अनंतकी अभिव्यंजना करनेका यत्न कर रही है जिसे वह अपना वास्तविक सत्य समझती है। प्रकृतिका न केवल प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक प्रकार, अथवा प्रत्येक प्रवृत्ति ही इस प्रकार अपनी रीतिसे अपने अंदर निहित सत्यकी खोज करनेके लिये प्रेरित होती है, अपितु प्रत्येक व्यक्ति भी अपनी विशिष्ट विभिन्नताएँ साथ ले आता है। इस प्रकार न केवल एक परम, एक अनंत ही अपने निज स्वरूपमें विद्यमान है, जो बहुविध रूपों एवं प्रवृत्तियोंमें अपनी ही अभिव्यंजनाओंका नियंत्रण करता है, अपितु अनंत संभावनाओं एवं विभिन्नताओंका भी एक तत्त्व है जो तर्कात्मक बुद्धिके लिये बड़ा जटिल सिद्ध होता है, क्योंकि तर्क केवल निश्चित एवं सांतपर ही सफलतापूर्वक अपनी क्रिया कर सकता है। मानवमें यह कठिनाई चरम सीमातक पहुँच जाती है। क्योंकि मानवजातिकी न केवल संभावनाएँ ही असीम हैं, न केवल इसकी प्रत्येक शक्ति एवं प्रवृत्ति अपनी ही रीतिसे अपनी परम सत्ताकी खोजमें संलग्न है, और इसीलिये तर्कके किसी भी कठोर नियंत्रणमें स्वाभाविक रूपसे बेचैन रहती है, अपितु प्रत्येक मनुष्यमें उनके परिणाम, तरीके तथा संयोग भी भिन्न होते हैं। प्रत्येक मनुष्य न केवल सामान्य मानवताके साथ संबधित है, अपितु अपने अंदरके 'अनंत'के साथ भी उसका संबंध है और इसलिये प्रत्येक व्यक्ति अपने-आपमें अनूठा है। कारण, हमारे अस्तित्वका वास्तविक रूप यह है कि बौद्धिक तर्क तथा विवेकयुक्त संकल्प जीवनपर, उसके अधिपतिके रूपमें, क्रिया नहीं कर सकते, चाहे इस समय वे हमारे सर्वोत्तम साधन ही क्यों न हों तथा हमारे विकासक्रममें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं सहायक ही क्यों न रहे हों। तर्क-बुद्धि शासन तो कर सकती है, परंतु केवल एक मंत्रीके रूपमें तथा अपूर्ण रीतिसे अथवा एक सामान्य निर्णेता तथा एक ऐसे सुझाव देनेवालेके रूपमें जिसके निर्णय तथा सुझाव सर्वोपरि आदेश नहीं होते अथवा फिर सर्वोच्च अधिकारीके एक यंत्रके रूपमें, क्योंकि वह गुह्य शक्ति इस समय सीधे कार्य न करके अपने प्रतिनिधियों तथा दूतोंके द्वारा ही कार्य कर रही है। वास्तविक अधिपति तो तर्क-बुद्धिसे भिन्न कोई दूसरा ही है। मनुष्यकी स्वतंत्र होने तथा अपनी आंतरिक एवं पारिपार्श्विक स्थितिका स्वामी बननेकी प्रेरणाकी वास्तविक परिपूर्ति तबतक नहीं हो सकती, जबतक कि उसकी आत्म-चेतना वृद्धि पाकर विवेकयुक्त मनोमयतासे ऊपर नहीं उठ जाती, अपने उच्च सम्राट्को नहीं जान लेती, उसके साथ अपनी तदात्मता अथवा उसके परम संकल्प एवं ज्ञानके साथ सतत संबंध स्थापित नहीं कर लेती।

बारहवाँ अध्याय

तर्कबुद्धिका धर्म और उसकी सीमाएँ

यदि तर्कबुद्धि हमारी सत्ताकी सर्वोच्च स्वामिनी नहीं है, यदि वह एक मध्यस्थ अथवा सचिवसे अधिक कुछ और हो भी नहीं सकती तो वह राज्यके अन्य प्रदेशोंको एक पूर्ण विधि (Law) प्रदान करनेमें भी सफल नहीं हो सकती, यद्यपि वह उनपर एक उच्चतर पूर्णताके साधनके रूपमें एक अस्थायी एवं अपूर्ण व्यवस्था अवश्य लाद सकती है। एक तर्कवादी अथवा बौद्धिकमनुष्य मनुष्यत्वका अंतिम और उच्चतम आदर्श नहीं है, न ही कोई तर्कवादी समाज समष्टिगत मानवजीवनकी संभावनाओंकी अंतिम और उच्चतम अभिव्यक्ति ही हो सकता है, जबतक कि हम 'तर्कबुद्धि' शब्दको उसके वर्तमान अर्थसे अधिक व्यापक अर्थ ही न दे दें और उसमें ज्ञानकी उन समस्त शक्तियोंके संयुक्त ज्ञानको ही सम्मिलित न कर दें जो बोधशक्ति और तार्किक मन और साथ ही हमारी प्रकृतिके नितांत तर्कवादी अंगके नीचे और ऊपर स्थित हैं। वह आत्मा जो मनुष्यके अंदर अपने-आपको अभिव्यक्त करती है तथा उसके विकासकी अवस्थाओंपर गुप्त रूपसे शासन करती है, उसकी बुद्धिसे अधिक महान् और गंभीर है तथा उस पूर्णताकी ओर ले जाती है जो मानवीय तर्कबुद्धिकी स्वेच्छाचारी धारणाओंमें आबद्ध नहीं की जा सकती।

इस बीच बुद्धि अपना कार्य करती रहती है; वह मनुष्यको एक अधिक महान् आत्मचेतनताके द्वार तक ले जाती है और उसकी आँखें खोलकर उसे उस विशाल देहलीपर खड़ा कर देती है जहाँ एक अधिक ज्योतिर्मय स्वर्गदूतको उसे हाथसे पकड़कर ले जाना होता है। वह प्रथम उसकी सत्ताकी निम्न शक्तियोंको अपने हाथमें लेती है जिनमेंसे प्रत्येक अपनी प्रवृत्तिमें लीन होती है, प्रत्येक अपनी ही सहज-प्रेरणाओं तथा प्रारंभिक आवेगोंकी परिपूर्तिके लिये अंध स्व-पर्याप्तताके साथ प्रयत्न करती है; वह उन्हें अपने-आपको समझना तथा ज्ञानकी विचारशील आँखोंके द्वारा स्वयं अपने कार्योंके विधानको देखना सिखाती है। वह उन्हें अपने अंदर उच्च और निम्नमें, पावन और अपावनमें बुद्धिमत्तापूर्वक भेद करनेमें तथा उन्हें स्थूल भ्रांतिमेंसे निकलकर अपनी संभावनाओंके अधिकाधिक

प्रकाशमय सूत्रोंको प्राप्त करनेमें समर्थ बनाती है। वह उन्हें आत्म-ज्ञान प्रदान करती है और वह एक पथप्रदर्शक, शिक्षक, पवित्रीकारक तथा मुक्तिदाता है। कारण, वह उन्हें अपनेसे परे तथा एक-दूसरेकी ओर देखना तथा नवीन उद्देश्यों और अधिक प्रभावशाली कार्य-प्रणालीके लिये एक-दूसरेपर निर्भर रहना भी सिखाती हैं। वह सुखात्मवादी और रसात्मक प्रवृत्तियोंको बल प्रदान करती है तथा उन्हें शुद्ध करती है, नैतिक मन तथा सहज-प्रेरणाके साथ होनेवाले उनके संघर्षको हलका कर देती है, उन्हें दृढ़ता तथा गंभीरता प्रदान करती है, उन्हें व्यावहारिक और क्रियाशील शक्तियोंका सहायक बना देती है तथा जीवनकी सबल वास्तविकताओंके साथ उनका अधिक घनिष्ठ संबंध स्थापित कर देती है। वह नैतिक संकल्पको आंतरात्मिक, सुखात्मवादी और सौंदर्यात्मक तत्त्वोंसे अनुप्राणित करके उसे मधुर बना देती है और इन सबके द्वारा, अलग-अलग या एक साथ, मनुष्यके व्यावहारिक, क्रियाशील तथा उपयोगितावादी स्वभावको उच्च बना देती है। साथ ही वह एक न्यायाधीश तथा विधि-निर्माताका काम भी करती है, वह ऐसे नियम बनाने तथा ऐसी पद्धतियाँ एवं नियमित संयोग उपस्थित करनेका यत्न करती है जो मानव-आत्माकी शक्तियोंको एक निश्चित मार्गका अनुसरण करने तथा एक सुनिश्चित विधान एवं नियत मापके अनुसार और एक संतुलित लयमें कार्य करनेके योग्य बनायेगी। यहाँ, कुछ समयके बाद, उसे पता चलता है कि उसका विधि-निर्मायिक कार्य संकीर्णता उत्पन्न करने लगा है तथा वह एक बंधनके रूपमें परिवर्तित हो गया है। उसे यह भी पता चलता है कि जिस नियमबद्ध पद्धतिको उसने व्यवस्था और संरक्षणके हितमें लागू किया था वह जीवनके स्रोतोंको अवरुद्ध करने तथा निष्प्राण-जड़ बनानेका कारण बन गयी है। उसे यहाँ संशयकी अपनी रक्षक शक्तिको लाना पड़ता है। जीवनके उत्पीड़ित स्रोतोंके अस्पष्ट विद्रोहके कारण चेती हुई बुद्धिकी प्रेरणासे नीतिशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र तथा सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक शासन अपने ऊपर शंका करने लगते हैं और यदि यह शुरू-शुरूमें कुछ भ्रांति, अव्यवस्था और अनिश्चितता उत्पन्न करे भी, तो भी यह कल्पनाशक्ति, अंतर्दृष्टि, आत्मज्ञान तथा आत्मानुभूतिकी नयी क्रियाओं को जाग्रत् कर देती है, इसके द्वारा पुरानी पद्धतियाँ और सूत्र या तो बदल जाते हैं या फिर विलीन हो जाते हैं, नये प्रयोग किये जाते हैं और अंतमें विशालतर संभाव्यताएँ और संयोग कार्यक्षेत्रमें उतर आते हैं। बुद्धिके इस दोहरे कार्यसे ही—एक ओर जो कुछ इसने देखा है उसकी स्थापना करना तथा उसे लागू करना और

दूसरी ओर जो कुछ हो चुका है उसपर यथावसर शंका करना जिससे एक नयी स्थापना की जा सके; एकओर नियम और व्यवस्थाको निश्चित करना और दूसरीओर नियम और व्यवस्थासे मुक्त करना,—जातिकी उन्नति इस तरह सुनिश्चित हो जाती है, चाहे उसके स्तर और उसकी अवस्थाएँ कितनी भी अनिश्चित क्यों न प्रतीत होती हों।

किंतु बुद्धिका कार्य नीचे और बाहरकी ओर, हमारे आंतरिक और बाह्य जीवनपर, उसे समझनेके लिए और उसकी वर्तमान गति और भावी शक्यताओंके नियम और क्रमको निश्चित करनेके लिए ही नहीं होता। उसकी एक ऊर्ध्व और अंतर्दृष्टि भी होती है, वह अधिक ज्ञानपूर्ण ढंगसे कार्य करती है और उसके द्वारा गुह्य सनातन सत्ताओंसे भविष्यसंबंधी ज्ञान प्राप्त करती है। अंतर्दृष्टिकी इस शक्तिके द्वारा वह अपनेसे ऊपर स्थित उस सत्यकी ओर खुलती है जहाँसे वह अपूर्ण रूप में और मानों पर्देकी ओटसे हमारी सत्ता और उसकी संभावनाओंके व्यापक सिद्धांतोंका परोक्ष ज्ञान प्राप्त करती है। वह उनके जितने अंशको पाती है उसे ग्रहण करके उसे बौद्धिक रूप दे देती है और फिर ये रूप हमें ऐसे विशाल शासक विचार प्रदान करते हैं जिनके अनुसार हम अपने प्रयत्नोंकी रूपरेखा निश्चित करते हैं तथा जिनके चारों ओर हम इन्हें केंद्रित या एकत्रित कर सकते हैं। जिन आदर्शोंको हम चरितार्थ करना चाहते हैं उन्हें वह निर्धारित करती है। वह हमारे लिए उन महान् विचारोंको प्रस्तुत करती है जो शक्तियाँ हैं अर्थात् ऐसे विचार हैं जो अपनी शक्तिके बलसे हमारे जीवनको अधिकृत कर लेते हैं तथा उसे अपने साँचोंमें ढाल लेते हैं। केवल वे रूप ही जो हम इन विचारों को देते हैं बौद्धिक होते हैं, ये स्वयं सत्ताके सत्यकी एक ऐसी भूमिकासे नीचे उतरते हैं जहाँ ज्ञान और शक्ति एक हैं, जहाँ विचार और उसके अंदर रहनेवाली स्व-चरितार्थताकी शक्ति अविभाज्य है। दुर्भाग्यवश जब ये शक्तियाँ हमारी बुद्धिके रूपोंमें, ऐसी बुद्धिके जो केवल एक पृथक्कारी और संयोजक है विश्लेषण और संश्लेषण के द्वारा कार्य करती है और हमारे जीवनके उस प्रयत्नमें जो एक प्रकारकी प्रयोगात्मक और प्रत्यक्षवादी खोजके द्वारा आगे बढ़ता है, तब ये विषम और संघर्षमय आदर्श बन जाती हैं, इन आदर्शोंमें किसी भी प्रकारका संतोषजनक सामंजस्य लानेमें दुनिया भरकी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, उदाहरणार्थ ये आदर्श स्वाधीनता और व्यवस्थाके, सत्य, शिव और सुन्दरके मूल सिद्धांत हैं, ये शक्ति और प्रेमके आदर्श हैं। व्यक्तिवाद और समष्टिवादके, आत्म-त्याग एवं आत्म-परिपूर्त्तिके तथा कई

और सैकड़ों प्रकारके सिद्धांत हैं। मानवजीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें, हमारी सत्ता तथा हमारे कर्मके प्रत्येक भागमें बुद्धि हमारे सामने ऐसे अनेक प्रधान विचारों और प्रतिद्वंदी सिद्धांतोंका विरोध उपस्थित करती है। वह उस प्रत्येक विचारको जिसके प्रति हमारी सत्ताका कोई आवश्यक भाग प्रतिक्रिया करता है सच्चा समझती है—हमारी उच्च प्रकृतिमें नियमको और निम्नमें सहज-प्रेरणाको। वह प्रत्येककी बारी-बारीसे परिपूर्त्ति चाहती है, और उसी पर आधारित एक कार्य-पद्धति बना डालती है, वह एकसे दूसरेकी ओर जाती है और जिसे वह छोड़ जाती है उसकी ओर पुनः लौट आती या फिर वह इन सबको संयुक्त करनेका प्रयत्न करती है पर जो भी संयोग इसने बनाये हैं उनमेंसे वह किसीसे भी संतुष्ट नहीं होती, क्योंकि किसीमें भी न तो पूरा समन्वय होता है और न ही उनमें कोई संतोषजनक एकताकी ही प्राप्ति होती है। यह समन्वय या एकत्व वस्तुतः एक विशालतर और उच्चतर चेतनाकी वस्तु है जो अभी मानवजातिने प्राप्त नहीं की है, जहाँ ये विरोधी चीजें सदा ही समन्वित हो जाती हैं, यहाँ तक कि इनमें एकता स्थापित हो जाती है, क्योंकि अपने मूलमें ये सदासे एक हैं। किंतु यह सब होते हुए भी बुद्धिका प्रत्येक विशाल प्रयत्न जो इस प्रकार हमारे आंतरिक और बाह्य जीवन की समस्याओं को अपने हाथमें लेता है हमारी प्रकृतिके विस्तार और वैभवकी बृद्धि करता है, उसे आत्मज्ञान और आत्मा-नुभूतिकी महत्तर संभावनाओंके प्रति उद्घाटित करता है और हमें उस महत्तर चेतनाके प्रति अधिकाधिक जाग्रत् कर देता है।

मनुष्यके वैयक्तिक और सामाजिक विकासकी क्रिया दो रूपमें प्रकट हुई है, आत्म-बोधके रूपमें और बुद्धि और बुद्धियुक्त संकल्पके साथ आत्म-सामंजस्यके रूपमें; ये बुद्धि और संकल्प मनुष्यकी आत्मा और उसके कार्योंके बीच मध्यस्थका काम करते हैं। मनुष्यको अपने सहज-प्रेरणाओं और आवेगोंवाले प्रारंभिक और स्थूल जीवनमें से आत्म-प्रभुत्व तथा आत्मनिर्माणकी अनगिनत संभावनाओंको प्रकट करना पड़ा है; उसे अपने अपूर्ण स्व-चेतनावाले निम्न पाशविक या अर्द्धपाशविक जीवनको बुद्धियुक्त सत्ताके उपादानमें, सहज-प्रेरणाओंको विचारोंमें तथा आवेगोंको एक बुद्धियुक्त संकल्पकी व्यवस्थित क्रियाओंमें बदलनेके लिए सदा ही अनुप्रेरित होना पड़ा है। किंतु उसे आत्म-अभिज्ञानके मंद प्रयत्न द्वारा और अपने पारिपार्श्विक वातावरण और साधनोंके ऊपर नियंत्रण रखकर अज्ञानसे ज्ञानकी ओर बढ़ना पड़ता है और क्योंकि उसकी बुद्धि उसके पूर्ण अस्तित्वका ज्ञान पूरी तरहसे प्राप्त करनेमें असमर्थ है तथा उसकी अनेकों संभावनाओंको

पूरी तरहसे कार्यरूपमें परिणत नहीं कर सकती, उसे थोड़ा-थोड़ा करके ही, आंशिक प्रयोगोंके द्वारा आगे बढ़ना पड़ता है; इसके लिए उसे विभिन्न नमूनोंकी सृष्टि करनी पड़ती है तथा अपने सामने उपस्थित विभिन्न संभावनाओं तथा समन्वययोग्य तत्त्वोंके बीच सतत आगे बढ़ते हुए तथा पीछे हटते हुए अग्रसर होना पड़ता है।

केवल यही बात नहीं है कि उसे अपनी सत्ताके विविध तत्त्वों—भौतिक, प्राणिक, क्रियात्मक और गतिशील, सौंदर्यात्मक, भावप्रवण, सुखवादी, नैतिक एवं बौद्धिक—में लगातार कोई नया सामंजस्य स्थापित करनेकी युक्ति सोचनी पड़ती है, किंतु इनमेंसे प्रत्येक तत्त्वको भी अपने विषम उपादानोंमें कोई व्यवस्था लानी पड़ती है। अपने नीतिशास्त्र व्यवहारमें वह न्याय और उदारताकी, स्वावलंबन और परोपकारकी, आत्मवृद्धि और आत्मत्यागकी, शक्ति और प्रेमकी प्रवृत्तियोंमें तथा प्रवृत्तिवाद और निवृत्तिवादके विभिन्न नैतिक नियमोंमें विभाजित रहता है। उसके भावावेग उसके विकासके लिए आवश्यक हैं और उनका उपभोग उसकी समृद्ध मानवताके फलने-फूलनेके लिए अनिवार्य है; फिर भी वह सदा ही इनका दमन और निषेध करनेके लिए बाधित होता है, और इस दोहरी आवश्यकताकी जटिलतामें कोई निश्चित नियम उसका पथप्रदर्शन नहीं करता। उसकी सुखवादी प्रवृत्तिकी कई तरीकोंसे विभिन्न क्षेत्रों, पदार्थों तथा आत्मतुष्टिके आदर्शों द्वारा माँग की जाती है। उसका रसात्मक उपभोग, उसका रसात्मक सृजन, बुद्धिके दबावमें आकर अपने लिए कई प्रकारके नियम और नियामक रूप गढ़ लेता है जिनमेंसे प्रत्येक अपने-आपको श्रेष्ठ और आदर्श वस्तुके रूपमें स्थापित करनेका दावा करता है, तथापि प्रत्येक, यदि उसका दावा पूरा कर दिया जाय, तो अपनी अन्याययुक्त विजयके द्वारा उसकी शक्ति और आनंदको अत्यधिक कम एवं सीमित कर देगा। उसकी राजनीति एवं समाज विविध संभावनाओंके बीच साहसिक अभियानों और प्रयोगोंकी एक श्रृंखला है—अधिनायकतंत्र, राजतंत्र, उच्च कुलीन सैनिकतंत्र, विशिष्ट व्यवसायी राज्यतंत्र, प्रकट या प्रच्छन्न धनिकतंत्र, और कई प्रकारके छद्म-जनतंत्रोंकी, चाहे वह मध्य अथवा निर्धन वर्गका हो या व्यक्तिवादी, समूहवादी अथवा नौकरशाहीका हो, समाजवाद अभी उसकी प्रतीक्षा कर रहा है और अराजकतावाद उसके ऊपर मँडरा रहा है। और ये सब उसके सामाजिक जीवनके किसी सत्यके साथ, उसकी जटिल सामाजिक प्रकृतिकी किसी आवश्यकताके साथ तथा उसकी प्रकृतिकी किसी ऐसी प्रेरणा और शक्तिके साथ, जो अपनी परिपूर्त्तिके लिए उस रूपकी माँग करती है, मेल खाते हैं।

मनुष्यजाति, अपने अंदर स्थित आत्माके दबावसे निरंतर विभिन्न प्रकारके नमूने—चरित्र और स्वभावके, व्यावहारिक कर्मोंके, सौंदर्यात्मक सृजन, शासन-पद्धति, समाज, नैतिक व्यवस्था एवं बौद्धिक प्रणालियोंके—बनाकर जो विशुद्ध भी होते हैं और मिश्रित भी, सामंजस्यपूर्ण भी होते हैं और जटिल भी, इन कठिनाइयोंका सामना करती है ; ये सब और प्रत्येक, एक विकसनशील और वर्द्धमान ज्ञानके प्रकाशमें, वैयक्तिक और सामूहिक स्व-निर्माणके अनेक प्रयोग हैं। यह ज्ञान उन कई संघर्षमय विचारों और आदर्शों द्वारा शासित होता है जिनके चारों ओर ये प्रयोग केंद्रित हो जाते हैं; इनमेंसे प्रत्येकको धीरे-धीरे, यथासंभव और अधिक-से-अधिक विशुद्ध बना लिया जाता है और उसे फिर जितना हो सके दूसरोंके साथ मिश्रित एवं संयुक्त कर दिया जाता है जिससे कि एक अधिक जटिल रूप तथा अधिक समृद्ध प्रक्रिया उत्पन्न की जा सके; प्रत्येक नमूनेको यथासंभव तोड़ना पड़ता है जिससे कि वह अपना स्थान नये नमूनोंको दे सके, और प्रत्येक मिश्रणको भी नये मिश्रणकी संभावनाके लिए रास्ता देना पड़ता है। इस सबके द्वारा आत्मानुभूति तथा आत्म-कार्यान्वितिका कोष अधिकाधिक वृद्धि पा रहा है; एक सामान्य मनुष्य इसमेंसे किसी प्रचलित धारणाको रूढ़िरूपमें ग्रहण कर लेता है मानों वह एक पूर्ण नियम और सत्य हो—बहुधा वह उसे इसी रूपमें लेता है—किंतु एक अधिक विकसित मानव इसे सदा ही या तो नष्ट करना चाहता है, या इसे व्यापक और अधिक गहन एवं सूक्ष्म रूप देना चाहता है जिससे कि वह मनुष्यकी सामर्थ्य, पूर्णता एवं प्रसन्नताको बढ़ा सके अथवा उसकी वृद्धिके लिये अधिकाधिक अवकाश प्रदान कर सके।

मानवजीवन तथा हमारे विकासकी प्रक्रियाका यह दृष्टिकोण जिसकी ओर हमें अनुभववाद तत्परतासे ले जाता है, हमें इस विषयमें सत्यतर दृष्टि प्रदान करता है कि मानव-प्रगतिमें बुद्धिका क्या स्थान है। हम देख चुके हैं कि बुद्धि दोहरा कार्य करती है, निष्पक्ष और स्वार्थयुक्त, स्व-केंद्रित अथवा उन गतियोंके अधीन जो उसकी अपनी नहीं हैं। एक ओर तो सत्यकी खातिर सत्यकी एवं ज्ञानकी खातिर ज्ञानकी, विना किसी दूरस्थ उद्देश्यको सामने रखे, निःस्वार्थ खोज की जाती है, उसमें किसी भी और बातकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता, केवल एक नियमका पालन किया जाता है कि दृष्टि केवल उसी वस्तु अथवा तथ्यके ऊपर रखनी चाहिये जिसके विषयमें खोज करनी है और उसीका सत्य, विधान एवं प्रक्रिया ढूंढ़नी चाहिये। उधर बुद्धिका दूसरा कार्य व्यावहारिकताकी

लालसासे रंजित होता है, प्राप्त सत्यद्वारा जीवनका शासन करनेकी इच्छासे या किसी ऐसे विचारके आकर्षणसे होता है जिसे हम अपने जीवन एवं कर्मके सर्वोच्च विधानके रूपमें स्थापित करनेका यत्न करते हैं। वस्तुतः हम यह देख चुके हैं कि मनुष्यकी दूसरी क्षमताओंकी अपेक्षा तर्ककी विशेषता यह है कि वह अपनी ही पृथक् तन्मय क्रियातक सीमित नहीं रहता, वल्कि उसका कार्य अन्य सब शक्तियोंपर भी चलता है, वह उनके विधान और सत्यको खोज लेता है, अपनी खोजें उनके उपयोगके लिए उन्हें सौंप देता है, अपनी प्रवृत्ति और उद्देश्यका अनुसरण करते हुए भी उनके उद्देश्यको सफल वनाता है और एक उदार उपयोगिताको प्राप्त कर लेता है। मनुष्य वास्तवमें केवल ज्ञानके लिए ही नहीं जीता; जीवन अपने अत्यधिक व्यापक अर्थमें उसका मुख्य कार्य है, वह ज्ञान प्राप्त करनेका यत्न ज्ञान-प्राप्तिके शुद्ध आनंदकी अपेक्षा कहीं अधिक इस वातके लिए करता है कि जीवनके लिए इसका क्या उपयोग है। ठीक यहीं, ज्ञानको जीवनकी सेवामें लगानेके क्षेत्रमें, मानव-वुद्धि उस अव्यवस्था एवं अपूर्णताके गर्त्तमें जा गिरती है जो समस्त मानव-कर्मका पीछा करती है। जवतक हम ज्ञानको ज्ञानकी खातिर प्राप्त करनेका यत्न करते हैं, काम ठीक प्रकारसे चलता है, तर्क अपना स्वाभाविक कार्य कर रहा होता है; वह सुरक्षित रूपमें अपने सर्वोच्च अधिकारका प्रयोग कर रहा होता है। दार्शनिक, वैज्ञानिक अथवा किसी विद्वान्के कार्यमें, जो हमारे प्रमाणयोग्य ज्ञानके कोषमें वृद्धि करनेके लिए परिश्रम करते हैं, उतनी ही पूर्ण पवित्रता और तृप्ति होती है जितनी कि जातिके सौंदर्यमूलक आनंदके लिये सौंदर्यमय रूपोंकी सृष्टि करनेवाले कवि और कलाकारके कार्यमें। वैयक्तिक भूल और दुर्वलता हो सकती है पर इससे कुछ वनता-विगड़ता नहीं। कारण, जातिके सामूहिक एवं विकसनशील ज्ञानको उस सत्यकी प्राप्ति हो गयी है जिसकी खोज की गयी थी तथा यह भी विश्वास किया जा सकता है कि समय आनेपर वह ज्ञान भूल-भ्रांतिसे मुक्त भी हो जायगा। परंतु जव मानववुद्धि विचारोंको जीवनपर लागू करनेकी चेष्टा करती है तव वह लड़खड़ा जाती है और अपने अंदर न्यूनता अनुभव करने लगती है।

वात, साधारणतया, यह होती है कि जव मनुष्यकी वुद्धि कार्यमें लिप्त हो जाती है तो वह एकदम पक्षपातपूर्ण एवं आवेगमय हो जाती है और तव वह शुद्ध सत्यकी नहीं, वरन् किसी औरकी सेवक वन जाती है। किंतु, यदि वुद्धि अपने-आपको यथासंभव निष्पक्ष और पूर्णतया तटस्थ रखे

भी,—बुद्धि पूर्णतया निष्पक्ष और तटस्थ तबतक हो नहीं सकती जबतक कि वह व्यवहार अथवा एक प्रकारके विशाल, परंतु प्रभावरहित सहिष्णुता-वाद तथा धार्मिक उदारता या संदेहवादी अन्वेषणसे बिलकुल ही नाता नहीं तोड़ लेती—तो भी जिन सत्योंकी वह खोज करती है अथवा जिन विचारोंका वह प्रचार करती है, वे जीवनपर लागू किये जाते ही उन शक्तियोंके हाथोंका खिलौना बन जाते हैं जिनके ऊपर तर्क-बुद्धिका नियंत्रण नहींके बराबर होता है। विज्ञानने अपने नीरस और एकरस मार्गका अनुसरण करते हुए कुछ ऐसे अन्वेषण किये हैं जिन्होंने एक ओर तो व्यावहारिक मानव-हितवादको प्रोत्साहन दिया है और दूसरी ओर अहंभावको परस्पर-संहारके लिए भयंकर दानवी शस्त्र दिये हैं; इसने व्यवस्थाका एक ऐसा विशाल और कुशल संगठन संभव कर दिया है जिसे एक ओर तो राष्ट्रोंके आर्थिक और सामाजिक सुधारके लिए प्रयोगमें लाया गया है और दूसरी ओर इसने इनमेंसे प्रत्येकको उत्पीड़न, विनाश एवं संहारकी एक विशाल मशीन बना दिया है। इसने एक तरफ महान् बुद्धिवादी एवं परोपकार-वादी मानव-हितवादको जन्म दिया है और साथ ही एक अनीश्वरवादी अहंभाव, प्राणवाद एवं शक्ति और सफलता प्राप्त करनेकी असंस्कृत इच्छाको भी उचित ठहराया है। इसने मानवजातिको संयुक्त कर दिया है और उसे एक नयी आशा प्रदान की है, इसके साथ ही इसने उसे एक भयंकर व्यापारवादके बोझके नीचे दबा भी दिया है। इसका कारण यह नहीं, जैसा कि प्रायः कहा जाता है कि यह धर्मसे दूर चला गया है अथवा इसमें आदर्शवादका अभाव है। वस्तुतत्त्ववादी दर्शन भली और बुरी दोनों शक्तियोंकी समान रूपसे सेवा करता रहा है तथा इसने प्रतिक्रिया और प्रगति दोनोंको बौद्धिक निश्चयता प्रदान की है। भूतकालमें संगठित धर्मने भी प्रायः ही मनुष्योंको अपराध और हत्याकाण्ड करने और औचित्ययुक्त प्रगति और जिज्ञासा विरोधी अज्ञानवाद और उत्पीड़नके लिए उकसाया है।

सत्य वस्तुतः यह है, और जिसके ऊपर अब हम बल भी दे रहे हैं, कि तर्कबुद्धि अपने स्वभावसे ही एक अपूर्ण प्रकाश है, इसका कर्तव्य बड़ा है, पर है सीमित; एक बार जब यह अपने-आपको जीवन और कर्मपर प्रयुक्त करती है तो यह अपने आलोच्य विषयके अधीन हो जाती है तथा उन शक्तियोंकी सेविका एवं परामर्शदात्री बन जाती है जिनके अस्पष्ट और अविज्ञात संघर्षमें यह हस्तक्षेप करती है। यह अपनी प्रकृतिवश ही किसी विचारको, जीवनके किसी सिद्धांतको, समाज एवं शासनकी किसी पद्धति एवं वैयक्तिक अथवा सामूहिक कर्मके किसी आदर्शको, जिसके

साथ मनुष्येच्छा कुछ समयके लिए या शताब्दियोंतक संबंध जोड़ लेती है, उचित ठहरानेके लिए प्रयुक्त की जा सकती है और सदा प्रयुक्त की गयी है। दर्शनमें यह एकत्ववाद और बहुत्ववादके लिए अथवा इन दोनोंके बीचके किसी भी विश्राम-स्थानके लिए, "सत्" या "संभूति"में विश्वासके लिए, आशावाद और निराशावादके लिए तथा प्रवृत्तिवाद और निवृत्तिवादके लिए सबल तर्क उपस्थित करती है। यह गुह्यतम धर्मवाद और साथ ही अत्यंत निश्चयात्मक अनीश्वरवादका समर्थन भी कर सकती है, ईश्वरका बहिष्कार कर सकती है अथवा उसीको अपना सर्वस्व मान सकती है। सौंदर्य-विज्ञानमें यह प्राचीनतावाद और रोमांचकवाद, कलाके आदर्शवादी, धार्मिक अथवा गुह्यवादी सिद्धांत अथवा अत्यधिक स्थूल यथार्थवाद—इन सबका समान रूपसे आधार बन सकती है; यह समान बलसे कठोर और संकीर्ण नैतिकताकी दृढ़तापूर्वक स्थापना कर सकती है और साथ ही नैतिकताके विरोधमें सफलतापूर्वक प्रमाण भी दे सकती है। यह निरंकुश-शासन या कुलीनतंत्र और हर प्रकारके जनतंत्रकी भी सबल और विश्वास-जनक संदेशवाहिका रह चुकी है। यह प्रतियोगीय व्यक्तिवादके पक्षमें उतनी ही बढ़िया और संतोषजनक युक्तियाँ दे सकती है जितनी कि साम्यवादके पक्ष या उसके विरोधमें और राजकीय-समाजवाद या समाजवादकी किसी एक पद्धतिका दूसरीके विरोधमें यह समान सफलताके साथ अपने-आपको उपयोगितावाद, अर्थवाद, भोगवाद, सौंदर्यवाद, इंद्रिय-सुखवाद, आचारवाद, आदर्शवाद अथवा मनुष्यकी किसी भी अन्य मूल आवश्यकता अथवा प्रवृत्तिके काम आ सकती है और उसके चारों ओर किसी दर्शनका, किसी राजनीतिक और सामाजिक पद्धति एवं व्यवहार और जीवनके किसी सिद्धांतका निर्माण कर सकती है। उसे एक ही विचारके प्रति झुकनेके लिए मत कहो, वरन् उदारतापूर्वक सब कुछ मिला देने अथवा एक सुसंबद्ध सामंजस्य बना देनेके लिए कहो तो वह तुम्हें संतुष्ट कर देगी; क्योंकि वहाँ अनेकों मिश्रण या समन्वय होंगे, वह केवल कभी एक को और कभी दूसरेको समान रूपसे उचित ठहरायेगी तथा उनमेंसे किसीकी भी इस आधारपर स्थापना या बहिष्कार कर देगी कि मनुष्यकी आत्मा उसके प्रति आकर्षित होती है या उससे पीछे हटती है। वस्तुतः यह आत्मा ही निर्णय करती है, तर्कबुद्धि तो केवल इस छुपे हुए गुप्त शासककी एक चतुर सेविका और मंत्रिणी ही होती है।

यह सत्य बुद्धिवादीसे छुपा हुआ है, क्योंकि उसे विश्वासके दो स्थिर तत्त्वोंसे सहायता मिलती है; पहला यह है कि उसका अपना तर्क

ठीक है और उससे मतभेद रखनेवाले दूसरे लोगोंका तर्क गलत है, दूसरा यह कि मानव-बुद्धिकी वर्तमान न्यूनताएँ जो भी हों, सामूहिक मानव-बुद्धि अंतमें विशुद्धता प्राप्त कर लेगी तथा मानव-विचार और मानवजीवनको एक ऐसे स्पष्ट युक्तिसंगत आधारपर सुरक्षित रूपसे स्थापित कर देगी जो बुद्धिको पूरा संतोष दे सकेगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि विश्वासका उसका पहला तत्त्व हमारे अहंभाव और अभिमानपूर्ण भ्रांत-स्वभावकी सामान्य अभिव्यक्ति है, किंतु यह इससे अधिक कुछ और भी है; यह इस सत्यको व्यक्त करता है कि तर्कबुद्धिका यह न्यायसंगत अधिकार है कि वह मनुष्यके कार्यको, उसकी आशाको तथा उसके अंदरके विश्वासको उचित ठहराये एवं उसे वह विचार और ज्ञान तथा वह क्रियाशील विश्वास प्रदान करे जो संकुचित, संकीर्ण और अनुदार भले ही हों, परंतु जिनकी उसे अपने जीवन-धारण करने, कार्य करने तथा सर्वोच्च उपलभ्य प्रकाशमें विकसित होनेके लिये आवश्यकता हो। तर्क समस्त सत्यको अपनी पकड़में नहीं ला सकता, क्योंकि सत्य उसके लिये अत्यधिक असीम है; किंतु फिर भी वह उसके उस अंशको अवश्य ग्रहण कर लेता है जिसकी हमें उसी क्षण आवश्यकता होती है; उसकी अपर्याप्तता उसके कार्यका मूल्य घटाती नहीं, वरन् उसका मापदंड होती है। कारण, मनुष्यसे यह अपेक्षित नहीं है कि वह अपनी सत्ताके समस्त सत्यको एकबारगी ही ग्रहण कर ले, उसे अनुभवोंके क्रम एवं एक पूर्ण रूपसे अनवरत स्व-विस्तारमेंसे होकर उसकी ओर बढ़ना होता है, यद्यपि, यह स्व-विस्तार पूर्णतया निरवच्छिन्न बिलकुल नहीं होता। अतएव, तर्कबुद्धिका पहला कार्य यह है कि वह मनुष्यके लिये उसकी विभिन्न अनुभूतियोंका औचित्य सिद्ध करे, उन्हें प्रकाशमें लाये तथा उसे अपने नानाविध स्व-विस्तारको स्थिर रखनेके लिये उत्साह तथा विश्वास प्रदान करे। वह कभी एक बातको तो कभी दूसरी बातको, कभी तात्कालिक अनुभवको, कभी अतीतके बुझते हुए प्रकाशको, कभी भविष्यके धुँधले आभासको ठीक बताती है। अपने प्रति उसकी अस्थिरता, उसकी विभाज्यता तथा विरोधी दृष्टिकोणोंको साथ-साथ बनाये रखनेकी उसकी शक्ति उसके महत्त्वका समस्त गुप्त भेद है। यह ठीक है कि एक ही व्यक्तिमें, जागृति और संक्रमणके क्षणोंको छोड़कर, अन्य समय अत्यंत विरोधात्मक विचारोंका समर्थन यह नहीं करती, किंतु मानव-समुदायमें तथा काल-प्रवाहमें उसका समस्त कार्य ही यही है। कारण, इसी प्रकार मनुष्य सत्यकी विविधताके अनुभवके द्वारा 'सत्य'की असीमताकी ओर बढ़ता है। अतएव, उसकी तर्कबुद्धि उसे निर्माण करनेमें, तथा

जो कुछ उसने बनाया है उसे बदलने और मिटानेमें, एक नयी रचना तैयार करनेमें, संक्षेपमें, उसे अपने और संसारके ज्ञान और इन दोनों ज्ञानोंके कार्योंमें अपने-आपको विकसित, उन्नत एवं विस्तृत करनेमें सहायता पहुँचाती है।

तर्कबुद्धिके अनुयायीका दूसरा विश्वाससंबंधी तत्त्व भी एक भ्रांति है, पर उसमें सत्यका अंश भी है। तर्कबुद्धि किसी भी अंतिम सत्यतक नहीं पहुँच सकती, क्योंकि वह न तो वस्तुओंके मूलतक जा सकती है और न ही उसके गुप्त भेदोंकी समग्रताको ग्रहण कर सकती है। उसका संबंध सीमित, पृथक् और सांत समुदायसे है, 'समग्र' और 'असीम'के लिये उसके पास कोई मापदंड नहीं है। न ही तर्कबुद्धि मनुष्यके लिये एक पूर्ण जीवन अथवा एक पूर्ण समाजकी स्थापना ही कर सकती है। एक विशुद्ध बौद्धिक मानव-जीवनका अर्थ है एक ऐसा जीवन जो अत्यधिक शक्तिशाली और क्रियाशील स्रोतोंसे रहित और वंचित है, इसका मतलब शासकके स्थानपर सचिवको नियुक्त करना होगा। एक विशुद्ध बौद्धिक समाज भी अस्तित्वमें नहीं आ सकता और यदि वह जन्म ले भी तो या तो वह जीवित नहीं रह सकेगा या फिर मानव-अस्तित्वको भी अनुर्वर एवं जड़ बना देगा। मानव-जीवनकी मूलशक्तियाँ, उसके अंतरीय कारण नीचेकी ओर अवबौद्धिक हैं और ऊपरकी ओर अतिबौद्धिक। किंतु यह सत्य है कि मनुष्यकी तर्कबुद्धि सतत वृद्धि, पवित्रीकरण एवं उद्घाटनके द्वारा अपनेसे छिपी हुई वस्तुके बुद्धिसंगत अर्थतक तथा अपनेसे उच्चतर प्रकाशकी निष्क्रिय किंतु सहानुभूतिपूर्ण प्रतिच्छायाकी शक्तितक निश्चय ही पहुँच जायगी। उसकी सीमा, उसका कार्य तब समाप्त होगा जब वह मनुष्यको यह कह सकेगी कि "संसारमें और मनुष्यमें एक ऐसी आत्मा है, एक सत्ता है, एक भगवान् है जो गुप्त रूपसे कार्य करता है और सब कुछ उसीका आत्म-गोपन तथा क्रमिक आत्म-प्रकाश है। मैं उसकी मंत्री अवश्य रही हूँ, मेरा कार्य तुम्हारी आँखोंको धीरे-धीरे खोलना, तुम्हारी दृष्टिसे मोटे आवरणको तबतक हटाते जाना जबतक कि तुम्हारे और मेरे बीच केवल मेरा ही प्रकाशमय पर्दा शेष न रह जाय। इसे भी हटा दो और मनुष्यकी आत्माको सत्ता और स्वभावमें इन भगवान्‌के साथ एक कर दो। तब तुम अपने-आपको जान जाओगे, अपनी सत्ताके अत्यधिक उच्च एवं व्यापक विधानको प्राप्त कर लोगे, मेरी इच्छा और मेरे ज्ञानसे अधिक उच्च इच्छा और ज्ञानके स्वामी या कम-से-कम ग्रहणकर्त्ता और यंत्र बन जाओगे और अंतमें तुम मानवी, पर फिर भी दिव्य जीवनके सच्चे रहस्य और संपूर्ण आशयको अधिकृत कर लोगे।"
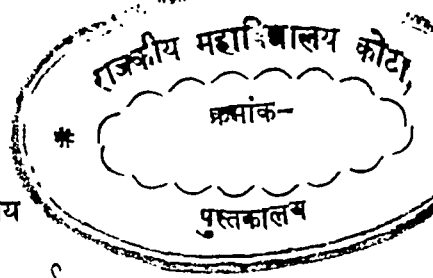
तेरहवाँ अध्याय

तर्कबुद्धि और धर्म

अतएव, ऐसा प्रतीत होता है कि उस महान् प्रयत्नमें, जो मानव-विकासका वास्तविक केंद्र तथा आत्मा, मन और शरीररूपी हमारे पार्थिव अस्तित्वका आंतरिक औचित्य है, तर्कबुद्धि मनुष्यजातिके लिये एक अपर्याप्त, प्रायः ही अयोग्य, यहाँतक कि एक स्खलनशील किंवा, बहुत हुआ तो, एक अत्यंत अल्पज्ञ मार्गदर्शक है। कारण, यह प्रयत्न इस संसारमें पशुओंके समान केवल जीवित रहने तथा अपने लिये पृथ्वीपर स्थान वनानेका ही प्रयत्न नहीं है; और न ही यह स्थान वनानेके वाद उसे सुरक्षित रखनेका तथा व्यक्ति, कुटुंव अथवा सामुदायिक अहंकी योग्यता और उसके उपभोगके लिये उसका अच्छे-से-अच्छे रूपमें प्राणिक, अहंभावयुक्त और सामूहिक प्रयोग करनेमें ही है, यह सार-रूपमें वैसा ही है जैसा कि जीव-सृष्टिके कुटुंवों तथा उनकी वस्तियोंमें, उदाहरणार्थ मधुमक्खियोंके छत्तों तथा दीमकोंकी वाँवियोंमें पाया जाता है, यद्यपि समझशील प्राणियोंमें यह और भी अधिक व्यापक और वहुमुखी रूपमें देखनेमें आता है। यह हमारे पाशव तत्त्वसे भिन्न हमारे मानव-तत्त्वका विशाल प्रयत्न भी है, यह एक आंतरिक और वाह्य पूर्णताका समन्वय प्राप्त करनेका प्रयत्न है और, जैसा कि अंतमें हमें पता चलता है, इसका सर्वोच्च और अंतिम रूप हमारे अस्तित्वके पीछे स्थित दिव्य भागवत् सत्ताकी एवं हमारे अपने अंदरके आदर्श और पूर्ण पुरुषकी प्राप्ति होगा, तथा उसीके प्रतिरूपमें हमें मानवजीवनको भी गढ़ना होगा। और यदि यह सत्य है तो न तो एक सर्वांगपूर्ण दार्शनिक, सौंदर्यात्मक, नैतिक और भौतिक संस्कृतिका ग्रीक आदर्श, जो मनुष्यके प्रवुद्ध तर्क द्वारा शासित तथा एक स्वतंत्र समाजके अत्यधिक वुद्धिमान् मनुष्यों द्वारा प्रेरित होता है, और न ही एक कुशल संस्कृति एवं सफल आर्थिक सभ्यताका आधुनिक आदर्श, जो मनुष्यजातिकी समवेत तर्कवुद्धि तथा संगठित ज्ञान द्वारा शासित होता है, सामाजिक विकासका उच्चतम अथवा अत्यधिक व्यापक उद्देश्य वन सकता है।

ग्रीक आदर्श प्राचीन लैटिन उक्तिके अनुसार मोटे रूपमें यूं कहा जाता था—स्वस्थ शरीरमें स्वस्थ मन। स्वस्थ शरीरसे उन प्राचीन

लोगोंका अभिप्राय एक ऐसे शरीरसे था जो नीरोग और सुंदर हो, जीवनके बौद्धिक प्रयोग तथा उपभोगके लिये ठीक उपयुक्त हो। और स्वस्थ मनसे उनका मतलब था निर्मल और संतुलित बुद्धि एवं एक ऐसा प्रवुद्ध और सुशिक्षित मन जो आधुनिक शिक्षाके अर्थमें नहीं, वरन् प्राचीन शिक्षाके अर्थमें साधा गया हो। इसे सब प्रकारके प्राप्य तथ्यों और विचारोंसे ठूंस-ठूंसकर भरना नहीं होता था और न ही इसे विज्ञान और बौद्धिक उपयोगिताके साँचेमें ही ढालना होता था जिससे कि यह सामाजिक और नागरिक आवश्यकताओं एवं कर्तव्योंकी पूर्त्ति कुशलतापूर्वक करनेके लिये तथा व्यावसायिक अथवा बौद्धिक कार्य करनेके लिये तैयार हो सके, वरन् इसे मनुष्यकी समस्त बौद्धिक, नैतिक एवं सौंदर्यात्मक शक्यताओंमें सुसंस्कृत करना होता था तथा इनके उचित प्रयोगके लिये इसे शिक्षा देनी होती थी; समस्त प्रश्नों और दर्शन, विज्ञान, कला, राजनीति तथा सामाजिक जीवनके सभी व्यावहारिक विषयोंमें इसे स्वतंत्र, बुद्धिपूर्ण और नमनीय रूपमें विचरण करनेकी शिक्षा देनी होती थी। प्राचीन ग्रीक मन दार्शनिक, सौंदर्यग्राही एवं राजनीतिक था जब कि आधुनिक मन वैज्ञानिक, आर्थिक एवं उपयोगितावादी है। प्राचीन आदर्शका बल स्वास्थ्य और सौंदर्यपर होता था, वह एक श्रेष्ठ और बौद्धिक मानव-जीवनका निर्माण करनेका यत्न करता था, उधर आधुनिक आदर्श सौंदर्यपर बहुत कम अथवा जरा भी बल नहीं देता, उसकी रुचि बौद्धिक एवं व्यावहारिक स्वस्थतामें तथा उपयोगी अनुकूलीकरण एवं यथार्थ यांत्रिकतामें है, वह एक सुव्यवस्थित, सुविज्ञ और कुशल मानवजीवनका निर्माण करना चाहता है। दोनों आदर्श यही समझते हैं कि मनुष्य कुछ अंशमें मनोमय और कुछ अंशमें भौतिक प्राणी है और मानसिक-भौतिक जीवन उसका क्षेत्र है तथा तर्क-बुद्धि उसका उच्चतम गुण एवं संभावना है। किंतु यदि हम नये क्षेत्रोंको, जिन्हें अनुभववादी युगकी अत्यधिक उन्नत प्रवृत्तियोंने हमारे सामने खोल दिया है अंततक समझनेका प्रयत्न करें तो हम एक ऐसे और भी अधिक प्राचीन सत्य और आदर्शतक जा पहुँचेंगे जो ग्रीक और आधुनिक दोनों स्तरोंको पार कर जाता है। तब हमें इस सत्यका बोध होगा कि मनुष्य एक विकसनशील सत्ता है जो यहाँ मन, प्राण और शरीरके रूपोंमें अपने-आपको प्राप्त तथा चरितार्थ करनेका प्रयत्न कर रही है। और हम तब अपने सामने एक पवित्र और पूर्ण मन एवं शरीरमें एक अत्यधिक सचेतन, स्वयं-प्रकाशित, स्वात्म-सत्तायुक्त और स्वयं-प्रभु आत्माके अधिक महान् आदर्शको ज्ञानपूर्वक विकसित होता हुआ देखेंगे। जिस व्यापक क्षेत्रकी

यह आत्मा खोज करेगी वह मनोमय-भौतिक जीवन नहीं जिसके साथ मनुष्यने जीवन आरंभ किया था, बल्कि एक ऐसा नया आध्यात्मिक आंतरिक और बाह्य जीवन होगा जिसके द्वारा पूर्णता-प्राप्त आंतरिक जीवन अपने-आपको एक पूर्ण बाह्य जीवनमें व्यक्त करेगा। एक पूर्ण संस्कृति तथा एक बुद्धिवादी समाजको प्राप्त करनेके मनुष्यके लंबे और ज्ञानपूर्ण प्रयत्नके परे एक प्राचीन धार्मिक और आध्यात्मिक आदर्श सामने आ जाता है, हमारे अंदर स्वर्गके राज्यकी तथा पृथ्वीपर भगवानके नगरकी आशा हमारे सामने प्रकट हो जाती है।

किंतु जब आत्मा ही सच्चा अधिपति है और यदि इसकी शक्तिके द्वारा इसकी अपनी आध्यात्मिक उपलब्धि तथा इसकी विकसनशील और अत्यंत व्यापक, विशाल एवं समग्र परिपूर्णता ही हमारे विकासक्रमका अंतिम रहस्य मानी जायेंगी, तब चूँकि तर्कबुद्धिसे नीचेकी मनुष्यकी सहज-प्रेरणात्मक सत्ता निश्चय ही उस उच्च ध्येयको प्राप्त करनेका साधन नहीं है और क्योंकि हमें यह भी पता लग गया है कि तर्कबुद्धिका प्रकाश तथा उसकी शक्ति भी अपर्याप्त हैं,—सत्ताकी एक ऐसी उच्चतर अवस्था अवश्य होनी चाहिये जिसकी कुछ अपनी शक्तियाँ, मुक्त आत्म-क्षमताएँ, तर्क और बौद्धिक संकल्पसे उच्च आध्यात्मिक संकल्प और ज्ञान हों—, केवल इन शक्तियोंके द्वारा ही मनुष्य एक समग्र-चेतन परिपूर्णता प्राप्त कर सकता है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि परिपूर्णताका हमारा आदर्श हमारे अंदर स्थित भगवान्‌की पूर्ण अभिव्यक्ति है, यह वैयक्तिक आत्मा और समष्टिगत जीवनके अंदरकी गुप्त दिव्यताका पूर्ण विकास है। अन्यथा हम केवल वैयक्तिक और सामाजिक जीवनके पुराने विचारपर ही पहुँच सकते हैं। वह विचार महान् अवश्य था पर वह हमारी पूर्णताकी सब अवस्थाएँ उत्पन्न नहीं कर सकता था। वह एक आध्यात्मीकृत व्यक्ति विशिष्टात्मक समाजका विचार था। वह इस कल्पनाके साथ आगे बढ़ता था कि प्रत्येक मनुष्यकी अपनी विशिष्ट प्रकृति है जो दिव्य प्रकृतिके एक तत्त्वसे उत्पन्न हुई है तथा उसीको प्रतिबिंबित करती है। प्रत्येक व्यक्तिका स्वभाव, उसका नैतिक स्वरूप, उसकी शिक्षा-दीक्षा, उसका सामाजिक व्यवसाय एवं उसकी आध्यात्मिक संभावना उसी विशेष तत्त्वकी अवस्थाओंके भीतर ही निर्मित तथा विकसित होनी चाहिये, जिस पूर्णताकी वह इस जीवनमें खोज करता है उसे उस तत्त्वके विधानके अनुसार ही चरितार्थ होना चाहिये। प्राचीन भारतीय संस्कृतिका सिद्धांत—उसका व्यावहारिक रूप, जैसा कि सभी मानव-व्यवहारोंका तरीका है, इस विचारके साथ सदा

मेल नहीं खाता था—वह इस कल्पनाके अनुसार कार्य करता था। समाजमें इसने मनुष्यको चार-वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रमें विभाजित कर दिया, वह व्यवस्था एक ही साथ आध्यात्मिक, आंतरात्मिक, नैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था थी; क्रियात्मक रूपमें वह विभाजन इस प्रकार था : आध्यात्मिक और बौद्धिक मनुष्य, संकल्पप्रधान और क्रियाशील मनुष्य, प्राणिक, सुखवादी और आर्थिक मनुष्य और भौतिक मनुष्य। इन चार अंगभूत वर्गोंमें संगठित संपूर्ण समाज सृजनकर्ता और सक्रिय भगवान्‌के पूर्ण स्वरूपको व्यक्त करता था।

व्यक्ति-विशिष्ट (Typal) समाजका एक भिन्नरूप विभाजन भी सर्वथा संभव है। किंतु व्यवस्था या विभाजन जो भी हो, व्यक्ति-विशिष्टात्मक (Typal)-सिद्धांत एक आदर्श मानवसमाजका आधार नहीं हो सकता। भारतीय सिद्धांतके अनुसार भी यह न तो मनुष्यकी सर्वोच्च उपलब्धियोंके कालका है और न ही उसकी निम्नतम संभावनाके युगका। न ही यह उसके उस आदर्श युग, पूर्णता-प्राप्त सत्यके युग अर्थात् सत्ययुग अथवा कृतयुगका है जिसमें वह अपनी दिव्य संभावनाकी किसी उच्च एवं गंभीर सिद्धिके अनुसार जीवन-यापन करता है; यह उसके उस कलियुगका भी नहीं है जिसमें वह सहज-प्रेरणाओं, आवेगों और इच्छाओंके निम्न जीवनमें जा गिरता है और जिसमें तर्कबुद्धि इतनी नीचे गिर जाती है कि वह मनुष्यके इस निम्न जीवनकी दासी बन जाती है। यह अत्यधिक सुनिश्चित व्यवस्था वस्तुतः उसके विकासक्रमके मध्य-कालीन युगोंका उपयुक्त सिद्धांत है जिसमें वह अपने सच्चे वर्मके किसी अपूर्ण स्वरूपकी, त्रेतायुगमें संकल्पशक्ति तथा चरित्रबलके द्वारा और द्वापर*में किसी विधि, व्यवस्था और रूढ़ प्रथाके द्वारा, स्थापना करनेका प्रयत्न करता है। यह स्वरूप (Type) समग्र मानवका नहीं है, इसका अर्थ उसकी सक्रिय प्रकृतिके साधारणतः प्रमुख अंगको पुष्ट करना तथा उसपर बल देना है। किंतु प्रत्येक मनुष्यके अंदर संपूर्ण दिव्य शक्यता उपस्थित है, और इसीलिये तुम शूद्रको उसके शूद्रत्वके अंदर कठोरतापूर्वक आबद्ध नहीं कर सकते, न ही ब्राह्मणको ब्राह्मणत्वमें; वरन् प्रत्येकके अंदर एक दिव्य मनुष्यत्वके अन्य तत्त्वोंकी पूर्णताकी संभाव्यताएँ और आवश्यकता निहित हैं। कलियुगमें ये संभाव्य शक्तियाँ एक स्थूल अव्यवस्थाकी स्थितिमें, हमारी सत्ताकी उस विशृंखल स्थितिमें कार्य कर सकती हैं जो एक नयी

---

*इसीलिये यह कहा जाता है कि विष्णु त्रेतायुगमें तो राजा होता है जब कि द्वापरमें वह ज्ञान और विधिका व्यवस्थापक एवं संविधायक बन जाता है।

व्यवस्थाके लिये किये गये हमारे अस्तव्यस्त प्रयत्नको आच्छन्न कर देती है। मध्यकालीन युगोंमें व्यवस्थाका सिद्धांत एक सीमित पूर्णताका भी आश्रय ले सकता है, इसमें वह कुछ तत्त्वोंको पूर्ण बनानेकी खातिर अन्य तत्त्वोंको दबा देता है। किंतु सत्ययुगका नियम हमारी सत्ताके समग्र सत्यको एक सहज और स्वाश्रित आध्यात्मिक सामंजस्यकी उपलब्धिके रूपमें विशाल रूपसे विकसित करना है। यह सामंजस्य केवल क्रम-विकासके द्वारा ही साधित किया जा सकता है और उसी हदतक साधित किया जा सकता है जिस हदतक मनुष्यकी क्षमताकी अपने वृद्धिशील विकास-क्रमोंमें इसके योग्य बनती है, साथ ही यह हमारी सत्ताके आध्यात्मिक स्तरोंके विस्तारपर तथा जिस हदतक इन स्तरोंकी अंतर्निहित ज्योति और शक्ति, इनका ज्ञान और दिव्य सामर्थ्य प्रकट होते हैं उसपर भी निर्भर करता है।

यदि हम एक बार फिर उन संबंधोंकी ओर देखें जो तर्कबुद्धि हमारी अन्य क्षमताओंकी तथा हमारी जटिल सत्ताके विभिन्न तत्त्वोंकी पूर्णतामुखी प्रवृत्तिके साथ रखती है, तो हम यह अधिक अच्छी तरह समझ सकेंगे कि यह उच्च स्तर और ये उच्च क्षमताएँ क्या हो सकती हैं। हमें विशेषकर उन संबंधोंका तो अवश्य ही अध्ययन करना चाहिये जो तर्क-बुद्धि उनके अंदरके अतिबौद्धिक और अवबौद्धिक तत्त्वोंके साथ रखती है; ये तत्त्व वे दो अतिविपरीत छोर हैं जिनके बीच हमारी बुद्धि एक प्रकारके मध्यस्थका काम करती है। आध्यात्मिक या अतिबौद्धिक तत्त्व अपनी ऊँचाइयोंमें सदा ही पूर्ण सत्ताकी ओर झुका रहता है। अपने विस्तारमें, जब कि वह ज्योतिर्मय असीममें रहता है, उसकी विशेष शक्ति ससीममें असीमको तथा समस्त विभाजनों और विभेदोंमें सनातन एकताको प्राप्त करनेकी होती है। अतएव, हमारा आध्यात्मिक विकास सापेक्षसे निरपेक्षकी ओर, ससीमसे असीमकी ओर तथा समस्त विभाजनोंसे एकत्वकी ओर आरोहण करता है। मनुष्य अपनी आध्यात्मिक उपलब्धिमें सापेक्षके अंदर निरपेक्षके तृप्तिकारी उच्च स्तरोंको ढूँढ़ना तथा अधिकृत करना आरंभ करता है, ससीममें असीमकी विशाल और शांत उपस्थिति अनुभव करता है। वह समस्त विभाजनों और विभेदोंमें पूर्ण एकताके समन्वय-कारी विधानको प्राप्त कर लेता है। उसके बाह्य तथा आंतरिक जीवन और स्वरूपमें कार्य करनेवाले आध्यात्मिक संकल्पको अवश्य ही गुप्त और सनातन सत्ताके तथा एक ऐसे संसारके सीमित बाह्य रूपोंके बीच, जो उसे अभिव्यक्त करना चाहता है और अभिव्यक्त करते हुए उसे अस्वीकृत

करता प्रतीत होता है, महान् समन्वय स्थापित करनेवाला होना चाहिये। हमारी उच्चतम क्षमताएँ तब वे होंगी जो इसे संभव बना देंगी, क्योंकि इनके अंदर वह अंतरीय प्रकाश, शक्ति एवं आनंद हैं जिनके द्वारा ये वस्तुएँ प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुभवकी स्थितिमें समझी जा सकती है, चरितार्थ की जा सकती हैं, संकल्पमें सहज और स्थायी रूपमें प्रभावशाली बनायी जा सकती हैं तथा हमारी समस्त प्रकृतिमें संचारित की जा सकती हैं। उधर अवबौद्धिक तत्त्वका मूल और आधार अचेतनकी अस्पष्ट असीम सत्तामें है; यह उन सहज-प्रेरणाओं और आवेगोंमें फूट निकलता है जो वस्तुत: हमारे अंदरके अवचेतन भौतिक, प्राणिक, भाविक और संवेदनशील मन और संकल्पकी स्थूल एवं कम या अधिक अव्यवस्थित स्फुरणाएँ हैं। इसका संघर्ष सीमानिर्धारण तथा स्व-सृजनके लिये और अपने अस्पष्ट ज्ञान एवं प्रवृत्तियोंमें किसी सीमित व्यवस्थाको ढूँढ़नेके लिये है। किंतु इसमें उस असीमकी सहज-प्रेरणा तथा शक्ति भी विद्यमान है जिससे वह स्वयं प्रकट हुआ है। इसके अंदर अस्पष्ट, सीमित और उग्र इच्छाएँ भी हैं जो इसे पूर्ण सत्ताकी ऊँचाइयोंको अधिगत करनेके लिये तथा अपने सीमित कर्ममें उन्हें खींच लाने या उनका कुछ स्पर्श प्राप्त करनेके लिये प्रेरित करती हैं। किंतु, क्योंकि यह अवबौद्धिक तत्त्व ज्ञानके द्वारा नहीं, वरन् अज्ञानके द्वारा आगे बढ़ता है, वह इस उग्रतर प्रयत्नमें सच्ची सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। तर्कबुद्धि और ज्ञानपूर्ण संकल्पवाला जीवन उस उच्चतर और इस निम्नतर शक्तिके बीचमें स्थित है। एक ओर तो यह सहज-प्रेरणाओं और आवेगोंवाले जीवनको हाथमें लेकर उसे प्रबुद्ध बनाता है तथा एक उच्च स्तरपर उस सीमित व्यवस्थाको प्राप्त करनेमें सहायता पहुँचाता है जिसे वह अँधेरेमें टटोल रहा है और दूसरी ओर यह ऊपर पूर्ण सत्ताकी ओर, बाहर असीमकी ओर तथा अंदर एकमेवकी ओर देखता है, किंतु वह उनकी वास्तविकताओंको न तो समझ सकता है और न ही उन्हें पकड़ पाता है। कारण, वह उनपर एक परोक्ष और दूरस्थ बोधशक्तिके द्वारा केवल विचार ही कर सकता है, क्योंकि वह सापेक्षमें ही विचरण करता है और स्वयं सीमित एवं परिमित है, वह केवल विभाजन तथा सीमा और मर्यादाके निर्धारणके द्वारा ही कार्य कर सकता है। सत्ताकी ये तीन शक्तियाँ, अतिबौद्धिक, बौद्धिक और अवबौद्धिक यहाँ उपस्थित तो अवश्य हैं, किंतु हमारी समस्त क्रियाओंमें इनकी प्रधानता अत्यधिक विभिन्न प्रकारकी है।

तर्कबुद्धिकी सीमाएँ तब बड़े ज्वलंत, विशिष्ट एवं नग्न रूपमें प्रत्यक्ष

हो जाती हैं जब यह उन महान् श्रेणीके मनोवैज्ञानिक सत्यों एवं अनुभवोंके सामने उपस्थित होती है जिन्हें हमने अभीतक पृष्ठभूमिमें ही रखा है, ये हैं मनुष्यकी धार्मिक सत्ता और उसके धार्मिक जीवनके सत्य और अनुभव। यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसकी ओर बौद्धिक तर्क उस परदेशीकी भाँति चकित दृष्टि डालता है, जो परदेशमें एक नयी भाषा सुनता है और उसके शब्दों तथा अर्थोंको नहीं समझ पाता तथा जो सर्वत्र जीवनके ऐसे रंग-ढंग तथा विचार और कर्मके ऐसे नियम-धर्म देखता है जो उसकी अनुभूतिके लिये सर्वथा नवीन हैं। वह इस भाषाको सीखने तथा इस अनोखे अपरिचित जीवनको समझनेका यत्न कर सकता है, किंतु ऐसा वह कष्ट और कठिनाईसे ही कर सकेगा, और उसे सफलता तबतक नहीं प्राप्त होगी जबतक कि वह, यह कहा जा सकता है, पहला सब कुछ भूलकर इस दिव्य साम्राज्यके निवासियोंकी प्रकृति और भावनाके साथ एक न हो जाय। जबतक ऐसा नहीं हो जाता तबतक अपनी भाषामें तथा अपनी धारणाओंके अनुसार उन्हें समझने तथा उनका अर्थ निकालनेके उसके प्रयत्न अधिक-से-अधिक एक स्थूल भ्रांति और विकृतिमें ही परिणत हो जायँगे। आध्यात्मिक अनुभूतिवाले व्यक्तियोंको धार्मिक जीवनके तथ्योंका विश्लेषण करनेके लिये किये गये प्रत्यक्षवादी आलोचक तर्कबुद्धिके प्रयत्न एक ऐसे बच्चेकी निरर्थक बकवादके समान लगते हैं जो अपनी अभ्यासगत धारणाओंके साँचेमें बड़ोंका जीवन ढालनेकी चेष्टा कर रहा है, या वे फिर उस अज्ञानी मनकी भारी भूलोंके समान प्रतीत होते हैं जो एक गंभीर विचारक अथवा एक महान् वैज्ञानिकके परिश्रमोंकी, एक संरक्षक अथवा विरोधीके रूपमें, आलोचना करना ठीक समझता है। यह निरर्थक चेष्टा, केवल अधिक-से-अधिक, उस वस्तुकी बाह्य स्थितिकी ही व्याख्या कर सकती है जिसकी व्याख्या करनेका वह प्रयत्न कर रही है। उसका वास्तविक अर्थ समझमें नहीं आता और उसका आंतरिक सार भी छूट जाता है और इस प्रधान चूकके परिणामस्वरूप बाह्य स्थितियोंके विवरणमें भी वास्तविक सत्य छूट जाता है, वह केवल ऊपर से ही ठीक दीखता है।

बिना किसीकी सहायताके अकेला बौद्धिक तर्क जब धार्मिक जीवनके तथ्योंके सामने उपस्थित होता है तो वह साधारणतया दो वृत्तियाँ धारण कर सकता है, ये दोनों अत्यधिक उथली हैं तथा उतावले तथा उच्छृङ्खल और भ्रांतिपूर्ण हैं। या तो वह इस सबको अंध-विश्वासका एक जाल, एक अस्पष्ट और अनिश्चित निरर्थक बात और असभ्य बर्बर युगके—अज्ञान और भ्रान्तिपूर्ण अवक्षेपोंका एक

गड़बड़झाला समझता है—यह तर्कवादीकी वह चरम भावना थी जो सौभाग्यसे अब काफी कमजोर पड़ गयी है और नष्टप्राय हो गयी है, यद्यपि अभी इसका अंत नहीं हुआ है—या फिर वह धर्मका संरक्षक बन जाता है, उसके मूलस्रोतोंकी व्याख्या करनेकी तथा अपनी व्याख्याके द्वारा उसे उड़ाकर उससे मुक्त होनेकी चेष्टा करता है; अथवा वह उसके अंध-विश्वासों, उसकी असंस्कृताओं एवं तर्कहीन बातोंको नम्रतासे या बलपूर्वक अस्वीकार करने या उन्हें शुद्ध करके अमूर्त्त शून्यताका रूप देने या फिर उसे तर्कवादी बुद्धिके प्रकाशमें अपने-आपको शुद्ध करनेके लिये प्रवृत्त करनेकी चेष्टा करता है या फिर वह उसे एक कार्य, शायद अज्ञानियोंकी शिक्षाका कार्य सौंप देता है, नैतिकता प्रदान करनेवाले प्रभावके रूपमें उसका महत्त्व अथवा निम्न वर्गोंको एक व्यवस्थामें रखनेकी खातिर राज्यके लिये उसकी उपयोगिता स्वीकार करता है, यहाँतक कि वह शायद एक अनोखी कल्पना, एक तर्कवादी धर्मको खोज निकालनेका प्रयत्न करता है।

पहली वृत्तिके भावात्मक पक्षने मानव-विचारके इतिहासमें एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यहाँतक कि वह अपने ढंगसे मानव-प्रगतिके और अंतमें धर्मके लिये भी अत्यंत उपयोगी रहा है। हमें अब आगे संक्षिप्त रूपमें देखना होगा कि यह कैसे और क्यों हुआ, किंतु इसके अनुदार निषेधोंमें एक अहंपूर्ण मिथ्यात्व विद्यमान है जैसा कि अब मानव-मनने पर्याप्त रूपसे देखना आरंभ कर दिया है। उसकी गलती उस परदेशी मनुष्यकी गलतीके समान है जिसे विदेशमें सब वस्तुएँ मूर्खतापूर्ण एवं निम्नकोटिकी प्रतीत होती हैं, क्योंकि वे उसके अपने कार्य करने तथा सोचनेके तरीकोंसे भिन्न हैं और वे उसके अपने मापदंडोंके अनुसार गढ़ी नहीं जा सकतीं या उनके अनुकूल नहीं बन सकतीं। एक सर्वतर्कवादी व्यक्ति धर्मसे इस बातकी माँग करता है कि, यदि उसे बने रहना है तो वह भौतिक तर्कको संतुष्ट करे, अपने सत्योंका भौतिक प्रमाण दे, जब कि स्वयं धर्मका सार अभौतिक आत्माकी खोज तथा एक अतिभौतिक चेतनाकी क्रीड़ा है। धर्मके बाह्य रूपके बारेमें जो उसका विचार है उसीके अनुसार वह उसके बारेमें सम्मति बनानेका प्रयत्न करता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि एक अज्ञानी और हल्ला-गुल्ला मचानेवाला विदेशी किसी सभ्यताके बारेमें वेश-भूषा, जीवनके बाह्य रंग-रूप और निवासियोंके सामाजिक रीति-रिवाजोंके अत्यधिक बाह्य अनोखपनको आधार मानकर अपना निर्णय देनेका यत्न करता है। इसमें वह कुछ तथाकथित धर्मोंके समान ही भूल करता है; यह बात उसके बचावका बहाना तो हो सकती है, पर यह उसके अज्ञानको उचित

नहीं ठहरा सकती। तर्कवादी मनकी अधिक मृदु वृत्तिने भी मानव-विचारके इतिहासमें अपना कार्य किया है। धर्मकी व्याख्या करनेवाले उसके प्रयत्नोंका परिणाम यह हुआ है कि आश्चर्यकारी रूपमें चतुर विकृतियोंका एक वड़ा सघन समूह इकट्ठा हो गया है, इसका उदाहरण धर्मके तुलनात्मक विज्ञानकी रचना करनेके कुछ एक मिथ्यात्वपूर्ण वैज्ञानिक प्रयत्नोंमें पाया जाता है। इसने अनुमोदित आधुनिक ढंगमें जहाँ-तहाँ गलत समझे गये तथ्योंकी ईंटें जोड़कर सिद्धांतकी विशाल आकृतियाँ खड़ी की हैं। धर्मसंबंधी इसके मृदु क्षमा-भावोंने विचारके उन स्थूल पक्षोंको जन्म दिया है जो शीघ्र ही समाप्त हो गये हैं और जिनका कोई भी निशान बाकी नहीं रहा है। बौद्धिक धर्मके वनानेके इसके प्रयत्नोंका, जिनका आशय तो पूर्णतया भला था, परंतु जो निःसहाय और अनिश्चयात्मक थे, कोई भी महत्त्वपूर्ण फल नहीं निकला है, वे छितरे बादलोंकी भाँति असफल हुए हैं, **'छिन्नाभ्राइव नश्यति'**।

धर्मका गहनतम हृदय, उसका अत्यन्त अंतरंग सार—उसके सिद्धांत, उसकी पूजाविधि तथा उसके उत्सव और प्रतीक आदिसे परे—है भगवान्‌की खोज और भगवान्‌की प्राप्ति। उसकी अभीप्सा उस असीमको, उस पूर्ण सत्ताको, उस एकमेवको, उस भगवान्‌को पानेके लिये है जो यह सब कुछ है, पर वह कोई अमूर्त्तभाव ही नहीं, वरन् एक सत्ता है। इसका कार्य मनुष्य और भगवान्‌के बीचके सच्चे और घनिष्ठ संबंधोंको जीवनमें चरितार्थ करना है। ये संबंध हैं एकत्वके संबंध, विभेदके संबंध, प्रबुद्ध ज्ञानके संबंध, एक आह्लादयुक्त प्रेम और आनंदपूर्ण समर्पण और सेवाभाव, सत्ताके प्रत्येक भागको उसकी साधारण स्थितिसे निकालकर मनुष्यका भगवान्‌की ओर आरोहण और भगवान्‌का मनुष्यके अंदर अवरोहण। इस सवका तर्कबुद्धिके क्षेत्र और साधारण कार्योंके साथ कोई संबंध नहीं। इसका उद्देश्य, इसका क्षेत्र और इसकी प्रक्रिया अतिबौद्धिक है। भगवान्‌का ज्ञान हमें तर्कबुद्धिके द्वारा उसके अस्तित्वके पक्षमें या विरोधमें दी गयी निर्बल युक्तियोंके तौलनेसे नहीं प्राप्त होता; यह केवल आत्म-अतिक्रमण और पूर्ण आत्मोत्सर्ग, अभीप्सा एवं अनुभूति द्वारा मिल सकता है। न ही यह अनुभव बौद्धिक वैज्ञानिक परीक्षण अथवा वौद्धिक दार्शनिकचिंतन जैसी किसी चीजसे प्राप्त होता है। धार्मिक अनुशासनके उन भागोंमें भी, जो वैज्ञानिक परीक्षणसे अत्यधिक मिलते-जुलते प्रतीत होते हैं, वस्तुओंके सत्यको निरीक्षण करनेकी जो विधि काममें लायी जाती है वह तर्कबुद्धि और उसके भीरु क्षेत्रको लांघ जाती है। धार्मिक ज्ञानके उन अंगोंमें भी,

जो बौद्धिक क्रियाओंसे अत्यंत मिलते-जुलते प्रतीत होते हैं, ज्ञान प्रदान करनेवाली शक्तियाँ कल्पना, तर्क और बौद्धिक निर्णय नहीं हैं, वरन् साक्षात् दर्शन, प्रेरणा, अंतर्ज्ञान और आंतरिक विवेक हैं, ये हमारे पास अतिबौद्धिक प्रकाशके स्तरसे आती हैं। भगवान्‌का प्रेम एक ऐसी असीम और पूर्ण अनुभूति है जो किसी भी बौद्धिक सीमाको स्वीकार नहीं करती, न ही वह बौद्धिक पूजा और भक्तिकी भाषा प्रयुक्त करती है। भगवान्‌के अंदर प्राप्त होनेवाले हर्षका अर्थ वह शांति एवं आनंद है जो समस्त समझसे परेकी वस्तु है। भगवान्‌के प्रति समर्पण समस्त सत्ताका एक अतिबौद्धिक प्रकाश, संकल्प, शक्ति और प्रेमके प्रति समर्पण है। उसकी सेवा जीवनके साथ किये जानेवाले उन समझौतोंको कोई महत्त्व नहीं देती जिनका मनुष्यकी व्यावहारिक तर्कबुद्धि लौकिक जीवनके साधारण व्यवहारमें अपनी श्रेष्ठतम प्रणालीके रूपमें प्रयोग करती है। जहाँ कहीं धर्म वास्तविक रूपमें अपनेको पा लेता है, जहाँ कहीं वह अपनी सच्ची भावनाके प्रति अपने-आपको खोल देता है,—ऐसे कई प्रकारके धार्मिक अनुष्ठान हैं जो गतिरोधक, अपूर्ण, अर्धसत्य, तथा अपने विषयमें केवल अर्धनिश्चित हैं वहाँ तर्कबुद्धिकी थोड़ी सुनवाई होती है,—वहीं उसकी प्रणाली पूर्ण तथा उसके फल अवर्णनीय होते हैं।

तर्कबुद्धिको सचमुच ही हमारी धार्मिक सत्ता और अनुभूतिके इस सर्वोच्च क्षेत्रके संबंधमें एक कार्य करना है, किंतु वह कार्य सर्वथा गौण और दूसरे दर्जेका है। वह धार्मिक जीवनके लिये नियम नहीं बना सकती, वह अधिकारपूर्वक दिव्य ज्ञानकी प्रणाली भी निर्धारित नहीं कर सकती। न ही वह दिव्य प्रेम और आनंदका पाठ पढ़ा सकती है। वह आध्यात्मिक अनुभूतिकी सीमा भी नहीं बाँध सकती, न ही आध्यात्मिक व्यक्तिके कर्मपर अपना कोई प्रतिबंध लगा सकती है। उसका न्यायसंगत क्षेत्र केवल एक ही है और वह यह है कि वह अपनी भाषामें, मनुष्यके तर्कवादी और बौद्धिक भागोंके लिये हमारी अतिबौद्धिक और आध्यात्मिक सत्ताके सत्यों, अनुभूतियों तथा उसके नियमोंकी यथासंभव उत्तम रीतिसे व्याख्या करे। पूर्वमें आध्यात्मिक दर्शनका और पश्चिममें धर्मविज्ञानका यही कार्य रहा है, यद्यपि पश्चिममें यह बड़े स्थूल-असंस्कृत और अपूर्ण रूपमें हुआ है। यह कार्य वर्तमान समयमें अत्यधिक महत्त्व रखता है जब कि मनुष्यजातिकी बुद्धि लंबे समयतक भटकनेके बाद दुबारा भगवान्‌की खोजमें प्रवृत्त हो रही है। इसमें बुद्धिकी विशिष्ट क्रियाओं, तार्किक युक्ति, बौद्धिक अनुभूति द्वारा उपलब्ध तथ्योंके निष्कर्ष, सत्ताके गोचर तथ्योंसे

स्थूल भावों तथा प्राणिक क्रियाओंवाला एक अवबौद्धिक जीवन भी है जो समस्त मानव अभीप्साओंका स्रोत है। ये सब क्रियाएँ भी मनुष्यकी धार्मिक भावनाका स्पर्श अनुभव करती हैं, उसकी आवश्यकताओं और अनुभूतियोंमें भाग लेती हैं तथा उसकी संतुष्टिकी चाहना करती हैं। धर्म इस संतुष्टिको भी अपने कार्यक्षेत्रमें ले आता है और जिसे साधारणतया धर्म कहा जाता है, उसमें यह संतुष्टि ही एक बड़ा भाग प्रतीत होती है, कभी-कभी तो बाह्य दृष्टिमें वह संपूर्ण वस्तु ही प्रतीत होती है। कारण, आध्यात्मिक अनुभवकी सर्वोच्च पवित्रता केवल इस मिश्रित गँदले प्रवाहमेंसे ही नहीं प्रकट होती, न ही उसकी झलक इसमें दिखायी देती है। हमारी उच्चतम प्रवृत्तियों और हमारी निम्न अज्ञानमय प्रकृतिके इस संपर्क और मेलके फलस्वरूप बहुत काफी अपवित्रता, अज्ञान, अंधविश्वास और कई अन्य संशयपूर्ण तत्त्व उत्पन्न हो जाते हैं। यहाँ ऐसा प्रतीत होगा कि तर्कबुद्धिका भी एक अपना न्यायसंगत भाग है; यहाँ निश्चय ही वह सहज-प्रेरणाओं और आवेगोंकी क्रीड़ाको प्रकाश दिखाने, शुद्ध करने तथा बौद्धिक बनानेके लिये हस्तक्षेप कर सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक धार्मिक सुधार, एक ऐसे धर्मके स्थानपर जो कि अधिकांशमें अवबौद्धिक और अशुद्ध है एक "शुद्ध" और बौद्धिक धर्मको लानेका आंदोलन मनुष्यजातिके धार्मिक विकासमें एक विशेष प्रगति होगी। कुछ हदतक ऐसा हो सकता है, किंतु धार्मिक सत्ताकी विशिष्ट प्रकृति तथा अतिबौद्धिककी ओर उसकी पूर्ण प्रवृत्तिके कारण, इस संभावनाकी गंभीर मर्यादाएँ हैं। बौद्धिक मन भी यहाँ कुछ ऐसी बात नहीं कर सकता जो विशेष वास्तविक महत्त्व रखती हो।

धार्मिक रूप और पद्धतियाँ निर्बल एवं भ्रष्ट हो जाती हैं, इस कारण उनका नाश करना पड़ता है, या फिर उनका आंतरिक अर्थ बहुत कुछ नष्ट हो जाता है और इस कारण उनका ज्ञान आच्छन्न हो जाता है तथा वे व्यवहारमें हानिकारक हो जाती हैं। जो कुछ क्षीण एवं पुराना पड़ गया है उसे नष्ट करनेमें अथवा भ्रांतियोंका निषेध करनेमें तर्कबुद्धिने धार्मिक इतिहासमें महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। जो अंधविश्वास तथा अज्ञान धार्मिक रूपों और प्रतीकोंके साथ जुड़े हुए थे उनसे मुक्त होनेके प्रयत्नमें आध्यात्मिक ज्ञानके प्रकाशसे रहित तर्कबुद्धिकी प्रवृत्ति, उनमें निहित सत्य और अनुभवका निषेध करने तथा उसे यथासंभव नष्ट कर देनेकी होती है। जो सुधार तर्कबुद्धिका अत्यधिक आश्रय लेते हैं तथा अत्यंत निषेधात्मक और अनुदार होते हैं वे साधारणतया ऐसे

धर्म बना लेते हैं जिनमें आध्यात्मिकता और धार्मिक भावनाओंका पूर्णता-रूपी धन नहीं होता; वे अपने कोषमें समृद्ध नहीं होते, उनका स्वरूप एवं प्राय: ही उनकी भावना दरिद्र, ऊसर और मंद हो जाती है। वे वास्तविक रूपमें बौद्धिक भी नहीं होते; कारण, वे अपने उस तर्क और सिद्धांतके सहारे नहीं रहते जो बौद्धिक मनके लिये उतना ही तर्कहीन है जितना कि उन धर्म-मतोंका सिद्धांत जिनका स्थान वे लेते हैं, उनके निषेधोंके आधारपर रहना तो और भी कम संभव है, बल्कि वे विश्वास और उत्साहके उस प्रत्यक्ष बलका आश्रय लेते हैं जो अपने समस्त उद्देश्यमें अतिबौद्धिक है, साथ ही जिसके अंदर अवबौद्धिक तत्त्व भी हैं। यदि ये साधारण मनुष्यको अधिक श्रद्धावान् धर्मोंकी अपेक्षा कम स्थूल प्रतीत होते हैं तो उसका कारण यह है कि ये अतिबौद्धिक अनुभवके क्षेत्रमें प्रवेश करते हुए अधिक सकुचाते हैं। सहज-प्रेरणाओं और आवेगोंवाला जीवन अपने धार्मिक पक्षमें तर्कबुद्धि द्वारा संतोषजनक रूपमें शुद्ध नहीं किया जा सकता, बल्कि उसे ऊँचा उठाकर तथा आत्माकी ज्योतियोंमें ऊपर ले जाकर ही शुद्ध किया जा सकता है। धार्मिक विकासकी स्वाभाविक दिशा सदा ही प्रकाशके सहारे आगे बढ़ती है। और धार्मिक सुधार तभी श्रेष्ठ रूपमें कार्य कर सकता है यदि वह या तो पुराने स्वरूपोंको नष्ट करनेकी अपेक्षा उन्हें पुन: आलोकित करे या फिर, जहाँ नष्ट करना आवश्यक है, वहाँ उनके स्थानपर हीनतर नहीं, वरन् समृद्धतर रूप स्थापित करे, साथ ही प्रत्येक अवस्थामें जब वह इन्हें शुद्ध करे तब इनके स्थानपर बौद्धिक नहीं, वरन् अतिबौद्धिक प्रकाशको ले आये। एक विशुद्ध बौद्धिक धर्म केवल एक उत्साहहीन, मंद और अनुर्वर देववाद ही हो सकता है और ऐसे प्रयत्न कभी भी जीवित और स्थायी नहीं रह सके हैं। कारण, वे "धर्म" अर्थात् स्वाभाविक विधान और धर्मकी सत्य भावनाके विपरीत कार्य करते हैं। यदि तर्कको किसी निर्णयात्मक कार्यमें भाग लेना है तो उसे बौद्धिक तर्क नहीं, बल्कि अंतर्ज्ञानयुक्त तर्क होना चाहिये, इसमें सदा ही आध्यात्मिक तीव्रता तथा अंतर्दृष्टिका अंश उपस्थित होना आवश्यक है। कारण, यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि अवबौद्धिकके पीछे भी एक गुप्त सत्य विद्यमान है जो तर्कबुद्धिके क्षेत्रसे बाहरकी चीज है तथा जो उसके निर्णयोंके सर्वथा अधीन नहीं है। हृदयका अपना ज्ञान है, प्राणके अंदर उसकी अपनी अंतर्ज्ञानकी भावना है, उसकी सूचनाएँ, भावी संकेत, एक गुप्त शक्तिका विस्फोट और आविर्भाव तथा एक दिव्य या कम-से-कम अर्ध-दिव्य अभीप्सा एवं विशाल गति है जिन्हें केवल

अंतर्ज्ञानकी दृष्टि ही माप सकती है तथा अंतर्ज्ञानयुक्त भाषा और प्रतीक ही आकृति या अभिव्यक्ति प्रदान कर सकते हैं। यदि धर्ममेंसे इन वस्तुओंको निकाल दिया जाय या उसमेंसे उसकी पूर्णताके लिये आवश्यक तत्त्वोंको इस कारण हटा दिया जाय कि उनके रूप सदोष या दुर्बोध हैं तो इससे धर्म शुद्ध नहीं वरन् दरिद्र हो जायगा क्योंकि अभी हमारे अंदर उन्हें आंतरिक प्रकाश प्रदान करनेकी शक्ति अथवा ऊपरसे प्रकाशकी प्रतीक्षा करनेके लिये धैर्य नहीं है और न हम उनके स्थानपर अधिक ज्योतिर्मय प्रतीकोंकी स्थापना ही कर सकते हैं।

किंतु आत्मा और तर्कबुद्धिके संबंधोंका, जैसा कि व्यवहारमें प्रायः देखा जाता है, शत्रुतापूर्ण या सर्वथा संबंधरहित होना आवश्यक नहीं है। धर्मको यह सूत्र एक नियमके रूपमें नहीं अपना लेना चाहिये कि "मैं विश्वास करता हूँ, क्योंकि यह असंभव है", न ही उसे पासकलके इस सूत्रको अपनाना चाहिये कि "मैं विश्वास करता हूँ, क्योंकि यह मूर्खतापूर्ण है।" जो चीज निरी तर्कबुद्धिके लिये असंभव या मूर्खतापूर्ण है, वही उस तर्कबुद्धिके लिये जो आत्माकी शक्तिके द्वारा अपनेसे ऊपर उठ गयी है तथा उसके प्रकाशसे दीप्तिमान् हो गयी है, वास्तविक और ठीक बन जाती है। कारण, तब उसपर अंतर्बोधयुक्त मनका अधिकार हो जाता है, जो ज्ञानके एक और भी अधिक उच्च तत्त्वकी ओर जानेका मार्ग है। अत्यधिक व्यापक आध्यात्मिकता किसी भी मूल मानव-क्रिया या शक्तिका वर्जन नहीं करती, न उसे निरुत्साहित ही करती है, बल्कि वह उन सबको उनकी अपूर्णता और अंधान्वेषी अज्ञानमेंसे निकालकर ऊँचा उठानेका कार्य करती है, अपने स्पर्श द्वारा उनका रूपांतर करती है तथा उन्हें दिव्य सत्ता और दिव्य प्रकृतिके प्रकाश, शक्ति तथा आनंदके यंत्र बनाती है।

चौदहवाँ अध्याय

अतिबौद्धिक सौंदर्य

धर्मका अर्थ 'अध्यात्म' एवं 'अतिबौद्धिक'की खोज करना है, अतएव, इस क्षेत्रमें बौद्धिक तर्क पर्याप्त रूपसे सहायक नहीं हो सकता; वह अपने-आपको, अंतमें ही नहीं, बल्कि प्रारंभसे ही, इसके क्षेत्रसे बाहर अनुभव करता है और अपनेसे उच्च शक्ति और प्रकाशके प्रदेशमें अविश्वासपूर्वक अथवा धृष्टताके साथ लड़खड़ाते हुए चलना ही उसके भाग्यमें बदा है। किंतु हम यह कह सकते हैं कि मानवीय चेतना तथा मानवीय कर्मके अन्य क्षेत्रोंमें वह सर्वोच्च पदका अधिकारी है, क्योंकि उनका कार्य 'बौद्धिक' और 'सांत'के निम्न स्तरपर होता है या फिर वे उस सीमारेखासे संबंध रखते हैं जहाँ 'बौद्धिक' और 'अवबौद्धिक' मिलते हैं तथा जहाँ मनुष्यके आवेग और उसकी सहज-प्रवृत्तियाँ अधिकतर तर्कबुद्धिके प्रकाश तथा नियंत्रणकी अपेक्षा करती हैं। ऐसा माना जाता है कि सांत ज्ञान, विज्ञान, दर्शन तथा उपयोगी कलाओंके इसके अपने क्षेत्रमें इसका अधिकार निर्विवाद रूपसे मान्य है, किंतु अंतमें यह बात सत्य प्रमाणित नहीं होती। इसका क्षेत्र अधिक बड़ा हो सकता है, इसकी शक्तियाँ भी अधिक विपुल हो सकती हैं, इसका कार्य अधिक उचित रूपमें आत्मविश्वाससे पूर्ण हो सकता है, किंतु अंतमें इसे सर्वत्र ही ऐसा अनुभव होता है कि यह हमारी सत्ताकी अन्य दो शक्तियोंके बीचमें स्थित होकर एक मध्यस्थके कर्तव्यका कम या अधिक अंशमें पालन कर रहा है। एक ओर तो यह प्रकाशदायक है––पर सदा ही प्रधान प्रकाशदायक नहीं––तथा हमारे जीवनके आवेगों और मनकी प्राथमिक खोजोंको सुधारनेवाला है और दूसरी ओर प्रच्छन्न आत्मसत्ताका एकमात्र मंत्री तथा उसके राज्यके आगमनके लिये मार्ग तैयार करनेवाला है।

यह बात विशेष रूपसे उन दो क्षेत्रोंमें स्पष्ट हो जाती है जो हमारी शक्तियोंकी सामान्य श्रृंखलामें तर्कबुद्धिके अत्यधिक निकट स्थित हैं; इसके दोनों ओर सौंदर्यात्मक तथा नैतिक सत्ता, अर्थात् 'सुन्दर' और 'शिव'की खोज विद्यमान है। मनुष्यकी सौंदर्यविषयक खोज काव्य, चित्रकारी, मूर्तिकला, गृहनिर्माण-कला आदि महान् सृजनात्मक कलाओंमें अपनी अत्यंत

तीव्र तथा संतोषप्रद अभिव्यक्तिको प्राप्त होती है। किंतु जब यह अपने पूर्ण विस्तारमें होती है तो मनुष्यकी उन्नति अथवा उसके जीवनका ऐसा कोई भी कार्यक्षेत्र नहीं होता जहाँसे इसे बहिष्कृत करना आवश्यक या उचित हो—हाँ, इसके लिये हमें सौंदर्यको उसके अत्यधिक व्यापक और सच्चे अर्थमें समझना पड़ेगा। सौंदर्यका पूर्ण और व्यापक मूल्यांकन तथा अपने समस्त जीवन और सत्ताको पूर्ण रूपसे सुंदर बनाना, निश्चय ही, एक पूर्ण व्यक्ति तथा एक पूर्ण समाजका आवश्यक गुण होना चाहिये। किंतु सौंदर्यकी यह खोज अपने मूलमें बौद्धिक नहीं है। इसका निवास हमारे जीवनकी जड़ोंमें है, यह एक सहज-प्रवृत्ति तथा आवेग है, सहज-प्रवृत्ति सौंदर्यात्मक संतुष्टिकी और आवेग सौंदर्यात्मक सृजन एवं उपभोगका। हमारी सत्ताके अवबौद्धिक भागोंसे उत्पन्न होनेके कारण ये सहज-प्रवृत्ति और आवेग आरंभमें, अपने सृजन एवं मूल्यांकनमें, अत्यधिक अपूर्णता, अपवित्रता तथा बड़ी भारी स्थूलताओंको लिये होते हैं। यहीं तर्कबुद्धिका कार्य इन कमियों और स्थूलताओंका विवेचन करना, इन्हें आलोकित और संशोधित करना तथा इन्हें प्रकाशमें लाना होता है। यहाँ वह सौंदर्य-शास्त्रके नियमोंका निर्माण भी करती है तथा परिष्कृत रुचि एवं यथार्थ ज्ञानके द्वारा हमारे मूल्यांकन एवं सृजनको शुद्ध भी बनाती है। इस प्रकार जब हम अपने-आपको जानने एवं सुधारनेका प्रयास कर रहे होते हैं, तर्कबुद्धि कलाकार और गुणग्राही दोनोंके लिये एक सच्ची नियम-निर्धारक भी प्रतीत हो सकती है। हमारी सौंदर्यात्मक सहज-प्रवृत्ति तथा आवेगका सृजन चाहे यह न भी करे पर हमारे अंदर यह एक सौंदर्यात्मक चेतनाको जन्म अवश्य दे देती है तथा उसकी एक जागरूक निर्णायक एवं मार्ग-प्रदर्शक बन जाती है। जो क्रिया अस्पष्ट एवं भ्रांतिपूर्ण होती थी उसे यह अपने कर्म और उपभोगमें स्वचेतन तथा बौद्धिक रूपसे विवेकशील बना देती है।

किंतु यह भी एक परिमित सीमातक सत्य है अथवा यदि कहीं पूर्णतया सत्य है भी, तो हमारी सौंदर्यविषयक खोज एवं क्रियाके मध्य स्तर पर ही। जहाँ सौंदर्यका सृजन अत्यधिक महान् और शक्तिशाली रूपमें होता है तथा उसका मूल्यांकन और उपभोग अपने उच्चतम शिखर-तक पहुँच जाते हैं, वहाँ तर्कबुद्धि सदा ही अतिक्रांत होकर पीछे रह जाती है। काव्य तथा कलामें सौंदर्यका सृजन तर्कबुद्धिके राज्यके अंतर्गत नहीं है, यहाँतक कि यह उसके क्षेत्रसे भी बाहर है। बुद्धि हमारे अंदर कवि, कलाकार या स्रष्टा नहीं है; सृजन प्रकाश और शक्तिके एक ऐसे अतिबौद्धिक प्रवाह द्वारा होता है जिसे, यदि अपनी ओरसे सर्वश्रेष्ठ कार्य

करना है तो, सदा अंतर्दृष्टि एवं प्रेरणाके द्वारा ही उद्भूत होना चाहिये। प्रकाश और शक्तिका यह प्रवाह बुद्धिको अपने कुछ कार्योंके लिये उपयोगमें ला सकता है, किंतु जिस हदतक वह अपने-आपको बुद्धिके अधीन कर देता है उसी हदतक वह अंतर्दृष्टिकी शक्ति और सामर्थ्यको गँवा देता है तथा जिस सौंदर्यका वह सृजन करता है उसके वैभव और सत्यको भी कम कर देता है। बुद्धि इस प्रवाहको अपने अधिकारमें कर सकती है, सृजनके दिव्य उत्साहको कम करके उसे दबा सकती है तथा उसे अपने कुशल आदेशोंको माननेके लिये बाध्य भी कर सकती है, किंतु ऐसा करते हुए वह कार्यको अपने निम्न स्तरपर ले आती है। बुद्धि उस कार्यमें जितना हस्तक्षेप करेगी उतना ही वह कार्य हीन हो जायगा। कारण, बुद्धि अपने-आपमें केवल योग्यता ही प्राप्त कर सकती है, यद्यपि यह योग्यता उच्च भी हो सकती है, यहाँतक कि यदि इसे ऊपरसे काफी सहायता मिले तो यह अत्यंत उत्कृष्ट भी हो सकती है। किंतु प्रतिभा जो कि सच्ची सृजनकर्त्री होती है सदा ही अतिबौद्धिक होती है, उस समय भी जब कि वह तर्कबुद्धिका कार्य कर रही प्रतीत होती है। जब वह निरी बौद्धिकतासे कम-से-कम प्रभावित होती है या उसमें इसके नियंत्रणका मिश्रण कम-से-कम होता है, जब वह अंतर्दृष्टि तथा प्रेरणाकी ऊँचाइयोंसे कम-से-कम पतित होकर बौद्धिकताकी सतत यांत्रिक प्रक्रियाका कम-से-कम सहारा लेती है, तब वह अधिक-से-अधिक अपने वास्तविक स्वरूपमें होती है, तभी वह अपने कार्यमें उदात्त तथा अपनी उपलब्धिकी शक्ति, गंभीरता, उच्चता, एवं सुन्दरतामें अत्यंत सुप्रतिष्ठित होती है। जो कला-सृजन तर्कबुद्धिके नियमोंको स्वीकार करता है तथा उसके द्वारा निर्धारित सीमाओंमें कार्य करता है वह भी महान्, सुन्दर एवं शक्तिशाली हो सकता है; कारण, जब प्रतिभा बंधनमें भी कार्य कर रही होती है और अपने सब साधनोंको प्रकाशमें लानेसे इनकार करती है, तब भी वह अपनी शक्तिको सुरक्षित रख सकती है। किंतु जब वह बुद्धिके द्वारा आगे बढ़ती है, वह निर्माण तो करती है, किंतु सृजन नहीं करती। वह निर्माणका कार्य भलीभाँति तथा एक उत्तम और निर्दोष कुशलताके साथ कर सकती है, किंतु तब उसकी सफलता बाह्य होती है आंतरिक नहीं। यह सफलता वस्तुतः बाह्य कौशलकी होती है। सौंदर्यके अक्षय सत्यको वह उसकी आंतरिक वास्तविकतामें, उसके दिव्य आनंदमें और परमानंदके सर्वोच्च स्रोतके प्रति उसके आवेदनके रूपोंमें मूर्त्तिमंत नहीं करती।

कलात्मक सृजन तथा तर्कबुद्धिके कुछ ऐसे युग आ चुके हैं जिनमें

काव्य और कलामें तार्किक और बौद्धिक प्रवृत्तिकी प्रधानता रही है; यहाँतक कि कुछ ऐसे राष्ट्र भी हुए हैं जिन्होंने कला और साहित्यसंबंधी अपने महान् रचनात्मक युगोंमें तर्कबुद्धि एवं यथार्थपर सीमित रुचिको अपने सौंदर्यात्मक कार्योंकी सर्वोच्च शक्तियाँ बना दिया था। अपनी सर्वश्रेष्ठतामें, इन युगोंमें कुछ महान् कार्य हुए हैं, परंतु मुख्यतः वह महानता एक उच्चतम अंतःप्रेरित और व्यंजक सौंदर्यकी परिपूर्त्तिसे नहीं वरन् एक बौद्धिक तथा शिल्पसंबंधी पूर्णतासे संबंध रखती थी। वस्तुतः उनका उद्देश्य सौंदर्यके गहन सत्यकी खोज नहीं, वरन् विचारों और तर्कके सत्यकी खोज था, वह एक सच्चा सृजनात्मक नहीं, बल्कि आलोचनात्मक उद्देश्य था। उनका प्रधान लक्ष्य जीवन एवं प्रकृतिकी एक ऐसी आलोचना करना था जिसे कलात्मक सौंदर्यके अंतःप्रेरित रूपोंमें भगवान्, मनुष्य, जीवन और प्रकृतिकी अभिव्यक्ति द्वारा नहीं वरन् एक पूर्ण काव्यमय लय तथा शब्द-विन्यासके द्वारा उदात्त रूप प्राप्त हुआ था। किंतु एक महती कला वस्तुओंके बौद्धिक सत्यका प्रतिनिधित्व करके ही संतुष्ट नहीं होती, क्योंकि वह सदा उसका उपरितलीय या बाह्य सत्य होता है। वह एक ऐसे गहनतर तथा मौलिक सत्यकी खोज करती है जो केवल इन्द्रियों अथवा तर्कबुद्धिकी दृष्टिसे छूट जाता है; वह उनके अंदरकी आत्मा होता है, वह एक ऐसा अदृश्य सत्य होता है जो उनके बाह्य रूप तथा प्रक्रियाकी नहीं, वरन् आत्माकी वस्तु होता है। इसे वह पकड़ लेती है और इसे फिर वह किसी रूप तथा विचारके द्वारा अभिव्यक्त करती है, एक ऐसे अर्थपूर्ण रूपके द्वारा जो बाह्य प्रकृतिकी एक शुद्ध, यथार्थ अथवा समस्वर प्रतिमूर्त्तिमात्र ही नहीं होता; वह इसे एक व्यंजक विचारके द्वारा भी व्यक्त करती है, पर किसी ऐसे विचारके द्वारा नहीं जो केवल शुद्ध, यथार्थ एवं सुन्दरमात्र हो या फिर तर्कबुद्धि और रुचिको पूर्णतया संतुष्टि देनेवाला हो। जिस सत्यकी वह खोज करती है वह सबसे पहले सौंदर्यका सत्य होता है,—यहाँ भी वह केवल बाह्य सौंदर्य या अनुपात और यथार्थ प्रक्रियाका कोई ऐसा सौंदर्य नहीं होता जिसकी खोज इन्द्रियाँ और तर्कबुद्धि करती हैं, वरन् आभ्यंतरिक सौंदर्य होता है जो इस सामान्य दृष्टि तथा मनसे ओझल है तथा जो पूर्णतया केवल मनुष्यके अंदरके उस कवि तथा कलाकारकी उन्मुक्त दृष्टिको ही दिखायी देता है जो वैश्व कवि एवं कलाकारके अर्थात् दिव्य स्रष्टाके गुप्त अर्थोंको पकड़ सकता है। यह दिव्य स्रष्टा अपने बनाये हुए रूपोंके अंदर उनकी आत्मा और वास्तविकताके रूपमें निवास करता है।

जो कला-सृजन तर्क, रुचि और एक ऐसे कौशलकी पूर्णता और विशुद्धतापर अत्यधिक बल देता है जिसकी रचना तर्क और रुचिके नियमोंके अनुसार हुई हो, वह इस बातकी माँग करता है कि उसे शास्त्रीय कलाका नाम दिया जाय, किंतु इस माँगकी सत्यतामें उसी भाँति शंका की जा सकती है जिस प्रकार कि उस अत्यधिक तीव्र विभेदपर की जा सकती है जिसपर यह माँग आधारित है। एक सच्ची और महान् शास्त्रीय कला एवं काव्यकी वास्तविक भावना यह है कि वह वैश्वतत्त्वको व्यक्त करे तथा वैयक्तिक अभिव्यक्तिको वैश्वसत्य और सौंदर्यके अधीन कर दे, जिस तरह कि रोमांचक कला और काव्यकी भावना यह है कि वह अद्भुत और वैयक्तिक तत्त्वको व्यक्त करे; और यह वह प्रायः ही इतने सशक्त, सबल अथवा जीवंत रूपमें करती है कि वह उस वैश्व तत्त्वको जो अभी भी समस्त सच्ची कलाका, चाहे वह रोमांचक हो या शास्त्रीय, आधार है तथा उसके रूपोंमें समाया हुआ है, अपने सृजनकी पृष्ठभूमिमें पीछे फेंक देती है। सच पूछो तो समस्त महान् कलामें एक शास्त्रीय और रोमांचक तथा साथ ही एक यथार्थवादी तत्त्व निहित होता है,—यहाँ यथार्थवादका अर्थ वस्तुओंके बाह्य सत्यको ही प्रधान रूपसे व्यक्त करना है, इसका अर्थ 'यथार्थ'का वह विकृत एवं विपरीत रोमांचवाद नहीं है जो कुरूप, अतिसाधारण तथा अस्वस्थ तत्त्वको अत्यधिक प्रधानता देता है और उसीको जीवनके समस्त सत्यके रूपमें उपस्थित करता है। कोई महान् कलात्मक कृति कलाकी किस कोटिसे संबंध रखती है यह बात इस तथ्यसे निश्चित होती है कि वह किस तत्त्वको प्रधानता देती है तथा किन दूसरे तत्त्वोंको अपनी सर्वोच्च भावनाके अधीन रखती है। किंतु शास्त्रीय कला भी बुद्धिकी प्रक्रिया द्वारा नहीं, वरन् एक व्यापक अंतर्दृष्टि तथा अंतः-प्रेरणाके अनुसार कार्य करती है। एक हीन प्रकारकी शास्त्रीय कला और साहित्य भी—यदि वे शास्त्रीय ही हैं और मिथ्या-शास्त्रीय नहीं जैसे कि वे प्रायः होते हैं, क्योंकि वे शास्त्रीय कलाके बाह्य रूप एवं पद्धतिके ही बौद्धिक अनुकरण होते हैं—प्रभावपूर्ण कार्य कर सकते हैं, पर वह शक्ति अत्यंत हीन कोटिकी होती है और इस कार्यका क्षेत्र और स्वरूप भी मूलतः निम्न कोटिका होता है, क्योंकि बौद्धिक रचनाके सिद्धांतके कारण यह हीन कोटिका होना निश्चित है। प्रायः सदा ही यह द्रुत वेगसे पतित होकर वैधिक या शैक्षणिक रूपमें परिणत हो जाती है, इसमें न तो वास्तविक सौंदर्य रहता है, और न जीवन और शक्ति, बल्कि यह रूपकी दासतामें बंदी हो जाती है और कल्पना करने

लगती है कि यदि किसी एक विशेष शैलीका अनुसरण किया जाय, रचनासंबंधी कुछ नियमोंका पालन किया जाय तथा कुछ आलंकारिक नियमों या शिल्पसंबंधी सिद्धांतोंको मान लिया जाय तो मानों सब काम पूरा हो गया। पर तब वह कला नहीं रहती, एक नीरस और यांत्रिक कार्य-कुशलता बन जाती है।

सौंदर्यके सृजन और मूल्यांकनमें तर्कबुद्धि और रुचिको जो इतनी प्रथम और सर्वोच्च प्रधानता मिली है—कभी-कभी तो एकमात्र इन्हें ही प्रधानता दी गयी है—उसका स्रोत मनके उस स्वभावमें है जो सृजनशील नहीं, बल्कि आलोचक है; सृजनके संबंधमें इसका सिद्धांत एक बड़ी भ्रांतिमें ग्रस्त हो जाता है। पूर्ण बननेके लिये समस्त कलात्मक कृतिको, स्वयं सृजनकी क्रियामें, निश्चय ही विवेचनकी एक ऐसी आंतरिक शक्तिका मार्गदर्शन मिलना चाहिये जो सत्य और सौंदर्यके अनुरूप चुनाव और वर्जन करती है; यह सिद्धांत सामंजस्य और अनुपातके प्रति तथा विचारके साथ रूपोंके घनिष्ठ संबंधके प्रति सदा सच्चा रहता है। साथ ही विचार सुन्दर वस्तुकी भावना, स्वभाव तथा अंतरीय सत्ता अर्थात् उसके स्वरूप और स्वभावके प्रति यथार्थ रूपसे सत्यनिष्ठ होता है जो आत्मा तथा मनके आगे प्रकट हो चुके हैं; अतएव, यह विवेकशील आंतरिक अनुभूति उस सबको अस्वीकार कर देती है जो विजातीय है, व्यर्थ और अनुपयोगी है, उस सबको भी जो केवल विक्षेपकारी, विकारजनक तथा अतिशयोक्ति या दोषसे पूर्ण मन-बहलाव होता है जब कि वह प्रधानतः उस सबको चुनती और ग्रहण कर लेती है जो पूर्णसत्य, विशुद्धसौंदर्य तथा अंतर-तम शक्तिको अभिव्यक्त कर सकता है। किंतु यह विवेचन आलोचक बुद्धिकी वस्तु नहीं है। जिस सामंजस्य, अनुपात तथा संबंधको यह देखता है वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो आलोचक तर्कबुद्धिके किसी रूढ़ नियमके द्वारा निर्धारितकी जा सके। यह वस्तुके स्वभाव और सत्यमें, स्वयं उस कृतिमें तथा उस सौंदर्य और सामंजस्यके गुप्त आंतरिक विधानमें विद्यमान है जो अंतर्दृष्टिके द्वारा ही समझे जा सकते हैं, बौद्धिक विश्लेषणके द्वारा नहीं। अतएव वह विवेचन जो स्रष्टामें कार्यकर रहा होता है न तो कोई बौद्धिक आलोचना होता है और न ही बौद्धिक विधानोंके द्वारा बाहरसे उसपर लादे गये नियमोंका अनुसरण ही होता है, वरन् वह स्वयं सृजनशील एवं अंतर्ज्ञानात्मक है, अंतर्दृष्टिका एकभाग है, वह सृजनके कार्यमें अंतर्निहित होता है, उससे अलग नहीं हो सकता। वह ऊपरकी शक्ति और प्रकाशके उस प्रवाहके एक अंशके रूपमें आता है जो अपने दिव्य उत्साहके द्वारा

हमारी क्षमताओंको उनकी तीव्र अतिबौद्धिक क्रिया तक उठा ले जाता है। जब यह असफल होता है, जब बौद्धिक अथवा अवबौद्धिक, निम्न कार्यकारी यंत्र इसे धोखा देते हैं--और ऐसा तभी होता है जब ये निष्क्रिय नहीं रहते और अपनी माँगों या सनकोंको बलपूर्वक आगे ले आते हैं--तब कार्यमें त्रुटि आ जाती है, जिसके फलस्वरूप आलोचना अनिवार्य हो जाती है। किंतु जो कलाकार अपने कार्यको किसी नियम या बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा शुद्ध करनेका प्रयत्न करता है, वह अपने संशोधनके कार्यमें एक मिथ्या अथवा कम-से-कम एक निम्न साधन प्रयोगमें लाता है, इसलिये वह सर्वश्रेष्ठ कार्य नहीं कर सकता। उसे तो अपनी सहायताके लिये सहजज्ञानसे युक्त एक आलोचक अंतर्दृष्टिका आवाहन करना चाहिये तथा उस दृष्टिको अंत:प्रेरित सृजन अथवा पुन:सृजनकी किसी नवीन क्रियामें मूर्त्त करना चाहिये, इससे पहले उसे उस दृष्टिके द्वारा अपनी मौलिक सृजनशील प्रेरणाके प्रकाश तथा धर्मके साथ अपना सामंजस्य स्थापित कर लेना चाहिये। सौंदर्यके अनुप्रेरित स्रष्टाके साधनोंमें आलोचक बुद्धि प्रत्यक्ष या स्वतंत्र रूपसे कोई भाग नहीं लेती।

सौंदर्यके मूल्यांकनमें इसका योगदान अवश्य है, किंतु वहाँ भी वह सर्वोच्च निर्णायक या संविधायक नहीं है। बुद्धिका कार्य उस विषयके जिसका वह अध्ययन करती है तत्त्वों, अंगों, बाह्य क्रियाओं तथा ऊपरी सिद्धांतोंका विश्लेषण तथा उनके संबंधों एवं क्रियाओंकी व्याख्या करना है। ऐसा करते हुए वह उस निम्न मानसिकताको शिक्षित और आलोकित करती है जिसका यह अभ्यास है कि यदि वह अपने-आपपर छोड़ दी जाय तो वह बिना यथार्थ निरीक्षण एवं उपयोगी ज्ञानके कार्य करती है, या जो कार्य हो चुका है उसे देखती है और सब कुछको स्वत:सिद्ध मान लेती है। किंतु जो धर्मके सत्यके विषयमें ठीक है वही सौंदर्यके उच्चतम और गहनतम सत्यके विषयमें भी ठीक है। यहाँ भी बौद्धिक तर्क इसके आंतरिक भाव तथा वास्तविकताको, यहाँतक कि ऊपरी तलके सिद्धांतों और प्रक्रियाओंके आंतरिक सत्यको भी ग्रहण नहीं कर सकता, जबतक कि उसे उस उच्चतर अंतर्दृष्टिकी सहायता न प्राप्त हो जो कि उसकी अपनी नहीं है। कारण, वह हमें ऐसी कोई पद्धति, प्रक्रिया या नियम नहीं दे सकता जिसके द्वारा सौंदर्यका सृजन किया जा सके या किया जाना चाहिये; ठीक इसी तरह वह सौंदर्यके मूल्यांकनको भी गहनतर अंतर्दृष्टि नहीं दे सकता जिसकी उसे आवश्यकता है। वह केवल निम्नतर मनके उन अभ्यासगत बोधों और विचारोंकी जड़ता और अस्पष्टता

ही दूर करनेमें सहायता पहुँचा सकता है जो सौंदर्यके देखनेमें रुकावट डालते हैं या जो इसके अंदर झूठे और स्थूल सौंदर्यग्राही अभ्यास डाल देते हैं। यह कार्य वह, जिस वस्तुका उसे अवलोकन और मूल्यांकन करना होता है उसके तत्त्वोंके बारेमें मनको एक बाह्य विचार तथा नियम प्रदान करके करता है। इसके अतिरिक्त, यहाँ एक प्रकारके अंतर्दर्शन, अंतर्दृष्टि तथा आत्मामें एक सहजज्ञानयुक्त प्रत्युत्तरका उद्‌बुद्ध होना भी आवश्यक है। तर्कबुद्धि जो सदा ही बाहरसे अध्ययन करती है इस आंतरिक और निकटतर संपर्ककी प्राप्ति नहीं कर सकती। इसे एक ऐसी प्रत्यक्षतर अंतर्दृष्टिकी सहायता लेनी पड़ती है जो स्वयं आत्मासे उद्‌भूत होती है; साथ ही इसे अपनी कमियोंके द्वारा रिक्त हुए स्थानको भरनेके लिये पग-पगपर सहजज्ञानयुक्त मनका आवाहन भी करना पड़ता है।

यह बात हम साहित्य एवं कलाविषयक आलोचनाके विकासके इतिहासमें देख सकते हैं। सौंदर्यका मूल्यांकन अपनी प्रारंभिक अवस्थाओंमें सहजप्रेरित, स्वाभाविक एवं अंतर्जात होता है, वह उस आत्माकी सौंदर्यात्मक संवेदनशीलताका प्रत्युत्तर होता है जो विचारशील बुद्धिको अपने विषयमें कुछ भी विवरण देनेका प्रयत्न नहीं करती। जब तार्किक बुद्धि अपने-आपको इस कार्यमें लगाती है, तो वह प्रत्युत्तर और अनुभूत वस्तुके स्वरूपका ठीक-ठीक अंकन करके ही संतुष्ट नहीं होती, वह उसका विश्लेषण करनेका तथा एक यथार्थ सौंदर्यात्मक संतुष्टिको प्राप्त करनेके लिये जो आवश्यक है उसका प्रतिपादन करनेका भी प्रयत्न करती है। वह विज्ञानका, एक कलात्मक विधि, रचनाके नियम, सौंदर्यके सृजनकी प्रक्रियाके किसी यांत्रिक नियम, अर्थात् एक रूढ़ विधान या शास्त्रका निर्माण भी करती है। इससे फिर एक ऐसी ऊपरी, प्रणालीबद्ध और कृत्रिम शास्त्रीय आलोचनाका लंबा राज्य स्थापित हो जाता है, जिसमें इस मिथ्या विचारकी प्रधानता रहती है कि प्रणाली—आलोचनात्मक तर्कबुद्धि केवल इसीका पूर्णतया ठीक-ठीक वर्णन कर सकती है—ही सृजनका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भाग है तथा प्रत्येक कलाके अनुरूप एक ऐसा विस्तृत विज्ञान भी हो सकता है जो हमें यह बतायेगा कि कोई कार्य कैसे किया गया है, साथ ही यह भी बतायेगा कि उसके करनेका समस्त रहस्य एवं प्रक्रिया क्या है। एक ऐसा समय भी आता है जब सौंदर्यका स्रष्टा विद्रोह कर देता है तथा अपने स्वाधीनताके अधिकारकी, सामान्यतः सृजनके एक नये विधान या सिद्धांतके रूपमें, घोषणा कर देता है और यह स्वाधीनता एक बार जब प्रमाणित हो जाती है तो विस्तृत रूप धारण करने लगती है तथा

आलोचनात्मक तर्कबुद्धिको उसकी समस्त परिचित सीमाओंसे बाहर निकालकर अपने संग ले चलती है। तब एक अधिक उन्नत मूल्यांकनका प्रादुर्भाव होता है जो आलोचनाके नये सिद्धांतों, कर्मकी आत्मा और अंतरीय भावनाकी खोज करना तथा आत्माके संबंधकी दृष्टिसे रूपकी व्याख्या करना या स्वयं स्रष्टाका अथवा जिस युगमें वह रहता है उसकी भावना, उसके स्वभाव तथा विचारका अध्ययन करना और इस प्रकार अपने कार्यका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना आरंभ कर देता है। बुद्धिने यह देखना शुरू कर दिया है कि उसका सर्वोच्च कार्य सौंदर्यके स्रष्टाके लिये नियम बनाना नहीं, वरन् उसका कार्य है हमें अपने-आपको तथा उसके कार्यको समझनेमें सहायता पहुँचाना, केवल उसके रूप तथा उसके अंगोंको समझनेमें ही नहीं, बल्कि उस मनको जो उसका स्रोत है तथा इसके परिणामोंका ग्रहणकर्त्ता मनपर जो प्रभाव पड़ता है उसे भी समझनेमें सहायता पहुँचाना है। यहाँ आलोचना अपने ठीक मार्गपर, बल्कि पूर्णताके उस मार्गपर चलती है जिसमें हम तार्किक बुद्धिको पार कर जाते हैं; तब एक उच्चतर शक्ति प्रकट होती है जो अपने मूल और स्वभावमें अतिबौद्धिक है।

कारण, सौंदर्यका चेतन मूल्यांकन, ज्ञान और उपभोगकी पराकाष्ठातक उपभुक्त सौंदर्यके विश्लेषण तथा उसके यथार्थ और विवेकपूर्ण बोधके द्वारा नहीं पहुचता—इन सबका अर्थ तो केवल 'सुन्दर' संबंधी हमारे प्रथम अज्ञानमय भावको प्रारंभिक रूपमें स्पष्ट करना है—वरन् यह वहाँतक आत्माके उस उन्नयनके द्वारा पहुँचता है जिसमें वह अपने-आपको पूर्णतया सृजनके प्रकाश, उसकी शक्ति और आनंदके प्रति खोल देता है। हमारे अंदर स्थित सौंदर्यकी आत्मा सृष्ट वस्तुके सौंदर्यकी आत्माके साथ एक हो जाती है तथा मूल्यांकनमें उसी दिव्य हर्षोल्लास और उन्नयनको अनुभव करती है जिसे कलाकारने सृजनमें अनुभव किया था। आलोचना जब इस प्रत्युत्तरका अभिलेखन, विवरण तथा यथार्थ वर्णन बन जाती है तब वह अपने चरम बिंदुपर पहुँच जाती है। अब उसे स्वयं अनुप्रेरित, सहजज्ञानयुक्त तथा व्यंजक बन जाना चाहिये। दूसरे शब्दोंमें सहजज्ञान-युक्त मनके कार्यको तार्किक बुद्धिका कार्य पूरा करना चाहिये, वह पूर्णतः उसका स्थान भी ले सकता है तथा स्वयं बुद्धिका विशिष्ट एवं उपयुक्त कार्य भी अधिक शक्तिशाली ढंगसे संपन्न कर सकता है। वह हमारे लिये रूपके रहस्यकी, प्रक्रियाके अंगोंकी, कर्मके दोषों, सीमाओं और गुणोंके आंतरिक कारण, उनके सार तथा उनकी रचनाकी अधिक घनिष्ठ रूपसे व्याख्या भी कर सकता है। कारण, सहजज्ञानयुक्त प्रज्ञा जब पर्याप्त

पन्द्रहवाँ अध्याय

अतिबौद्धिक 'शुभ'

हम अब अपनी धार्मिक सत्ता तथा अपनी सौंदर्यात्मक सत्ताके नियम और सिद्धांतके द्वारा एक ऐसे नियम और सिद्धांतकी व्यापकता देखना शुरू करते हैं जो समस्त सत्ताका नियम एवं सिद्धांत है और इसलिये जिसे हमें मानवके समस्त कार्यकलापके संबंधमें दृढ़तापूर्वक अपनी दृष्टिमें रखना चाहिये। यह एक ऐसे सत्यपर आधारित है जिसके विषयमें सब ऋषियोंका सदा एक मत रहा है, यद्यपि बौद्धिक विचारक इसपर सदा वाद-विवाद कर सकते हैं। वह सत्य यह है कि समस्त क्रियाशील सत्ताका अर्थ भगवान्‌की खोज है, हमारे तथा वस्तुओंके अंदर, पीछे और ऊपर छिपी हुई किसी उच्चतम सत्ता तथा गंभीरतम सद्वस्तुकी अर्थात् एक गुप्त दिव्यताकी खोज है। वह सत्य जिसकी झलक हमें धर्मके द्वारा प्राप्त होती है समस्त जीवनके पीछे छुपा हुआ है। यह जीवनका महान् रहस्य है जिसे खोजने तथा जिसका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये वह यत्नशील है।

आभ्यंतरिक दृष्टिसे भगवान्‌की खोज, हमारी उच्चतम, सत्यतम, पूर्णतम तथा विशालतम सत्ताकी भी खोज है। यह उस सद्वस्तुकी खोज है जिसे जीवनके वाह्यरूप छुपा देते हैं, क्योंकि वे उसे केवल अंशतः ही व्यक्त करते हैं अथवा क्योंकि वे उसे पर्दों और आकृतियोंके पीछेसे, विरोधों एवं प्रतिकूलताओं तथा प्रायः ही वास्तविक सत्ताके विरोधी और विकारी प्रतीत होनेवाले रूपोंके द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। यह खोज उस वस्तुकी है जिसकी पूर्णता केवल असीम और पूर्ण सत्ताकी मूर्त्त और सर्वग्रासी अनुभूतिके द्वारा ही प्राप्त होती है। इसे समग्र रूपसे तभी सुप्रतिष्ठित किया जा सकता है जब कि यह सब सीमित वस्तुओंमें असीमके महत्त्वको समझ ले तथा समस्त सापेक्ष रूपोंको उनके निरपेक्ष रूपोंतक पहुँचानेका, उनके विभेदों, विरोधों एवं प्रतिकूलताओंको किसी एकीकारक उच्चतम स्थितितक ऊँचा उठाकर और उन्हें उदात्त रूप देकर उनमें समन्वय लानेका प्रयत्न करे—यह प्रयत्न आवश्यक एवं अनिवार्य है, चाहे यह सामान्य तर्कबुद्धिके लिये कितना ही असंभव अथवा

विरोधाभासी क्यों न प्रतीत होता हो। कोई ऐसी पूर्ण और उच्चतम स्थिति अवश्य है जिसके द्वारा हमारी समस्त अपूर्ण निम्न स्थितियोंका औचित्य सिद्ध किया जा सकता है तथा उनके विरोधी तत्त्वोंमें सामंजस्य लाया जा सकता है केवल यदि हम उन्हें एक बार इस बातके लिये प्रेरित कर सकें कि वे उसे चेतन रूपसे अभिव्यक्त करें, अपने लिये नहीं बल्कि 'उसके' लिये, उस उच्चतम सत्यके सहायक सत्योंके रूपमें, उस उच्चतम और विशालतम सामान्य मान (Measure) के एक अंशात्मक मानकके रूपमें अपना अस्तित्व रखें। कोई 'एक' है जिसमें इन पृथक्कृत, विरोधी, एक-दूसरेमें गुंथे हुए तथा संघर्षकारी विचारों, शक्तियों, प्रवृत्तियों, सहज-प्रेरणाओं, आवेगों, रूपों और प्रतीतियोंके इस बहुत्वकी जटिल विषमताएँ, जिन्हें हम जीवन कहते हैं, अपनी विभिन्नताओंमें एकत्व तथा अपने विरोधोंमें सामंजस्य उपलब्ध कर सकती हैं, अपनी माँगोंको उचित ठहरा सकती हैं, अपनी विकृतियों एवं भ्रांतियोंको ठीक कर सकती हैं तथा अपनी समस्याओं और विवादोंका समाधान पा सकती हैं। ज्ञान उसीकी खोज करता है, जिससे कि 'जीवन' अपना सच्चा अर्थ जान सके तथा एक दिव्य सद्वस्तुकी सर्वोच्च और यथा-संभव अधिकसे अधिक सामंजस्यपूर्ण अभिव्यक्तिमें अपनेको रूपान्तरित कर सके। सब चराचर जगत् उसीकी खोज करता है, प्रत्येक शक्ति अपने ढंगसे उसीकी अनुभूति प्राप्त करने के लिये यत्नशील है; 'अतिबौद्धिक' भी अपनी सहजवृत्तियों, आवश्यकताओं और आवेगोंकी धाराके अनुसार उसीको अंधवत् खोज रहा है। बौद्धिक भी उसीके लिये अपने तर्क और अपनी कर्म-व्यवस्थाका जाल बिछा देता है, उसकी विभिन्नताओंका अन्वेषण और संग्रह करता है, उन्हें समन्वित करनेके लिये उनका विश्लेषण करता है। 'अति-बौद्धिक' वस्तुओंके पीछे, ऊपर तथा उनके अंतरतम प्रदेशोंमें जाता है; वह वहाँ स्वयं उस सद्वस्तुको उसके मूल और सार तक छूना चाहता है, उसे हस्तगत करना चाहता है तथा उसके अनंत ब्योरोंको उस गुप्त केंद्रसे आलोकित करना चाहता है।

इस सत्यको हम धर्म और कलामें, आध्यात्मिकता तथा सौंदर्यके क्षेत्रमें अत्यधिक सुगमतासे समझ सकते हैं, क्योंकि वहाँ हम जीवनके बाह्य रूपों, उसकी आवश्यकताओंके अनिवार्यचक्र तथा उसकी उपयोगिताओंके बहरे कर देनेवाले शोरके चंचल दबावसे पूर्णतया दूर रहते हैं। वहाँ हम प्रत्येक मोड़पर किसी स्थूल भौतिक माँग अथवा उसी समय और उसी क्षणकी किसी असंस्कृत किंतु अनिवार्य आवश्यकताके साथ समझौता करने को भी विवश नहीं किये जाते। बाह्य रूपके पीछेकी वास्तविक सत्ताको

ढूंढ़नेके लिये हमारे पास अवकाश तथा क्षणभरका समय तो होता ही है। हम अपनी दृष्टिको अस्थायी और क्षण-भंगुर वस्तुओंसे हटाकर या फिर काल-गत वस्तुओंके द्वारा कालातीत वस्तुकी ओर फेर सकते हैं; सीमाओंसे पीछे हटकर हम आदर्श और वैश्व वस्तुके संपर्कसे अपनी अन्तरात्माओंका पुनर्निर्माण भी कर सकते हैं। हमने अपने बंधनोंको तोड़ना आरंभ कर दिया है, एक बंदीगृहरूपी इस जीवनसे हम स्वतंत्र हो रहे हैं, जिसमें 'आवश्यकता' हमारा जेलर तथा 'उपयोगिता' हमारा सतत कार्यनिरीक्षक है। हमें आत्माकी स्वाधीनता प्राप्त हो गयी है, हम भगवान्के सौंदर्य और आनंदके असीम राज्यमें प्रवेश कर रहे हैं अथवा हमें अपनी पूर्ण आत्म-उपलब्धिकी कुंजी मिल गयी है और हम सनातन सत्ताकी प्राप्ति या उसकी पूजाके प्रति उन्मुख हो रहे हैं। यहीं मानव-सत्ताके लिये धर्म, कला और काव्यका अत्यधिक मूल्य है। यह मूल्य आंतरिक सत्यके लिये, स्ववृद्धि तथा मुक्तिके लिये उनकी तात्कालिक शक्तिमें निहित है।

किंतु जीवनके अन्य क्षेत्रोंमें अर्थात् उन क्षेत्रोंमें जिन्हें हम विशेषतया अपने अज्ञानके कारण व्यावहारिक जीवन कहते हैं,—यद्यपि, यदि भगवान् हमारी खोज और उपलब्धिका सच्चा लक्ष्य हो तो, उनके संबंधमें हमारा व्यवहार एवं प्रचलित विचार व्यावहारिकका ठीक विरोधी है,—हम वैश्व सत्यको स्वीकार करनेके लिये कम ही तैयार रहते हैं। हम, सिद्धांत-रूपमें, उसके एक अंशको भी स्वीकार करनेमें बहुत समय लगा देते हैं, व्यवहाररूपमें उसका अनुसरण करनेके लिये तो हम शायद ही कभी तैयार रहते हों। हमें इस कठिनाईका सामना इसलिये करना पड़ता है कि उस विशेष क्षेत्रमें अर्थात् अपने समस्त व्यावहारिक जीवनमें हम एक बाह्य 'आवश्यकता' के दास बनकर ही संतुष्ट रहते हैं और जब हम तात्कालिक और क्षणिक उपयोगिताओंके जुएको अपने विचार, संकल्प और कर्मका विधान मान लेते हैं तो हम अपने-आपको दोष-मुक्त समझने लगते हैं। किन्तु वहाँ भी हमें अंतमें सर्वोच्च सत्य प्राप्त करना है। हमें अंतमें यह पता लगेगा कि हमारा दैनिक जीवन तथा हमारा सामाजिक अस्तित्व कोई अलग वस्तुएँ नहीं हैं, वे अस्तित्वका कोई ऐसा क्षेत्र भी नहीं हैं जिनका विधान अंतरीय और आदर्शसे भिन्न हो। इसके विपरीत, हम तब तक उनके सच्चे अर्थको नहीं पा सकते अथवा उनकी कठोर और प्रायः ही दुःखदायी समस्याओंका समाधान नहीं कर सकते जब तक कि हम उन्हें अपनी सर्वोच्च, और सर्वोच्च होनेके कारण अपनी सत्यतम और पूर्णतम सत्ता और अस्तित्वके अत्यधिक व्यापक और आवश्यक विधान एवं शक्तिकी

खोज और वैयक्तिक और सामूहिक अभिव्यक्तिके साधनके रूपमें देखना न सीखें। समस्त जीवन ही एक ऐसा अपरिमित तथा वहुविध अवसर है जो हमें भगवान् की खोज करने, उन्हें पाने तथा व्यक्त करनेके लिये मिला है।

हमारी नैतिक सत्तामें ही व्यावहारिक जीवनका यह सत्यतम सत्य, उसका वास्तविक और सर्वोच्च व्यावहारिकरूप अत्यधिक सुगमतासे दृष्टि-गोचर होता है। यह सत्य है कि बौद्धिक मनुष्यने अन्य सवकी तरह नैतिक जीवनको भी नीचेलाकर तर्कवुद्धिकी वस्तु वना देनेका तथा उसके स्वभाव, नियम एवं व्यावहारिक कर्मको तर्कके किसी सिद्धांत या नियम द्वारा निर्धारित करनेका प्रयत्न किया है। वस्तुतः उसे कभी भी सफलता नहीं मिली है और न मिल ही सकती है। उसकी सफलताके वाह्य रूप केवल उस वुद्धिके ऊपरी रूप हैं जो शब्दों और विचारोंके द्वारा सुन्दर पर खोखली रचनाएँ गढ़ती है; ये रूप अंदरसे घिसे-पिटे पर ऊपरसे सज्जित समन्वयके प्रचलित नियममात्र हैं; संक्षेपमें, इन्हें ऐसी कृत्रिम असफलताएँ कहा जा सकता है जो वास्तविकताका पहला सवल संपर्क पाते ही नष्ट हो जाती हैं। उन्नीसवीं शताव्दीके—जो कि विज्ञान, तर्क और उपयोगिताकी महान् शताव्दी थी—एक प्रत्यक्षवादी और व्यवस्थाप्रिय विचारकने उपयोगितावादी नीतिशास्त्रकी इसी असाधारण पद्धतिकी खोजकी थी, पर अव इस पद्धतिकी उपेक्षा कर दी गयी है जो उचित भी है। यह प्रसन्नताकी वात है कि अव हम इसकी खोखली दंभपूर्ण भ्रांतियोंका, नीतिशास्त्रके आंतरिक, अनुभववादी तथा पूर्ण उद्देश्यके स्थानपर आनेवाली व्यावहारिक, वाह्य और सामयिक परीक्षा-पद्धतिका तथा नैतिक कर्मको नैतिक गणनाका एक असंभवनीय-वैज्ञानिक और विलकुल ही अव्यावहारिक इंद्रजाल वना देनेका उपहास कर सकते हैं, ये सव वातें तार्किक और युक्तिप्रधान मनके लिये आकर्षक अवश्य हैं, किंतु नैतिक सत्ताकी समस्त सहजप्रवृत्ति तथा सहजज्ञानके लिये ये विलकुल मिथ्या एवं विजातीय हैं। इसी प्रकार इसके सिद्धांत और तथ्योंकी व्याख्या करने तथा उन्हें नियंत्रित करनेके लिये किये गये तर्कवुद्धिके अन्य प्रयत्न भी मिथ्या और अव्यावहारिक हैं। इनमेंसे एक सुखवादी सिद्धांत है जो शुभमें मनकी प्रसन्नता और तुष्टिको समस्त सत्कर्मका मूल वताता है; एक समाजवादी सिद्धांत भी है जो नीतिशास्त्रको नियमोंकी, सामाजिक भावनासे तथा सामाजिक आवेगोंके नियंत्रित मार्गदर्शनसे उत्पन्न सदाचारकी एक पद्धतिसे अधिक कुछ नहीं मानता; यह अपने कर्मका निर्धारण भी उसी अपर्याप्त मापदंडके अनुसार करना चाहता है। नैतिक सत्ता इन सव नियमोंसे परे है। यह अपने लिये आप ही एक नियम है तथा अपनी इस सनातन

प्रकृतिमें ही अपने सिद्धांत को पा लेती है, जो अपने मूल स्वभावमें विकसनशील मनका एक उन्नत रूप नहीं--चाहे वह पृथ्वीके इतिहासमें ऐसा क्यों न प्रतीत होता हो--वरन् आदर्शकी एक किरण, मनुष्यके अंदर भगवान्का एक प्रतिबिंब है।

यह बात नहीं कि इन भूल-भ्रांतियोंमें तथा प्रत्येकमें, इनकी मिथ्या धारणाओंके पीछे, एक सत्य विद्यमान नहीं है; कारण, मानवीय तर्कबुद्धिकी समस्त भूल-भ्रांतियाँ सत्यका अथवा सत्यके एक पक्ष या अंशका झूठा प्रतिनिधित्व करती हैं, तथा उसके विषयमें प्रभावशाली पर अशुद्ध धारणाएँ बना लेती हैं। उपयोगिता जीवनका एक आधारभूत सिद्धांत है और जीवनके सब मूल सिद्धांत अंतमें एक ही होते हैं। इसलिये यह सत्य है कि सर्वोच्च 'शुभ' सर्वोच्च उपयोगिता भी है, यह भी ठीक है कि अधिकतम मनुष्योंके अधिकतम हितकी मात्रा नहीं वरन् दूसरेका हित तथा अत्यधिक व्यापक रूपसे सबका हित ही हमारे बहिर्मुख नैतिक व्यवहारका एकमात्र आदर्श लक्ष्य है। इसी आदर्शको नैतिक मनुष्य कार्यरूप देना चाहता है; हाँ, इतनी बात आवश्यक है कि वह अपना मार्ग ढूँढ़ ले और उसे इस बातका सदा निश्चय हो कि सबका वास्तविक हित किसमें है। किंतु यह हमारे नैतिक व्यवहारको नियंत्रित करनेमें कोई सहायता नहीं पहुँचाता, न ही यह हमें इसका आंतरिक सिद्धांत ही प्रदान करता है, चाहे वह सिद्धांत सत्ताका हो अथवा कर्मका। वह केवल उन अनेक विचारोंमेंसे एक विचार ही उत्पन्न करता है जिनके द्वारा हम उस मार्गका अनुसरण कर सकते हैं जिसपर चलना अत्यन्त कठिन है। उपयोगिताको नहीं वरन् हितको 'शुभ' का सिद्धांत एवं मापदंड होना चाहिये, नहीं तो हम उस भयंकर कपटपूर्ण औचित्य-भावनाके हाथों पड़ जायँगे जिसकी समस्त प्रणाली ही नैतिक तत्त्वके विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त, उपयोगिताका मापदंड, उपयोगिताका निर्णय, उसकी भावना, उसका स्वरूप, उसका प्रयोग--ये सब व्यक्तिके स्वभाव, उसके मनके अभ्यास तथा संसारविषयक उसके दृष्टिकोणके अनुसार भिन्न-भिन्न होंगे। यहाँ कोई ऐसा विश्वसनीय सामान्य नियम नहीं हो सकता जिसे सब स्वीकार कर सकें, न ही कुछ ऐसे व्यापक और नियामक सिद्धांत हो सकते हैं जिन्हें एक सच्चा नीतिशास्त्र हमारे आचार-व्यवहारके लिये निर्धारित करना चाहता है। नीतिशास्त्र कभी गणनाकी वस्तु हो ही नहीं सकता। नैतिक मनुष्यके लिये केवल एक ही सुरक्षित नियम हो सकता है : 'शुभ' संबधी अपने सिद्धांत, अपनी सहजप्रवृत्ति, अंतर्दृष्टि एवं सहजज्ञानके प्रति दृढ़ रहना तथा इन सबके द्वारा अपने आचार-व्यवहारको नियंत्रित रखना। वह

गलती कर सकता है, परंतु सब भूलोंके होते हुए भी वह होगा ठीक रास्ते पर ही; कारण, इस दशामें वह अपनी प्रकृतिके नियमके प्रति सच्चा होगा। गीताका यह कहना सदा सत्य है कि अपनी प्रकृतिका धर्म, चाहे उसका पालन ठीक तरहसे न भी किया जाय, अधिक अच्छा है। दूसरेके धर्ममें भय है, चाहे ऊपरसे वह हमारे तर्कको कितना भी उत्तम क्यों न प्रतीत होता हो। किंतु नैतिक मनुष्यकी प्रकृतिका धर्म 'शुभ'का अनुसरण है, वह उपयोगिताका अनुसरण तो कभी हो नहीं सकता।

न ही इसका नियम उच्च या निकृष्ट प्रकारके सुख अथवा किसी प्रकारकी आत्मतुष्टिकी ही खोज है, चाहे वह कितनी सूक्ष्म या आध्यात्मिक ही क्यों न हो। यहाँ भी यह सत्य है कि सर्वोच्च हित अपने स्वभाव तथा आंतरिक प्रभाव दोनोंमें सर्वोच्च आनंद है। आनंद अर्थात् सत्ताका हर्ष समस्त जीवनका स्रोत है तथा वह वस्तु है जिसकी ओर यह बढ़ता है तथा जिसकी खोज यह अपने समस्त कार्योंमें, परोक्ष या अपरोक्ष रूपमें, करता है। यह भी सत्य है कि बढ़ते हुए सत्कर्म तथा किये हुए शुभकार्यमें बहुत अधिक सुख है और इस सुखकी खोज सत्कर्मकी खोजके लिये एक अवचेतन प्रेरणाके रूपमें वहाँ सदा विद्यमान रह सकती है। किंतु व्यावहारिक उद्देश्योंके लिये यह विषयका एक गौण पक्ष है, यह सुखको पुण्यकी कसौटी या मानदंड नहीं बनाता। इसके विपरीत, एक प्राकृतिक मनुष्यको पुण्यकी प्राप्ति अपनी सुखाभिलाषी प्रकृतिके साथ संघर्ष करके ही होती है और उसके लिये उसे प्रायः ही कष्टको जानबूझकर गले लगाना पड़ता है तथा दुःख उठाकर शक्तिको समुन्नत करना पड़ता है। हम कष्ट और संघर्षको इनसे मिलनेवाले सुखके लिये गले नहीं लगाते; कारण, वह उच्चतर तीव्रआनंद, चाहे वह हमारे अंदरकी गुप्त आत्मसत्ता द्वारा अनुभव किया गया हो, साधारणतया या शुरू-शुरूमें संघर्षकी क्षेत्रभूत हमारी सत्ताके सामान्य चेतन भागमें सचेतन नहीं होता। नैतिक मनुष्यका कार्य एक आंतरिक सुख द्वारा भी प्रेरित नहीं होता, बल्कि उसको प्रेरणा देनेवाली होती है। उसकी सत्ताकी पुकार, एक आदर्शकी आवश्यकता, एक पूर्ण आदर्शकी प्रतिमूर्त्ति तथा भगवान्‌का विधान।

हमारे आरोहणके बाह्य इतिहासमें यह पहले-पहले स्पष्ट रूपमें दिखायी नहीं देता, शायद बिलकुल ही दिखायी नहीं देता; वहाँ समाजमें मनुष्यका विकास उसके नैतिक विकासका निर्धारक कारण प्रतीत हो सकता है। कारण, नैतिकता शुरू तभी होती है जब उसकी वैयक्तिक अभिरुचि, उसके प्राणिक सुख या उसके भौतिक स्वार्थसे भिन्न किसी अन्य चीजकी उससे

माँगकी जाती है; और यह माँग प्रारंभमें उसके दूसरोंके साथ संबंधों तथा उसके सामाजिक अस्तित्वकी आवश्यकताओंके द्वारा उसपर क्रिया करती प्रतीत होती है। किंतु, यह विषयका सारतत्त्व नहीं है यह बात इस तथ्यसे स्पष्ट हो जाती है कि नैतिक माँग सदा ही सामाजिक मांगके अनुकूल नहीं होती और न ही नैतिक आदर्श सदा सामाजिक आदर्शके साथ मेल खाता है। इसके विपरीत, नैतिक मनुष्य प्रायः ही सामाजिक माँगका परित्याग करने, उसके साथ संघर्ष करने, सामाजिक आदर्शको तोड़ने, उससे दूर हटने तथा उसमें परिवर्तन लानेकी प्रेरणा अनुभव करता है। दूसरोंके साथ उसके संबंध तथा उसके अपने प्रति संबंध, दोनों ही, उसके नैतिक विकासके निमित्त होते हैं, किंतु जो वस्तु उसकी नैतिक सत्ताका निर्धारण करती है वह भगवान्‌के साथ उसका संबंध है, भगवान्‌की उसके अंदर प्रेरणा है, चाहे वह उसकी प्रकृतिमें छुपी पड़ी हो या उसकी उच्चतर सत्ता अथवा आँतरिकप्रतिभामें चेतन रूपमें विद्यमान हो। वह अंदर के आदर्शका अनुसरण करता है, किसी वाह्य मानदंडका नहीं। वह अपनी सत्ताके दिव्य विधानका पालन करता है, किसी सामाजिक माँग या सामूहिक आवश्यकताका नहीं। नैतिक आदेश उसे बाहरकी ओरसे नहीं वरन् उसके अपने अंदरसे तथा ऊपरसे मिलता है।

प्राचीन समयसे यह अनुभव किया जाता तथा कहा जाता रहा है कि यथार्थ-कर्म और पूर्ण आचार-व्यवहारके नियम देवताओंके, ऊर्ध्वस्थित सनातन सत्ताके नियम हैं; ये ऐसे नियम हैं जिन्हें मनुष्य चेतन रूपमें जानता है तथा जिनका पालन उसे करना होता है। तर्क-युगने इस विषयके संक्षिप्त विवरणको एक ऐसे अंधविश्वास अथवा एक काव्यमय कल्पनाके रूपमें माना है जिसका प्रकृति और संसारका इतिहास दोनों विरोध करते हैं। किंतु इस पुराने अंधविश्वास या कल्पनामें कुछ सत्य भी है जो इसके तार्किक खंडनकी पकड़से छूट जाता है और जिसे इसका तार्किक समर्थन भी, चाहे वह कांट (Kant) का निश्चयात्मक आदर्श हो या कुछ और, पूरी तरहसे पुनः प्रतिष्ठित नहीं कर पाता। यदि मनुष्यका सद्-असद्-विवेक उसकी अपनी विकसनशील प्रकृतिकी ही उपज है, यदि नैतिक विधानके बारेमें उसके विचार परिवर्तनशील हैं तथा विकासकी उसकी अवस्थापर निर्भर हैं, तो भी उनके मूलमें, उनके सब परिवर्तनोंमें कोई ऐसी नित्य वस्तु अवश्य है जो उसकी अपनी प्रकृति तथा साथ ही जगत्-प्रकृतिके मूलमें भी निहित है। और, यदि मनुष्य और जगत्‌की प्रकृति अपनी प्रारंभिक अवस्थाओंमें अवनैतिक और अववौद्धिक है, जिस प्रकार कि वह अपनी ऊँचाइयोंमें अतिनैतिक

तथा अतिबौद्धिक है, तो उस 'अवनैतिक' में भी कोई ऐसी वस्तु है जो सत्ताके मानव-स्तरपर नैतिक बन जाती है, और उधर 'अतिनैतिक' स्वयं भी 'नैतिक' की चरम अवस्था है और कोई भी ऐसा व्यक्ति जिसने लंबे नैतिक मार्गको तय न कर लिया हो इस अवस्था तक नहीं पहुँच सकता। नीचे समस्त वस्तुओंके अंदर निहित 'शुभ'का वह रहस्य छुपा पड़ा है जिसके पास मनुष्य जाता है तथा जिसे नैतिक सहज-प्रवृत्ति तथा नैतिक विचारके द्वारा वह कुछ-न-कुछ प्रकट करनेकी चेष्टा करता है; ऊपर वह सनातन 'शुभ' छुपा हुआ है जो हमारे अ शिक और खंडा-त्मक नैतिक विचारोंसे परे की वस्तु है।

हमारे नैतिक आवेग तथा कर्म भी और सबकी तरह अवबौद्धिकसे आरंभ होते हैं तथा उनका स्रोत भी अवचेतनमें है। वे 'यथार्थ' की सहज-प्रवृत्ति, एक सम्मत विधानके पालनकी सहज-प्रवृत्ति, श्रमके अंदर आत्म-दान, त्याग, आत्मत्याग, प्रेम तथा अपने-आपको अधीन कर देने और दूसरोंके साथ मिलकर रहनेकी प्रवृत्तिके रूपमें प्रकट होते हैं। शुरू-शुरूमें मनुष्य 'क्यों' और 'कैसे' की पूछताछके बिना ही विधान का पालन करता है, उसके लिये वह तर्कबुद्धिकी स्वीकृति नहीं चाहता। उसका पहला विचार यह होता है कि यह एक ऐसा विधान है जो उससे तथा उसकी जातिसे अधिक उच्च शक्तियों द्वारा बनाया गया है। वह प्राचीन कविके समान कहता है कि 'ये विधान कहाँसे आये हैं' यह मैं नहीं जानता मैं तो केवल यह जानता हूँ कि वे हैं और रहेंगे और इनका उल्लंघन करना भयसे खाली नहीं है। जिस वस्तुकी सहज-प्रवृत्तियाँ तथा आवेग खोज करते हैं, उसी वस्तुको तर्कबुद्धि हमें समझानेका प्रयत्न करती है, जिससे कि हमारी इच्छा शक्ति नैतिक आवेगोंका बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयोग कर सके तथा सहज-प्रवृत्तियोंको नैतिक विचारों में परिवर्त्तित कर सके। यह नैतिक सहज-प्रवृत्तिविषयक मनुष्यके असंस्कृत और प्रायः ही भ्रांतिपूर्ण निर्णयोंको ठीक करती है, उसके अस्तव्यस्त संयोगोंका विश्लेषण तथा परिशोधन करती है, उसके प्रायः ही संघर्षकारी नैतिक आदर्शोंके संबंधोंको यथासंभव अच्छी तरहसे दर्शाती है, उनकी विरोधी मांगोंके बीचमें समझौता करने तथा मध्यस्थका कार्य करनेका यत्न करती है, नैतिक कर्मकी किसी पद्धति और नियमकी व्यवस्था करती है। और यह सब ठीक भी है, यह हमारी प्रगतिकी एक अनिवार्य अवस्था है; किंतु अंतमें जिन नैतिक विचारोंको तथा जिस बुद्धिमत्तापूर्ण नैतिक संकल्पको तर्कबुद्धिने अपने नियंत्रणके अधीन शिक्षित करनेका यत्न किया है वे उसकी पकड़से निकल जाते हैं, तथा उसके क्षेत्रसे

बहुत परे ऊपर निकल जाते हैं। तर्कबुद्धिके शासन और नियंत्रणके अधीन रहते हुए भी उनके अंदर वह जन्मजात प्रवृत्ति सदा रहती है।

कारण, नैतिक सत्ता भी औरोंकी तरह पूर्ण-सत्ता अर्थात् भगवान्‌की ओर एक प्रगति है, उसकी एक खोज है जो सुरक्षित रूपमें केवल 'अति-बौद्धिक' में ही साधित हो सकती है। वह एक पूर्ण पवित्रताकी, एक पूर्ण यथार्थकी, एक पूर्ण सत्यकी, एक पूर्ण सामर्थ्यकी, एक पूर्ण प्रेम तथा आत्म-दानकी खोज करती है, और वह अत्यधिक संतुष्टि तभी लाभ करती है जब वह उन्हें पूरे अंशमें, बिना किसी सीमा, प्रतिबंध अथवा समझौतेके, दिव्य और असीम रूपसे तथा नैतिक सत्ताके देवता और उसकी रूपांतरित प्रतिमूर्त्तिके रूपमें प्राप्त कर सकती है। तर्कबुद्धि मुख्यतः उसीसे संबंध रखती है जिसे वह सर्वोत्तम ढंगसे समझती है, वह है प्रत्यक्ष प्रक्रिया, मशीनरी, बाह्य कर्म, उसका परिणाम और प्रभाव, उसकी परिस्थिति, उसका निमित्त और उद्देश्य; इनके द्वारा वह कर्म तथा कर्त्ताकी नैतिकताकी जाँच करती है, किंतु एक विकसित नैतिक सत्ता सहज-स्वभाववश ही जानती है कि वह किसी आंतरिक वस्तुकी खोज कर रही है तथा बाह्य कर्म तो केवल उसी आंतरिक पूर्ण और सनातन सत्ताको उसके आभ्यंतरिक प्रभावोंके द्वारा अपने अंदर प्रकट और अभिव्यक्त करनेका साधनमात्र है। हमारे कर्मोंका महत्व उतना उनके बाह्य स्वरूप और बाह्य परिणाममें नहीं है जितना कि इस तथ्यमें है कि वे हमारे अंदर स्थित दिव्य तत्त्वके विकास में कितनी सहायता पहुँचाते हैं। बाह्य आधारोंपर पूर्ण न्यायका, पूर्ण यथार्थ नीति तथा पूर्ण पवित्रताका, प्रेम या कर्मकी निःस्वार्थताका अथवा कर्मकी दिशाका औचित्य सिद्ध करना कठिन ही नहीं असंभव भी है। कारण, कर्म सदा सापेक्ष होता है, वह मिश्रित तथा अपने परिणामोंमें अनिश्चित एवं अपने निमित्तों और अवसरोंमें अबोधगम्य होता है। किंतु आंतरिक सत्ताका सनातन और पूर्ण 'शुभ' के साथ संबंध स्थापित करना तथा अपनी अनुभूति और इच्छाशक्तिको उससे इस प्रकार ओतप्रोत कर देना कि वह उसकी प्रेरणा या उसके सहजज्ञान और स्फुरणाओंके अनुसार ही कार्य करे अवश्य संभव है। इसीके लिये नैतिक सत्ता चेष्टा कर रही है तथा इसे ही उच्चतर नैतिक मनुष्य आंतरिक प्रयत्नोंमें अधिकाधिक प्राप्त कर रहा है।

वस्तुतः नैतिकता अपने मूलमें कर्मगत शुभ और अशुभकी गणना नहीं है, न ही यह एक ऐसा कठोर प्रयत्न है जो संसारके मानदंडोंके अनुसार निर्दोष प्रमाणित होनेके लिये किया जाता है—वे तो केवल स्थूल रूप हैं—

यह दिव्य प्रकृतिमें विकसित होनेका प्रयत्न है। इसके पवित्रतामय भाग भागवत सत्ताकी अविच्छेद्य पवित्रताके लिये अभीप्सा करते हैं, इसके सत्यमय और सदाचारमय भाग दिव्यज्ञान और दिव्यसंकल्पके नियमके साथ सचेतन एकता स्थापित करना चाहते हैं, इसके सहानुभूतिपूर्ण और उदारतामय भाग दिव्यप्रेमकी असीमता और व्यापकताकी ओर प्रगति कर रहे हैं, इसके शक्तिमय और पौरुषपूर्ण भाग दिव्यबल और शक्तिको उन्नत कर रहे हैं। यही इसके अर्थका मर्म है। इसकी उच्च उपलब्धि मनुष्यको तभी प्राप्त होती है जब कि उसकी सत्ता रूपांतरको साधित कर लेती है। तब उसके कर्म उसकी प्रकृतिका मानदंड नहीं होते, वरन् उसकी प्रकृति उसके कर्मोंका मूल्य निर्धारित करती है। तब वह यत्नपूर्वक पुण्यात्मा या कृत्रिम रूपसे सदाचारी नहीं बनता वरन् स्वाभाविक रूपसे दिव्य होता है। सक्रिय रूपमें भी वह पूर्णता और चरितार्थता तभी प्राप्त करता है जब कि वह न तो अवबौद्धिक आवेगके द्वारा और न ही तार्किक बुद्धि और संकल्पके द्वारा प्रेरित और परिचालित होता है, बल्कि जब उसे दिव्य ज्ञान और संकल्पसे, जो कि उसके स्वभावमें सचेतन रूप धारण कर लेते हैं, प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त होते हैं। और यह तभी किया जा सकता है जब कि पहले तो सहजज्ञानयुक्त मनके द्वारा हमें इन वस्तुओंका सत्य प्राप्त हो और इसके साथ-ही-साथ वह मन, अहंभाव, स्वार्थ, कामना, आवेश तथा समस्त प्रकारकी स्वेच्छाके आक्रमणसे सुरक्षित रह कर उत्तरोत्तर अपने-आपको शुद्ध करता जाय और अंतमें यह उस अतिबौद्धिक प्रकाश और शक्तिसे करना होता है जो अब बाहरसे प्राप्त नहीं होती वरन् मनुष्यकी सत्ताके अंदर ही विद्यमान रहती है तथा उसपर अपना अधिकार किये होती है। यही प्राचीन ऋषियोंका सर्वोच्च लक्ष्य था; उनके पास वह ज्ञान था जिसे बौद्धिक मनुष्य और बौद्धिक समाजने इसलिये अस्वीकार कर दिया है कि वह तर्कबुद्धिकी समझके लिये अत्युच्च सत्य है तथा सामान्य सीमित संकल्पकी शक्तियोंके लिये एक अत्यधिक साहसपूर्ण, विशाल एवं अति असीम प्रयत्न है।

अतएव जो बात सौंदर्य एवं अध्यात्मके सिद्धांतके लिए है वही शुभके सिद्धांतके लिये भी है। अपनी प्रथम सहज-प्रेरणाओंमें भी यह दिव्य एवं पूर्ण सत्ताकी एक अस्पष्ट खोज है; इसका लक्ष्य पूर्ण तुष्टि है, यह अपना सर्वोच्च प्रकाश तथा साधन उसी वस्तुमें प्राप्त करती है जो तर्कबुद्धिसे परे है। यह चरितार्थ तभी होती है जब इसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, जब यह मनुष्यके अंदर दिव्य सद्वस्तुकी कोई प्रतिमूर्ति स्थापित कर लेती

है। मनुष्यकी नैतिक सत्ता भी उसकी सौंदर्यात्मक और धार्मिक सत्ताकी तरह सनातनकी एक खोज है; यह अवबौद्धिक स्थितिसे आरंभ करके मध्यमें तर्कबुद्धिका आश्रय लेते हुए अतिबौद्धिक पूर्णता तक पहुँचती है।

सोलहवाँ अध्याय

जीवनकी अतिबौद्धिक परिणति

यह कहा जा सकता है कि मनुष्य अपने जीवनकी समस्त उच्चतर शक्तियोंमें प्राय: अंधवत् ही, भगवान्‌की खोज कर रहा है। अपने तथा संसारके अंदर भगवान् और सनातनसत्ताकी प्राप्ति करना और उनमें समस्वरता लाना, अपनी सत्ता एवं अपने जीवनका असीमके साथ सुर मिलाना उसकी प्रकृतिके इन भागोंमें उसका गुप्त उद्देश्य और उसकी भवितव्यता प्रतीत होते हैं। मनुष्य अपनी उच्चतम, विशालतम और पूर्णतम सत्ताको पानेका प्रयत्न करता है, और जिस क्षण वह उसके साथ जरा भी सम्पर्क प्राप्त कर लेता है उसी क्षण उसके अंदरकी यह सत्ता विश्वगत सत्य, शुभ एवं सौंदर्यकी किसी महान् आत्मा और सत्ताके साथ एकाकार होती दिखायी देती है; इस आत्मा एवं सत्ताको ही हम भगवान्‌का नाम देते हैं। आध्यात्मिक उपस्थितिके रूपमें इसे उपलब्ध करना धर्मका उद्देश्य है; प्रकाश, प्रेम, बल और पवित्रताके इसके सनातन स्वरूपके साथ उत्तरोत्तर सामंजस्य स्थापित करना नैतिकताका उद्देश्य है; इसके शाश्वत सौंदर्य और आनंदकी समस्वरताका उपभोग करना तथा अपनेको उसीके अनुरूप ढालना हमारी सौंदर्यात्मक आवश्यकता और प्रकृतिका उद्देश्य एवं चरम स्वरूप है; सत्यसंबंधी इसके सनातन सिद्धांतोंको जानना तथा उनका पालन करना विज्ञान, दर्शन और ज्ञानप्राप्तिके हमारे समस्त तीव्र प्रयत्नोंकी परिणति है।

किंतु यह सब हमारी सामान्य अभ्यस्त सत्तासे ऊपरकी वस्तु प्रतीत होती है; यह एक ऐसी वस्तु है जिसके अंदर हम विकसित होनेका प्रयत्न कर रहे हैं, यह व्यक्ति और समाजका, उनकी साधारण चेतना तथा उनके दैनिक जीवनमें, सामान्य तत्त्व, स्वाभाविक अस्तित्व अथवा वातावरण नहीं प्रतीत होता। सामान्य जीवन व्यावहारिक है, आदर्शवादी नहीं। इसका संबंध शुभ, सौंदर्य, आध्यात्मिक अनुभूति तथा उच्चतर सत्यसे नहीं वरन् स्वार्थों, भौतिक आवश्यकताओं, इच्छाओं एवं प्राणिक जरूरियातोंसे है। यही उसके लिये वास्तविक सत्य है, बाकी सब कुछ धूमिल-सा है; यही उसके सामान्य परिश्रमके क्षणोंकी वस्तु है, बाकी सब अवकाशके समयके लिये है;

यह उस पदार्थसे संबंधित है जिसका वह बना है, और बाकी सबका संबंध उसके साज-शृंगार और अनावश्यक सुधार-परिष्काररूपी भागोंसे है। इस शेष भागको समाज स्थान तो प्रदान करता है, किंतु उसका हृदय वहाँ नहीं है। वह नैतिकताको एक बंधन और प्रभावके रूपमें स्वीकार अवश्य करता है, पर वह नीतिसम्मत शुभके लिये जीता नहीं; उसके वास्तविक देवता प्राणिक आवश्यकता, उपयोगिता तथा शरीरकी इच्छाएँ हैं। यदि वह इस कारणसे कि प्राणिक आवश्यकता, कामना एवं उपयोगिता अनेक अहं-भावयुक्त व्यक्तियोंके द्वारा अपनी तृप्तिका यत्न करती हुई आपसमें संघर्ष करेंगी और अपने ही लक्ष्यका उन्मूलन कर डालेंगी, अपने जीवनको कुछ अंशमें नैतिक नियमोंके द्वारा संचालित करता भी है, तो भी वह अपने जीवनको पूर्ण रूपसे नैतिक बनानेकी प्रेरणा अनुभव नहीं करता। सौंदर्यकी तो वह और भी कम चिंता करता है; यदि वह सुन्दर वस्तुओंको सजावट और मन-बहलावके रूपमें या आँख, कान और मनकी तुष्टि एवं मनोरंजनके रूपमें स्वीकार कर भी ले, तथापि कोई चीज उसे अपने जीवनको सौंदर्यमय वस्तु बनानेके लिये अदम्य रूपसे प्रचालित नहीं करती। वह धर्मको पवित्र दिनोंमें, चर्च अथवा मंदिरमें, जीवनके अंतिम दिनोंमें जब कि आयु और मृत्युकी समीपता बलपूर्वक उसका ध्यान इस जीवनसे दूसरे जीवनकी ओर ले जाती है, एक निश्चित स्थान तथा भाग अवश्य देता है; ये सप्ताह या दिनकी वे नियत घड़ियाँ होती हैं जब कि वह एक क्षणके लिये संसारके कार्यसे अलग हटकर भगवान्‌को स्मरण करना उचित समझता है: किंतु समस्त जीवनको ही धर्ममय बनाना, सदा भगवान्‌को स्मरण करना या उसकी खोज करना एक ऐसी चीज है जो वस्तुतः उन समाजोंमें भी देखनेमें नहीं आती जो भारतवासियोंकी तरह आध्यात्मिकताको ही अपना उद्देश्य और सिद्धांत मानते हैं। दर्शनको तो वह और भी परकीय ढंगसे स्वीकार करता है; और यदि आजकल वह विज्ञानकी उत्सुकतापूर्वक खोज कर रहा है तो केवल इसलिये कि विज्ञान आश्चर्यजनक रूपमें उसकी प्राणिक इच्छाओं, आवश्यकताओं और अभिरुचियोंकी तुष्टिमें सहायता करता है: किंतु वह एक पूर्ण-नैतिक जीवनकी ही भाँति एक पूर्णवैज्ञानिक जीवनकी भी खोज करनेकी चेष्टा नहीं करता; इन दिशाओंमें अधिक पूर्ण प्रयत्न करनेका कार्य वह एक व्यक्ति पर, कुछ थोड़ेसे लोगोंपर, कुछ विशेष ढंगके व्यक्तियों—अर्थात् संत, नैतिक मनुष्य, कलाकार, विचारक, धार्मिक मनुष्य—पर छोड़ देता है। वह उन्हें एक पद दे देता है, उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करता है; जिन वस्तुओंका वे प्रतिनिधित्व करते हैं उन्हें भी एक निश्चित

स्थान दे देता है, किंतु अपने लिए वह मुख्यतया प्राणिक संतुष्टि, प्राणिक आव-श्यकता और उपयोगिता एवं प्राणिक कुशलताके अपने अंतर्जात सिद्धांतका पालन करनेमें ही संतोष अनुभव करता है।

और इसका कारण यह है कि यहाँ हम अपनी सत्ताकी एक दूसरी ही शक्ति तक पहुँचते हैं जो नैतिक, सौंदर्यात्मक, बौद्धिक तथा धार्मिक शक्तिसे भिन्न है; यह एक ऐसी शक्ति है जिसे हम निम्न स्तरकी भी समझें, तो भी वह अपनी वास्तविकतापर बल देती है। उसे अपना अस्तित्व रखनेका ही अधिकार नहीं है, वरन् अपनी तुष्टि प्राप्त करने तथा अपने-आपको चरितार्थ करनेका भी पूरा अधिकार है। यह सचमुच ही एक प्राथमिक शक्ति है, यह पृथ्वी पर हमारे अस्तित्वका आधार है। यह वह शक्ति है जिसे अन्य शक्तियाँ अपना प्रारंभ-विंदु तथा आधार मानती हैं। यह हमारे अंदरकी जीवनशक्ति है, प्राणमय एवं गतिशील प्रकृति है। इसका समस्त सिद्धांत और उद्देश्य ही बने रहना, अपने अस्तित्वकी तुष्टि करना, वृद्धि एवं विस्तार प्राप्त करना तथा अधिगत और उपभोग करना है। इसके स्वाभाविक लक्षण सत्ताओंका विकास, आनंद और शक्ति हैं। स्वयं जीवन यहाँ एक ऐसी 'सत्ता' है जो 'स्थूल पदार्थ' के अंदर चेतन शक्तिके रूपमें अपने-आपको व्यक्त करनेका प्रयत्न कर रही है। मानवजीवन भी एक ऐसी मानव-सत्ता है जो अधिकतम संभव शक्ति, तीव्रता एवं विस्तारके साथ भौतिक जगत्पर अपना सिक्का जमानेका यत्न कर रही है। मानव-सत्ताका पहला आग्रहपूर्ण उद्देश्य जीना तथा संसारमें अपने लिये और साथ ही अपनी जातिके लिये स्थान बनाना है, अपना स्थान बना लेनेके बाद उसका दूसरा उद्देश्य सदा विस्तृत रूपमें अधिगत करना, उत्पादन करना तथा उपभोग करना है। अंतिम उद्देश्य अपने-आपको समस्त पार्थिव जीवनपर फैला देना तथा उसपर अधिकार जमाना है, यह उसका प्रथम वास्तविक कार्य है और ऐसा होना आवश्यक भी है। इसी बातको डार-विनके अनुयायियोंने 'जीवनके लिये संघर्ष'-संबंधी अपने विचारके द्वारा व्यक्त करनेका प्रयत्न किया है। किंतु संघर्ष केवल अस्तित्व बनाये रखने या जीवित रहनेके लिये ही नहीं है, वरन् वृद्धि प्राप्त करने, उपभोग तथा अधिगत करनेके लिये भी है। इसकी प्रणाली केवल अहंभावके किसी सिद्धांत और सहज-प्रवृत्तिको ही समाविष्ट तथा प्रयुक्त नहीं करती बल्कि साहचर्यके सहवर्ती सिद्धांत और सहज-प्रवृत्तिको भी समाविष्ट और प्रयुक्त करती है। मनुष्य-जीवन दो समान शक्तिशाली प्रेरणाओं द्वारा गतिशील होता है, एक प्रेरणा वैयक्तिक स्व-प्रतिपादनकी है और दूसरी सामूहिक

स्व-प्रतिपादन की। वह संघर्षके द्वारा कार्य करता है, किंतु साथ ही उसे पारस्परिक सहायता तथा संयुक्त प्रयत्नकी भी आवश्यकता होती है। वह कार्यके दो विभिन्न पर एकोन्मुखी स्वरूपों, दो ऐसे उद्देश्योंका प्रयोग करता है जो परस्परविरोधी प्रतीत होते हैं किंतु वास्तवमें सदा साथ-साथ रहते हैं, उनमेंसे एक प्रतियोगीय प्रयत्न है और दूसरा सहयोगी प्रयत्न। जीवनकी गतिशीलताके इसी स्वभावसे मानवसमाजका सारा ढांचा बना है और इसी गतिशीलताके दढ़ और सामर्थ्यपूर्ण कर्मपर ही समस्त मानव-समाजोंकी स्थिरता, शक्ति एवं विकास निर्भर करते हैं। यदि उनके अंदरकी यह जीवन-सामर्थ्य नष्ट हो जाय और ये प्रेरक शक्तियाँ अपना स्वत्व खो वैठें तो सव कुछ निर्वल और क्षीण होता जायगा और अंतमें विघटन की ओर वढ़ने लगेगा।

यह प्राणिक गतिशीलता समाजके निर्माण और पोषणमें जो प्रथम और प्रधान भाग लेती है उसीपर आधुनिक यूरोपका समाजसंवंधी विचार आधारित है। कारण, जबसे टचूटौनिक मन और स्वभावने पश्चिमी यूरोपपर अधिकार कर लिया है, एक यूरोपवासी मूल रूपमें व्यावहारिक, गतिशील और सक्रिय मनुष्य वन गया है अर्थात् अपने विचार और अपनी सत्ताके मूल तक प्राणिक मनुष्य वन गया है। और सव कुछ तो उसके जीवन तथा उसकी संस्कृतिका सुन्दर पुष्पमात्र रहा है, किंतु यह उसकी जड़ तथा उसका तना रहा है। उसके स्वभावका यह सत्य जो सदासे विद्यमान रहा है आधुनिक समयमें वलपूर्वक ऊपरी तलपर आ गया है तथा उसने ईसाई भक्ति तथा लैटिन संस्कृतिकी परंपराओंपर विजय प्राप्त कर ली है। प्राणमय मनुष्य और उसके उद्देश्योंका यह विजयशील अभ्युदय और उनकी प्रमुखता उन्नीसवीं शताव्दीकी महान् आर्थिक और राजनीतिक सभ्यताका समस्त अर्थ है। व्यावहारिक मानवकी सहज-प्रवृत्तियोंके लिये सामाजिक जीवनके तीन कार्य हैं: मनुष्यका घरेलू तथा सामाजिक जीवन—सामाजिक वह उन प्रचलित संवंधोंके अर्थमें होता है जो वह व्यक्तिके रूपमें तथा साथ ही कुटुंवके एक अन्यतम सदस्यके रूपमें दूसरोंके साथ रखता है; दूसरे उसके उत्पादक धनसंग्रही और उपभोक्ताके रूपमें आर्थिक कार्य हैं; तीसरे प्रकारके कार्य उसकी राजनीतिक स्थिति तथा कर्मके साथ संवंध रखते हैं। समाज इन तीनों कार्योंका एक संगठन है तथा मूल रूपमें वह एक व्यावहारिक मनुष्यके लिये इससे अधिक कुछ नहीं है। शिक्षा और विज्ञान संस्कृति, नीतिशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र और धर्म केवल जीवनके लिये, उसके मार्गप्रदर्शन तथा कल्याणके लिये, उसके साज-शृंगारके लिये, उसके प्रयत्नों, दुःखों और

उसकी कठिनाइयोंके समय उसे ढाढ़स बंधानेके लिये सहायकके रूपमें ही माने जाते हैं, वे उसके वास्तविक सारतत्त्वका कोई अंग नहीं हैं और न ही उसके मूल उद्देश्योंका भाग हैं। जीनेका उद्देश्य स्वयं जीवन ही है।

प्राचीन लोगोंका इससे भिन्न, वस्तुतः इससे विलकुल ही विरुद्ध मत था। यद्यपि वे प्राथमिक कार्योंका, जो कि एशियामें सामाजिक थे और यूरोपमें राजनीतिक, अत्यधिक महत्व स्वीकार करते थे,—जैसा कि प्रत्येक समाजको, यदि वह जीवित रहना तथा फलना-फूलना चाहता है, करना चाहिये,—किंतु फिर भी ये कार्य उनके लिये शब्दके उच्चतर अर्थोंमें प्रधान कार्य नहीं थे, ये मनुष्यके प्राथमिक कार्य तो थे पर उसके प्रमुख कार्य नहीं। प्राचीन लोग इस जीवनको बौद्धिक, नैतिक, सौंदर्यात्मक तथा आध्यात्मिक सत्ताके विकासका अवसर समझते थे। ग्रीस और रोम केवल पहले तीनपर वल देते थे, एशिया एक पग और आगे बढ़ा, उसने इन्हें गौण रूप दे दिया तथा आध्यात्मिक परिणतिके लिये इन्हें सोपानके रूपमें स्वीकार किया। ग्रीस और रोमको अपनी कला तथा अपने काव्य और दर्शनपर अत्यधिक गर्व था। वे इन वस्तुओंको अपनी राजनीतिक स्वाधीनता तथा महानताके समान ही, वल्कि उनसे भी अविक प्रिय मानते थे। एशियाने भी इन तीनों शक्तियोंको खूब विकसित किया तथा अपने सामाजिक संगठनको अत्यधिक महत्व दिया, किंतु उसने अपने संतों, धर्म-संस्थापकों और विचारकों तथा अपने आध्यात्मिक वीरोंको और भी अधिक महत्त्व दिया, उनकी अत्यधिक गंभीरतापूर्वक पूजा की। उधर आधुनिक जगत्‌को अपने आर्थिक संगठनपर, अपनी राजनीतिक स्वाधीनता, व्यवस्था एवं उन्नतिपर, अपने सामाजिक एवं पारिवारिक जीवनकी यांत्रिक-रचना, उसके सुख और आराम पर तथा उसके व्यावहारिक जीवनमें अत्यधिक काममें आनेवाले विज्ञानपर सर्वाधिक गर्व रहा है। वह उसके इन यंत्रों और साधनों अर्थात् रेल, तार, जलयान तथा अन्य हजारों अन्वेषणों, अनगिनत आविष्कारों तथा इंजनों पर गर्व करता है जो मनुष्यको भौतिक जगत्‌पर विजय प्राप्त करनेमें सहायता पहुँचाते हैं। यह वात ही मनोवृत्तिके समस्त भेदको सूचित करती है।

इस वातपर वहुत कुछ निर्भर है। कारण, यदि जीवन और समाजका व्यावहारिक और प्राणिक दृष्टिकोण ठीक है, यदि समाजका अस्तित्व केवल या मुख्यतया मानवजातिके पोषण, आराम, प्राणिक सुख तथा राजनीतिक और आर्थिक कुशलताके लिये ही है, तो हमारा यह विचार कि जीवन भगवान् तथा उच्चतम सत्ताकी खोजके लिये है और समाज को भी एक दिन इसीको अपना सिद्धांत वनाना होगा टिक नहीं सकता। आधुनिक

समाज, कम-से-कम अपने स्वचेतन उद्देश्यमें, ऐसे किसी भी प्रयत्नसे कोसों दूर है; उसकी सफलताकी चमक-दमक जो कुछ भी हो, वह केवल दो देवताओंको मान्य देता है : जीवनको और व्यावहारिक तर्कबुद्धिको जो विज्ञान के अधीन संगठित है। अतएव, इस महान् प्राथमिक वस्तुपर, अर्थात् इस जीवनशक्ति तथा इसके अभिव्यक्त रूपोंपर हमें विशेष ध्यानपूर्वक दृष्टि डालनी चाहिये और यह देखना चाहिये कि इसका सच्चा स्वरूप क्या है, साथ ही यह भी कि इसका प्रकट रूप क्या है। वैसे इसका प्रकट रूप तो काफी परिचित है, क्योंकि उसीसे हमारे दैनिक जीवनका मूलतत्त्व और वर्तमान रूप बना है। इसके मुख्य आदर्श हैं व्यक्ति एवं समाजका भौतिक शुभ, प्राणिक सुख-सुविधा, शारीरिक स्वास्थ्य, दीर्घ जीवन, सुख-आराम, भोग-विलास, धनसंपत्ति, मनोरंजन, मनबहलावसंबंधी इच्छाकी पूर्ण तुष्टि, लाभप्रद कार्य तथा उत्पादनके लिये मन और गतिशील जीवनशक्तिका सतत एवं अथक प्रयोग; साथ ही इस चंचल एवं सर्वभक्षी शक्तिके उच्चतर ज्वालामय आवर्तोंके रूपमें विभिन्न प्रकारके सृजन तथा कई प्रकारकी सफलताएँ, युद्ध, आक्रमण, उपनिवेशोंका निर्माण, अन्वेषण, व्यापारिक विजय, यात्रा, साहसिक कार्य और पृथ्वीपर पूर्ण अधिकार एवं उसका पूर्ण उपयोग भी इसके आदर्श हैं। यह समस्त जीवन पुराने विद्यमान रूपों अर्थात् कुटुंब, समाज और राष्ट्रको अपने ढाँचेके रूपमें लेता है; इसकी दो प्रवृत्तियाँ हैं, वैयक्तिक और सामूहिक।

जीवनकी पहली प्रवृत्ति वैयक्तिक है, यह पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवनको प्राणमय व्यक्तिकी बृहत्तर तुष्टिका साधन बनाती है। परिवारमें व्यक्ति अधिकार-भावनाकी प्राणिक सहज-प्रवृत्तिकी तुष्टि तथा साथ ही साहचर्यके आनंद एवं संतति-उत्पादनकी अन्य प्राणिक सहज-प्रवृत्तिकी परिपूर्त्ति भी चाहता है। पत्नी, दास-दासी, गृह, धन-संपदा एवं भूसंपत्तिपर अधिकार, अपनी संततिके शरीर और मनमें अपने अधिकांश भागकी प्रतिमूर्त्ति बनाना तथा अपने कार्यों, लाभों एवं संपदाओंको अपने बच्चोंके जीवनमें चिरस्थायी बनाना उसकी प्राप्तियाँ हैं। प्रसंगवश वह उन प्राणिक और भौतिक सुखों तथा आवेग एवं प्रेमके अधिक मनोमय सुखोंका उपभोग भी करता है जो उसे पारिवारिक जीवन-क्षेत्रमें प्राप्त होते हैं। समाजमें उसे अपने तथा अपनी सहज-प्रवृत्तियोंके कम घनिष्ठ पर बृहत्तर विस्तारकी प्राप्ति होती है। साहचर्य और आदान-प्रदानका अधिक विस्तृत क्षेत्र, सम्मिलित प्रयत्न और उत्पादन, आत्यंतिक अथवा सामुदायिक सुख, तुष्ट भावना, उत्तेजनापूर्ण संवेदन तथा नियमित मनोरंजन ही वे लाभ हैं जो उसे सामा-

जिक जीवनके साथ बाँधते हैं। राष्ट्र एवं उसके अंगभूत भागोंको वह शक्ति और विस्तारके दूरवर्त्ती पर फिर भी विशाल भावकी क्रीड़ाका साधन मानता है। यदि उसके अंदर शक्ति हो तो उसे वहाँ यश, प्रसिद्धि और नेतृत्व प्राप्त होते हैं, या फिर इससे कुछ निचले स्तरपर उसे, सार्वजनिक कार्यके एक छोटे अथवा विशाल क्षेत्रमें, छोटे या बड़े पैमानेपर प्रभावशाली कर्तृत्वकी अनुभूति होती है। यदि वह इसे प्राप्त न कर सके, तो भी एक महान् सामुदायिक कर्म और प्राणिक विस्तारके वर्ग, शक्ति तथा वैभव में वह एक प्रकारका अपना भाग, एक वास्तविक अंश या उसकी काल्पनिक प्रतिमूर्त्ति तो अनुभव कर ही सकता है। इस सबमें प्रमुखतः प्राणिक सहज-प्रवृत्तिका वह वैयक्तिक सिद्धांत कार्य करता है जिसमें हमारी प्रकृतिकी उस गतिका प्रतियोगीय पक्ष सहकारी पक्षके साथ सहयोग करते हुए भी उसका प्रभु बनकर रहता है। जब इस प्रभुत्वकी अति हो जाती है तो यह एक ऐसे लक्ष्यारोहीके आदर्शकी रचना करता है जिसके लिये परिवार, समाज और राष्ट्र इतने समवेदनात्मक क्षेत्र नहीं रहते जितने कि वे उसके लिये ऊपर चढ़नेके सोपान बन जाते हैं अथवा भक्षण करनेके लिये शिकार और विजित एवं नियंत्रित करने योग्य वस्तु बन जाते हैं। अपनी चरम अवस्थाओंमें व्यक्तिवादी प्रवृत्ति सहचारी उद्देश्यको छोड़ देती है, आरंभिक समाज-विरोधी भावनाकी ओर लौट जाती है तथा एक वनजारेको, साहसपूर्ण कार्य करनेवाले, निर्जन वनोंमें घूमनेवाले अथवा एक विशुद्ध एकांतवासीको जन्म दे देती है—एकांतवासी वह किसी बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक प्रेरणाके कारण नहीं वरन् इसलिये होता है कि समाज जो कि कभी साधन था अब एक बंदीगृह, बोझ तथा उसके विस्तारके लिये उग्र बाधा बन जाता है; उसमें अब उसके लिये श्वास लेने तथा पैर फैलानेके लिये भी जगह नहीं रहती। किंतु अब ऐसी अवस्थाएँ कम देखनेमें आती हैं, क्योंकि आधुनिक समाजके सर्वत्र पहुँचनेवाले बाहु अब सब जगह अपना अधिकार जमाये हुए हैं। शीघ्र ही ऐसा समय आयगा जब कि बद्दू अथवा एकांतवासीके लिये कोई भी आश्रयस्थल नहीं बचेगा, शायद 'सहारा मरुस्थल' या हिमालयके सुरक्षित दूरवर्त्ती प्रदेश भी नहीं। यह भी हो सकता है कि एक ऐसा सामुदायिक समाज जो अपने संगठनके प्रत्येक वैयक्तिक 'कोष्ठक' को अधिकसे अधिक व्यावहारिक, आर्थिक और क्रियात्मक उपयोगमें लाना चाहता है हमारे अंदरके एकांत आश्रयस्थलको भी छीन ले।

कारण, यह वृद्धिशील सामुदायिक अथवा सहकारी प्रवृत्ति मनुष्यमें प्राणिक या व्यावहारिक सत्ताकी दूसरी सहज-प्रवृत्तिको मूर्त्त रूप देती है।

पहले तो यह पारिवारिक आदर्शके रूपमें हमारे सामने आती है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने-आपको गौण बना लेता है तथा अपनी प्राणिक तुष्टि एवं व्यावहारिक हेतु अपने अत्यधिक प्रबल व्यक्तित्वमें नहीं वरन् एक अधिक बड़े प्राणिक अहंके जीवनमें उपलब्ध करता है। जीवनके प्राचीन संभ्रांत विचारोंमें इस आदर्शका एक बड़ा भाग रहा है। यह कुल और कुलधर्मके प्राचीन भारतीय विचारमें विद्यमान था और पीछेके भारतमें यह सम्मिलित परिवारकी उस पद्धतिकी जड़में भी था जो मध्यकालीन हिन्दूधर्मकी दृढ़ आर्थिक आधारशिला थी। अंगरेजोंके कौटुंबिक 'फिलस्तीन' (सभ्य-बर्बर) के आदर्शमें इसने स्थूलतम वैश्यका रूप ग्रहण किया, यह विचार उस मानव-व्यक्तिका है जिसने कोई व्यवसाय या धंधा करने, व्याह एवं संतति उत्पन्न करने, जीविका कमाने, यदि वह उपयोगी अथवा आडंबरकी वृद्धि करनेवाला धन इकट्ठा नहीं कर सकता तो कम-से-कम उचित रूपमें सफल होने तथा कुछ समयके लिये उपभोग करने और तब मर जानेके लिये जन्म लिया है; इस प्रकार वह समस्त कार्य कर लेता है जिसके लिये उसने शरीर धारण किया था, साथ ही वह जीवनके अपने आवश्यक कर्तव्यका भी पालन कर लेता है,—कारण, प्रकट रूपमें यही तो वह लक्ष्य था जिसके लिये मनुष्यने अपनी दिव्य संभावनाओंके साथ जन्म लिया था! किंतु यह कोई भी रूप ग्रहण करे, इस स्थूल भावको कितना भी संस्कृत अथवा मृदुल बना दिया जाय तथा कोई भी नैतिक अथवा धार्मिक विचार इसके साथ जोड़ दिये जायँ, तो भी परिवार मूल रूपमें सदा ही एक व्यावहारिक, प्राणिक एवं आर्थिक रचना रहेगा। यह केवल एक बृहत्तर प्राणिक अहं, एक जटिलतर प्राणिक संघटन है जो व्यक्तिको लेकर उसे एक अधिक प्रभावशाली प्रतियोगीय और सहकारितापूर्ण जीवनकी इकाईमें परिवेष्टित कर लेता है। व्यक्तिके समान परिवार भी बने रहनेके लिये, प्राणिक संतुष्टि तथा कल्याणके लिये और अभिवृद्धि एवं उपभोगके लिये समाजको अपना क्षेत्र एवं साधन मानता है तथा इसी रूपमें उसका प्रयोग करता है। किंतु इस जीवन-इकाईको भी, इस बहुविध अहंको भी जीवन की सहकारितापूर्ण सहजप्रवृत्तिके द्वारा अपने अहंकारको समाजके अधिकारोंके अधीन कर देनेके लिये प्रेरित किया जा सकता है, आवश्यकता पड़नेपर उसे समुदायकी वेदीपर अपना बलिदान कर देनेकी भी शिक्षा दी जा सकती है। कारण, समाज तो एक और भी अधिक विस्तृत प्राणिक, प्रतियोगीय एवं सहकारितापूर्ण अहं है, यह व्यक्ति और कुटुंब दोनोंको एक अधिक जटिल संघटनोंमें समाविष्ट कर लेता है तथा अपनी प्राणिक

आवश्यकताओं, माँगों, हितों एवं अभिवृद्धिकी, अपने कल्याण और उपभोगकी सामूहिक संतुष्टिके लिये उनका प्रयोग करता है। व्यक्ति एवं कुटुंब इस शोषणके लिये उसी कारणसे सहमत हो जाते हैं जिस कारणसे व्यक्ति कुटुंबका जुआ धारण करनेके लिये प्रेरित हुआ था, क्योंकि इस अधिक विस्तृत प्राणिक जीवनमें उन्हें अपने लक्ष्यकी प्राप्ति होती है तथा इसमें उन्हें अपनी महत्तर वृद्धि, सुरक्षा एवं तुष्टिकी सहज-प्रेरणा मिलती है। समाज अपने उद्देश्यों एवं स्वभावमें कुटुंबसे भी अधिक मूलतः आर्थिक होता है। आधुनिक समाजवादी विचारोंके मुख्यतया आर्थिक एवं जड़वादी स्वभावका यही कारण है, क्योंकि ये विचार सामुदायिक जीवनकी इस सहजप्रवृत्तिका पूर्ण बुद्धिवादी विकास हैं। किंतु समाज चूँकि अपने जैसी अनेक इकाइयोंमेंसे एक प्रतियोगीय इकाई है और चूँकि दूसरी इकाइयोंके साथ इसके पहले संबंध सदा ही प्रच्छन्न रूपमें विरोधी होते हैं, नहीं तो अधिकसे अधिक प्रतिस्पर्धापूर्ण एवं असहयोगी तो होते ही हैं और उन्हें उसी दृष्टिसे संगठित भी करना होगा, सामाजिक जीवनमें आवश्यक रूपसे राजनीतिक भाव भी मिल जाता है और कुछ समयके लिये तो यह राजनीतिक भाव आर्थिक भावपर आधिपत्य भी जमा लेता है और तब हमें राष्ट्र अथवा राज्यकी उपलब्धि होती है। यदि हम सामुदायिक अस्तित्वके मूलभूत गुणों तथा उद्देश्योंको उनका उचित मूल्य प्रदान करें तो यह पर्याप्त रूपमें स्वाभाविक प्रतीत होगा कि समाजके सामुदायिक और सहकारितापूर्ण विचारके विकासका चरम परिणाम, जीवन, समाज एवं सभ्यतासंबंधी परिणाम, आर्थिक और राजनीतिक आदर्शोंकी अत्यधिक उग्र एवं भयंकर रूपमें अतिवृद्धि ही होगा।

अब प्रश्न यह है कि मानव-सत्ताके उच्चतर भाग, उसके अंदरकी सूक्ष्मतर शक्तियाँ जो अधिक प्रत्यक्ष रूपमें उसकी दिव्य प्रकृतिके विकासकी ओर अग्रसर होती हैं, इस प्राणिक सहजप्रवृत्ति अथवा इसके विशाल आधुनिक विकासके साथ क्या संबंध रखेंगी? प्रत्यक्षतः, उनकी पहली प्रवृत्ति उन्हें अधिकृत करने तथा इस समस्त असंस्कृत जीवनपर आधिपत्य जमाने एवं उसे अपनी प्रतिमूर्त्तिमें रूपांतरित करनेकी होगी; किंतु जब उन्हें यह पता लगेगा कि यहाँ उनसे पृथक् एक और भी शक्ति विद्यमान है जो उन्हींके समान आग्रहशील है और उन्हींके समान निजी तुष्टि चाहती है और कुछ हद तक किंतु पूरी तरहसे नहीं, मानों अनिच्छापूर्वक, आंशिक तथा असंतोष-जनक रूपमें, उनके प्रभावको स्वीकार करती है, तब क्या होगा? हम प्रायः देखते हैं कि विशेषतया नीतिशास्त्र तथा धर्म जब प्राणिक सहज-

है जो अवबौद्धिक एवं सहज-प्रेरणात्मक है ; यह उसके प्रथम निजी विकास का स्थूल स्वभाव है और प्रकाशदायी तर्कके उत्तरोत्तर प्रयोग द्वारा शिक्षित होनेपर भी वैसा ही बना रहता है। प्रत्यक्ष ही इस प्राकृतिक रूपमें यह अवस्था एक पार्थिव एवं स्थूल वस्तु है, यह मिट्टीकी बनी है, यहाँ तक कि यह बीभत्स कुरूपता, निष्ठुर भूलों तथा कठोर और कटु विरोधोंसे परिपूर्ण है; पर नैतिकता, सौंदर्य-विज्ञान और धर्ममें भी तो अववौद्धिक अवस्था ऐसी ही होती है। यह भी सत्य है कि यह इन दूसरोंसे कहीं अधिक कठिनाई उपस्थित करती है, अधिक मौलिक और दुराग्रहपूर्ण रीतिसे उत्कर्षका विरोध करती है, जिसका कारण यह है कि यह स्वयं अववौद्धिकका प्रदेश है, निश्चेतनमें से चेतनकी पहली रचना है तथा सत्ताके मानदंडमें उसके अत्यधिक निकट है। किंतु यदि इसपर उचित रीतिसे ध्यान दिया जाय तो इसमें हमें शक्ति, सौंदर्य, महानता, हित, वलिदान, पूजा और दिव्यताके समृद्ध तत्त्व भी मिलेंगे; यहाँ भी उच्च स्तरोंके देवता विद्यमान हैं जो आवृत हैं, पर फिर भी ज्योतिर्मय हैं। अभी पिछले दिनों तक और अब भी तर्कवुद्धिने दर्शनके वेशमें नहीं किंतु विज्ञानके वेशमें यह प्रस्ताव किया है और आज भी उत्तरोत्तर वलपूर्वक कर रही है कि वह इस वौद्धिक और प्राणिक जीवनको हाथमें लेकर इसे एकमात्र तर्कवादकी शक्तिके द्वारा, प्राकृतिक नियमों, समाजशास्त्र, शरीर-विज्ञान, जीव-विज्ञान और स्वास्थ्य-विद्याके ज्ञानके द्वारा तथा समष्टिवाद, राज्यशिक्षा, एक नयी मनोवैज्ञानिक शिक्षा तथा इसी प्रकारके अनेक अन्य साधनोंके द्वारा पूर्ण वनाये। अपने ढंगसे तथा अपनी सीमाओंमें यह सव ठीक है किंतु यह पर्याप्त नहीं है और इसमें सच्ची संतोषपूर्ण सफलता कभी प्राप्त हो भी नहीं सकती। एक उच्च आदर्शात्मक, वौद्धिक, सौंदर्यात्मक, नैतिक तथा धार्मिक संस्कृतिके रूपमें तर्कवुद्धिका प्राचीन प्रयत्न केवल प्राणिक मनुष्य और उसकी सहज-प्रवृत्तियोंको एक अधूरे अनुशासनमें लानेमें ही सफल हुआ था और कभी-कभी तो यह सफलता एक आदिम असभ्य वर्वरको ऊपरसे साफ करने, चमकाने, वस्त्र पहनाने तथा शिष्टाचार सिखाने तक ही सीमित होती थी। मनुष्य और उसके जीवनके एक उदार और पूर्णरूपेण वौद्धिक, उपयोगितावादी और कुशल शिक्षण तथा संगठनके रूपमें तर्कवुद्धिका आधुनिक प्रयत्न भी कोई अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर रहा है, यद्यपि वह भविष्यमें अधिक पूर्ण परिणामोंकी आग्रहपूर्ण पर सदा ही मिथ्या आशा दिलाता रहता है। यदि हमारा जीवनविषयक सिद्धांत ठीक है, यदि प्राणिक शक्तिके इस विशाल संघातके अंदर 'अतिवौद्धिक' एक वंदी-रूपमें उपस्थित है, यदि

इसके अंदर,—क्योंकि उस दशामें ऐसा होना ही चाहिये—अपने अंध प्रयत्नोंमें छिपे हुए किसी दिव्य, निरपेक्ष और अनंत सत्ताको प्राप्त करनेके लिये सहज अभीप्सा विद्यमान है, तो ये प्रयत्न वस्तुतः सच्ची सफलता प्राप्त कर भी नहीं सकते। यहाँ भी तर्कबुद्धिका अतिक्रमण करना होगा, या फिर उसे स्वयं ही अपनेको अतिक्रम करके भगवान् तक पहुँचनेका एक मार्ग वन जाना होगा।

जव अतिभौतिक हमारी सत्ताके किसी भागको अधिकृत करनेके लिये हस्तक्षेप करता है, तो उसका पहला चिह्न पूर्ण आदर्शोका विकास होता है; और क्योंकि जीवन 'सत्ता' और 'शक्ति' है, सत्ताकी दिव्य अवस्था एकता है और शक्तिके अंदरकी 'दिव्यशत्ता' शक्तिस्वरूप भगवान् है जो कि अधिकृत कर रहे हैं, पूर्ण प्राणिक आदर्शोको भी इसी तरहका होना चाहिये। और ये कहीं न पाये जाते हों ऐसी वात नहीं है। यदि हम मनुष्यके घरेलू और सामाजिक जीवनको लें, तो वहाँ हमें इनके चिह्न कई रूपोंमें मिलेंगे। किंतु हमें केवल यह देखना है—चाहे वर्तमान उसे भी कितने भी अपूर्ण और अस्पष्ट रूपमें क्यों न प्रस्तुत करता हो—कि किस प्रकार प्रेम आत्मोपलव्धिके लिये, अपनी परम अवस्था तक पहुँचनेके लिये प्रयत्न करता है; पुरुष और स्त्रीका निरपेक्ष प्रेम, मातापिता और वहन-भाईका निरपेक्ष प्रेम, मित्रों और साथियोंका प्रेम, देश और मनुष्यजातिका प्रेम इसके उदाहरण हैं। ये आदर्श जिनके वारेमें कवियोंने सदा ही प्रशंसाके गीत गाये हैं, केवल झूठी चमक या भ्रांतिकी वस्तु नहीं हैं, चाहे हमारी सहजप्रेरित और अवबौद्धिक जीवन-प्रणालीके अहंकार और भेदभाव कितना भी इसका विरोध क्यों न करते हों। अपूर्णता या विरोधी प्राणिक गतियों द्वारा सदा ग्रस्त रहते हुए भी ये दिव्य संभावनाएँ हैं जिन्हें सत्ताके साथ सत्ताकी आध्यात्मिक एकतामें विकसित होनेका पहला साधन बनाया जा सकता है। कतिपय धार्मिक पद्धतियोंने इस सत्यको समझ लिया है और इन संवंधोंको साहसपूर्वक स्वीकार करके भगवान्के साथ हमारी आत्माके मिलनमें इनका प्रयोग भी किया है; और एक विपरीत प्रक्रियाके द्वारा वे अपने वर्तमान सामाजिक और भौतिक रूपोंसे ऊपर उठकर हमारे लिये तुच्छ पार्थिव वस्तुएँ नहीं, जो कि वे अव हैं, वरन् भगवान्की, जो कि मनुष्यके अंदर जीवनके रूपमें अपनी परिपूर्त्ति कर रहा है, गंभीर, सुन्दर और अद्भुत गति-विधियाँ वन सकते हैं। जीवनका समस्त आर्थिक विकास ही अंतमें पशुसम मलिनता और दरिद्रतासे मुक्ति पाने,—जवर्दस्ती लादी गयी दरिद्रताका वास्तविक अर्थ यही है—तथा मनुष्यको दिव्य सुख एवं देवताओंका विश्राम प्रदान करनेके प्रयत्नका रूप धारण कर लेता है, निःसंदेह

यह कार्य अशुद्ध रीतिसे तथा कई भद्दी परिस्थितियोंमें किया जाता है, किंतु फिर भी आदर्श धुंधले रूपमें वहाँ उपस्थित अवश्य होता है। स्वयं राजनीति भी जो कि स्पष्ट ही झगड़े, धोखे और पाखंडका खेल है निरपेक्ष आदर्शोंका विस्तार क्षेत्र बन सकती है। तो फिर देशभक्तिके बारेमें,—उन प्रायः ही भद्दी सहजप्रवृत्तियोंकी ओर ध्यान मत दो जिनसे यह आरंभ होती है, और जिन्हें यह अभी भी आग्रहपूर्वक अपने पास सुरक्षित रखे हुए है,—उसके पूजा-भाव, आत्मत्याग, अनुशासन तथा आत्मबलिदानके बारेमें हम क्या कहेंगे? मनुष्यके महान् राजनीतिक आदर्शों, अर्थात् राजतंत्र, कुलीनतंत्रके समक्ष—उस स्वार्थको जिसे वे सिद्ध करते हैं तथा उन बौद्धिक क्रियात्मक औचित्योंको छोड़कर जिनसे ये लैस रहते हैं—अपनी आत्माके रूपमें एक आदर्श, परम सत्ताका एक अर्ध-दृष्ट सत्य रहा है, उनके साथ एक पूजाका भाव, स्वामिभक्तिका तथा विचारमें अपने-आपको खो देनेका भाव रहा है; इन भावोंने मनुष्यको इन आदर्शोंके लिये कष्ट झेलने तथा मरने तकके लिये तैयार किया है। युद्ध और संघर्ष स्वयं भी वीरताके शिक्षणालय रहे हैं, इन्होंने मनुष्यके अंदर वीरताका तत्त्व सुरक्षित रखा है तथा संस्कृत महाकाव्यके शब्दोंमें कहें तो 'क्षत्रियाः त्यक्तजीविताः' अर्थात् ऐसे शक्तिशाली और साहसी मनुष्योंको उत्पन्न किया है जिन्होंने एक आदर्शके लिये अपने भौतिक जीवनका त्याग कर दिया है। कारण, वीरताके बिना मनुष्य भगवान्की ओर विकसित नहीं हो सकता। साहस, बल और शक्ति कार्यरत दिव्य प्रकृतिके बिलकुल प्रारंभिक तत्त्वोंमेंसे हैं। मनुष्यका यह समस्त महान् प्राणिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन प्रतियोगिता और सहकारिताकी अपनी दोनों शक्तियोंके साथ अंधवत् लड़खड़ाते हुए आगे, शक्ति और एकताकी किसी उपलब्धिकी ओर, बढ़ रहा है, अतएव यह दो दिव्य दिशाओंकी ओर बढ़ रहा है, क्योंकि जीवन के अंदर भगवान् एक ऐसी 'शक्ति' है जिसका अपने ऊपर प्रभुत्व है, साथ ही अपने जगत्के ऊपर भी वह अपना अधिकार रखता है, इसीलिए मनुष्य और मनुष्यजाति भी अपने संसारपर, अपनी परिस्थितिपर विजय प्राप्त करनेकी ओर बढ़ रहे हैं; और यह भी कि भागवत उपलब्धिमें एकता है और होनी चाहिये और मानव-एकताका आदर्श, चाहे कितना भी अस्पष्ट अथवा दूर क्यों न प्रतीत होता हो, धीरे-धीरे सामने आ रहा है। परस्पर प्रतिस्पर्द्धा रखनेवाली राष्ट्र-इकाइयाँ समय-समयपर मानवजातिके एक महत्तर एकीकृत सहकारी जीवनमें अपने-आपको ढाल देनेकी प्रेरणा अनुभव कर रही हैं, यद्यपि वह प्रेरणा है अभी कुछ निर्बल ही।

इसमें कोई संदेह नहीं कि अभी तक सब कुछ निम्न अर्द्ध-बौद्धिक, अर्द्ध-अववौद्धिक स्तरपर, साथ ही भद्दे और स्थूल रूपमें चल रहा है, भले ही उसे कभी-कभी ऊपरसे मंद प्रकाशकी रश्मियाँ प्राप्त हो जाती हैं, पर वह अभी भी अपने विषयमें अज्ञान है और साथ ही उसका उद्देश्य भी उच्च नहीं है। यह सब बड़े स्थूल रूपमें जीवनशक्तियोंके भ्रमपूर्ण संघर्ष तथा ऐसे विचारोंके मार्गदर्शनके द्वारा किया जा रहा है जो बुद्धिके अर्द्ध-प्रकाश हैं, इसके लिये प्रस्तावित साधन अत्यधिक यांत्रिक हैं तथा उद्देश्य अत्यधिक भौतिक। ये इस सत्यसे वंचित हैं कि बाह्य जीवनका परिणाम तभी स्थायी हो सकता है यदि वह आंतरिक सत्योंपर आधारित हो। किंतु भूतकालमें जीवनकी गति सदा ऐसी ही रही है और शुरू-शुरूमें ऐसी रहेगी भी। कारण, आरंभमें जीवन अपने-आपको अहंप्रेरित उद्देश्यके चारों ओर संगठित करता है और अहंके विस्तारकी सहजप्रवृत्ति वह सबसे पहला साधन है जिसके द्वारा मनुष्य एक-दूसरेके संपर्कमें आये हैं; अधिकार प्राप्त करनेके लिये संघर्ष एकताका पहला साधन रहा है और क्षुद्र सत्ताका वलपूर्वक स्थापन विशालतर सत्ताके विकासकी ओर पहला पग। यही कारण है कि यह सब जीवन-संघर्षका एक ऐसा अर्द्ध-व्यवस्थित गड़वड़झाला रहा है जिसका सुधार साहचर्यकी आवश्यकता और सहजप्रवृत्ति करती आयी है। यह संघर्ष व्यक्तियोंका, कबीलों, जातियों, दलों, राष्ट्रों, विचारों, सभ्यताओं, संस्कृतियों, आदर्शों और धर्मोंका रहा है। इनमेंसे प्रत्येक अपनी संपुष्टि करता है, प्रत्येकको ही दूसरोंके साथ संपर्क, संसर्ग और संघर्षमें आना पड़ता है। कारण, जब कि प्रकृति अहंकी एक ऐसे पर्देके रूपमें बलात् नियुक्ति करती है जिसके पीछे वह आत्माको व्यक्तिगत रूपमें विकसित होनेके लिये तब तक विवश भी करती रहती है जब तक कि वह अंतमें विस्तार ही प्राप्त नहीं कर लेता या उस विशाल सत्तामें ही विलीन नहीं हो जाता जिसमें वह शेष संपूर्ण सत्ताके साथ संपर्कमें आता है, उसके साथ समस्वरता स्थापित करता है, अपनी चेतनामें उसे समझता है तथा उसके साथ एक हो जाता है। इस विकासमें सहायता देनेके लिये जीवन-प्रकृति अहंको विशाल वनानेवाली, अहंका अतिक्रमण करनेवाली, यहाँ तक कि अहंका नाश करनेवाली उन सहजप्रवृत्तियों तथा गतियोंको भी ऊपर लाती है जो आत्म-स्थापन करनेवाली क्षुद्र सहजप्रवृत्तियों तथा गतियोंके साथ संघर्ष करती हैं तथा उन्हें ठीक भी करती हैं,—वह अपने मानवयंत्रमें प्रेम, सहानुभूति, आत्मत्याग, आत्म-विनाश, आत्म-वलिदान एवं परोपकारकी प्रवृत्तियोंको वलपूर्वक उत्पन्न करती है, मन, हृदय और

प्राणमें वैश्व भावनाको प्रेरित करती है, साथ ही वह एक ऐसी एकात्मताकी भावनाकी कुछ अस्पष्ट-सी झलक भी दिखाती है जिसने अभी तक पूर्ण रूपसे अपनी ज्योति तथा प्रेरक शक्ति प्राप्त नहीं की है। इस अस्पष्टताके कारण ये शक्तियाँ, जो कि अपने निरपेक्ष रूपकी पुष्टि करने तथा नेतृत्व और प्रभुता प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं तथा जिन्हें अहंकी माँगोंके साथ सम-झौता करना पड़ता है, यहाँ तक कि अहंका ही एक रूप वनना पड़ता है, जीवनमें समस्वरता तथा रूपांतर लानेमें भी अशक्त हैं। वस्तुतः शांतिके स्थानपर ये खंग लाती हुई प्रतीत होती हैं। कारण, ये उन परस्परविरुद्ध शक्तियों, विचारों और आवेगोंके संघर्षोंकी संख्या तथा तनावकी वृद्धि करती हैं जिनके व्यक्तिगत मानव-चेतना और सामुदायिक जीवन अखाड़े वने हुए हैं। मनुष्यका आदर्श तथा उसकी व्यावहारिक वुद्धि इस सवके वीचमें जीवन और कर्मके किसी ठीक विधानको पानेका प्रयास करती हैं; वह संयम, अनुकूलीकरण, चुनाव एवं परित्यागके नियमके द्वारा या फिर किन्हीं चुने हुए विचारों एवं शक्तियोंकी प्रधानताके द्वारा वस्तुओंमें सम-स्वरता लानेकी चेष्टा करती है, प्रकृतिने अपनी पशु-सृष्टिमें उसकी सत्ताके जिस स्वयं व्यवस्थित एवं सुनिश्चित रूप एवं विधानको स्वाभाविक चुनाव और सहजप्रवृत्तिके द्वारा प्राप्त किया है उसीको वह चेतन रूपमें प्राप्त करनेका यत्न करती है। किंतु जिस व्यवस्था और रचना तक तर्कवुद्धि पहुँचती है वह सदा ही आंशिक, अनिश्चित एवं अस्थायी होती है। ऊपर और नीचे दोनों ओरसे खिंचाव पड़नेपर वह भंग हो जाती है। कारण, जिन शक्तियोंको जीवन एक विशालतर आत्मामें, एक व्यापकतर सत्तामें होनेवाले विकासमें सहायता देनेके लिये उद्भूत करता है वे उस वस्तुकी प्रतिच्छाया हैं जो तर्कवुद्धिसे परे है, वे 'आध्यात्मिक' के, 'निरपेक्ष'के वीज हैं। मानवजीवनपर 'अनंत' का सदा ही एक दवाव रहता है, यह उसे किसी भी रचनामें अत्यधिक दीर्घ काल तक टिकने नहीं देता—तव तक तो कम-से-कम नहीं जव तक कि वह अपने अंदरसे ही उस वस्तुको उन्मुक्त नहीं कर लेता जो उसे अतिक्रांत करनेवाली तथा उसे परिपूर्ण वनानेवाली होगी।

जीवनकी यह प्रक्रिया जिसका आत्मोपलव्धिके लिये पहला प्रयास अस्पष्ट और अस्तव्यस्त होता है अपने प्रारंभिक स्वरूपोंका अनिवार्य परिणाम है। कारण, जीवनका आरंभ वस्तुओंके आध्यात्मिक सत्यका अपनेसे विरोधी प्रतीत होनेवाली वस्तुमें निवर्तन ही था। आध्यात्मिक अनुभव हमें वताता है कि एक ऐसी 'वास्तविक सत्ता' है जो विश्वात्मा तथा विराट्

पुरुषके रूपमें समस्त वस्तुओंको धारण करती है तथा उनमें व्याप्त है; व्यक्ति उसे यहाँ, पार्थिव शरीरमें भी, अपनी सत्ता एवं आत्माके रूपमें उपलब्ध कर सकता है; अपने उच्च शिखरों तथा मूलमें वह एक अनंत और सनातन 'सत्ता', 'चेतना' और 'आनंद' है। किंतु जो हमें भौतिक विश्वका स्रोत तथा आरंभ प्रतीत होता है वह इससे ठीक उलटा है—वह एक ऐसी 'रिक्तता' का, एक निःसीम 'असत्,' एक अनिर्धारित निश्चेतन तथा एक ऐसे जड़, निरानंद शून्यका रूप धारण करके हमारे सामने उपस्थित होता है जिसमेंसे अभी सब वस्तुओंको प्रकट होना है। जब वह गतिशील होने लगता है एवं सृजन करना आरंभ कर देता है, वह एक ऐसी अचेतन शक्तिका रूप धारण कर लेता है जो उस 'रिक्तता'में से सत्ताका सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण किंवा विद्युत-अणुके रूपमें प्रकट करती है,— या वह शायद एक और भी अधिक स्पर्शातीत, सूक्ष्म इकाई अथवा अभी तक अज्ञात एक ऐसे अत्यंत सूक्ष्म परमाणुको जन्म देती है जिसे खोज सकना प्रायः संभव ही नहीं है, तब अणु और 'व्यूहाणु' (molecule) का प्रादुर्भाव होता है और इस सूक्ष्म कणमेंसे वह अपने असीमकी रिक्तताके अंदर एक सुगठित और मूर्त्त विश्वका निर्माण करती है। तब भी हम देखते हैं कि यह अचेतन शक्ति प्रत्येक पगपर एक विशाल और सूक्ष्म बुद्धिके कार्य करती है, 'जड़तत्त्व'के और उसके अंदर जीवन और आत्माके जागृत होनेके विरोधाभास और चमत्कारके आविर्भावकी तैयारी करने तथा उसकी व्यवस्था करने और उसे कार्य-रूप देनेकी संभव युक्तियोंको निश्चित तथा परस्पर-संयुक्त करती है। जीवन 'रिक्तता'मेंसे विकसित होता है, चेतनाका उदय एवं विकास 'निश्चेतन'से होता है, सुख, प्रसन्नता, हर्ष, भागवत आनंद और आह्लाद प्राप्त करनेकी ऊर्ध्वगामी प्रेरणा, अनिर्वचनीय रूपसे, वेदनरहित 'नास्ति'मेंसे उत्पन्न होती है। ये तथ्य उस सत्यको पहले ही प्रकट कर देते हैं जिसका पता हमें तब लगता है जब हम अपनी गहराइयोंमें यह जान लेते हैं कि 'निश्चेतन' केवल एक ऊपरी अवगुंठन है और उसके अंदर उपनिषद्का 'अचेतनमें विद्यमान चेतन' स्थित है। 'वेद' कहता है: प्रारंभमें निश्चेतनाका समुद्र था और उसमेंसे 'वह एकमेव' अपनी महानताके द्वारा, अपनी आत्माभिव्यक्ति करनेवाली शक्तिके द्वारा उत्पन्न हुआ।

किंतु 'निश्चेतन' यदि अवगुंठन है भी, तो वह 'परम आत्मा'का एक प्रभावशाली अवगुंठन है; विकसित होते हुए जीवन और आत्मापर यह एक कठिन विवर्तनका नियम लागू कर देता है। जीवन और चेतना जड़त्वके समान ही अपने पहले प्रादुर्भावमें विखंडनके नियमका पालन करते हैं।

जीवन कलल और कोष्ठके चारों ओर भौतिक रूपमें और तुच्छ पृथक्कारी खंडात्मक अहंके चारोंओर मनोवैज्ञानिक रूपमें अपने-आप को संगठित करता है। स्वयं चेतनाको अपने छोटे प्रारंभिक कार्य तुच्छ तलीय चेतनामें केंद्रित करने पड़ते हैं तथा अपनी सत्ताकी गहराइयों और अनंतताओंको इस सीमित उपरितलीय जीवनके परदेके पीछे छुपाना पड़ता है। उसे एक वाह्य रचनामें धीरे-धीरे विकसित होना पड़ता है, जब तक कि वह हमारी इस क्षुद्र आकृतिके, जिसे हम अपनी पूर्ण सत्ता समझते हैं, तथा हमारे अंदर छुपी हुई सत्ताके बीचकी कठोर परतको तोड़नेके लिये तैयार नहीं हो जाती। ऐसा प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक सत्ता भी विखंडनके इसी नियमका पालन करती है, वह समष्टिके अंदर एक इकाईके रूपमें अपने एक स्फुलिंगको अभिव्यक्त करती है, यह स्फुलिंग ही फिर विकसित होकर व्यक्तिरूप चैत्यपुरुष वन जाता है। इस तुच्छ अहंपर ही, इस खंडित चेतना एवं इस गुप्त आत्म-स्फुलिंगपर ही विश्व-शक्तियोंके साथ मिलने एवं उनके साथ प्रयत्न करनेका, जो कुछ इसे अपना-आप नहीं प्रतीत होता उस सवके साथ संपर्क स्थापित करने तथा समस्त सत्ताके साथ ऐक्य प्राप्त करनेके योग्य वनने तक आंतरिक और वाह्य प्रकृतिके दवावके अधीन वृद्धि प्राप्त करनेका कार्य लाद दिया जाता है। इसे आत्मज्ञान और विश्वज्ञानकी ओर विकसित होना होगा, इसे अपने अंदर जाकर यह पता लगाना होगा कि यह एक आध्यात्मिक सत्ता है; इसे अपनेसे वाहर जाकर वैश्व 'व्यक्ति'के रूपमें अपना विशालतर सत्य खोजना होगा। इसे अपनेसे ऊपर जाकर जीवनकी किसी परम 'सत्ता', 'चेतना' और 'आनंद' का ज्ञान प्राप्त करना तथा उसमें निवास करना होगा। इस महत् कार्यके लिये इसे साधन-रूपमें केवल अपने मूल 'अविद्या'के यंत्र ही प्राप्त हैं। इसकी सीमित सत्ता ही जीवनमें व्याघात उत्पन्न करनेवाली समस्त कठिनाई, विरोध, संघर्ष एवं विभाजनका कारण है। इसकी चेतनाकी सीमित अवस्था, जो वैश्व 'शक्ति'के संपर्कोंको न तो अधिकृत कर सकती है और न उन्हें आत्मसात् ही कर सकती है, समस्त कष्ट, दुःख और पीड़ाका कारण है। अज्ञानपूर्ण संकल्पके रूपमें गठित चेतनाकी सीमित शक्ति, जो अपने जीवन और कर्मके यथार्थ विधानको न समझ सकती है न उसका पालन कर सकती है, समस्त भ्रांति, दुष्कर्म और वुराईका कारण है, और दूसरा कोई भी इनका सच्चा कारण नहीं है; क्योंकि सव प्रत्यक्ष कारण स्वयं ही सत्ताके इस आदि पापकी परिस्थिति तथा परिणाम हैं। केवल, जव वह इस सीमित पृथक्कारी चेतनासे निकलकर ऊपर उठती है तथा मुक्त आत्माके एकत्वमें विस्तार प्राप्त करती है तभी

यह 'निश्चेतना'में से स्वविकास साधित करनेके इन परिणामोंसे छुटकारा पा सकती है।

यदि हम इसे जीवनके मूल सत्यके रूपमें देखें तो हम तुरंत ही समझ सकते हैं कि इसे अपने अज्ञानपूर्ण आत्म-निर्माणके वर्तमान मोड़को क्यों अपनाना पड़ा है। किंतु साथ ही हम यह भी देखते हैं कि इस सबके बीचमें वह किस वस्तुको अज्ञानपूर्ण रीतिसे खोज रहा है, प्राप्त करने तथा गढ़नेका प्रयत्न कर रहा है, किसे अपने उच्चतर आवेगों और गहनतम प्रेरणाओंमें ढूँढ रहा है और ये आवेग, जो यदि जीवन निश्चेतन प्रकृतिकी जैविक उपजमात्र हो तो निरुपयोगी, विक्षेपकारी और काल्पनिक ही प्रतीत होंगे, उसके अंदर क्यों हैं; ये आवेग आत्मोपलब्धि, प्रभुता, एकता तथा अपनी निम्न सत्तासे छुटकारा पाने और आध्यात्मिक मुक्ति प्राप्त करनेके आवेग हैं। जड़तत्त्व और वनस्पति-जीवनमें अपनी पहली निर्वतित अवस्थामें से विकसित होते हुए तथा पशुमें पहली अधूरी और संगठित चेतनाको उत्पन्न करते हुए जीवन मनुष्य अर्थात् मनोमय सत्तामें ऐसे नये और चेतन विकासकी संभावना तक पहुँचता है जो उसे उसके लक्ष्य तक ले आयेगा और उसके विकासकी एक विशेष अवस्थामें वह उसके अंदर मनोमयसे आध्यात्मिक सत्ता तक पहुँच जानेकी अदम्य प्रेरणा भी उत्पन्न करता है। सहजप्रवृत्ति और इच्छा की पहली अवबौद्धिक प्रेरक शक्तियोंका अनुसरण करके जीवन अपनी गुप्त परिणतियों तक नहीं पहुँच सकता; कारण, यहाँ सब कुछ टटोलना और खोजना ही है जिसमें प्राप्ति कुछ भी नहीं होती; यह क्षणिक संतुष्टियोंका क्षेत्र है जिसपर 'निश्चेतन' की अपर्याप्तता तथा अनित्यताकी मुहर लगी हुई है। किंतु जिसकी उसे खोज है वह मानव-तर्कबुद्धि उसे नहीं दे सकती; कारण, तर्कबुद्धि केवल अर्द्ध-प्रकाश तथा अस्थायी व्यवस्था ही स्थापित कर सकती है। इसीलिये मनुष्य जो कि जीवनमें एक ऊर्ध्वमुखी प्रेरणाका प्रतिनिधि है सदा संतुष्ट नहीं रह सकता। विकासकी उसकी प्रवृत्ति इस मध्यवर्त्ती स्थितिपर, इस अर्धोपलब्धि पर रुक नहीं सकती। उसे चेतनाकी उच्चतर चोटीको अपना लक्ष्य बनाना है, जीवन और मनमेंसे एक ऐसी चीजको उन्मुक्त करना है जो अभी सुप्त एवं प्रारंभिक अवस्थामें पड़ी है।

जीवनके अंतिम रूप आध्यात्मिक हैं और केवल मुक्त सत्ता और आत्माके पूर्ण प्रकाशमें ही वह उन्हें प्राप्त कर सकता है। यह पूर्ण प्रकाश बुद्धि अथवा तर्क नहीं है, वरन् आंतरिक एकता और तदात्मताके द्वारा प्राप्त एक ऐसा ज्ञान है जो पूर्णतया विकसित आध्यात्मिक चेतनाका सहज आत्म-

प्रकाश है—तथा उसे तैयार करनेवाला, उसीकी ओर बढ़नेवाला वह एक ऐसा ज्ञान है जो वस्तुओं एवं सत्ताओंके सत्यके साथ आँतरिक संपर्क स्थापित करनेसे प्राप्त होता है; वह बोधिमय ज्ञान है तथा एक गुप्त एकत्वसे उत्पन्न हुआ है। जीवन आत्मज्ञानकी खोज करता है; वह केवल आत्माके प्रकाश द्वारा ही उसे प्राप्त कर सकता है। उसे ज्योतिर्मय पथप्रदर्शनकी खोज है, वह अपनी गतियोंपर प्रभुत्व पाना चाहता है। जब वह अपने अंदर इस आंतरिक सत्ता एवं आत्माको पा लेता है तथा उसके द्वारा अथवा उसके निर्देशके अनुसार अपनी गतियोंका संचालन करता है केवल तभी उसे प्रबुद्ध संकल्प एवं अचूक नेतृत्वकी प्राप्ति होती है। कारण, केवल इसी प्रकार सहजप्रवृत्तियोंके अंध निश्चयों, वादों और सिद्धांतों तथा तर्कबुद्धि के प्रयोगात्मक और अनुमानात्मक निश्चयोंका स्थान दृष्टिसंपन्न आध्यात्मिक निश्चय ले सकते हैं। जीवन अपनी प्रेम सहानुभूति-रूपी सहजप्रवृत्तियों, सहमति और एकताकी अभीप्साकी परिपूर्ति चाहता है, किंतु ये विरोधी सहजप्रवृत्तियों द्वारा आक्रांत हो जाती हैं और तब केवल अपने प्राप्त स्थायी एकत्वके साथ आध्यात्मिक चेतना ही इन विरोधोंको दूर कर सकती है। जीवन-सत्ताके पूर्ण विकासके लिये प्रयत्न करता है, किंतु वह उसे साधित तभी कर सकता है जब सीमित सत्ता अपने अंदर जीवनकी अपनी अंतरतम आत्माको और अपने चारों ओर वैश्व चेतनारूपी विशालतर सत्ताको प्राप्त कर लेती है जो जगत् और समस्त सत्ताको अपने अंदर और अपने समान ही अनुभव कर सकती है। जीवन शक्ति भी चाहता है, आत्मा तथा इस चेतन एकताकी शक्ति ही उसे अपने और संसारके ऊपर प्रभुत्व पानेमें समर्थ बनाती है। वह सुख, प्रसन्नता और आनंदकी भी इच्छा करता है, किंतु इन चीजोंके अवबौद्धिक रूप अपूर्णता, आंशिकता, अनित्यता तथा अपने विरोधी भावोंकी कशमकशसे ग्रसित हैं। इसके अतिरिक्त, अवबौद्धिक जीवनमें अभी भी निश्चेतनकी मूलभूत जड़ता, स्नायविक मंदता तथा स्पंदन-कारी उत्तर देनेमें दुर्बलताकी छाप है; सच्ची प्रसन्नता अथवा सच्चे आनंदकी प्राप्ति उसे नहीं हो सकती और सुखके जितने अंशकी प्राप्ति उसे हो भी सकती है, उसे भी वह अधिक समयके लिये धारण नहीं कर सकता और न सह सकता है, न ही वह इन चीजोंकी अति तीव्रता ही स्थिर रख सकता है। अमिश्रित और स्थायी सुख एवं आह्लादकी कुंजी केवल आत्माको ही प्राप्त है, उसके प्रति स्पंदनकारी प्रत्युत्तर देनेकी दृढ़ स्नायविक क्षमता भी केवल उसीके पास है; केवल आत्मा ही जीवनके आध्यात्मिक सुख अथवा आनंदको सत्ताके असीम और विश्वव्यापी आनंदकी एक अभिव्यक्तिके रूपमें प्राप्त कर सकती है

तथा उसे उचित ठहरा सकती है। जीवन अपनी उन समस्त शक्तियोंकी सामंजस्यपूर्ण चरितार्थता चाहता है जो आज विभक्त और संघर्षरत हैं तथा अपनी समस्त संभावनाओं, भागों और अंगोंकी परिपूर्त्ति चाहता है; यह उसे केवल एकमेव 'सत्ता' तथा 'आत्मा' की चेतनामें ही प्राप्त हो सकती है, क्योंकि केवल वहाँ ही वे पूर्ण निज अस्तित्वके प्रकाशमें अपना संपूर्ण सत्य तथा पूर्ण समस्वरता प्राप्त करते हैं।

अतएव जिस प्रकार अतिबौद्धिक 'सत्य', 'शिव' और 'सुन्दर' है, उसी प्रकार जीवनकी एक अतिबौद्धिक परिणति भी है। इस तक पहुँचनेका प्रयास ही जीवन-प्रकृतिकी खोज और उसके यत्नका आध्यात्मिक अर्थ है।

सतरहवाँ अध्याय

धर्म—जीवनका एक विधान

क्योंकि अनंत, निरपेक्ष तथा परात्पर, विराट्, एकमेव ही सत्तामात्रका गुप्त शिखर है, तथा आध्यात्मिक चेतना एवं भगवान् तक पहुँचना हमारी सत्ताका अंतिम उद्देश्य एवं लक्ष्य है और इसीलिये व्यक्ति तथा समुदायके समस्त भागों तथा समस्त क्रियाओंके समस्त विकासका भी यही लक्ष्य है, तर्कबुद्धि कभी भी अंतिम तथा उच्चतम मार्गदर्शक नहीं हो सकती। संस्कृति भी, जैसा कि साधारणतया इसे समझा जाता है, निर्देश देनेवाला प्रकाश नहीं बन सकती और न वह हमारे समस्त जीवन तथा कर्ममें व्यवस्था एवं समस्वरता लानेवाले तत्त्वको ही पा सकती है। कारण, तर्कबुद्धि स्वयं भगवान् तक नहीं पहुँच सकती, वह केवल जीवनकी समस्याओंके साथ समझौतामात्र करती है, और संस्कृतिको भी परात्पर तथा अनंत तक पहुँचनेके लिये आध्यात्मिक संस्कृति बनना होगा, जो बौद्धिक, सौंदर्यात्मक, नैतिक तथा व्यावहारिक शिक्षणसे कहीं अधिक ऊँची वस्तु होगी। तो फिर निर्देश देनेवाला प्रकाश तथा नियामक और समस्वरता लानेवाला तत्त्व हमें कहाँ ढूंढ़ना होगा? पहला उत्तर जो स्वयमेव हमें सूझेगा तथा जो एशियाई मन सदा देता है वह यह है कि हम इस तत्त्वको सीधे और तुरंत धर्म में पायेंगे। और यह युक्तियुक्त तथा पहली दृष्टिमें संतोषप्रद भी दिखायी देता है, क्योंकि धर्म मनुष्यकी वह सहजप्रवृत्ति, विचार, कर्म तथा अनुशासन है जिसका सीधा लक्ष्य भगवान् है, जब कि शेष सब भगवान्को केवल परोक्ष रूपमें ही लक्ष्य मानते हैं तथा पदार्थोंके बाह्य और अपूर्ण रूपोंकी खोजमें भटकते और ठोकरें खाते हुए बड़ी कठिनाईसे उसतक पहुँचते हैं। समस्त जीवनको धर्म बना लेना तथा सब कर्मोंको धार्मिक विचारके अनुसार संचालित करना तब आदर्श व्यक्ति तथा आदर्श समाजके विकासके लिये तथा मनुष्यके समस्त जीवनको ऊपर उठाकर भगवान्में स्थापित करनेके लिये ठीक रास्ता दिखायी देगा।

हम देखते हैं कि धर्मकी एक विशेष प्रधानता, जीवनपर इसका छा जाना अथवा कम-से-कम उसे अपने रंगमें रंग देना, धार्मिक संस्कारों तथा धार्मिक विचारका दूसरे समस्त संस्कारों तथा मौलिक विचारोंके ऊपर आसीन

होना केवल एशियाई सभ्यताओंकी ही विशेषता नहीं है, वल्कि कम या अधिक, मानव-मन एवं मानव-समाजकी भी सामान्य अवस्था रही है। और यदि यह सर्वथा ऐसी न भी हो, तो भी उनकी जटिल प्रवृत्तियोंका स्मरणीय तथा उच्च भाग तो रही ही है, उनके इतिहासके उन विशेष परंतु अपेक्षाकृत संक्षिप्त कालोंको हम यहाँ छोड़ देते हैं जिनमेंसे एकमें आज हम अपने-आपको देख रहे हैं और इसमेंसे ऊपर उठनेके लिये, वस्तुतः, हममें कुछ झुकाव भी है, परंतु अभी हम ऊपर उठे नहीं हैं। तव हमें यह कल्पना भी करनी होगी कि सामान्य मानव सामुदायिकभावके द्वारा धर्मको जो अग्रणी तथा मुख्य भाग मिला है उसमें हमारी प्राकृत सत्ताकी कोई वड़ी आवश्यकता तथा कोई सत्य अवश्य है जिसकी ओर हमें सदा ही, चाहे कितनी भी दीर्घकालीन अनिष्ठाके पश्चात् हो, लौट आना है। दूसरी ओर हमें इस तत्त्वको भी स्वीकार करना चाहिये कि महान् कर्मका, उच्च अभीप्साका, गंभीर वीजवपनका, तथा फलपूर्ण समृद्धिका यह आधुनिक युग अपने समस्त दोषों तथा अपनी गलतियोंके साथ एक ऐसा युग है जव कि मानवजाति क्रूरता, वुराई, अज्ञान, अंधकार तथा घृणाके तत्त्वसे वहुत कुछ छुटकारा पा चुकी है और यह सव धर्मकी शक्तिसे नहीं वरन् जाग्रत् प्रज्ञा तथा मानव-आदर्शवाद एवं सहानुभूतिकी शक्तिके द्वारा हुआ है। इसलिये मानवताके उस भागने जो उस समयके लिये विचार और प्रगतिका ध्वजवाहक रहा है, अर्थात् पुनरुत्थानके पश्चात्के यूरोपने, आधुनिक यूरोपने धर्मकी इस प्रधानतापर उग्र आक्षेप किये हैं तथा उसे अमान्य किया है।

अपनी तीव्र अवस्थामें इस विद्रोहने धर्मको सर्वथा ही नष्ट कर देनेका यत्न किया और वस्तुतः उसने यह डींग भी मारी कि उसने मनुष्यके अंदरसे धार्मिक संस्कारको समाप्त कर दिया है, यह अहंकार तथा अज्ञानपूर्ण डींग थी, क्योंकि, जैसा कि हम अव देखते हैं, मानवके अंदर सवसे अधिक धर्मकी ही एक ऐसी सहजप्रवृत्ति विद्यमान है जो नष्ट नहीं की जा सकती, वह केवल अपने रूप वदल लेती है। अपने अधिक नरम आंदोलनोंमें इस विद्रोहने धर्मको अकेले अंतःसत्ताके एक कोनेमें रख दिया तथा वौद्धिक, सौंदर्यमय और व्यावहारिक जीवनमें, यहाँ तक कि नैतिक जीवनमें भी इसका प्रवेश निषिद्ध कर दिया। और यह उसने इस आधारपर किया कि भौतिक विज्ञान, विचार, राजनीति, समाज तथा सामान्य जीवनमें धर्मका प्रवेश, ह्रास, अंधविश्वास तथा अत्याचारपूर्ण अज्ञानको लानेवाली शक्ति ही सिद्ध हुआ है और अवश्य ही यह ऐसा सिद्ध होगा भी। धर्मवादी कह सकता

है कि यह आरोप मिथ्या था तथा नास्तिकोंका विकृत भाव था, अथवा वह यह भी कह सकता है कि धर्ममूलक गतिरोध, पवित्र अज्ञान एवं तुष्ट जड़ताकी अवस्था अथवा परलोकके पवित्र विचारोंसे भरपूर एक व्यवस्थित गतिरोधकी अवस्था भी इस अनित्य संसारमें अधिक विशाल ज्ञान, अधिक प्रभुत्व, अधिक सुख, आनंद तथा प्रकाश के लिये निरंतर प्रयास करते रहनेसे कहीं अधिक अच्छी है। परंतु उदार विचारक इस प्रकारका समाधान स्वीकार नहीं कर सकता, उसे यह देखनेके लिये वाध्य होना पड़ता है कि जब तक मनुष्य अपने जीवनमें भगवान् तथा आदर्शको प्राप्त नहीं कर लेता—और प्राप्त कर भी लिया हो तव भी ऐसा ही रहेगा, क्योंकि भगवान् ही अनंत है—तव तक उसके जीवनका अनिवार्य एवं वांछित नियम प्रगति ही होता है, कोई गतिरहित अवस्था नहीं—इसका अर्थ वास्तवमें नवीनताओं के लिये भागदौड़ नहीं अपितु आत्मा, विचार तथा जीवनके अधिकाधिक महान् सत्यकी ओर निरंतर गति होता है, और यह गति केवल व्यक्तिमें ही नहीं वरन् समुदायमें, समष्टिके प्रयत्नोंमें, समाजकी प्रगति, उसके आदर्शों, स्वभाव एवं रचनामें तथा पूर्णताकी ओर इसके प्रयासोंमें भी होती है। और उसे यह देखनेके लिये भी वाध्य होना पड़ता है कि धर्मके विरुद्ध जो अपराध लगाया गया है उसके परिणाममें नहीं अपितु उसके आरंभमें कुछ ऐसी वात अवश्य है जिससे वह दोप वहुत कुछ उचित लगता है,—इसलिये नहीं कि स्वयं धर्ममें यह दोष होना ही चाहिये, वरन् इसलिये कि ऐतिहासिक रूपमें तथा वस्तुतः कट्टर धार्मिक संप्रदायोंने तथा उनके उत्तराधिकारियों तथा प्रचारकोंने प्रायः ही एक वाधक शक्तिका काम किया है तथा प्रायः ही अंधकार, अत्याचार तथा अज्ञानके पक्षमें अपने प्रभावका प्रयोग किया है और इसलिये इसका खंडन करनेकी आवश्यकता थी, इन गलतियोंको ठीक करने तथा धर्मको अपने ठीक मार्गपर लानेके लिये अत्याचारपीड़ित मानव मन और हृदयके विद्रोहकी आवश्यकता थी। और यदि धर्म सव मानव-कर्मों तथा समस्त मानव-जीवनका सच्चा एवं पर्याप्त मार्गदर्शक तथा नियंता होता तो इस विद्रोहकी आवश्यकता ही क्यों होती?

धर्मके विरुद्ध इस उग्रतापूर्ण दोपारोपणमें हमें तर्कवादी तथा नास्तिक वुद्धिका अनुकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। उदाहरणके लिये हमें उन अंधविश्वासों, गलतियों, हिंसाके कार्यों तथा पापकर्मोंपर अत्यधिक वल देनेकी आवश्यकता नहीं है जिनका धर्ममंदिरों, संप्रदायों तथा मतवादियोंने पक्ष लिया है, जिन्हें उन्होंने स्वीकार किया है, अनुमति प्रदानकी है, सहारा दिया है अथवा अपने लाभके लिये जिनका उपयोग किया है तथा जिनका विरोधी भावनासे केवल वर्णनमात्र ही नास्तिक रोमन कविकी इस घोपणाके

स्वरमें स्वर मिलानेके लिये प्रवृत्त कर सकता है, "ओह, धर्म इतने भारी परिमाणमें बुराई करनेके लिये मानवजातिको प्रेरित कर सकता है।" इसी प्रकार स्वतंत्रता अथवा व्यवस्थाके नामपर किये गये पापकर्मों तथा गलतियोंको उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत करके कोई कह सकता है कि ये स्वतंत्रताके आदर्श अथवा सामाजिक व्यवस्थाके आदर्शको दूषित ठहरानेके लिये पर्याप्त हैं। परंतु हमें इस तथ्यको ध्यानमें रखना है कि इस प्रकारका व्यवहार संभव था तथा इसका समाधान हमें ढूँढ़ना है। उदाहरणके लिये परंपरावादी वहिरंग ईसाई धर्मने अपनी लौकिक विजय के युग अर्थात् लगभग कान्स्टैन्टाईन (Constantine) के कालसे लेकर अभी पिछले दिनों तक यूरोपके मध्यकालीन इतिहासके क्षेत्रमें जो रक्तरंजित तथा अग्निदग्ध गहरे निशान छोड़े हैं, अथवा न्यायालयी जाँच (Inquisition) करनेवाली संस्थाने धर्मके इस दावेके विषयमें कि वह नैतिकता तथा समाजके लिये निर्देशक, प्रकाश-दाता तथा नियामक शक्ति है जो खूनी वर्णन प्रस्तुत किया है अथवा मानवजातिके राजनीतिक जीवनका संचालन करनेके धर्मके दावेपर जो धार्मिक युद्ध हुए हैं तथा राज्यकी ओरसे जो व्यापक अत्याचार किये गये हैं, उन्हें हम भूल नहीं सकते। परंतु हमें इस बुराईके मूलको देखना है जो स्वयं सच्चे धर्ममें नहीं है अपितु धर्मके अवबौद्धिक भागोंमें है, आध्यात्मिक विश्वास तथा अभीप्सामें नहीं अपितु धर्मसंबंधी विशेष मत, संप्रदाय, सिद्धांत, धार्मिक समाज अथवा मठको धर्म मान लेनेकी हमारी अज्ञानपूर्ण मानवीय भ्रांतिमें है। यह भूल करनेकी प्रवृत्ति मनुष्यमें इतनी शक्तिशाली रूपमें विद्यमान है कि पुराने सहनशील मूर्त्तिपूजक लोगोंने धर्म तथा सदाचारके नामपर सुकरातको मार दिया, ईसिस (Isis) अथवा मिथरा (Mithra) के अराष्ट्रीय धर्मोंके माननेवालोंपर यदि कुछ कम उग्रताके साथ सख्तियाँ कीं तो आरंभकालीन ईसाइयोंके धर्मपर अधिक उग्रताके साथ अत्याचार किये क्योंकि उस समय उनके धर्मको विध्वंसकारक तथा समाज-विरोधी समझा जाता था। यहाँ तक कि, मूल रूपमें उनसे भी अधिक सहिष्णुता तथा समस्त आध्यात्मिक विशालता एवं ज्ञानके होते हुए, हिंदूधर्ममें भी इस प्रवृत्तिने कुछ-कुछ परस्पर घृणाके भावको जागृत किया और इसके फलस्वरूप कभी-कभी, यद्यपि अल्प कालके लिये ही, बौद्ध, जैन, शैव तथा वैष्णव धर्मावलंवियोंपर अत्याचार भी किये गये।

मानवजातिके संचालन तथा नियंत्रणमें धर्मकी ऐतिहासिक अपर्याप्तताका मूल कारण इसी प्रवृत्तिमें है। उदाहरणके लिये मंदिर तथा मतवाद, दर्शन और भौतिक विज्ञानके विरुद्ध बड़ी उग्रतापूर्वक खड़े हो गये और

एक गियोर्दानो ब्रूनो (Giordano Bruno) को जला डाला,—एक गैलिलियोको कैद किया, और इस विषयमें सामान्यतः इतना दुर्व्यवहार किया कि दर्शन तथा विज्ञानको अपनी आत्मरक्षामें धर्मपर आक्रमण करना पड़ा तथा अपने उचित विकासके निमित्त मुक्त क्षेत्र प्राप्त करनेके लिये उसे टूक-टूक कर देना पड़ा। और यह सब इसलिये हुआ कि मनुष्योंने अपनी प्राणिक प्रवृत्तिके आवेग तथा अंधकारके वशीभूत होकर यह विचार करना पसंद किया कि धर्म भगवान् तथा जगत्के विषयमें कुछ ऐसी निश्चित बौद्धिक प्रतीतियोंके साथ बँधा हुआ है जो छान-बीनको सहन नहीं कर सकती और इसलिये छान-बीनको अग्नि और तलवारसे दबा देना पड़ा, वैज्ञानिक तथा दार्शनिक सत्योंको भी इसीलिये त्याग देना पड़ा कि धार्मिक भ्रांति जीवित रह सके। यह भी हम देखते हैं कि संकुचित धार्मिक भाव प्रायः जीवनके आनंद तथा सौंदर्यको दबा तथा क्षीण कर देता है; इसका कारण धर्मका असहिष्णु तपस्या-भाव होता है अथवा उसका वह रूप होता है जिसका पवित्रतावादियों (Puritans) ने प्रयोग किया था, क्योंकि वे यह नहीं समझ सकते थे कि तपस्या ही संपूर्ण धर्म नहीं है, उसका एक महत्त्वपूर्ण भाग होते हुए भी तपस्या भगवान्तक पहुँचनेके लिये अकेला पूर्ण नैतिक-धार्मिक मार्ग नहीं है, क्योंकि प्रेम, उदारता, सौम्यता, सहिष्णुता तथा दया—ये भाव भी दिव्य हैं, बल्कि उससे अधिक दिव्य हैं, और वे लोग भूल गये थे अथवा जानते ही नहीं थे कि भगवान् प्रेम और सौंदर्य है और साथ ही पवित्रता भी। राजनीतिमें धर्म प्रायः शक्तिके पक्षमें खड़ा हुआ है तथा अधिक विशाल राजनीतिक आदर्शोंके आगमनका उसने प्रतिरोध किया है क्योंकि स्वयं धर्मको 'चर्च'के रूपमें शक्तिकी सहायता प्राप्त रही है और क्योंकि इसने 'चर्च'को धर्ममें मिलाकर धर्मको भ्रमपूर्ण बना दिया अथवा इसने एक मिथ्या धर्मतंत्रका पक्ष लिया और यह भूल गया कि सच्चा धर्मतंत्र तो मनुष्यके अंदर भगवान्के राज्यकी स्थापना करना है, न कि किसी पोप, पादरी अथवा पुरोहित-वर्गके राज्यकी। इस प्रकार इसने प्रायः ही कठोर तथा पुरानी और खोदी पड़ी हुई सामाजिक व्यवस्थाको सहारा दिया है, क्योंकि इसने ऐसा सोचा है कि इसका अपना जीवन समाजके उन रूपोंसे बँधा है जिनके साथ इसके अपने इतिहासके एक दीर्घकालतक इसका संबंध रहा है और इसने गलतीसे यह परिणाम निकाल लिया कि इस विषयमें आवश्यक परिवर्तन भी धर्मके विरुद्ध तथा उसके अस्तित्वके लिये हानिकारक होगा, मानो मानवके अंदरके धर्म-भावके समान इतनी शक्तिशाली तथा इतनी अंतरतम शक्ति भी समाजके किसी

रूपके परिवर्तन जैसी तुच्छ वस्तुसे अथवा सामाजिक पुनर्व्यवस्था जैसी बाह्य वस्तुसे नष्ट हो सकती हो। अपने अनेक रूपोंमें यह गलती भूतकालमें व्यवहारमें आनेवाले धर्मकी एक महान् निर्बलता रही है तथा जो कुछ धर्मकी अपनी उच्चतम प्रवृत्ति अथवा विधान होता था उसके विरुद्ध मानव-सत्ताकी प्रज्ञाके, उसके सौंदर्यात्मक भावके, सामाजिक तथा राजनीतिक आदर्शवादके, यहाँतक कि उसकी नैतिक भावनाके भी विद्रोहको अवसर देनेवाली तथा उसका औचित्य सिद्ध करनेवाली रही है।

इसीमें प्राचीन तथा आधुनिक, पूर्वीय और पश्चिमीय आदर्शके भेदका रहस्य निहित है तथा इसीमें उनके समाधानके लिये एक निर्देश भी विद्यमान है। दोनोंका आधार एक दृढ़ औचित्य है और उनके झगड़ेका कारण भी एक भ्रम है। एक अर्थमें यह सत्य है कि जीवनमें धर्मको प्रधान वस्तु, जीवनका प्रकाश तथा विधान होना चाहिये, परंतु ऐसे धर्मको जैसा कि उसे होना चाहिये और जैसा कि वह अपने अंतरतम स्वभावमें, अपनी सत्ताके मूलभूत विधानमें है; भगवान्‌के लिये खोज, आध्यात्मिकताका सिद्धांत, अंतरस्थ भगवान्, अनादि सर्वव्यापकके प्रति आत्माके गंभीरतम जीवनका उद्घाटन उसके स्वाभाविक गुण हैं। दूसरी ओर यह भी ठीक है कि जब धर्म केवल किसी मत, किसी पद्धति, किसी धर्मसंस्था अथवा किन्हीं आडंबरपूर्ण रीतियोंका रूप धारण कर लेता है तब वह गतिरोधकी शक्ति बन जाता है, और इसीलिये तब मानव-आत्माको जीवनकी विविध क्रियाओंपरसे इसके आधिपत्यको हटा देनेकी आवश्यकता पड़ती है। धर्मके दो पहलू हैं, एक सच्चा धर्म और दूसरा धर्मवाद। सच्चा धर्म आध्यात्मिक धर्म होता है जो आत्मामें निवास करने तथा जो कुछ बुद्धिसे परे है, जो कुछ मनुष्यकी सौंदर्यात्मक, नैतिक तथा व्यावहारिक सत्तासे परे है उसमें निवास करनेका प्रयास करता है, तथा हमारी सत्ताके इन भागोंको आत्माके उच्चतर प्रकाश तथा विधानके द्वारा ज्ञान प्रदान करता है तथा इनका संचालन करता है। इसके विपरीत, धर्मवाद हमारी सत्ताके निम्न भागोंके किसी तंग पुण्यवादी उत्कर्षके भावमें अपना गढ़ बना लेता है। अथवा कट्टरपंथी बौद्धिक सिद्धांतों, स्वरूपों और रीतियोंपर, किसी निश्चित तथा कठोर आचार संबंधी विधानपर, किसी धार्मिक-राजनीतिक अथवा धार्मिक-सामाजिक व्यवस्थापर ही एकमात्र बल देता है। यह बात तो नहीं है कि ये भाव सर्वथा अवहेलनाके योग्य हैं अथवा अयोग्य या अनावश्यक हैं, और यह बात भी नहीं है कि आध्यात्मिक धर्मको रूपों, रीतियों, मतों अथवा विधानोंकी सहायताका तिरस्कार ही करना चाहिये। इसके विपरीत,

मनुष्यको तो इसकी आवश्यकता है, क्योंकि उसके निम्न भागोंमें भी उत्कर्ष लाना है तथा उन्हें पूर्णतया आध्यात्मिक बनाने, आत्माका सीधा अनुभव प्राप्त कर सकने तथा उसके विधानका पालन करनेके योग्य बननेसे पूर्व उन्हें ऊपर उठाना होता है। चिंतनशील तथा तर्कशील मनको आंतरिक जीवनकी ओर अपने झुकावमें प्राय: एक बौद्धिक विधिकी आवश्यकता होती है, इसी प्रकार सौंदर्यात्मक प्रवृत्ति अथवा अवबौद्धिक सत्ताके अन्य भागोंको इसी झुकावके लिये किसी रूप तथा किसी रीतिकी तथा मनुष्यकी प्राणिक प्रकृतिको इसी झुकावके लिये एक निश्चित सदाचार संबंधी विधानकी आवश्यकता होती है। परंतु ये सब सहायक तथा सहारा देनेवाली वस्तुएँ हैं, मूल तत्त्व नहीं, ठीक इसीलिये कि इनका संबंध बौद्धिक तथा अवबौद्धिक भागोंसे है, ये इससे अधिक कुछ हो भी नहीं सकतीं और यदि अधिक अज्ञानपूर्ण रीतिसे आग्रह किया जाय तो ये अतिबौद्धिक प्रकाशमें रुकावट भी डाल सकती हैं। जैसी कुछ ये हैं वैसी ही इन्हें मनुष्यको सौंप देना है तथा उसे इनका प्रयोग करना है, परंतु किसी बलपूर्ण तथा कठोर आधिपत्यके द्वारा इन्हें मनुष्यपर, उसके एकमात्र नियमके रूपमें, थोपा नहीं जा सकता। इनके प्रयोगमें सहिष्णुता तथा विभिन्नताकी पूरी स्वतंत्रता पहला नियम है और इसका पालन होना ही चाहिये। धर्मका आध्यात्मिक तत्त्व ही वह एकमात्र आवश्यक वस्तु है जिसे हमें पकड़े रखना है तथा दूसरे प्रत्येक तत्त्व अथवा उद्देश्यको उसके अधीन कर देना है।

परंतु यहाँ एक संदेह उत्पन्न होता है जो कि भेदके एक अधिक गहरे स्रोतको उपस्थित करता है। कारण, आध्यात्मिकतासे धर्मका अभिप्राय प्राय: कोई ऐसी वस्तु प्रतीत होता है जो पार्थिव जीवनसे दूर है, इससे भिन्न है तथा इसकी विरोधी है। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म पार्थिव उद्देश्योंकी पूर्तिके प्रयत्नको आध्यात्मिक जीवनकी विरोधी प्रवृत्तिके रूपमें लेकर तथा पृथ्वीपर मनुष्यकी आशाओंको एक भ्रम और मिथ्या वस्तु समझकर उनकी निंदा करता है, क्योंकि उसके विचारमें ये आशाएँ उसकी स्वर्ग संबंधी आशाके साथ मेल नहीं खातीं। तब आत्मा एक ऐसी दूरस्थ वस्तु बन जाता है जिस तक मनुष्य अपने निम्न भागोंके जीवनका परित्याग करके ही पहुँच सकता है। एक विशेष सीमाके पश्चात्, जब वह अपना उद्देश्य पूरा कर चुका हो, या तो उसे अपने निम्न जीवनका त्याग करना पड़ता है या फिर इसे निरंतर निरुत्साहित करते रहना, कष्ट देना तथा नष्ट कर देना पड़ता है। यदि धर्मका यही सच्चा भाव है तो स्पष्ट है कि सामाजिक प्रयत्न, आशा अथवा अभीप्साके क्षेत्रमें मानवसमाजके लिये

तथा अपनी सत्ताके निम्न भागोंके क्षेत्रमें व्यक्तिके लिये उसके पास कोई सुनिश्चित संदेश नहीं है। क्योंकि हमारी प्रकृतिका प्रत्येक तत्त्व स्वभावतया ही अपने क्षेत्रमें पूर्णताका अभिलाषी है और यदि उसे किसी उच्चतर शक्तिकी आज्ञाको मानना पड़ता है तो इसका कारण यही है कि वह शक्ति उसे उसके अपने क्षेत्रमें भी एक महत्तर पूर्णता तथा पूर्णतर संतुष्टि प्रदान करती है। परंतु यदि पूर्ण बननेकी योग्यतासे इसे वंचित कर दिया जाय तथा इसीलिये आध्यात्मिक प्रेरणा इससे पूर्ण बननेकी अभीप्सा छीन लें तब या तो इसे अपने-आपमें तथा अपनी शक्तियों एवं अपने कार्योंके स्वाभाविक विस्तारके लिये यत्न करनेकी अपनी सामर्थ्यमें विश्वास नहीं रहेगा अथवा यह अपनी प्रवृत्ति और अपने नियम अर्थात् धर्मका अनुसरण करनेके लिये आत्माके आह्वानको ठुकरा देगा। यदि आध्यात्मिकता दुःख, कष्ट और कठोर यातना तथा वस्तुओंकी अनित्यताके सिद्धांतका धर्म बन जाती है तव पृथ्वी और स्वर्गके बीचका, आत्मा और इसके भागोंके बीचका झगड़ा और भी अधिक निष्फल बन जाता है। इसको अतिशय रूप दे देनेसे यह आत्माके लिये एक ऐसी भयावह स्थिति बन जाता है जैसी कि मध्यकालीन युगकी अत्यंत अशुभ घड़ीमें भयंकर अवसाद और निराशाके रूपमें उत्पन्न हो गयी थी, जब कि मानवजातिकी एकमात्र आशा जगत्के भावी तथा प्रत्याशित विनाशमें, एक अनिवार्य तथा वांछनीय प्रलयमें ही निहित दिखायी देती थी। परंतु जगत्के विषयमें इस निराशावादी मनो-दशाके कम निश्चित तथा असहिष्णु रूपोंमें भी यह भाव जीवनको निरुत्साहित कर देनेवाला बन जाता है और इसलिये जीवनके लिये सच्चा विधान तथा मार्गदर्शक नहीं हो सकता। उस सीमातक समस्त निराशावाद 'आत्मा'की, उसकी पूर्णता तथा शक्तिकी अस्वीकृति है, जगत्में भगवान्के तरीकोंके प्रति अधैर्यका भाव है, भागवत 'प्रज्ञा' तथा 'संकल्प'में जिन्होंने जगत्की सृष्टि की है और जो सदा ही इसका पथप्रदर्शन करते हैं अपर्याप्त विश्वासका भाव है। वह उस परम 'प्रज्ञा' तथा 'शक्ति'के विषयमें गलत भावोंके लिये द्वार खोल देता है और इसीलिये स्वयं आत्माकी ऐसी परम प्रज्ञा तथा संकल्प नहीं बन सकता जिसकी ओर जगत् अपने मार्गदर्शनके लिये तथा अपने समस्त जीवनको भगवान्की ओर ऊपर उठा देनेके लिये आशाभरी दृष्टिसे देख सके।

पश्चिमकी धर्मसे विमुखता, धर्मके अधिकार तथा आग्रहके महत्त्वको कम करनेका भाव, जिसके द्वारा यूरोपने अपनी मध्ययुगीय धार्मिक मनोदशासे 'पुनरुत्थान' तथा 'सुधार'के आंदोलनके बीचमेंसे होते हुए आधुनिक बुद्धिवादी

मनोदशातक प्रगति की है, सामान्य जीवनको ही अपना एक लक्ष्य तथा व्यवसाय बना देना, समस्त आध्यात्मिक जिज्ञासासे रहित निम्न भागोंके द्वारा अपनी परिपूर्त्तिका प्रयास, यह सब उलटी दिशामें गलती थी, विरोधी प्रकारकी और अज्ञानपूर्ण सीमा थी, गलत स्वीकृतिसे गलत अस्वीकृतिकी ओर पैंडुलमकी अंध गति थी। यह गलती इसलिये है कि पूर्णताकी प्राप्ति इस प्रकारकी सीमावद्ध तथा प्रतिबंधयुक्त अवस्थामें नहीं हो सकती, क्योंकि यह मानव-अस्तित्वके संपूर्ण विधानको, उसकी गंभीरतम प्रेरणाको, उसकी सबसे गुप्त प्रवृत्तिको ही अस्वीकार करती है। केवल उच्चतम तत्त्वके प्रकाश तथा शक्ति ही निम्नतर भागको मार्ग दिखा सकते हैं, उसे ऊपर उठा सकते तथा पूर्ण बना सकते हैं। मनुष्यका निम्नतर जीवन अपने स्वरूपमें अदिव्य है, यद्यपि इसके अंदर दिव्यका रहस्य छिपा है, और उच्चतर विधान तथा आध्यात्मिक प्रकाशको प्राप्त करके ही इसे दिव्य बनाया जा सकता है। दूसरी ओर, क्योंकि जीवन इस समय अदिव्य है तथा आध्यात्मिक जीवनके साथ समस्वरताकी अवस्थामें नहीं है, अधीरतापूर्वक जीवनकी निंदा करना, उससे निराश हो जाना, उसकी वृद्धिको निरुत्साहित करना भी उतना ही वड़ा अज्ञान है, "अन्धं तमः"की अवस्था है। संसारका त्याग करनेवाला वैरागी, एक कोरा तपस्वी इस प्रवृत्तिका अनुसरण करके अपनी व्यक्तिगत तथा विशेष प्रकारकी मुक्ति, अपने त्याग एवं तपस्याका आध्यात्मिक फल भले ही प्राप्त कर ले, जिस प्रकार कि भौतिकवादी अपने ही विशेष तरीकोंसे अपनी शक्ति तथा एकाग्रचित खोजका समुचित फल प्राप्त कर लेता है, परंतु ये दोनों मानवजातिके सच्चे पथप्रदर्शक तथा विधान-निर्माता नहीं वन सकते। वैराग्यकी अवस्थामें जीवन तथा इसकी अभीप्साओंके प्रति एक भय, घृणा तथा अविश्वासका भाव निहित होता है और जिसके साथ हमें जरा भी सहानुभूति न हो और हमारे अंदर जिसके महत्त्वको कम करनेका तथा जिसे निरुत्साहित करनेका भाव हो, उसका वुद्धिमत्तापूर्वक पथप्रदर्शन भला कैसे किया जा सकता है। यदि निपट तपस्वी-भाव ही जीवन तथा मानवसमाजका निर्देशन करता तो वह उन्हें स्वयं अपना त्याग करने तथा अपने उद्देश्योंसे परे हट जानेके लिये साधन वना देता। तपस्वीका पथप्रदर्शन निम्न क्रियाओंको सहन तो कर सकता है, परंतु उसका उद्देश्य उन्हें इस वातके लिये तैयार करना होता है कि अंतमें वे अपने कर्मोंको कम कर दें और वादमें तो इनका त्याग ही कर दें। परंतु जो आध्यात्मिकता जीवनसे इसलिये पीछे हटती है कि वह जीवनको अपने अंदर लपेट ले, परंतु स्वयं उसके वशीभूत न हो जाय,

वह इस दोषसे ग्रस्त नहीं होती। आध्यात्मिक मनुष्यको, जो मानव-जीवनको उसकी पूर्णताकी ओर ले जा सकता है, प्राचीन भारतीय विचारमें ऋषिका नाम दिया गया है। ऋषि वह है जिसने मानव-जीवनका पूर्ण रूपसे उपयोग किया है तथा अतिबौद्धिक, अतिमानसिक, और आध्यात्मिक सत्यका श्रुतिज्ञान प्राप्त कर लिया है। इन निम्न अवस्थाओंसे वह अब ऊपर उठ चुका है और सब वस्तुओंको ऊपरसे देख सकता है, परंतु उसे इन सबके प्रयासके साथ सहानुभूति भी है और वह अंदरसे भी इनपर दृष्टि डाल सकता है। उसे पूर्ण अंतर्ज्ञान एवं उच्चतर उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त है। इसलिये जिस प्रकार भगवान् दिव्य रीतिसे पथप्रदर्शन करते हैं उसी प्रकार वह भी मानव-रीतिसे जगत्का पथप्रदर्शन कर सकता है, क्योंकि भगवान्के समान ही वह जागतिक जीवनके बीचमें भी है तथा उसके ऊपर भी है।

तो फिर आध्यात्मिकताको इस भावमें समझते हुए, हमें इसीमें निर्देशक प्रकाश तथा सामंजस्यसाधक विधानके लिये खोज करनी चाहिये और जिस अनुपातमें धर्म अपनेको आध्यात्मिकताके साथ एक कर लेता है केवल उसी अनुपातमें हमें धर्ममें इनकी खोज करनी चाहिये। जबतक धर्ममें इस प्रकारकी कमी रहती है तबतक वह अन्य मानव-क्रियाओं तथा शक्तियोंके ही समान होता है और यदि उसे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा शक्तिशाली मान भी लिया जाय तो भी वह दूसरी क्रियाओं और शक्तियोंका पूर्णतया पथप्रदर्शन नहीं कर सकता। यदि वह सर्वदा ही उन्हें एक मत, एक अपरिवर्तनीय नियम, एक विशेष प्रकारके विधानकी सीमामें निश्चित रूपसे बाँध देना चाहता है तो अपने नियंत्रणसे उन्हें विद्रोह करते हुए देखनेके लिये भी उसे तैयार रहना चाहिये। क्योंकि चाहे कुछ कालके लिये वे इस प्रभावको स्वीकार कर भी लें तथा इससे खूब लाभ भी उठा लें, परंतु अंतमें तो उन्हें अपनी सत्ताके विधानके अनुसार एक अधिक स्वतंत्र कर्म तथा उन्मुक्त गतिकी ओर ही बढ़ना है। आध्यात्मिकता मानव-आत्माकी स्वतंत्रताका मान करती है, क्योंकि इसकी अपनी परिपूर्त्ति भी स्वतंत्रताके द्वारा ही होती है तथा अपनी प्रकृतिके विधान, अपने धर्मके अनुसार पूर्णताकी ओर विस्तार तथा वृद्धि पानेकी शक्ति ही स्वतंत्रताका गहनतम अभिप्राय है। यही स्वतंत्रता वह हमारी सत्ताके सब भागोंको प्रदान करेगी। दर्शन तथा भौतिक विज्ञानको भी वह वही स्वतंत्रता देगी, जैसा कि प्राचीन भारतीय धर्मने किया था,—यदि वे चाहें तो आत्माको अस्वीकार करनेकी स्वतंत्रता भी देगी—जिसका परिणाम यह हुआ कि

भारतमें दर्शन और विज्ञानने धर्मसे अलग होनेकी कभी कोई आवश्यकता ही नहीं अनुभव की, वल्कि धर्ममें, धर्मके प्रकाशमें ही वे विकसित हुए। मनुष्यकी राजनीतिक तथा सामाजिक पूर्णताके प्रयासको तथा उसकी समस्त दूसरी शक्तियों और अभीप्साओंको भी वह यही स्वतंत्रता प्रदान करेगी। हाँ, वह सतर्क रहकर उन्हें प्रकाश देगी, ताकि वे किसी प्रकारके दवाव अथवा प्रतिवंधके द्वारा नहीं, अपितु आत्मान्वेपी और आत्मनियंत्रित विस्तार तथा अपनी सवसे महान्, उच्चतम और महत्तम शक्तियोंकी वहुपक्षीय प्राप्तिके द्वारा आत्माके प्रकाश तथा विधानमें अभिवृद्धि पावें। कारण, ये सव आत्माकी ही शक्तियाँ हैं।

अठारहवाँ अध्याय

विकासक्रममें अवबौद्धिक युग

सुतरां, व्यक्ति अथवा समष्टिगत मानवकी पूर्णताके संबंधमें हमारी अंतिम एवं एकमात्र आशा आध्यात्मिकतामें ही निहित है। यह आध्यात्मिकता उस आत्माकी नहीं है जो अपनी पृथक् संतुष्टिके लिये पृथ्वी तथा उसके कर्मोंसे मुख मोड़ लेती है, अपितु यह उस महत्तर आत्माकी है जो उनसे ऊपर है, परंतु फिर भी उन्हें स्वीकार करती है तथा उनकी परिपूर्त्ति करती है। यह वह आध्यात्मिकता है जो मनुष्यकी बौद्धिकता, सौंदर्य भावना, नैतिकता, प्राणिकता तथा भौतिकताको, ज्ञान-पिपासाको, सौंदर्यके प्रति उसके आकर्षणको, प्रेमकी उसकी आवश्यकताको, पूर्णताकी ओर उसकी प्रवृत्तिको, जीवन तथा सत्ताकी शक्ति एवं विपुलताके लिये उसकी माँगको, अपने अंदर समाविष्ट कर लेगी; यह आध्यात्मिकता इन परस्पर अस्तव्यस्त शक्तियोंके आगे इनका दिव्य भाव तथा इनके देवताकी शर्त्तें प्रकट करेगी, इन्हें परस्पर सामंजस्यमें लायगी, प्रत्येककी दृष्टिके सम्मुख उस मार्गको प्रकाशित करेगी जिसपर ये अबतक अर्ध-प्रकाश तथा छायामें, अंधेके समान अथवा विचलित दृष्टिके साथ चल रही हैं। यह एक ऐसी शक्ति है जिसे मनुष्यका अत्यधिक स्वपर्याप्त तर्क भी सर्वोच्च शक्तिके रूपमें स्वीकार कर सकता है अथवा कम-से-कम उसे एक दिन स्वीकार करनेके लिये तैयार किया जा सकता है, साथ ही वह उसमें अपना परम प्रकाश अपना अनंत स्रोत पा सकता है। क्योंकि यह अंतमें निश्चय ही अपने-आपको युक्तियुक्त अंतिम प्रक्रियाके रूपमें, सबके अनिवार्य विकास तथा परिणतिके रूपमें, जिसके लिये मनुष्य व्यक्तिगत तथा सामाजिक रूपमें प्रयास कर रहा है, प्रकट करती है। मानवजातिकी वृद्धिशील आध्यात्मिकताका, जो अभी भी अपरिपक्व और आरंभिक अवस्थामें है, संतोषप्रद विकास होना एक ऐसी संभावना है जिसके लिये अनुभववादका युग जागृतिकी पहली झलक है अथवा जिसकी ओर वापिस लौट जानेके लिये यह पहली गंभीर संभावनाको प्रस्तुत करता है। व्यक्ति और सामुदायिक सत्ता तथा उसके जीवनको अधिक गंभीर, अधिक विस्तारपूर्ण, अधिक महान्, अधिक आध्यात्मीभूत और अनुभववादी रीतिसे समझना

तथा अपनी समस्याओंके समाधानके लिये आध्यात्मिक प्रकाश तथा आध्यात्मिक साधनोंपर उत्तरोत्तर निर्भर रहना सच्ची सामाजिक पूर्णता प्राप्त करनेका मार्ग है। विकास-प्राप्त आध्यात्मिक मनुष्यके--उसे अर्ध-आध्यात्मिक पुजारी, संत, अथवा पैगम्बर अथवा अधकचरा धर्मवादी नहीं होना चाहिये--स्वतंत्र शासन अर्थात् उसके प्रवल नेतृत्व, नियंत्रण और प्रभावमें ही जातिके दिव्य मार्गदर्शनके लिये हमारी आशा निहित है। केवल आध्यात्मिकताको प्राप्त समाज ही व्यक्तिगत समस्वरता तथा सामुदायिक सुखका राज्य स्थापित कर सकता है। अथवा हम इन शब्दोंमें--जिनका तर्क तथा आवेग दुरुपयोग भी कर सकते हैं, परंतु इस भावको अभिव्यक्त करनेके लिये हमारे पास सबसे अधिक उपयुक्त शब्द हैं ही यही--कह सकते हैं कि वह एक नये प्रकारका आस्तिकवाद, पृथ्वीपर भगवान्‌का राज्य, एक इस प्रकारका आस्तिकवाद होगा जो मानवजातिपर, मनुष्योंके हृदयों तथा मनोंपर भगवान्‌का शासन होगा।

निःसंदेह इसकी स्थापना सरलताके साथ नहीं होगी और न ही यह, जैसी कि मनुष्य सदा ही प्रत्येक नवीन तथा महान् राजनीतिक और सामाजिक झुकाव और क्रांतिसे व्यर्थकी आशा करते आये हैं, किसी अचानक और पूर्णतया संतोषप्रद परिवर्तन तथा जादूके-से रूपांतरके द्वारा ही स्थापित हो जायगा, फिर भी यह प्रगति, चाहे किसी प्रकारसे हो, होगी चमत्कारपूर्ण ढंगकी जैसे कि इस प्रकारके समस्त गंभीर परिवर्तन तथा महान् विकासके कार्य हुआ करते हैं, क्योंकि वे कुछ ऐसे असंभव कार्य दिखायी दिया करते हैं जो अंतमें सिद्ध हो जाते हैं। परंतु भगवान् अपने समस्त चमत्कार उन गुप्त संभावनाओंके विकासकी प्रक्रियाके द्वारा करते हैं, जिनकी, कम-से-कम उनके आरंभिक तत्त्वोंमें, बहुत कालसे तैयारी होती रहती है और फिर अंतमें इन सबको तेजीसे परिणतिकी ओर ले जाया जाता है, सब तत्त्वोंको इस प्रकार एकत्र करके फेंका जाता है कि उनके आपसमें मिलनेसे वस्तुओंको एक नया रूप, एक नया नाम मिल जाता है, साथ ही वे एक नयी भावनाको भी प्रकट करते हैं। प्रायः ही, इस निर्णायक झुकावसे पहले उन वस्तुओंपर जो नये सिद्धांत और नये सृजनसे सर्वथा विपरीत तथा विरुद्ध प्रतीत होती हैं प्रकट रूपमें बल दिया जाता है तथा उन्हें उनकी चरम सीमातक उभारा जाता है। कम-से-कम अनुभवात्मक युग आध्यात्मिक समाजके तत्त्वोंके जिस विकासको संभव बना देता है, वह इसी प्रकारका है, और यदि वह उसी समय वस्तुओंके उस रूपको, जो उस संभावनाके सर्वथा विरुद्ध प्रतीत होता है, वस्तुओंकी क्रियात्मक सामर्थ्यकी निम्नतक

पहुँचा देता है तो यह अवस्था उस नवीन सृजनकी व्यावहारिक असंभावनाका मापदण्ड हो यह आवश्यक नहीं, वल्कि उलटे यह तो उसके आगमनका चिह्न होनी चाहिये अथवा, कम-से-कम, सिद्धिके लिये एक दृढ़ प्रयत्न तो होनी ही चाहिये। निःसंदेह, अनुभवात्मक युगका समस्त प्रयत्न निरर्थक भी हो सकता है, परंतु ऐसा अधिकतर तभी होता है जव कि अपने साधनोंकी अपर्याप्तता, अपने आरंभिक बिंदुके अत्यधिक कच्चेपन तथा स्वयं अपने अंदर तथा वस्तुओंके अंदर देखनेवाली अंतर्दृष्टिके अधीर ओछेपन तथा संकीर्ण तीव्रताके कारण उसमें आत्मज्ञानसंवंधी मौलिक गलतीका आ जाना पूर्व-निश्चित होता है। पर जव युगधर्म स्वतंत्रता, विविधता तथा वहुमुखी खोजसे पूर्ण तथा मानव-कर्मके प्रत्येक क्षेत्रमें ज्ञान तथा पूर्णताके लिये सतत प्रयत्नसे युक्त होता है तब इस गलतीकी संभावना कम रह जाती है। यह प्रयत्न वहुविध तथा वहुमुखी रूपमें अनंत तथा दिव्य भगवान्की प्राप्तिके तीव्र परंतु फिर भी लचीले प्रयासका रूप भी धारण कर सकता है। ऐसी अवस्थाओंमें, चाहे पूर्ण प्रगति संभव न भी हो सके तो भी आगेकी ओर एक महान् पग उठानेकी भविष्यवाणी तो की ही जा सकती है।

हम देख चुके हैं कि सामाजिक विकासकी या फिर सामान्यतः व्यक्ति और समाज दोनोंमें होनेवाले मानव-विकासकी अनिवार्य रूपमें तीन अवस्थाएँ होती हैं। हमारा विकास अववौद्धिक अवस्थासे शुरू होता है, इस अवस्थामें मनुष्योंने अपने जीवन और कर्मका, उनके सिद्धांतों तथा बाह्य रूपोंके विषयमें, निर्णय करनेका भार अपने निर्मल विवेकको सौंपना नहीं सीखा होता, क्योंकि अभी भी वे मुख्यतया अपनी सहजप्रवृत्तियों, अपने आवेगों, सहजविचारों तथा प्राणिक अंतःप्रेरणाओंके द्वारा प्रेरित होकर ही कर्म करते हैं, अथवा इच्छा, आवश्यकता एवं परिस्थितिके प्रति अभ्यासगत प्रेरणासे काम करते हैं—इन्हीं भावोंको वस्तुतः मनुष्योंकी सामाजिक संस्थाओंमें नियमवद्ध कर दिया जाता है अथवा ठोस वना दिया जाता है। मनुष्य इन्हीं आरंभोंमेंसे, कई स्तरोंमेंसे होकर, एक ऐसे वौद्धिक युगकी ओर वढ़ता है जिसमें न्यूनाधिक विकासयुक्त उसका विवेकपूर्ण संकल्प निर्णायक, पंच तथा उसके विचार, संवेदन एवं कर्मकी प्रधान प्रेरक शक्ति वन जाता है, वह उसके मुख्य विचारों, उद्देश्यों और अंतर्बोधोंको ढालता है, विध्वंस करता है तथा उनका पुनर्निर्माण करता है। और यदि हमारा विश्लेषण और अनुमान ठीक है तो अंतमें मानव-विकासको अनुभवात्मक युगमेंसे होकर उस अतिबौद्धिक अथवा आध्यात्मिक युगकी ओर वढ़ना ही होगा जिसमें वह क्रमशः एक महत्तर आध्यात्मिक, अतिबौद्धिक तथा अंतर्ज्ञानात्मक और

अंतमें संभवत: अंतर्ज्ञानात्मकसे भी अधिक एक विज्ञानात्मक चेतनाका विकास कर लेगा और वह जो कुछ बनने, अनुभव करने, सोचने तथा करनेका प्रयास कर रहा है उसके लिये वह एक उच्चतर दिव्य परिणति, दिव्य स्वीकृति तथा पथप्रदर्शनके लिये दिव्य प्रकाशको अनुभव करनेमें समर्थ हो जायगा तथा साथ ही इस विशालतर प्रकाश तथा शक्तिमें अधिकाधिक निवास कर सकेगा तथा इसकी आज्ञाका पालन कर सकेगा। यह कार्य धर्मके अवबौद्धिक आवेग या भावोद्रेककी किसी विधिसे नहीं हो सकेगा जो मध्य युगकी अंधकारपूर्ण अस्तव्यस्तता तथा पाशविक हिंसाका विशेष स्वरूप अथवा उसका धुंधला आलोक थी। अपितु, इसका स्वरूप एक प्रकारका उच्चतर आध्यात्मिक जीवन होगा जिसके लिये तर्कबुद्धिके निर्मल रूप आवश्यक तैयारी हैं, और जिसमें इन रूपोंका भी समावेश कर दिया जायगा, इनका रूपांतर कर दिया जायगा तथा इन्हें इनके गुप्त स्रोतके साथ जोड़ दिया जायगा।

मानवके मनोवैज्ञानिक विकासमें ये स्तर अथवा युग पाषाण-युग तथा उन अन्य युगोंसे कहीं अधिक अनिवार्य हैं जिन्हें मनुष्यकी यंत्रात्मक संस्कृतिमें विज्ञानने विशेष रूपसे वर्णित किया है, क्योंकि ये किन्हीं बाह्य साधनों अथवा घटनाओंपर निर्भर नहीं हैं, बल्कि स्वयं अपनी सत्ताके स्वभावपर ही निर्भर हैं। परंतु इससे हमें यह अनुमान नहीं कर लेना चाहिये कि ये स्वभावत: ही अपनी प्रकृतिमें अनन्य तथा निरपेक्ष हैं अथवा जब ये आते हैं तब अपनी प्रवृत्ति अथवा परिपूर्त्तिमें पूर्ण होते हैं अथवा अपने कर्म और कालमें एक-दूसरेसे बिलकुल अलग-अलग पहचाने जा सकते हैं। ये न केवल एक-दूसरेमेंसे उद्भूत होते हैं अपितु इनका आंशिक विकास भी एक-दूसरेमें ही होता है और एक ही कालमें पृथ्वीके भिन्न-भिन्न भागोंमें इनका सह-अस्तित्व भी हो सकता है। परंतु, क्योंकि मनुष्य समग्र रूपमें, यहाँतक कि जंगली और दुराचारी मनुष्य भी, सदा एक जटिल सत्ता होता है, वह अनन्य अथवा निरपेक्ष रूपमें इनमेंसे कोई एक वस्तु नहीं हो सकता—जबतक कि वह अपनेसे ऊपर ही नहीं उठ जाता, विकास करके अतिमानव ही नहीं बन जाता अर्थात् जबतक कि वह अपनी समस्त सत्ताको ही आध्यात्मिक और दिव्य नहीं बना लेता। अपने निकृष्ट पशु-भावमें वह अब भी किसी-न-किसी प्रकारका चिंतनशील पशु ही है, यहाँतक कि अवबौद्धिक मनुष्य भी निपट अवबौद्धिक नहीं हो सकता, अपितु उसमें भी किसी-न-किसी प्रकारकी न्यूनाधिक विकसित अथवा निर्वातित तर्कबुद्धिकी तथा न्यूनाधिक प्रारंभिक अतिबौद्धिक तत्त्वकी, आत्माकी

न्यूनाधिक प्रच्छन्न क्रियाकी क्रीड़ा होती है अथवा उसकी ओर प्रवृत्ति होती है। अपने मनकी स्वच्छतम अवस्थामें वह अभी भी एक विशुद्ध मनोमय सत्ता, एक विशुद्ध प्रज्ञा नहीं है; एक अत्यधिक पूर्ण बौद्धिक मनुष्य भी पूर्णतया और केवल तार्किक नहीं है और न हो सकता है—उसमें कुछ ऐसी प्राणिक प्रेरणाएँ होती हैं जिन्हें वह छोड़ नहीं सकता, ऊपरसे प्रकाशके इस प्रकारके अवतरण तथा संस्पर्श भी उसे प्राप्त होते हैं जो इस कारणसे कोई कम अतिबौद्धिक नहीं होते कि वह उन्हें पहचान नहीं पाता। वह कोई देवता नहीं है, अपितु अपनी उच्चतम अवस्थामें भी वह एक मनुष्य है जिसे दिव्य प्रभावकी किरणका संस्पर्श प्राप्त हुआ है, जबतक मानव पूर्ण रीतिसे विकसित नहीं होता तबतक उसकी आध्यात्मिकतामें भी—चाहे वह कितनी ही प्रबल क्यों न हो—उसकी बौद्धिक एवं अवबौद्धिक प्रवृत्तियाँ तथा तत्त्व रहते ही हैं। और जैसा व्यक्तियोंके मनोमय जीवनमें होता है वैसा ही मानवके सामुदायिक जीवनके युगोंमें भी होता है। किसी एक तत्त्वकी प्रधान क्रियाके कारण ये एक-दूसरेसे अलग किये जा सकते हैं, किसी एक तत्त्वकी शक्ति दूसरोंको अभिभूत कर सकती है अथवा उनको अपनेमें समाविष्ट कर लेती है, परंतु किसी एक तत्त्वकी विशुद्ध क्रीड़ा न तो अभिप्रेत होती है और न संभव ही।

इस प्रकार मनुष्यके व्यक्तिगत तथा सामाजिक विकासके अवबौद्धिक कालका अपने तत्त्वोंसे, तर्कबुद्धि तथा आध्यात्मिकताके अपने दृढ़ तत्त्वोंसे रहित होना आवश्यक नहीं है। यहाँतक कि असभ्य मानव, चाहे वह आरंभिक जंगली मनुष्य हो अथवा पतित, उसके पास भी इस जगत् तथा इससे परेके विषयमें कोई समन्वित विचार, जीवन तथा धर्म-विषयक कोई सिद्धांत अवश्य होता है। अधिक बुद्धिवादी होनेके कारण हम लोगोंको उसका जीवन-विषयक सिद्धांत अस्तव्यस्त प्रतीत हो सकता है, क्योंकि अब हम उसका दृष्टिकोण तथा मनोमय संबंधों-विषयक उसका सिद्धांत खो चुके हैं। परंतु फिर भी यह तर्कबुद्धिका ही कार्य है तथा इसकी सीमाओंके भीतर यह चिंतनात्मक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकारके विचारकी पर्याप्त क्रियाके लिये समर्थ है। इसी प्रकार उसमें एक स्पष्ट नैतिक विचार तथा अभिप्रायके लिये, कुछ सौंदर्यात्मक भावोंके लिये तथा समाजकी एक विज्ञात अवस्थाके लिये भी सामर्थ्य है यद्यपि हमारी दृष्टिमें यह समाज अपर्याप्त तथा बर्बर प्रतीत होता है, परंतु अपने सरल अभिप्रायकी सिद्धिके लिये यह पर्याप्त रूपसे सुयोजित और संगठित है अथवा यह भी हो सकता है कि जीवन संबंधी इस आरंभिक सिद्धांतमें तर्कबुद्धिके तत्त्वको अथवा असंस्कृत

धर्ममें आध्यात्मिकताके तत्त्वको हम अनुभव न कर सकें, क्योंकि यह प्रतीकों तथा रूपोंका बना हुआ प्रतीत होता है, और ये अविकसित मनवाले लोग इन प्रतीकों एवं रूपोंका जो मूल्य लगाते हैं वह अंधविश्वाससे पूर्ण होता है। परंतु इसका कारण यह है कि इस स्तरपर तर्कबुद्धिका कार्य अधूरा एवं सीमित रहता है और आध्यात्मिकताका तत्त्व अपरिपक्व या अविकसित होता है तथा अभी आत्म-सचेतन भी नहीं होता। इनके कार्योंको दृढ़तापूर्वक पकड़े रखनेके लिये तथा अपने मन और आत्माके लिये इन्हें वास्तविक तथा ठोस बनाये रखनेके लिये आरंभिक मनुष्य इन्हें प्रतीकों तथा रूपोंका आकार देनेको बाध्य होता है और इनके साथ वह एक प्रकारके बर्बर तथा पूजाके भावके द्वारा चिपटा रहता है, क्योंकि जीवनमें उसके आत्म-पथप्रदर्शनके तरीकेको केवल ये ही उसके सम्मुख प्रकट कर सकते हैं। कारण, उनके अंदर मुख्य वस्तु सहजप्रवृत्तियोंका अवबौद्धिक जीवन, प्राणिक अंतर्ज्ञान और आवेग तथा यांत्रिक रीति और परंपरा है, और यह ऐसा भाग है जिसमें उसके शेष भागको किसी प्रकारकी प्रारंभिक व्यवस्था लानी है तथा प्रकाशकी प्रथम मंद रश्मियाँ पहुँचानी हैं। उसके अंदरकी असंस्कृत तर्कबुद्धि एवं ज्ञानके प्रकाशसे रहित आत्मा अपने उद्देश्योंकी पूर्त्तिके लिये कर्म नहीं कर सकतीं, वे तो उसकी अवबौद्धिक प्रकृतिकी क्रीत दासियाँ हैं।

उन्नतिके ऊँचे स्तरपर अथवा एक अधिक पूर्ण विकासकी ओर आनेपर—क्योंकि मानवजातिमें वास्तविक जंगली संभवतः मूल आरंभिक मानव नहीं है, बल्कि आरंभिक अवस्थाकी ओर पलटनेकी, वापिस लौट जानेकी उसकी प्रवृत्ति है—समाजका अवबौद्धिक स्तर सभ्यताकी किसी बहुत अधिक ऊँची अवस्थामें पहुँच भी सकता है। जीवनके अर्थ अथवा सामान्य अभिप्रायके संबंधमें वह महान् अंतःस्फुरित ज्ञान रख सकता है। उसके पास जीवन-व्यवस्था संबंधी प्रशंसनीय विचार, समस्वरतापूर्ण, सुयोजित, टिकाऊ तथा उपयोगी सामाजिक व्यवस्था भी हो सकती है, एक ऐसा प्रभावशाली धर्म भी उसके हिस्सेमें आ सकता है जो गहरे भावोंसे शून्य न होगा, परंतु जिसमें प्रतीकों और आडंबरपूर्ण रीतियोंका सबसे बड़ा भाग होगा और जो एक वृहत् जनसमुदायके लिये प्रायः संपूर्ण धर्म ही होगा। इस स्तरपर विशुद्ध तर्कबुद्धि और विशुद्ध आध्यात्मिकता समाजका संचालन नहीं करेंगी, न मनुष्योंके बड़े-बड़े समुदायोंको ही वे प्रभावित करेंगी, बल्कि यदि ऐसा होगा भी तो पहले कुछ थोड़ेसे व्यक्ति उनका प्रतिनिधित्व करेंगे, परंतु जैसे-जैसे ये दोनों शक्तियाँ अपनी विशुद्धता तथा अपने ओजमें बढ़ती जायँगी

और अधिकाधिक अनुयायियोंको आकर्षित करती जायँगी वैसे-वैसे वे भी संख्यामें बढ़ते जायँगे।

यदि तर्कबुद्धिका सबसे अधिक शक्तिशाली विकास हुआ तो यह स्थिति महान् विचारक व्यक्तियोंके युगकी ओर भी ले जा सकती है। ये विचारक जीवनके किसी विचारको, उसके स्रोतों तथा उसके नियमोंको अधिकृत कर लेते हैं और उससे उन आलोचनात्मक बुद्धिवाले लोगोंके दर्शनका निर्माण करते हैं जो अकेले सामान्य मानव-समुदायसे ऊपर स्थित होते हैं और जो जीवनको अभी ज्योतिर्मय विशालतासे, प्रज्ञाकी सूक्ष्म नमनीयतासे अथवा एक स्पष्ट एवं सर्वग्राही गहराईसे तो देख नहीं पाते परंतु फिर भी प्रज्ञाकी शक्तिसे, गहरी दृष्टि और तीव्रतासे अवश्य देखते हैं, शायद कहीं-कहीं कोई प्रमुख सामाजिक विचारक किसी सामाजिक दुर्घटना अथवा गड़बड़से लाभ उठाकर किसी स्पष्ट युक्ति-संगत तथा विवेकपूर्ण सिद्धांतके आधारपर समाजको अपना सुधार करने अथवा अपना पुनर्निर्माण करनेके लिये प्रवृत्त करनेमें सफल हो जाता है। यूनानी सभ्यताकी आरंभिक परंपराएँ, बल्कि उसके गतिशील तथा प्रगतिशील कालके प्रारंभिक रूप इसी प्रकारके युगका प्रतिनिधित्व करते हैं। और यदि आध्यात्मिकताकी प्रधानता रहे तो ऐसे-ऐसे महान् गुह्यवेत्ता उत्पन्न होंगे जो हमारी प्रकृतिकी गहरी और अभी-तक गुह्य मनोमय संभावनाओंके अंदर डुबकी लगानेमें समर्थ होंगे और जो मनुष्यके अंदर आत्मा तथा पुरुषके सत्यका आभास पाकर उसे चरितार्थ करेंगे, और यदि वे इन बातोंको गुप्त भी रखें और केवल कुछ थोड़ेसे शिष्योंपर ही प्रकाशित करें तो भी इनके द्वारा सामान्य जन-जीवनके असंस्कृत रूपोंको वे गहराई अवश्य प्रदान करेंगे। इन रहस्योंकी पुरानी परंपराओंमें भी इस प्रकारकी प्रगतिका एक धुंधला-सा निर्देश मिलता है। प्रागैतिहासिक भारतमें हमें इसका दिग्दर्शन एक ऐसे विशिष्ट तथा निराले झुकावके रूपमें मिलता है, जिसने समाजकी समस्त भावी प्रकृतिका निर्णय किया तथा भारतीय सभ्यताको मानवजातिके इतिहासमें एक पृथक् तथा अपने ही प्रकारकी अनूठी वस्तु बना दिया। परंतु एक ऐसी मानवजातिके बीचमें, जो अभी भी तर्कबुद्धि तथा आध्यात्मिकतासे नीचेकी अवस्थामें है, ये वस्तुएं प्रकाशका पहला आरंभ ही हैं तथा अपने इन अग्रगामी तत्त्वोंके प्रभावको जब वह ग्रहण भी करने लगेगी तब भी वह उनकी प्रेरणाको अस्पष्ट रूपमें ही प्रत्युत्तर देगी और जो कुछ वे उसे प्रदान करते हैं अथवा उसपर थोपते हैं उसे किसी बहुत स्पष्ट विवेकपूर्ण अथवा जाग्रत् आध्यात्मिक रूपमें ग्रहण नहीं कर सकेगी। अभी भी वह हर वस्तुको अवबौद्धिक

तथा विकृत परंपराका रूप देती है तथा अधूरी रीतिसे ज्ञात रस्मों एवं आवरक प्रतीकोंके द्वारा आध्यात्मिक जीवन यापन करती है। उच्च वस्तुओंको वह अस्पष्ट रूपमें ही अनुभव करती है, अपने सशंक तरीकेसे ही उनके अनुसार चलनेका प्रयास करती है, परंतु अभी भी उसे कुछ बोध नहीं होता; वह उनके बौद्धिक रूपपर अथवा उनके तत्त्वके आध्यात्मिक केंद्रपर अधिकार नहीं प्राप्त कर सकती।

जैसे-जैसे तर्कबुद्धि तथा आध्यात्मिकताका विकास होता जाता है वैसे-वैसे वे अधिक विशाल तथा अधिक व्यापक शक्ति बनती जाती हैं, उनमें शायद कुछ तीव्रता अवश्य कम होती है पर वे अधिक विस्तृत हो जाती हैं तथा जन-समुदायपर उनका प्रभाव भी अधिक प्रबल हो जाता है। गुह्यवेत्ता एक ऐसे महान् आध्यात्मिक विकासका बीज बोने लगते हैं जिसमें समाजकी समस्त श्रेणियाँ, यहाँतक कि सब श्रेणियोंके मनुष्य भी प्रकाशकी तलाश करते हैं जैसा कि भारतवर्षमें उपनिषद्-कालमें हुआ था। अकेले कुछ-एक विचारक व्यक्तियोंका स्थान लेखक, कवि, विचारक, अलंकार-शास्त्री, वितण्डावादी तथा वैज्ञानिक अन्वेषक ले लेते हैं जो चिंतनशीलताको प्रोत्साहन देनेवाली तीव्र कल्पना तथा खोजकी बाढ़-सी ला देते हैं तथा जन-समुदाय में भी बुद्धिकी एक सर्वसामान्य क्रिया उत्पन्न कर देते हैं, यूनानमें वितण्डावादियोंके युगमें ऐसा ही हुआ था। एक अवबौद्धिक समाजमें जब आध्यात्मिक विकास तर्कके बिना चरितार्थ होता है तब उसकी पहली प्रवृत्ति तर्क और बुद्धिकी गतिको अतिक्रांत कर जानेकी होती है। क्योंकि जब अवबौद्धिक मनुष्य प्रगति करता है तो उसके अंदरका एक निम्न प्रकारका अंतर्ज्ञान अथवा उसकी प्राणशक्तिसे उत्पन्न एक सहज-अंतर्ज्ञानात्मक दृष्टि ही उसकी सबसे महान् प्रकाशदायक शक्ति होती है, और यह अवस्था जब आंतरिक जीवनकी तीव्रता एवं एक ऐसे गहनतर आध्यात्मिक अंतर्बोधकी वृद्धिका, जो बुद्धिको अतिक्रांत करके उसका परित्याग करता प्रतीत होता है, रूप धारण कर लेती है, तो व्यक्तिका मार्ग सुगम हो जाता है। परंतु समस्त मानवजातिके लिये यह गति स्थिर नहीं रहती। मन और बुद्धिका पूर्ण विकास होना ही चाहिये जिससे कि जातिकी आध्यात्मिकता मनुष्यकी विकसित निम्न प्रकृतिके अर्थात् विवेकपूर्ण मनोमय सत्ताके विस्तृत आधारपर सुरक्षित रूपमें ऊपर की ओर प्रगति कर सके। इसलिये हम देखते हैं कि वृद्धिक्रममें तर्कबुद्धि या तो कुछ समयके लिये विशिष्ट आध्यात्मिक प्रवृत्तिका परित्याग कर देती है, जैसा कि प्राचीन यूनानमें हुआ था, या फिर उसे स्वीकार करके उसके आरंभिक तत्त्व और

कार्योंके इर्द-गिर्द बुद्धिके कार्योंका एक विशाल जाल-सा बुन देती है; इससे, जैसा कि भारतमें हुआ था, प्राचीन योगी ऋषिका स्थान दार्शनिक योगी, धार्मिक विचारक यहांतक कि शुद्ध और सरल दार्शनिक ले लेता है।

कुछ कालके लिये यह नवीन वृद्धि तथा प्रेरणा समस्त समुदायको ही अपने अधीन करती प्रतीत होती है जैसा कि एथेन्समें तथा प्राचीन आर्यावर्तमें हुआ था। परंतु जब तक मानवजाति तैयार नहीं हो जाती तबतक ये आरंभिक उषाकाल अपनी विशुद्धताको अधिक समयतक स्थायी नहीं रख सकते। एक प्रकारकी ठोस बननेकी क्रिया होने लगती है, पहला प्रबल प्रभाव कम हो जाता है, अवबौद्धिक रूपोंकी एक नवीन प्रकारकी वृद्धि होने लगती है जिसमें विचार अथवा आध्यात्मिकताके साथ निकृष्ट वस्तुएँ बहुत बड़े परिमाणमें बाहरसे आकर जुड़ जाती हैं तथा बाह्य रूपमें जड़ पकड़ लेती हैं और इसीमें इनका अंत भी हो सकता है, जब कि सजीव ज्ञान और उच्चतर जीवन एवं कर्मकी परंपरा उच्च वर्गोंकी अथवा एक उच्चतम वर्गकी संपत्ति बन जाती है। जन-समुदाय अपने मनके स्वभावमें अवबौद्धिक ही रहता है, यद्यपि योग्यताके रूपमें वह शायद अब भी अपने पास एक सजीव बुद्धि अथवा एक गहरी या सूक्ष्म आध्यात्मिक ग्रहणशीलता, अपने भूतकालके फलके रूपमें, सुरक्षित रखता है। जबतक बुद्धियुगका समय नहीं आ जाता तबतक समाजके अबौद्धिक कालको छोड़ा नहीं जा सकता, और बुद्धिके युगका आगमन तभी होता है जब केवल कोई श्रेणी अथवा कुछ थोड़ेसे व्यक्ति ही नहीं, अपितु स्वयं समुदाय ही विचार करना, अपने मानवीय जीवनमें, मानवीय आवश्यकताओं, अधिकारों, कर्त्तव्यों तथा अभीप्साओंमें बुद्धिका क्रियात्मक प्रयोग करना सीख लेता है। चाहे प्रारंभमें वह यह कार्य अधूरे ढंगसे ही क्यों न करे, इसका कुछ महत्व नहीं। तबतक हमारे पास, उच्चतम संभव विकासके रूपमें, एक मिश्रित समाज होता है जो सामूहिक रूपमें तो अवबौद्धिक होता है, परंतु उच्च वर्गके लोग उसे सभ्य बनानेके लिये उसकी रक्षा करते हैं, इनका कार्य ही बुद्धि और आत्माकी खोज करना, इन क्षेत्रोंमें मानवजातिकी प्राप्तियोंको सुरक्षित रखना, उनमें वृद्धि करना तथा उनके द्वारा यथासंभव समष्टिके जीवनको ऊपर उठाना होता है।

इस स्थितिमें हम देखते हैं कि 'प्रकृति' अपने मानवसमुदायमें क्रियाशील मन और प्राणकी विविध प्रणालियोंके अनुसार बुद्धि और आध्यात्मिकताके एक महत्तर प्रयोगकी ओर धीरे-धीरे आगे बढ़नेमें प्रवृत्त होती है; इस प्रयोगसे अंततः मानवजातिमें एक बौद्धिक युगकी ओर इसके परिणामस्वरूप

एक आध्यात्मिक युगके आगमनकी संभावना होगी। प्रकृतिकी कठिनाइयाँ दो ओरसे उत्पन्न होती हैं। प्रथम, जहाँ वह मूलत: विशिष्ट व्यक्तियोंके द्वारा विचार, बुद्धि तथा आध्यात्मिकताका विकास कर रही थी वहाँ अब वह इनका विकास विशिष्ट समुदायों तथा राष्ट्रोंके द्वारा, समूहमें, करने लगती है,—कम-से-कम एक ऐसे राष्ट्रके सापेक्ष रूपमें, जिसका शासन, नेतृत्व तथा प्रगतिशील निर्माण एवं प्रशिक्षण उस राष्ट्रकी बौद्धिक और आध्यात्मिक रीतिसे सुसंस्कृत किसी एक श्रेणी अथवा अनेक श्रेणियोंके द्वारा होता है। परंतु जिस विशिष्ट राष्ट्रको अपने उच्च स्तरोंमें विकसित बुद्धि अथवा आध्यात्मिकता अथवा दोनोंका संस्पर्श प्राप्त होता है,—जैसा कि प्राचीन यूरोपमें यूनान और बादके रोमको तथा प्राचीन एशियामें भारत, चीन और फारसको हुआ था,—वह राष्ट्र अपने चारों ओर पुरानी अव-बौद्धिक मानवताके विशाल समूहोंसे घिरा रहता है और उनकी भयंकर समीपतासे सदा खतरेमें रहता है। क्योंकि जबतक एक विकसित भौतिक विज्ञान संतुलनको ठीक करनेके लिये आगे नहीं बढ़ता तबतक एक बर्बरके पास हिंसा-कार्यके लिये सुसंस्कृत लोगोंकी अपेक्षा सदा ही कहीं अधिक भौतिक बल तथा अखूट सहज शक्ति होती है। इस अवस्थामें सभ्यताका प्रकाश और उसकी शक्ति इस बाह्य अंधकारके आक्रमणके सामने सदा ही अंतमें पराजित हो जाते हैं। तब आरोहणशील प्रकृति विजेताओंको कुछ धीरे-धीरे ही लंबी कठिनाइयों तथा बड़ी हानि और देरके साथ यह सिखा पाती है कि उनके आक्रमणने जिस वस्तुको अस्थायी रूपमें नष्ट अथवा खंडित कर दिया है उसका वे अपने अंदर विकास करें। अंतमें इस प्रक्रियासे भी मानवजातिको लाभ ही पहुँचता है, राष्ट्रोंका एक अधिक बड़ा समूह इस उत्थानमें समाविष्ट कर लिया जाता है, प्रगतिकी एक अधिक विशाल और अधिक सजीव शक्ति प्रयोगमें लायी जाती है और एक ऐसी स्थिति प्राप्त कर ली जाती है जहाँसे वह अधिक समृद्ध तथा अधिक विविधतापूर्ण प्राप्तिकी ओर पग बढ़ा सकती है। परंतु इस प्रगतिका मूल्य सदा ही किसी एक हानिके रूपमें चुकाना होता है।

परंतु स्वयं समुदायोंमें भी इस अवस्थामें बुद्धि तथा आध्यात्मिकताको अपनेसे परकीय परिस्थितियों तथा वातावरणके बीचमें रहनेके कारण सदा रुकावट अनुभव होती है और भय बना रहता है। कुछ उत्कृष्ट लोगों अथवा श्रेणियोंको, जिनके अधिकारमें ये शक्तियाँ रहती हैं, इन्हें ऐसे रूपोंमें प्रस्तुत करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है जिन्हें उनके शासन तथा नेतृत्वमें चलनेवाला अज्ञानपूर्ण मानवताका यह समूह स्वीकार कर सके, परंतु बुद्धि

एवं आध्यात्मिकता दोनोंका इन रूपोंसे गला घुटने लगता है, वे रूढ़िवादी, जड़ और जीवनरहित बनने लगते हैं, अपनी स्वाभाविक क्रीड़ासे वंचित होने लगते हैं। दूसरे, क्योंकि आखिरकार वे इस समूहके ही अंग हैं, ये उच्च ज्ञानसंपन्न तत्त्व स्वयं भी बहुत कुछ अपने अवबौद्धिक भागोंके प्रभावमें रहते हैं, और, व्यक्तियोंको छोड़कर, समष्टिगत रूपमें बुद्धिके सर्वथा स्वतंत्र विचरण अथवा आत्माके उन्मुक्त प्रकाशतक नहीं पहुँच पाते। तीसरे, इन तत्त्वोंके नीचे की ओर अज्ञानमें बह जानेका अथवा उसमें विलीन हो जानेका भय भी सदा बना रहता है; प्रकृति अपनी अभिवांछित श्रेणियोंमें बौद्धिक तथा आध्यात्मिक कर्मकी परंपराको बनाये रखनेके लिये विभिन्न साधनोंके द्वारा स्वयं अपनी रक्षक बनती है। कहीं वह उनके लिये राष्ट्रीय संस्कृतिकी रक्षा करने तथा उसकी उन्नति करनेके भावको आत्म-सम्मानकी वस्तु बना देती है तो कहीं वह शिक्षा और अनुशासनकी एक रक्षात्मक प्रणाली स्थापित कर देती है। और ये सब विकृत होकर परंपराएँमात्र बनकर न रह जायँ इसके लिये वह उन बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक गतियोंकी एक शृंखला उत्पन्न कर देती है जो क्षीण होते हुए जीवनको झटके दे-देकर उज्जीवित कर देती हैं और विस्तार एवं विशालता लानेमें तथा प्रधान बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक भावको अवबौद्धिक मानवसमूहमें गहराईतक पहुँचानेमें सहायता करती हैं। वस्तुतः प्रत्येक गति थोड़े या अधिक कालतक कार्य कर चुकनेके बाद जड़ बनने लगती है, परंतु ठीक समयपर रक्षा करने तथा पुनरुज्जीवित करनेके लिये एक नया झटका, एक नयी लहर आ जाती है। अंतमें वह उस अवस्थामें पहुँच जाती है जब कि पतित होनेके तात्कालिक भयपर विजय पा ली जाती है और तब वह सामाजिक विकास-क्रममें अगली निश्चयात्मक प्रगतिकी ओर पग बढ़ाती है। इसका रूप सबसे पहले तो तर्कणाके अभ्यासको व्यापक बनाने तथा दूसरे, जीवनमें विवेक तथा विवेकपूर्ण संकल्पको प्रयोगमें लानेका यत्न होता है। इस प्रकार मानव-समाजके बौद्धिक युगकी स्थापना होती है। यह एक ऐसा महान् प्रयत्न होता है जिसमें बुद्धि तथा विवेककी शक्तिको हम जो कुछ हैं और जो कुछ हम करते हैं उसपर लागू करते हैं, और इनके ही प्रकाशमें और इनकी ही पथप्रदर्शनकी शक्तिके द्वारा जातिके समस्त जीवनकी व्यवस्था करते हैं।

उन्नीसवाँ अध्याय

बौद्धिक युगकी दिशा

अतएव, जातिके क्रमिक मनोवैज्ञानिक विकासके इस दृष्टिकोणसे यह कहा जा सकता है कि मनुष्यजातिका वर्तमान युग अधिकाधिक द्रुतगतिसे बढ़नेवाला एक ऐसा प्रयत्न है जिसका कार्य समाजकी बौद्धिक प्रणालीके लिये यथार्थ सिद्धांतको खोजना और कार्यान्वित करना तथा उसके लिये सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करना है। यह एक उन्नतिका युग रहा है, किंतु उन्नति दो प्रकारकी होती है: एक तो अनुकूलनशील उन्नति जिसका आधार किसी एक अपरिवर्तित सामाजिक सिद्धांतमें सुरक्षित रहता है, जब कि सतत परिवर्तन केवल नये विचारों और नयी आवश्यकताओं और इसके प्रयोगकी मशीनरीमें ही किया जाता है या फिर एक आमूल उन्नति होती है जिसका स्थायी रूपसे कोई सुरक्षित आधार नहीं होता, किंतु उसके स्थानपर सुप्रतिष्ठित समाजके क्रियात्मक आधारोंपर, यहाँतक कि उसके केंद्रित सिद्धांतके जड़मूलपर भी लगातार शंका की जाती है। वर्तमान युगने आमूल प्रगतियोंकी एक सतत शृंखलाका रूप धारण कर लिया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह शृंखला सदा ही एक विशिष्ट दिशाका अनुसरण करती है; पहले तो एक प्रकाशमय बीजारोपण तथा उत्साहपूर्ण प्रयत्न और संघर्षका काल आता है, उसके बाद आंशिक विजय और सफलताका, तत्पश्चात् आधिपत्यका एक छोटा-सा काल और अंतमें मोह-भंग होकर एक नये विचार और प्रयत्नका जन्म होता है। विचारक समाजका कोई एक सिद्धांत प्रस्तुत करता है और फिर जनसाधारण उसे पकड़ लेते हैं और वह एक सामाजिक सिद्धांत बन जाता है। तत्काल ही अथवा शीघ्रातिशीघ्र व्यवहारमें आकर वह पूर्व सिद्धांतको पदच्युत करके समुदायके सामाजिक या राजनीतिक जीवनकी आधारशिलाके रूपमें उसका स्थान ग्रहण कर लेता है। यह विजय जब प्राप्त हो जाती है तो मनुष्य थोड़े समयके लिये उत्साहपूर्ण जीवन व्यतीत करता है, और जब उत्साह ठंडा पड़ जाता है तो वह अपनी महान् सफलताकी अभ्यस्त स्थितिमें दिन बिताने लगता है। कुछ समयके बाद वह अपने पहले परिणामोंसे कम संतोष अनुभव करने लगता है तथा नयी प्रणालीके अनुकूल बनने, उसमें निरंतर परिवर्तन

लाने तथा उसे, कुछ कम या अधिक व्याकुल भावमें, विकसित करनके लिय प्रेरित होता है,—कारण, निरीक्षण करना, नये विचारोंके प्रति खुलना, नयी आवश्यकताओं और संभावनाओंको शीघ्रतापूर्वक प्रत्युत्तर देना तथा प्रत्येक अभ्यास और पुराने साहचर्यको सदा ही निर्विवाद रूपमें स्वीकार करते रहना तर्कबुद्धिका स्वभाव है। फिर भी अभीतक मनुष्य अपने सामाजिक सिद्धांतपर शंका करना नहीं चाहता और न ही इस बातकी कल्पना करता है कि उसमें परिवर्तनकी कभी आवश्यकता भी पड़ेगी; उसका उद्देश्य केवल उसके रूपोंमें पूर्णता लाना, उसके उपयोगको अधिक पूर्ण बनाना तथा उसकी कार्यान्वितिको अधिक सच्ची एवं प्रभावशाली बनाना है। यह सब होते हुए भी एक ऐसा समय आता है जब कि तर्कबुद्धि असंतोष अनुभव करने लगती है और यह देखती है कि वह केवल नयी परंपराओंके एक संघातका *निर्माण कर रही है और संतोषजनक परिवर्तन अभी नहीं हुआ है;* वस्तुओंके महत्वमें परिवर्तन हो गया है, किंतु समाज पूर्णताके कुछ विशेष निकट नहीं पहुँचा है। जिन विचारकोंने पहले ही, शायद शुरूसे ही, सामाजिक सिद्धांतकी पर्याप्ततापर शंका करना आरंभ कर दिया था, उनका विरोध अब अनुभव किया जाता है और उसे मनुष्य एक बड़ी संख्यामें स्वीकार करने लगते हैं। तब विद्रोहकी क्रिया चलती है और समाज एक नयी आमूल प्रगतिकी ओर, एक नये विकासकी ओर, एक अधिक उन्नत सामाजिक सिद्धांतके राज्यकी ओर, पुरानी परिचित परिधिमें ही घूमने लगता है।

यह प्रक्रिया तबतक चलती रहेगी जबतक कि तर्कबुद्धि समाजका कोई संतोषजनक सिद्धांत या कई सिद्धांतोंका एक समूह और सामंजस्य ही नहीं खोज लेती। अब प्रश्न यह है कि जबतक यह फिरसे परंपरा और प्रचलित रीतियोंकी निद्राके ही वशीभूत नहीं हो जाती या अपनेसे उच्चतर किसी आत्माके राज्यके प्रति अत्यधिक सचेतन होकर आगे ही नहीं बढ़ती तथा मनुष्यजातिके एक अतिबौद्धिक या आध्यात्मिक युगकी ओर खुल नही जाती तबतक क्या यह कभी संतुष्ट भी होगी, क्या यह कभी स्थापित वस्तुओंके मूलपर शंका करना बंद भी करेगी? यदि हम आधुनिक आंदोलनके दृष्टिकोणसे विचारें तो एक सामाजिक जीवनदाता और स्रष्टाके रूपमें तर्कबुद्धिके विकासको—यदि उसके क्रममें कोई व्याघात न हो तो,—उन तीन क्रमिक अवस्थाओंमेंसे अवश्य गुजरना होगा जो उसके विकासकी सर्वथा युक्तियुक्त अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था व्यक्तिवादी तथा अधिकाधिक जनतंत्रोन्मुख है, इसका सिद्धांत स्वाधीनता है; दूसरी समाजवादी है जो

अंतमें शायद सरकारी साम्यवादका रूप धारण कर लेती है और जिसका सिद्धांत समानता और राज्यसत्ता है; तीसरी—यदि यह सिद्धांतकी अवस्थासे आगे पहुँच सके तो—अत्यधिक निंदित शब्दके उच्चतर अर्थमें, अराजकतावादी है, इसका सिद्धांत या तो एक ढीला-ढाला ऐच्छिक सहयोग है या फिर स्वतंत्र समष्टिवाद है जिसका सिद्धांत सरकार नहीं, बल्कि भ्रातृभाव या बंधुत्व है। इस तीसरी और अंतिम अवस्थामें आनेके समय ही—यदि या जब भी यह आवे—तर्कबुद्धिकी शक्ति और पर्याप्तताकी परीक्षा होगी, तभी यह देखा जायगा कि क्या तर्कबुद्धि वास्तवमें हमारी प्रकृतिकी स्वामिनी बन सकती है, हमारे परस्पर-संबंधित और संघर्षरत अहंभावोंकी समस्याएँ सुलझा सकती है तथा अपने अंदर समाजका एक पूर्ण सिद्धांत ला सकती है, या फिर उसे अपना स्थान एक अपनेसे उच्च मार्गदर्शकको सौंप देना होगा। कारण, जबतक यह तीसरी अवस्था कसौटीपर नहीं कसी जाती तबतक 'शक्ति' ही अंतिम शरण है और वही वास्तवमें शासन भी करती है। तर्कबुद्धि केवल 'शक्ति'को अपनी कार्य-योजना और प्रबंध-प्रणाली ही प्रदान करती है।

हम यह पहले ही देख चुके हैं कि व्यक्तिवाद ही तर्कबुद्धिके युगका मार्ग प्रशस्त करता है और व्यक्तिवादको विकासकी प्रेरणा तथा अवसर इसलिये प्राप्त होते हैं कि वह प्रबल रूढ़िवादके युगके बाद आता है। यह नहीं कि पूर्व-व्यक्तिवादी और पूर्व-बौद्धिक युगोंमें समाज अथवा मनुष्यके सामुदायिक जीवनके विषयमें सोचनेवाले व्यक्ति नहीं थे। परंतु वे तार्किक, आलोचक, सर्व-निरीक्षक और सर्व-संशयकारी बुद्धिकी विशिष्ट प्रणालीके अनुसार नहीं सोचते थे और वे क्रियात्मक पहलूमें तार्किक बुद्धिकी उन विधियोंके अनुसार नहीं चलते थे जो सारी प्रक्रियाको सावधानतापूर्वक एक यंत्रका रूप दे देती हैं और जिनका प्रयोग तर्कबुद्धि उस समय करती है जब वह सत्यके युक्तिसंगत बोधसे अपने विशुद्ध, पूर्ण, व्यापक और व्यवस्थित प्रयोगके प्रयत्नतक पहुँचती है। उनका विचार तथा जीवन-निर्माण तार्किकसे कहीं अधिक सहजभावमें विवेकपूर्ण, सुघटित तथा अंतर्ज्ञानात्मक था। वे सदा ही जीवनको उस रूपमें लेते थे, जिस रूपमें वह था, तथा उसके रहस्यको सूक्ष्म विवेक, सहजज्ञान और अंतर्दृष्टिके द्वारा जाननेकी इच्छा करते थे। ऐसे प्रतीक जो जीवन और सत्ताके वास्तविक तथा आदर्श सत्यको मूर्त्त रूप देते हैं, ऐसे प्रतिरूप जो इन्हें एक व्यवस्था और मनोवैज्ञानिक क्रममें लाते हैं, ऐसी संस्थाएँ जो इन्हें जीवन द्वारा क्रियान्वितिमें एक भौतिक स्थिरता प्रदान करती हैं—इन सबके द्वारा वे

जीवनको समझने तथा उसे मनोमय बनाने एवं जीवनपर मन द्वारा शासन करनेका यत्न करते थे, किंतु उस मनके द्वारा जो सहजस्फुरित रूपसे, अंतर्ज्ञानात्मक या विचारशील रूपसे दृष्टि-संपन्न क्रियाएँ करता है, जबतक कि वे क्रियाएँ तर्कबुद्धिके ज्यामितिक आकारोंमें पक्की तरहसे स्थापित नहीं हो जातीं।

किंतु तर्कबुद्धि जीवनको केवल एक ही प्रकारके प्रतीक अर्थात् विचारके द्वारा समझना तथा समझाना चाहती है। वह जीवनके तथ्योंको अपने दृढ़तापूर्वक निर्मित परिकल्पनात्मक विचारोंके अनुसार ही व्यापक रूप देती है, जिससे कि वह उनपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सके, उनमें व्यवस्था ला सके; एक विचार जब वह पकड़ लेती है, तो उसे वह अधिक-से-अधिक तथा व्यापक रूपमें प्रयोगमें लाना चाहती है। और इसके लिये कि ये विचार केवल विचारमात्र न रहें तथा वस्तुओंके प्राप्त या प्राप्य सत्यसे अलग न रहें, उसे सदा ही इनकी तुलना तथ्योंसे करनी होती है। उसे सदा ही तथ्योंपर शंका करनी पड़ती है जिससे कि उसे वे विचार प्राप्त हो सकें जिनके द्वारा उनकी अधिकाधिक उपयुक्त रीतिसे व्याख्या, व्यवस्था एवं परिचालन हो सके; विचारोंपर सदा इसलिये शंका करनी पड़ती है कि पहले तो वे वास्तविक तथ्योंके साथ मेल खा सकें, दूसरे इसलिये कि क्या कुछ ऐसे नये तथ्य नहीं हैं जिनके साथ मेल खानेके लिये इन्हें परिवर्तित या संवर्द्धित किया जाय या जो इनमेंसे निकाले जा सकते हों। कारण, तर्कबुद्धिका निवास केवल वास्तविक तथ्योंमें ही नहीं, वरन् संभावनाओंमें भी है, प्राप्त सत्योंमें ही नहीं, वरन् आदर्श सत्योंमें भी है। एक बार आदर्श सत्य देख लिया जाय, तो आदर्शकी रचना करनेवाली बुद्धिकी प्रेरणा यह देखनेकी भी होती है कि क्या उसे तथ्यमें परिणत नहीं किया जा सकता,—क्या वह तत्काल ही या शीघ्रतापूर्वक जीवनमें सिद्ध नहीं हो सकता। इसके इस अंतर्निहित गुणके बलपर ही यह कहा जा सकता है कि बुद्धिके युगको सदा विकासका युग होना चाहिये।

जबतक जीवनको मनोमय बनानेकी पुरानी प्रणाली अपना काम पूरा करती रही, तबतक सामूहिक मनुष्यके लिये तर्कबुद्धिकी सहायतासे अपनी जीवन-प्रणालीके विषयमें सोचनेकी आवश्यकता नहीं थी। किंतु ज्योंही वे सब प्रतीक, प्रतिरूप और संस्थाएँ जिन्हें पुरानी प्रणालीने उत्पन्न किया था रूढ़ियाँ बन गये तथा उन्होंने सत्यको इस प्रकार बंदी बना लिया कि गुप्त वास्तविकताको उसके कृत्रिम आवरणोंसे उन्मुक्त करनेके लिये अंतर्दृष्टिकी शक्ति समर्थ नहीं रही, त्योंही उसने अपना कार्य करना बंद

कर दिया। मनुष्य कुछ समयके लिये, एक लंबे समयके लिये भी, वस्तु-परंपराके सहारे रह सकता है, उस परंपराके सहारे जिसकी वास्तविकता वह खो चुका है, पर वह सदा इस प्रकार नहीं रह सकता। अपनी सब रूढ़ियों तथा परंपराओंके विषयमें शंका करना उसके लिये आवश्यक हो जाता है, और यह आवश्यकता ही तर्कबुद्धिके पूर्ण स्व-विकासके लिये पहला वास्तविक अवसर प्रदान करती है। तर्कबुद्धि किसी परंपराको केवल उसकी प्राचीनता या उसकी प्राचीन महानताके कारण ही स्वीकार नहीं कर सकती। उसे पहले तो यह पूछना होता है कि क्या इस परंपरामें कोई ऐसा सत्य भी विद्यमान है जो अभीतक जीवित है, दूसरे उसे यह भी शंका करनी पड़ती है कि क्या उसके मूलमें कोई ऐसा श्रेष्ठ सत्य भी है जो मनुष्यको अपने जीवनके संचालनके लिये प्राप्त हो सकता हो। तर्कबुद्धि केवल इसलिये भी किसी प्रचलित रूढ़िको स्वीकार नहीं कर सकती कि उसके विषयमें सब मनुष्योंका एक मत है; उसे यह भी प्रश्न करना होता है कि क्या वे अपने मतमें ठीक भी हैं, क्या उनकी सहमति जड़ और मिथ्या स्वीकृति तो नहीं है। तर्कबुद्धि किसी संस्थाको केवल इसलिये स्वीकार नहीं कर सकती, क्योंकि वह जीवनके किसी उद्देश्यको सिद्ध करती है, उसे यह पूछना होता है कि क्या कोई इससे महान् और श्रेष्ठ उद्देश्य नहीं है जिन्हें नयी संस्थाएँ उत्तम प्रकारसे सिद्ध कर सकती हों। तब एक व्यापक रूपमें प्रश्न करनेकी आवश्यकता आ पड़ती है और उस आवश्यकतासे यह विचार उदित होता है कि समस्त जीवनपर, उसके सिद्धांत, उसकी बारीकियों, उसकी मशीनरी तथा उस मशीनरीको चलाने-वाली शक्तियोंपर तर्कबुद्धिके व्यापक प्रयोगसे ही समाज पूर्ण बन सकता है।

यह तर्कबुद्धि जिसका प्रयोग व्यापक रूपमें किया जाता है शासक वर्गकी तर्कबुद्धि नहीं हो सकती। कारण, मनुष्यजातिकी वर्तमान अपूर्णताकी अवस्थामें इसका अर्थ व्यवहार-रूपमें सदा ही तर्कबुद्धिपर प्रतिबंध लगाना तथा उसका दुरुपयोग करना होगा; उस अवस्थामें तर्कबुद्धि शासक वर्गके अधिकारोंको सुरक्षित रखने तथा वर्तमान व्यवस्थाको उचित ठहरानेके लिये शक्तिकी दासी बनकर निम्न स्तरपर आ जाती है। यह कुछ-एक प्रधान विचारकोंकी तर्कबुद्धि भी नहीं बन सकती। कारण, यदि जनसमूह अबौद्धिक है तो क्रियात्मक रूपमें उसके विचारोंका प्रयोग विकृत, प्रभाव-रहित तथा अपूर्ण बन जाता है और शीघ्र ही रूप एवं रूढ़िमात्रमें बदल जाता है। इसे प्रत्येक मनुष्यकी और उन सबकी तर्कबुद्धि बनना चाहिये जो सहमतिका आधार खोज रहे हैं। फलस्वरूप व्यक्तिवादी जनतंत्रका

शक्तिशाली, स्वाभाविक, पर फिर भी, बौद्धिक जीवन यापन करना सीख सकते हैं।

पर व्यवहार-रूपमें यह पता लगता है कि ये विचार अधिक दिनतक नहीं टिकेंगे। कारण, एक सामान्य मनुष्य बौद्धिक प्राणी नहीं है; एक लंबे अवबौद्धिक भूतकालसे जन्म लेकर वह स्वभावतया ही एक युक्तिसंगत सम्मति नहीं बना सकता, बल्कि वह या तो अपने स्वार्थों, आवेगों तथा पक्षपातोंके अनुसार सोचता है, या फिर उन लोगोंके विचारोंके अनुसार चिंतन करता है जो बुद्धिमें उससे अधिक क्रियाशील तथा कर्ममें उससे अधिक फुर्तीले हैं तथा जो किसी-न-किसी प्रकार उसके मनपर अपना प्रभाव जमा सकते हैं। दूसरे, वह अभीतक अपनी तर्कबुद्धिका प्रयोग दूसरोंके साथ एकमत होनेके लिये नहीं करता, बल्कि दूसरोंके मतोंके साथ विरोध और संघर्ष करके उनपर अपनी सम्मति लादनेके लिये करता है। किसी विशेष अवस्थामें वह अपनी तर्कबुद्धिका उपयोग सत्यकी खोजमें भी कर सकता है, परंतु साधारणतया उसका उपयोग अपने आवेगों, पक्षपातों तथा स्वार्थोंका औचित्य सिद्ध करनेमें ही होता है। और यही सब उसके आदर्शोंको—तब भी जब वह आदर्श बनाना सीख जाता है—निर्वीर्य अथवा कम-से-कम सर्वथा विरूप और विकृत कर देते हैं। अंतमें यह कहा जा सकता है कि वह अपनी स्वतंत्रताका प्रयोग अपने जीवनको दूसरोंके जीवनके साथ बौद्धिक रूपमें अनुकूल बनानेमें नहीं करता; उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति तो अपने जीवनके उद्देश्योंको, दूसरोंके जीवनके मूल्यपर भी अथवा अधिक उदार शब्दोंमें कहें तो प्रतियोगिताके भावमें दूसरोंपर लादनेकी होती है। इस प्रकार आदर्श और उसके प्रयोगके पहले परिणामोंके बीचमें एक विस्तृत खाई बन जाती है। यहाँपर तथ्य और विचारके बीचमें विरोध उत्पन्न हो जाता है जिसके परिणाम एक अनिवार्य मोह-भंग और असफलता होते हैं।

व्यक्तिवादी जनतंत्रीय आदर्श व्यवहारत: हमारे सामने तीन रूपोंमें प्रकट होता है: पहले तो जनतंत्रके नामसे एक प्रबल वर्ग अज्ञानी, बहुसंख्यक और कम भाग्यशाली जनसमुदायपर शासन करता है जिसकी स्थिति सदा ही डाँवाडोल रहती है। दूसरे, क्योंकि आजकल स्वतंत्रता और समानताके आदर्शका बोलबाला है तथा उसे अब और अधिक नहीं दबाया जा सकता, शोषित जनसमुदाय अपने पददलित अधिकारोंकी पुष्टि करने तथा जनतंत्रके इस रूपको यथासंभव सच्चे और वास्तविक जनतंत्रमें परिणत करनेके लिये अधिकाधिक प्रयत्नशील हो रहा है और इसका आवश्यक परिणाम होगा

वर्ग-युद्ध। तीसरे, यह अनिवार्यतः, अपनी प्रक्रियाके एक अंगके रूपमें, दलोंके बीच एक सतत संघर्ष उत्पन्न कर देता है; ये दल शुरूमें तो अधिक नहीं होते और अपनी रचनामें भी सरल होते हैं, पर पीछे, जैसा कि आजकल पाया जाता है, ये नामों, संकेतों, कार्यक्रमों तथा युद्धके नारोंकी निःशक्त और निरर्थक अस्तव्यस्तताका रूप धारण कर लेते हैं। सभी दल विरोधी विचारों और आदर्शोंका झंडा ऊँचा उठाते हैं, किंतु वास्तवमें सभी उस झंडेके नीचे विरोधी हितोंके लिये युद्ध कर रहे हैं। और अंतमें तो व्यक्तिवादी जनतंत्रीय स्वतंत्रताका यह एक घातक परिणाम होता है कि प्रतियोगिताका दबाव अत्यधिक बढ़ जाता है और फिर वह मानवजातिके अवबौद्धिक युगोंके व्यवस्थित अत्याचारोंके स्थानपर एक प्रकारके व्यवस्थित विरोधकी सृष्टि करता है। इस विरोधके परिणामस्वरूप एक ऐसा दल जीवित रह जाता है जो आध्यात्मिक, तार्किक अथवा शारीरिक दृष्टिसे अत्यधिक समर्थ नहीं, बल्कि अत्यंत भाग्यशाली एवं प्राणिक दृष्टिसे सफल होता है। यह तो काफी स्पष्ट है कि यह और जो कुछ भी हो, पर समाजकी बौद्धिक व्यवस्था नहीं है; यह पूर्णताकी वह अवस्था तो बिलकुल ही नहीं है जिसे मनुष्यकी व्यक्तिवादी तर्कबुद्धिने अपने आदर्शके रूपमें सोचा था या जिसे प्राप्त करनेका उसने प्रयत्न किया था।

ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्तिवादी सिद्धांतको व्यावहारिक रूप देते हुए पहले-पहल जो दोष प्रकट होते हैं उनका स्वाभाविक इलाज शिक्षा है। कारण, यदि मनुष्य अपनी प्रकृतिसे ही बौद्धिक कोटिका जीव नहीं है तो हम कम-से-कम यह आशा कर सकते हैं कि वह शिक्षा-दीक्षासे ऐसा बनाया जा सकता है। अतएव, सार्वभौम शिक्षा जनतंत्रीय आंदोलनका, जब कि वह मानवसमाजको बुद्धिवादी बनानेका प्रयत्न कर रहा होता है, एक दूसरा अनिवार्य पग है। किंतु एक बौद्धिक शिक्षाके आवश्यक रूपमें तीन अर्थ होते हैं : पहला, मनुष्योंको उन तथ्योंका जिनके विषयमें उन्हें निर्णय करना है शुद्ध रीतिसे निरीक्षण करने तथा ज्ञान प्राप्त करनेकी शिक्षा देना; दूसरा, उन्हें फलप्रद तथा सही रूपमें सोचनेकी शिक्षा देना और तीसरा, उन्हें इस बातके योग्य बनाना कि वे अपने ज्ञान और विचार प्रभावशाली रूपमें अपने और सर्वसाधारणके हितके लिये प्रयुक्त करें। बौद्धिक ढंगके समाजका नागरिक बननेके लिये निरीक्षण और ज्ञानकी, बुद्धि और निर्णयकी तथा कर्म और उच्च चरित्रकी योग्यताकी आवश्यकता पड़ती है। इन कठिन अपेक्षित वस्तुओंमें यदि एकका भी सामान्यतः अभाव रह जाय तो निश्चित रूपमें असफलता ही हाथ लगेगी।

15

हम यह मान भी लें कि जो शिक्षा लाखोंको लभ्य है उसमें यह विरल गुण कभी आ भी सकता है, तो भी यह सत्य है कि जो शिक्षा आजकल अत्यधिक उन्नत देशोंमें दी जा रही है उसका इन आवश्यक तथ्योंके साथ जरा भी संबंध नहीं है और यह बड़े खेदकी बात है। जिस प्रकार जनतंत्रकी प्रथम त्रुटियों और असफलताओंने शत्रुओंको पुराने आदर्शकी उच्चताकी, यहाँतक कि उसकी बिलकुल ही काल्पनिक पूर्णताकी निंदा करने और उसपर मिथ्या गर्व करनेका अवसर दिया है उसी प्रकार उसके महान् उपाय, शिक्षाकी प्रथम त्रुटियोंने भी बहुतसे सर्वोच्च विचारकोंको शिक्षाकी प्रभावशालिता और मानव-मनको बदलनेकी इसकी क्षमताको अस्वीकार करनेके लिये प्रेरित किया है और साथ ही उन्हें जनतंत्रीय आदर्शकी एक खोखली कल्पनाके रूपमें निंदा करनेके लिये भी प्रवृत्त किया है।

जनतंत्रके सिद्धांत तथा उसके शिक्षा और स्वतंत्रताके रामबाणने निश्चित ही जातिके लिये कुछ कार्य किया है। सबसे पहला कार्य तो यह कि इतिहासके ज्ञात युगमें मनुष्य पहली बार चुस्त, सक्रिय तथा सजीव हुए हैं और जहाँ जीवन है वहाँ अच्छी बातोंके लिये सदा ही आशा रहती है। दूसरा यह कि एक प्रकारके ज्ञान और उसके साथ ही एक प्रकारकी सक्रिय बुद्धिने अब इतना अधिक व्यापक रूप धारण कर लिया है जितना पहले कभी भी संभव नहीं था, यह बुद्धि ज्ञानपर आधारित है तथा एक ऐसे अभ्याससे सुदृढ़ हो चुकी है जिससे विरोधी तथ्यों एवं सभी प्रकारके विषयोंसे संबंध रखनेवाली सम्मतियोंके बीचमें निर्णय एवं निर्धारण करनेकी अपेक्षा की जाती है, मनुष्योंको अब अधिकाधिक यह शिक्षा दी जाने लगी है कि वे अपने मनोंसे काम लें, जीवनपर बुद्धिको लागू करें और यह एक बड़ी प्राप्ति है। यदि उन्होंने अभीतक अपने लिये सोचना या यथार्थ, स्पष्ट और सही रूपमें सोचना नहीं भी सीखा है तो भी वे अब, कम-से-कम एक प्रकारकी आरंभिक बुद्धिके साथ, चाहे वह कितनी ही अपूर्ण क्यों न हो, स्वीकरणीय विचारको तथा अनुसरणीय नियमको चुननेमें अधिक समर्थ हो गये हैं। शिक्षासंबंधी समान साधन और जीवनमें समान अवसर तो अभी किसी तरह भी प्राप्त नहीं हुए हैं, किंतु जितना अधिक अब समानताका स्तर है, उतना अधिक समाजकी पहली अवस्थाओंमें बिलकुल ही संभव नहीं था। किंतु यहाँ एक नया और बहुत ही बड़ा दोष प्रकट हुआ है जो अपने उत्पत्तिकर्त्ता सामाजिक विचारके लिये घातक सिद्ध हो रहा है। कारण, यदि शिक्षाके अथवा अन्य क्षेत्रोंमें पूर्ण समानता दे भी दी जाय—

और ऐसा वस्तुतः न तो है ही और न ही समाजकी व्यक्तिवादी अवस्थामें हो ही सकता है,—तो इस अवसरका किस उद्देश्यके लिये या किस ढंगसे उपयोग किये जानेकी संभावना है। मनुष्य जो कि एक अर्ध-अवबौद्धिक प्राणी है, अपने संतोषके लिये तीन वस्तुओंकी माँग करता है, शक्ति तो वह चाहता ही है यदि उसे मिल सके, पर अपनी क्षमताओंके प्रयोग और उनके पुरस्कारकी तथा अपनी इच्छाओंके उपभोगकी इच्छा भी तो वह करता है। पुरानें समाजोंमें उसे कुछ हदतक अपनी पैत्रिक स्थितिकी सीमाओंके भीतर अपने जन्म, सुनिश्चित पद तथा अपनी योग्यताके प्रयोगके अनुसार उसे इन वस्तुओंकी प्राप्ति हो सकती थी। एक बार वह आधार हटा लेनेके बाद और जब कि उसके स्थानपर कोई उचित आधार स्थापित भी नहीं हुआ है, इन सब उद्देश्योंको केवल वही पूरा कर सकता है जो एकमात्र बची हुई शक्ति अर्थात् धनके लिये छीना-झपटीमें सफल हो जाय। इस सबके फलस्वरूप, एक सामंजस्यपूर्ण रीतिसे व्यवस्थित समाजके स्थानपर एक ऐसी विशाल और संगठित प्रतियोगीय प्रणाली विकसित हो गयी है जो उद्योगवादका उन्मत्त भावसे द्रुत और एकपक्षी विकास है, साथ ही जनतंत्रके वेषमें एक उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त धनिकतंत्रीय प्रवृत्ति भी प्रकट हो रही है जिसकी आडंबरपूर्ण स्थूलता तथा जिसकी खाइयों और विषमताओं-की विशालता मनुष्यको आतंकित कर रही है। ये व्यक्तिवादी आदर्श और उसकी जनतंत्रीय मशीनरी तथा बौद्धिक युगके प्रारंभिक दिवालियेपनके अंतिम परिणाम हैं।

पहला स्वाभाविक परिणाम बौद्धिक मनका जनतंत्रीय व्यक्तिवादसे जनतंत्रीय समाजवादमें परिवर्तन है। क्योंकि समाजवादका जन्म पूँजीवादके विरुद्ध विद्रोहके फलस्वरूप हुआ था और उसे इस अहितकर घटनाके अधीन बड़ी कठिनाईके साथ काम करना पड़ रहा है, साथ ही, क्योंकि वह सफल कुलीनवर्ग और धनिकतंत्रके शासनके विरुद्ध सिर भी उठा रहा है, उसे वर्गोंके युद्धके द्वारा अपना कार्य करनेको बाध्य होना पड़ा है। और इससे भी बुरी बात यह है कि उसने अपना आरंभ उद्योगवादी सामाजिक प्रणालीसे किया था और शुरूमें एक विशुद्ध औद्योगिक और आर्थिक रूप धारण कर लिया था। ये ऐसी आकस्मिक घटनाएँ हैं जो उसके सच्चे स्वरूपको विकृत कर देती हैं। उसका सच्चा स्वरूप, उसका वास्तविक औचित्य समाजको बौद्धिक रूपमें संगठित करके उसे पूर्ण बनानेके लिये मानव तर्कबुद्धिका प्रयत्न है, निरंकुश प्रतियोगिताके इस पराश्रित उभारसे और मानव-जीवनके किसी भी शिष्ट आदर्श अथवा व्यवहारके रास्तेमें

आनेवाली इस दैत्याकार बाधासे मुक्त होनेका उसका संकल्प है। समाजवाद संगठित आर्थिक युद्धके स्थानपर एक संगठित व्यवस्था और शांति स्थापित करनेका प्रयत्न करता है। यह अब पुरानी रीतियोंसे नहीं किया जा सकता अर्थात् एक ऐसी कृत्रिम या परंपरागत असमानताके भावसे नहीं किया जा सकता जिसका जन्म समान अवसरोंके निषेधसे हुआ था तथा जो उस अन्यायकी और समाज एवं 'प्रकृति'के सनातन नियमके रूपमें उसके परिणामकी स्थापनाके द्वारा उचित सिद्ध किया गया था। यह एक ऐसा झूठ है जिसे मनुष्यकी तर्कबुद्धि अब और अनुमति नहीं देगी। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कार्य व्यक्तिगत स्वाधीनताके आधारपर भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह व्यवहारमें असफल हो चुकी है। अतएव, समाजवादको व्यक्तिगत स्वाधीनताका जनतंत्रीय आधार त्याग देना होगा, उस समय भी जब कि वह उसको सम्मान देने या एक अधिक बौद्धिक स्वतंत्रताकी ओर कदम बढ़ानेकी घोषणा करता है। वह आरंभमें प्रधान बल जनतंत्रीय आदर्शके अन्य विचारों और परिणामोंपर देता है और दबावके इस परिवर्तनके द्वारा वह एक बौद्धिक समाजके आधारभूत सिद्धांतमें आमूल परिवर्तन ले आता है। समानताको ही, केवल राजनीतिक ही नहीं, वरन् एक पूर्ण सामाजिक समानताको ही आधार बनना है। सबको समान अवसर मिलना चाहिये, किंतु इतना ही नहीं, सबको समान पद भी प्राप्त होना चाहिये, क्योंकि दूसरेके बिना पहला नहीं मिल सकता, मिल भी जाय तो वह स्थायी नहीं हो सकता। यह समानता तब भी असंभव हो जाती है यदि संपत्तिमें व्यक्तिगत अथवा कम-से-कम पैत्रिक अधिकार बना रहना हो, और इसीलिये समाजवाद व्यक्तिगत संपत्तिके अधिकारके वर्तमान रूपको समाप्त कर देता है तथा वंशानुक्रमके सिद्धांतपर आक्रमण करता है, छोटे परिणामपर व्यक्तिगत संपत्तिके अधिकारको मानना और बात है। तब संपत्तिका अधिकारी कौन हो? वह केवल संपूर्ण समाज ही हो सकता है। और उसकी व्यवस्था फिर कौन करे? वह भी समाज ही कर सकता है। इस विचारका औचित्य सिद्ध करनेके लिये समाजवादी सिद्धांतको व्यक्तिके अस्तित्व या व्यक्तिगत रखनेके अधिकारको क्रियात्मक रूपमें अस्वीकार करना पड़ता है। हाँ, वह अपना अस्तित्व समाजके एक सभासदके रूपमें अथवा उसके लिये अवश्य रख सकता है। वह पूर्णतया समाजका है, उसकी संपत्ति ही समाजकी नहीं है, वरन् वह स्वयं, उसका श्रम, उसकी योग्यता, समाजसे उसे मिलनेवाली शिक्षा और उसके फल, उसका मन, ज्ञान, वैयक्तिक जीवन, कौटुंबिक जीवन, उसके

बच्चोंका जीवन सब कुछ समाजका है। इसके अतिरिक्त, क्योंकि उसकी वैयक्तिक बुद्धिपर इतना विश्वास नहीं किया जा सकता कि वह सहजभावमें अपने जीवनको दूसरोंके जीवनके साथ यथार्थ और बौद्धिक रूपमें अनुकूल बना लेगी, यह कार्य भी समस्त मानवसमाजकी बुद्धिको ही उसके लिये करना पड़ता है। व्यक्तियोंके तर्कशील मन और संकल्पको नहीं, वरन् समाजके सामूहिक तर्कशील मन और संकल्पको शासन करना है। यह आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाके सिद्धांत और उसकी बारीकियोंको ही निर्धारित नहीं करेगी, वरन् जीवनके कर्म, विचार और अनुभव करनेवाले कोष्ठकके रूपमें समाज और व्यक्तिके समस्त जीवन, उसकी योग्यताओंके विकास, उसके कार्यकलाप और प्राप्त ज्ञानके प्रयोगको तथा उसकी प्राणिक, नैतिक एवं विवेकशील सत्ताकी संपूर्ण व्यवस्थाको भी निर्धारित करेगी। कारण, इसी प्रकार जातिकी सामूहिक बुद्धि और उसका विवेकपूर्ण संकल्प व्यक्तिवादी जीवनके अहंभावको वशमें कर सकते हैं तथा एक सामंजस्यपूर्ण संसारमें समाजके पूर्ण सिद्धांत और उसकी बौद्धिक व्यवस्थाको जन्म दे सकते हैं।

यह सत्य है कि अधिक जनतंत्रीय समाजवादियोंने समाजवादके इस अनिवार्य गुणको अस्वीकार कर दिया है या इसका महत्त्व घटा दिया है; कारण, समाजवादी मनके ऊपर अभी भी पुराने जनतंत्रीय विचारोंका प्रभाव है और वह ऐसी आशाएँ बनाये रखता है जो प्रायः ही इसे विचित्र प्रकारकी युक्तिविरुद्ध धारणाओंकी ओर घसीट लाती हैं। वह हमें विश्वास दिलाता है कि वह किसी प्रकारकी व्यक्तिगत स्वतंत्रताको, जो होगी तो सीमित ही, पर इस कारण और भी अधिक सच्ची और बौद्धिक होगी, समष्टिवादी विचारके कठोर रूपोंके साथ मिला देगा। किंतु यदि समष्टिवादी विचारको जीवित रहना है और अपने मार्गके बीचमें ही रुकना या लड़खड़ाना नहीं है, तो यह स्पष्ट है कि वस्तुओंका झुकाव इन कठोर रूपोंकी ओर ही होना चाहिये। यदि हमें यह पता लगे कि इस प्रकार इसमें तर्क और साहसका अभाव हो गया है तो यह बहुत संभव है कि वह शीघ्र ही या अंतमें उस विजातीय तत्त्वके द्वारा जिसे वह सहन करता है नष्ट हो जाय और अपनी संभावनाओंको बिना पहचाने ही मृत्युको प्राप्त हो जाय। यदि उसे उस बौद्धिक ज्ञानका पथप्रदर्शन प्राप्त न हुआ जो शासन करनेवाले मानवने अभी तक नहीं दिखाया है, तो वह शायद दुःखदायी अयोग्यतामें निवास करनेवाले प्रतियोगीय व्यक्तिवादी समाजका अतिक्रमण करनेके बाद समाप्त हो

जायगा।* किंतु अपने श्रेष्ठतम रूपमें भी समष्टिवादी विचारके अंदर कई ऐसी मिथ्या युक्तियाँ हैं जो मानव-जीवन और प्रकृतिके वास्तविक तथ्योंके साथ मेल नहीं खातीं। जिस प्रकार व्यक्तिवादी जनतंत्रके विचारको, जीवनके तथ्यों और मनके विचारोंमें असमता होनेके कारण, शीघ्र ही कठिनाइयोंने घेर लिया था,--और कठिनाइयाँ भी ऐसी जो उसके अपयश और निकट नाशके कारण बनीं--उसी प्रकार समष्टिवादी जनतंत्रका विचार भी शीघ्र ही ऐसी कठिनाइयोंमें ग्रस्त हो सकता है जिसके परिणामस्वरूप अपयश ही उसके हिस्सेमें आयगा और अंतमें तो उसका स्थान एक तीसरी अवस्था ले लेगी जो अनिवार्य उन्नतिकी होगी। ऐसी स्वाधीनता ही, जिसे 'राज्य'का संरक्षण प्राप्त हो तथा जिसमें सब राजनीतिक दृष्टिसे समान माने जाते हों, वह विचार था जिसका विस्तृत प्रतिपादन करनेके लिये, व्यक्तिवादी जनतंत्रने प्रयत्न किया था। *समानता, एक सामाजिक और राजनीतिक समानता ही,* जिसे संपूर्ण समुदायके संगठित संकल्पका प्रतिनिधित्व करनेवाला राज्य एक पूर्ण और सतर्क व्यवस्थाके द्वारा लागू करे, वह विचार है जिसके ऊपर समाजवादी जनतंत्रका भविष्य निर्भर है। यदि यह भी कुछ करनेमें असफल हो जाय तो बौद्धिक और जनतंत्रीय 'विचार' समाजकी एक तीसरी अवस्थाकी माँग कर सकता है जो एक स्वतंत्र समाजमें भ्रातृभावसे युक्त बंधुत्वके आधारपर वैधिककी अपेक्षा कहीं अधिक एक वास्तविक स्वाधीनता और समानताको स्थापित करेगा, यह बंधुत्व आध्यात्मिक

---

*सामाजिक जनतंत्रके ये संशय, दो विरोधी सिद्धांतोंके बीचमें उसका व्याकुल मानसिक संतुलन, समाजवादी सैन्यीकरण और जनतंत्रीय स्वतंत्रता—ये सब ऐसे मूल कारण हो सकते हैं जिनसे समाजवाद कितने ही देशोंमें अपनी स्थापना करनेमें असफल रहा है, तब भी जब कि उसे सब प्रकारके अवसर प्राप्त थे, और यही कारण है कि साम्यवाद और फासिस्टवाद की अधिक उत्साही और युक्तियुक्त पर साथ ही निष्ठुर शक्तियोंने इसका स्थान ले लिया है। दूसरी ओर, यूरोपके अत्यधिक उत्तरवर्त्ती देशोंमें एक ऐसा मृदुल, सुधारक और व्यावहारिक समाजवाद जो सामुदायिक जीवनके यथार्थ नियमन और व्यक्तिकी स्वतंत्रताके बीचमें समझौता करता है कुछ हद तक सफल सिद्ध हुआ। किंतु यह बात अभी भी संदेहास्पद है कि क्या यह अपने मार्गके अंत तक पहुंच भी सकेगा। यदि उसे ऐसा अवसर मिल जाय, तो भी अभी यह देखना बाकी है कि उस विचार और शक्ति की प्रवृत्ति जिन्हें यह पूर्ण स्व-चरितार्थताके लिये अपने अंदर रखता है क्या अंतमें समझौतेकी भावनाके ऊपर विजय प्राप्त नहीं कर लेगी।

'अराजकतावाद'की भाँति ही बौद्धिक 'अराजकतावाद'का भी आदर्श है।*

वस्तुतः समानताकी माँग अपने मूलमें स्वाधीनताकी आकांक्षाकी ही भाँति व्यक्तिवादी है,—यह समष्टिवादी आदर्शके सार-तत्त्वका स्वाभाविक या अनिवार्य अंग नहीं है। यह व्यक्ति ही है जो अपने लिये स्वाधीनताकी माँग करता है, अपने मन, जीवन, संकल्प और कर्मके लिये स्वतंत्र क्रिया चाहता है। समष्टिवादी प्रवृत्ति और 'राज्य'-सिद्धांतका झुकाव इससे भिन्न दिशामें होता है। ये स्वयं ही समुदायके और उसके अंगके रूपमें व्यक्तिके मन, प्राण, संकल्प और कर्मकी आवश्यक व्यवस्था तथा उनके नियंत्रणको अधिकाधिक अपने हाथमें लेनेके लिये बाध्य होते हैं, जबतक कि व्यक्तिगत स्वतंत्रताका अस्तित्व ही नहीं मिटा दिया जाता। किंतु ठीक इसी प्रकार व्यक्ति भी अपने लिये वही स्वाधीनता चाहता है जो अन्योंको प्राप्त है; जब एक वर्ग इसकी माँग करता है, तब भी व्यक्ति ही बहु-गुणित होकर अपने लिये तथा उन सबके लिये, जो उसके स्तरके हैं या उसीके समान राजनीतिक अथवा आर्थिक स्थितिवाले हैं समान पद, अधिकार अथवा अवसरकी माँग करता है, उन्हीं लोगोंके समान जिन्होंने समाजमें उच्च स्थान अपने बलसे या पैत्रिक परंपरासे प्राप्त किया है। सामाजिक 'तर्कबुद्धि'ने पहले स्वाधीनताकी माँगको स्वीकार किया, किंतु व्यवहारमें (सिद्धांत जो भी रहा हो) उसने उतनी ही समानताके लिये स्वीकृति दी जितनी कि सबके लिये एक उचित स्वतंत्रता प्राप्त करनेके लिये आवश्यक है, वह समानता एक कानूनी समानता थी और साथ ही मताधिकारकी एक ऐसी राजनीतिक समानता भी थी जो सहायक होते हुए भी अधिक प्रभावशाली नहीं थी। बादमें जब कि एक असमान प्रतियोगीय स्वतंत्रताके अन्याय, उसकी असंगतियाँ तथा वे बड़ी भारी खाइयाँ जो इसने उत्पन्न कीं, प्रत्यक्ष रूपमें दिखायी देने लगीं, तो सामाजिक 'तर्कबुद्धि'ने अपना पैंतरा बदल दिया तथा उसने यथासंभव पूर्ण राजनीतिक, आर्थिक, शिक्षा-संबंधी एवं सामाजिक समानताके आधारपर एक अधिक पूर्ण सामुदायिक न्याय प्राप्त करनेका यत्न किया; इसने एक ऐसा समान धरातल बनानेका यत्न किया जिसपर सब एक साथ खड़े हो सकते हों। इस परिवर्तनमें

---

*साम्यवादके सिद्धांतमें 'राज्य-समाजवाद' केवल एक मार्ग है और एक स्वतंत्र वर्ग-हीन 'राज्यरहित' सामुदायिक जीवन अंतिम आदर्श है। किंतु यह संभव नहीं है कि 'राज्य'की सजीव मशीन, एक बार सत्ता हाथमें आ जाने पर और उन सबकी सहायताके होते हुए जो उसे बनाये रखना चाहते हैं, अपने शिकारको हाथसे चला जाने देगी अथवा बिना संघर्षके नष्ट होना स्वीकार कर लेगी।

स्वाधीनताको भी समानताकी पहली दशामेंसे गुजरना पड़ा; कारण, शायद या कुछ समयके लिये केवल उतनी स्वाधीनता ही जीवित रह सकती है जितनीके लिये सुरक्षित रूपमें अनुमति दी जा सकती है, इसमें प्रतियोगीय व्यक्तिको अपने आत्म-व्यापक विकासके लिये इतना अवसर नहीं दिया जाता कि वह समानतावादी आधारको उलट डाले अथवा उसे खतरेमें डाल दे। किंतु अंतमें यह अवश्य ही पता लग जायगा कि कृत्रिम समानताकी भी अपनी असंगतियाँ हैं, सामुदायिक हितसंबंधी अपने विरोध हैं, यहाँतक कि इसके अन्याय और प्रकृतिके सत्यके दुःखजनक उल्लंघन भी हैं। व्यक्तिवादी स्वाधीनताके ही समान समानता भी सर्वरोगहारिणी औषधि नहीं, वरन् समाजकी सामुदायिक बुद्धि और उसके संकल्प द्वारा जीवनकी सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था एवं नियंत्रणके मार्गमें एक बाधा हो सकती है।

किंतु यदि समानता और स्वाधीनता दोनों ही मानवक्षेत्रसे लुप्त हो जायँ तो जनतंत्रीय त्रिकका केवल एक अंग अर्थात् भ्रातृत्व, या फिर जैसा कि वह आजकल कहा जाता है, बंधुत्व ही बच रहेगा जिसके सामाजिक आधारके भागके रूपमें जीवित रहनेकी कुछ संभावना है। इसका कारण यह है कि यह समष्टिवादकी भावनाके साथ अधिक मेल खाता प्रतीत होता है। और इसलिये हम देखते हैं कि नयी सामाजिक प्रणालियोंमें, उनमें भी जिनमें स्वाधीनता और समानता दोनोंको हानिकारक जनतंत्रीय भ्रांतियोंके रूपमें त्याग दिया गया है, इसके विचारपर—तथ्यपर न भी हो—अभीतक अवश्य बल दिया जाता है। किंतु बंधुत्व, बिना स्वाधीनता और समानताके, सबके अर्थात् व्यक्तियों, कर्तव्यानुसारी वर्णों, निकायों, व्यवसायिसंघों, पंचायतों या किन्हीं अन्य इकाइयोंके एक ऐसे समान संघातसे अधिक और कुछ नहीं हो सकता जो सामुदायिक राज्यके पूर्ण नियंत्रणके अधीन राष्ट्रके जीवनकी सामान्य रूपमें सेवा करते हैं। अंतमें अकेली स्वाधीनता बच जाती है और वह एक ऐसी स्वतंत्रता होगी जो 'राज्य'-सत्ताके कठोर संचालनके अधीन ही समाजकी सेवा करेगी। और तब जो एकमात्र समानता बच रहेगी, वह सबकी समान रूपसे एक ऐसी साहचर्य-वृत्ति होगी जो स्पार्टन या रोमन नागरिक सेनाकी भावनासे मिलती-जुलती होगी, शायद उसका पद भी वैसा ही हो और वह कम-से-कम, सिद्धांत-रूपमें, सब कर्तव्य-कर्मोंके लिये समान रूपसे प्राप्त होगी। इस प्रकार जो एकमात्र भ्रातृभाव बच रहेगा वह बंधुत्वका वह भाव होगा जो संगठित सामाजिक 'सत्ता' अर्थात् 'राज्य'के प्रति भक्तिभावमें समर्पित होगा। वस्तुतः जनतंत्रीय त्रिक अपने देवतासे वंचित होकर अपना अस्तित्व ही

खो बैठेगा। समष्टिवादी आदर्श इनके विना अपना काम भलीभाँति चला सकता है, क्योंकि इनमेंसे कोई भी उसके मूलतत्त्व और सारका भाग नहीं है।

यही वस्तुतः एकसत्तावादकी भावना, उसकी सामाजिक युक्ति या फिर सामाजिक शिक्षा रही है, उस एकसत्तावादकी जिसकी बढ़ती हुई लहर सारे यूरोपको, बल्कि अन्य देशोंको भी आक्रांत कर लेनेका भय दिखा रही है। एक प्रकारका सत्तावाद तो सचमुच ही समाजवादका अथवा अधिक व्यापक रूपमें कहें तो समष्टिवादी विचार और प्रवृत्तिका स्वाभाविक या अनिवार्यप्राय भविष्य या कम-से-कम अंतिम और पूर्णतम परिणाम प्रतीत होता है। कारण, समाजवादका मूलतत्त्व, उसका समर्थक आदर्श समष्टि-रूपमें और उसकी वारीकियोंमें भी समाजके संपूर्ण जीवनका नियंत्रण तथा दृढ़ संगठन है, यह शासन एवं संगठन उसकी अपनी सचेतन वुद्धि तथा संकल्प, सबके सर्वोत्तम कल्याण और सामान्य हितके लिये, करते हैं तथा इसमेंसे व्यक्ति अथवा वर्ग द्वारा शोषण करनेकी प्रवृत्तिको हटा देते हैं, आंतरिक प्रतियोगिताके भाव, आकस्मिक अस्तव्यस्तता तथा अपव्ययको दूर कर देते हैं, सहयोगकी प्रवृत्ति लागू करते हैं तथा उसे पूर्ण वनाते हैं और सबके लिये सुचारु रूपसे कार्य करने और समर्थ जीवन यापन करनेका सुनिश्चित अवसर प्रदान करते हैं। यदि एक जनतंत्रीय राज्य-पद्धति और मशीनरी इस प्रकारका कार्य सर्वोत्तम ढंगसे करे जैसा कि पहले सोचा गया था, तो इसीको ही चुना जायगा और इसका परिणाम "सामाजिक जनतंत्र" होगा। उत्तरी यूरोपमें अभी भी इसी आदर्शका प्रभुत्व है और वहाँ यह अभी भी प्रमाणित किया जा सकता है कि सफल और समष्टिवादी ढंगसे समाजकी वौद्धिक व्यवस्था करना विलकुल संभव है। किंतु, यदि यह जान पड़े कि अजनतंत्रीय राज्यपद्धति और मशीनरी इस कामको अधिक अच्छी तरह कर सकती हैं तो समष्टिवादी विचारके लिये जनतंत्रीय आदर्शमें कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो मूलतः पवित्र हो। वह उसी कूड़ेके ढेरमें फेंका जा सकता है जिसमें कितनी ही अन्य सारहीन पवित्र वस्तुएँ फेंकी जा चुकी हैं। रूसी साम्यवादने इसी प्रकार, घृणापूर्वक, जनतंत्रीय स्वाधीनताका त्याग कर दिया था और कुछ समयके लिये जनतंत्रीय मशीनके स्थानपर एक नये सोवियत ढाँचेको लानेका प्रयत्न किया था, किंतु उसने एक वर्गरहित समाजमें सवके लिये एक श्रमवादी समानता अवश्य सुरक्षित रखी है। फिर भी इसकी भावना सर्वहारा-वर्गकी तानाशाहीपर आधारित एक कठोर एकसत्तावादकी है, जिसका अर्थ वस्तुतः सर्वहारा-वर्गके नामपर

या उसकी ओरसे 'साम्यवादी' दलकी तानाशाही है। श्रमवाद-विरोधी एकसत्तावाद इससे भी आगे बढ़ जाता है और जनतंत्रीय समानताका भी जनतंत्रीय स्वाधीनताके ही समान त्याग कर देता है। वह वर्गोको, संभवतः कुछ समयके लिये ही, सुरक्षित रख सकता है, किंतु केवल सामाजिक कर्त्तव्यपालनके साधनके रूपमें ही, सर्वोच्चता और पुरोहितशाही व्यवस्थाके मापदंडके रूपमें नहीं। तब समाजका झुकाव बौद्धिक व्यवस्थाके निर्माणकी ओर नहीं रहता, इसका स्थान एक क्रांतिकारी गुह्यवाद ले लेता है और यही युग-भावनाकी वर्तमान प्रेरणा प्रतीत होती है।

यही वह लक्षण है जिसका अत्यधिक महत्त्व हो सकता है। रूसमें 'समाजवाद'की मार्क्सवादी प्रणालीको एक प्रकारके सिद्धांतका रूप दे दिया गया है; प्रारंभमें यह एक बुद्धिवादी प्रणाली थी जिसका निर्माण एक तार्किक विचारक, अन्वेषक और विचारोंके शास्त्रकारने किया था, परंतु रूसी मनकी एक अनोखी प्रवृत्तिके द्वारा यह एक ऐसी चीजमें परिवर्तित कर दी गयी है जिसे सामाजिक धर्म, समष्टिवादी गुह्यवाद तथा सिद्धांतोंकी एक अटूट प्रणाली कहा जा सकता है, इस प्रणालीमें अस्वीकृति या व्यतिक्रम एक दंडनीय नास्तिकता समझा जाता है, इसे एक सामाजिक मतवादका रूप दे दिया गया है जो पर-धर्मावलंबियोंकी असहिष्णु पवित्रता तथा उनके उत्साह द्वारा जबर्दस्ती लागू किया जाता है। फासिस्ट देशोंमें बुद्धिवादका परित्याग करनेवाली क्रिया स्पष्ट और प्रकट रूपमें अपना कार्य कर रही है। एक उपरितलीय प्राणिक अनुभववादने इसका स्थान ले लिया है और राष्ट्रीय आत्मा और उसके अभिव्यंजन और अभिव्यक्तिके नाममें नेतागण और संदेशवाहक अपने एकसत्तात्मक गुह्यवादकी शिक्षा देते हैं तथा उग्रतापूर्वक उसका दूसरोंपर प्रयोग करते हैं। रूस और फासिस्ट देशोंमें भी मूल लक्षण ये ही हैं, जिससे बाहरी लोगोंकी दृष्टिमें उनकी भयंकर लड़ाई उन संबंधियोंका रक्तपात करनेवाला युद्ध प्रतीत होती है जो अपने तलवारके घाट उतारे गये पुरखोंके उत्तराधिकार अर्थात् 'जनतंत्र' और बुद्धियुगको प्राप्त करनेके लिये लड़ रहे हैं। एक ही प्रबल नेता, फ्यूहरर, ड्यूस या तानाशाह अथवा किसी छोटे सक्रिय अल्पसंख्यक दल अर्थात् नाजी, फासिस्ट या साम्यवादी दलका नायक जीवनको अपने अधिकारमें कर लेता है, साथ ही उसे सैनिक-शिक्षा-प्राप्त मित्र-शक्तिकी सहायता भी प्राप्त हो जाती है। लोगोंका सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन द्रुतगतिसे एक ऐसे नये कठोर संगठनका ठोस और स्पष्ट रूप धारण कर लेता है जो प्रत्येक स्थलपर सफल ढंगसे नियंत्रित रहता

है। विचार, शिक्षा, अभिव्यक्ति तथा कर्म सभीको अनिवार्य रूपमें एक अपरिवर्तनीय लौह-साँचेमें अर्थात् विचारों और जीवनके उद्देश्योंकी एक नियत पद्धतिमें ढालना होता है और जो कोई उसे अस्वीकार करता है या उससे भिन्न मत रखता है उसे भयानक और निर्मम रूपसे, यहाँतक कि रक्तपात करके भी दवा दिया जाता है। समस्त सामुदायिक अस्तित्वपर एक आमूल और अभूतपूर्व दवाव डालकर उसके विचार, उसकी वाणी, भावना और जीवनकी अधिकतम कुशलता और पूर्ण एकात्मताको प्रकट होनेके लिये विवश किया जाता है।

यदि यह प्रवृत्ति एक व्यापक रूप धारण कर ले तो बुद्धियुग समाप्त हो जायगा जो मानव मनके तार्किक और बौद्धिक विस्तारकी आत्महत्या या शिरश्छेदन होगा, यह उसका एक प्रकारका वध है, उसपर एक घातक दवाव है अथवा उसके लिये एक तीव्र और स्थायी यंत्रणा है। विचारकी स्वतंत्रता अथवा अपने विचारको जीवनमें कर्मके द्वारा चरितार्थ करनेकी स्वतंत्रता न प्राप्त हो तो तर्कबुद्धि अपना कार्य नहीं कर सकती, न वह किसी प्रकारकी क्रिया कर सकती है और न कोई नियंत्रण ही रख सकती है। किंतु उस दशामें अनुभवात्मक युग इसका परिणाम नहीं हो सकता। कारण, अनुभववाद भी नमनीयता, आत्म-अन्वेषणकी क्रिया तथा आगे बढ़ने, विस्तार प्राप्त करने, विकसित होने और बदलनेकी स्वतंत्रताके बिना उन्नति नहीं कर सकता, बल्कि इसका परिणाम अंधकारमें अराजकताकी उत्पत्ति हो सकता है जहाँ कई भौतिकवादी या प्राणात्मवादी अथवा मिश्रित अस्पष्ट गुह्यवाद मनुष्य-जीवनपर विजय प्राप्त करनेके लिये संघर्ष एवं युद्ध करते हैं। किंतु यह अंत निश्चित नहीं है, अराजकता और व्यवस्थाका अभी भी शासन है और सब कुछ अधरमें लटक रहा है। यह संभव है कि एकतंत्रात्मक गुह्यवाद सारे संसारको अधिकृत करनेकी अपनी धमकीको पूरा न कर सके, यहाँतक कि वह शायद स्वयं टिक भी न सके, पृथ्वीपर ऐसे स्थल बचे रह सकते हैं जहाँ बौद्धिक आदर्शवाद अभी भी जीवित रहे। वह भयानक दवाव जिसका आजकल राष्ट्रीय मन और प्राणपर प्रयोग किया जा रहा है एक आंतरिक विस्फोटका कारण हो सकता है, अथवा दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है कि अपना तात्कालिक उद्देश्य पूरा करके वह विश्राम करे और अपने अधिक शांतिमय कालमें एक ऐसी महत्तर नमनीयताकी अधीनता स्वीकार कर ले जो मानव-मन और आत्माको उन्नतिकी एक अधिक स्वाभाविक दिशा, उसकी स्व-विस्तारकी प्रवृत्तिके लिये एक अधिक स्वतंत्र क्षेत्र पुनः प्रदान करेगी।

उस अवस्थामें बुद्धि-युगकी दिशा, जिसके अचानक समाप्त होनेका इस समय भय है, अभी और लंबे समयतक चल सकती है और अपना कार्य पूरा कर सकती है। मानव-मन और जीवनकी अनुभवात्मक प्रवृत्ति यदि अपने-आपको प्राप्त किये बिना किसी सामान्य बाह्य कर्ममें समयसे पहले ही न कूद पड़ी तो उसके पास इतना समय और स्वतंत्रता हो सकती है कि वह अपनी उन्नति कर सके, अपना सत्य और प्रगतिकी अपनी दिशाएँ खोज सके और इस प्रकार मनुष्यके सामाजिक विकासके उत्तुंग शिखरपर चढ़नेके लिये तैयार हो सके; इस शिखरपर बुद्धियुगका मोड़ स्वाभाविक रूपमें उसके अपने सामान्य विकासके द्वारा समाप्त हो जाता है तथा एक गंभीरतर आत्माका मार्ग प्रशस्त कर देता है।

बीसवाँ अध्याय

बौद्धिक धारणाका अंत
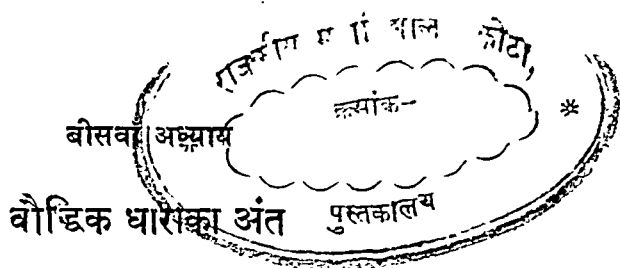
पहली दृष्टिमें समाजका बौद्धिक समष्टिवादी सिद्धांत हमें प्रवल रूपमें आकर्षित करता है। इसके पीछे यह महान् सत्य विद्यमान है कि प्रत्येक समाज एक सामूहिक सत्ताका प्रतिनिधित्व करता है तथा व्यक्ति उसीमें और उसीके द्वारा जीवित रहता है, और जो कुछ वह समाजको दे सकता है वह उसे देना ही चाहिये। एक बात और भी है, समाजके साथ एक विशेष संवंध रखकर ही, इस महत्तर सामूहिक सत्ताके साथ एक प्रकारकी समस्वरता स्थापित करके ही व्यक्ति अपनी अनेक विकसित अथवा विकसनशील क्षमताओं और क्रियाओंका पूर्ण रूपसे उपयोग कर सकता है। यह सोचना स्वाभाविक होगा कि, क्योंकि यह सत्ता सामूहिक है, इसके पास एक ऐसी सामूहिक वुद्धि और संकल्प-शक्ति होनी ही चाहिये जिसे यह खोजकर प्राप्त कर सकती हो; यदि बुद्धि और संकल्प-शक्तिको व्यवस्थित स्व-अभिव्यक्ति और कार्यान्वितिके चेतन और प्रभावशाली साधन प्राप्त हो जायँ तो इसे अपने-आपको यथार्थ रूपमें अभिव्यक्त करने तथा कार्य करनेकी अधिकाधिक सामर्थ्य भी प्राप्त हो जानी चाहिये। और क्योंकि मूल विचारके अनुसार यह सामूहिक संकल्प-शक्ति और वुद्धि पूर्ण समभावयुक्त व्यक्तियोंकी वुद्धि और संकल्प-शक्ति होती है, स्वभावतः ही उनपर यह विश्वास तो करना ही चाहिये कि वे अपने हितके साधन खोजकर उन्हें कार्यरूप दे देंगी, जव कि शासनकर्त्ता व्यक्ति और वर्गकी प्रवृत्ति सदा ही अपनी शक्तिका विलकुल ही दूसरे उद्देश्योंके लिये दुरुपयोग करनेकी होती है। समानता और वंधुत्वपर आधारित सामाजिक जीवनके यथार्थ संगठनका यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक शक्तिको समाजमें उसका उचित स्थान दे, उसे सार्वजनिक उद्देश्योंके लिये पूर्ण रूपसे शिक्षित एवं विकसित करे, उसे कर्म, अवकाश और प्रतिफलका समुचित भाग दे तथा सामूहिक सत्ता अर्थात् समाजके संवंधकी दृष्टिसे उसके जीवनका जो यथार्थ मूल्य है वह प्रदान करे। इसके अतिरिक्त यह एक ऐसा स्थान, भाग एवं मूल्य होगा जिसका नियमन व्यक्तिगत और सामूहिक हितके द्वारा होगा, यह एक ऐसा अतिरंजित या हीन प्रकारका मूल्य नहीं होगा जो उसे जन्म या

सौभाग्यसे अचानक ही प्राप्त हो गया हो या जिसे उसने धन द्वारा खरीद लिया हो, या फिर किसी कष्टप्रद और व्यर्थके संघर्ष द्वारा प्राप्त किया हो और तबतक एक सुव्यवस्थित और केंद्रित राज्यमें समुदायकी बाह्य योग्यताकी, उसके जीवनकी नियत, व्यवस्थित और आर्थिक कार्य-क्षमता तथा उत्पादन और सामान्य सुख-सुविधाकी शक्ति निश्चित ही अत्यधिक बढ़नी चाहिये, जैसा कि अभी पिछले दिनोंमें सामूहिक कर्मके सर्वथा अपूर्ण विकासने स्पष्ट रूपसे सिद्ध कर दिया है।

यदि इसपर यह आपत्ति की जाय कि इस परिणामको पूर्णतया प्राप्त करनेके लिये व्यक्तिकी स्वाधीनताको नष्ट कर देना होगा या उसको इतना कम कर देना होगा कि वह एक बिलकुल ही नगण्य वस्तु रह जाय तो इसका उत्तर यह हो सकता है कि व्यक्तिका, एक ऐसे 'राज्य'के विरुद्ध जो संपूर्ण समाज अर्थात् **सर्व ब्रह्म** के मन, संकल्प, हित एवं कल्याणका प्रतिनिधित्व करता है, किसी भी अहंमूलक स्वतंत्रताका अधिकार एक भयावह कल्पना एक लज्जाजनक गाथा है। जीवन एवं कर्मकी वैयक्तिक स्वाधीनताका अर्थ,--विचार और वाणीकी स्वाधीनता कुछ समयके लिये दे भी दी जाय, यद्यपि एक बार समाजवादी 'राज्य'का व्यक्तिपर दृढ़ अधिकार हो जानेके बाद इस प्रकारकी स्वाधीनता भी शायद ही अक्षुण्ण रह सकती है,--व्यवहारमें एक ऐसी अनुचित स्वतंत्रता है जो उसकी प्रकृतिके अनबौद्धिक भागोंको दी गयी है, फिर क्या उसमें यह ठीक वही वस्तु नहीं है जिसे यदि पूर्ण रूपसे दबाया न भी जा सके, पर जिसे पूरी तरह नियंत्रणमें अवश्य रखना होगा, यदि उसे एक बुद्धिसंगत जीवन यापन करनेवाला बुद्धिसंगत प्राणी बनना है? यह नियंत्रण अत्यधिक बुद्धिमत्ता और दक्षताके साथ 'राज्य'की सामूहिक बुद्धि एवं संकल्पके द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है, क्योंकि यह व्यक्तिकी बुद्धि और संकल्पसे अधिक महान्, श्रेष्ठ तथा ज्ञानयुक्त है। कारण, राज्य समाजके अंदर विद्यमान समस्त सुलभ बुद्धिमत्ता और अभीप्सासे लाभ उठाता है, जैसा कि एक सामान्य व्यक्ति नहीं कर सकता। यह ठीक है कि एक सज्ञान व्यक्ति इस सामूहिक विवेक और संकल्पको अपना ही अपेक्षाकृत विशाल मन, संकल्प और विवेक समझ सकता है और प्रसन्नतापूर्वक इसका आदेश पालन करके अपनी क्षुद्रतर और कम बौद्धिक सत्तासे काफी हदतक मुक्त हो सकता है तथा उससे अधिक वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है जिसके लिये उसका क्षुद्र पृथक् अहं आज दावा करता है। यह युक्ति दी जाती थी कि एक अनुशासन-प्रिय जर्मन, जो कि पुलिसके सिपाही या राज्य

अथवा सेनाके अफसरके छोटे-से-छोटे संकेतका भी पालन करता है, वास्तवमें समस्त यूरोप और इसलिये समस्त संसारमें अत्यधिक स्वतंत्र, प्रसन्न एवं नैतिक व्यक्ति है। यही तर्क अपने तीव्र रूपमें फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनीके अभ्याससिद्ध सुख-सौभाग्यपर भी लागू किया जा सकता है। राज्य जो कि व्यक्तिको शिक्षित एवं शासित करता है उसे बौद्धिक, नैतिक, व्यावहारिक तथा सामान्य रूपमें पूर्ण बनानेका कार्य अपने हाथमें लेता है और वह यह भी देखता है कि व्यक्ति इच्छा या अनिच्छापूर्वक सदा सब वस्तुओंमें राज्य द्वारा अनुमोदित बौद्धिक, नैतिक, व्यावहारिक और सर्वांगीण पद्धतियोंका ही दृढ़तापूर्वक पालन करे।

इस संबंधमें खेदजनक बात यह है कि यह अत्युत्तम सिद्धांत भी पहले आनेवाले व्यक्तिवादी सिद्धांतके समान ही, अपने नियत विचारों तथा मनुष्य-प्रकृतिके यथार्थ तथ्योंमें विरोध होनेके कारण, निश्चित रूपमें लड़खड़ा जायगा। कारण, यह मानव-सत्ताकी जटिलताकी एवं उस जटिलताके संपूर्ण अर्थकी उपेक्षा करता है। और विशेषतया तो यह मनुष्यकी आत्माकी तथा उसकी स्वतंत्रता और उसके निम्न अंगोंके नियंत्रणकी सर्वोच्च माँगको भी उपेक्षाकी दृष्टिसे देखता है, क्योंकि यह भी पूर्ण स्वतंत्रताका ही एक भाग है जिसके लिये वह संघर्ष कर रहा है; निःसंदेह वह एक वृद्धिशील नियंत्रण होगा, दूसरोंके मन और संकल्पके द्वारा किया जानेवाला एक यांत्रिक नियमन नहीं। आज्ञा-पालन भी उसकी पूर्णताका एक भाग है, पर वह एक यांत्रीकृत सरकार और शासनके प्रति नहीं, बल्कि एक सच्ची पथप्रदर्शक शक्तिके प्रति स्वतंत्र और स्वाभाविक प्रकारका आज्ञा-पालन होगा। सामूहिक सत्ता एक तथ्य है, वस्तुतः समस्त मनुष्यजातिको ही एक सामूहिक सत्ता कहा जा सकता है, किंतु यह सत्ता एक आत्मा और जीवन-शक्ति है, केवल मन और शरीर ही नहीं। प्रत्येक समाज इस मनुष्यजातिकी एक उप-आत्मा अथवा सामूहिक आत्मामें विकसित होता है तथा साथ ही अपने एक सामान्य स्वभाव, चरित्र और विशिष्ट प्रकारको भी विकसित कर लेता है; वह ऐसे प्रधान विचार और प्रवृत्तियाँ बना लेता है जो उसके जीवन और उसकी संस्थाओंका निर्माण करते हैं। किंतु समाज कोई ऐसी सामान्य तर्कबुद्धि और संकल्प नहीं खोज सकता जो उसके सभी सदस्योंकी सामान्य संपदा हों। कारण, सामूहिक आत्मा अपनी प्रवृत्तियोंको मतोंकी विविधता तथा संकल्पों और जीवनकी विविधता द्वारा कार्यान्वित करती है और सामूहिक जीवनकी शक्ति अधिकतर इसी विविधता तथा इसके स्थायित्व और समृद्धिपर निर्भर करती है। क्योंकि

यह ऐसा है, इसलिये संगठित 'राज्य'की सरकारका अर्थ सदा ही कुछ व्यक्तियोंकी सरकार होता है,—सिद्धांत-रूपमें चाहे वे व्यक्ति अल्पसंख्यक हों या बहुसंख्यक, इससे अंततः कोई मौलिक अंतर नहीं पड़ता। कारण, जब बहुसंख्यक दल शासन करता है, जो केवल नाममात्रका होता है, वास्तवमें तब भी सदा कुछ अपेक्षाकृत थोड़ेसे प्रभावशाली व्यक्तियोंकी बुद्धि और संकल्प ही अर्धविमोहित जनसाधारणकी सहमतिके साथ शासन और नियमन करते हैं, पर वास्तवमें वह भी सर्वसाधारणकी सामान्य बुद्धि और संकल्पशक्ति नहीं होती।* यह समझनेका कोई कारण नहीं है कि राज्यका तात्कालिक सामाजीकरण 'राज्य-शासन'की इस व्यावहारिक आवश्यकताको कभी बदल भी देगा, क्योंकि जनसाधारण अभी पूरी तरहसे न तो बौद्धिक ही बने हैं और न उनके मन ही विकसित हुए हैं।

प्राचीन अवबौद्धिक समाजोंमें, कम-से-कम उनके प्रारंभिक रूपोंमें, 'राज्य' नहीं बल्कि एक सामूहिक आत्मा शासन करती थी, यह आत्मा एक ऐसे जीवनको विकसित करती थी जो उन प्रचलित संस्थाओं और स्वनिर्मित नियमोंके रूपमें संगठित था जिनका सबको पालन करना होता था, क्योंकि शासक तो केवल उसके कार्यवाहक और यंत्र होते थे। इसके परिणामस्वरूप व्यक्तिको समाजके अत्यधिक अधीन होना पड़ा, किंतु यह अधीनता अखरती नहीं थी, क्योंकि व्यक्तिवादी सिद्धांतने अभी जन्म ही नहीं लिया था और जो विविधताएँ उत्पन्न हुई भी थीं उनका स्वभावतः ही किसी-न-किसी प्रकार प्रबंध कर दिया गया—कुछ अवस्थाओंमें तो उनका प्रबंध सामाजिक परिवर्तनमें एक अपूर्व उदारता लाकर किया गया था जब कि 'राज्य'-शासनकी प्रवृत्ति इस सामाजिक परिवर्तनको अधिकाधिक दबा देनेकी होती है। वस्तुतः जैसे-जैसे 'राज्य'-शासन विकसित होता है, वैसे-वैसे बहुसंख्यक द्वारा अल्पसंख्यक, अल्पसंख्यक द्वारा बहुसंख्यक, समुदाय द्वारा व्यक्ति और राज्यकी कठोर मशीनरी द्वारा जनसाधारण दबाये एवं सताये जाते हैं। जनतंत्रीय स्वाधीनताने इस उत्पीड़नको कम

---

*यह सत्य हमारे सामने साम्यवादी रूस तथा राष्ट्रीय समाजवादी जर्मनीमें एक विस्मयजनक शक्तिके साथ प्रकट हुआ है, और देशोंकी चर्चा हम छोड़ देते हैं। इस बात की प्रबल पुष्टि कि मनुष्यजातिको एक अभिषिक्त या अनभिषिक्त राजा अर्थात् एक अधिनायक नेता ड्यूस या फ्यूहररकी एवं एक शासक और अशासक कुलीनतंत्र-की आवश्यकता है जनतंत्रकी डेढ़ शताब्दिका अंतिम परिणाम है, जिस प्रकार कि यह श्रमिक दलकी शक्तिके संभावित उदयका भी पहला आश्चर्यजनक परिणाम है।

करनेकी चेष्टा की; उसने व्यक्तिको स्वतंत्र क्रीड़ाकी अनुमति दी और 'राज्य'के कार्यक्षेत्रको यथासंभव सीमित कर दिया। समष्टिवाद ठीक इसके विरोधी छोरतक जाता है। वह व्यक्तिकी स्वतंत्र इच्छाको हिलने-डुलनेके लिये भी पर्याप्त स्थान नहीं देता; जितना अधिक वह एक अत्युन्नत सार्वभौम शिक्षाके द्वारा व्यक्तिको बौद्धिक बनायेगा उतना ही यह उत्पीड़न अधिक अनुभव किया जायगा,—जबतक कि, वस्तुतः, विचार-संबंधी समस्त स्वतंत्रताका ही निषेध नहीं कर दिया जाता या फिर सबके मनोंको एक नियत ढंगसे सोचनेको ही विवश नहीं कर दिया जाता।

मनुष्यको अपनी उन्नतिके लिये विचार, जीवन और कर्मकी स्वतंत्रताकी आवश्यकता है, अन्यथा वह जहाँ था वहीं स्थिर रूपमें एक जड़ और निष्क्रिय प्राणीके समान पड़ा रहेगा। यदि उसका वैयक्तिक मन और बुद्धि भलीभाँति विकसित नहीं हुए तो वह, जैसा कि अवबौद्धिक मन करता है, समूह-आत्मामें, झुंड तथा समुदायमें, उस सूक्ष्म अर्ध-चेतन सामान्य विकासके द्वारा जो प्रकृतिकी निम्न प्रक्रियाओंमें सबके लिये सामान्य रूपसे सुलभ है, विकसित होना स्वीकार कर सकता है। ज्यों-ज्यों वह वैयक्तिक बुद्धि और संकल्प विकसित करता है, त्यों-त्यों उसे वैयक्तिक स्वतंत्रता और विविधताकी अधिकाधिक क्रीड़ाके लिये क्षेत्रकी आवश्यकता पड़ती है और समाजको उसे यह क्षेत्र प्रदान करना भी चाहिये; उसे कम-से-कम उस हदतक तो यह स्वतंत्रता और विविधता प्राप्त होनी ही चाहिये, जहाँतक कि वह उसे इतना ही नहीं बढ़ा लेता कि उससे दूसरोंको और संपूर्ण समाजको व्यर्थमें ही हानि पहुँचने लगे। यदि वैयक्तिक मनको पूर्ण रूपसे विकसित होने दिया जाय और उसे उन्मुक्त क्रीड़ाका अवसर प्रदान किया जाय तो उस असीम विविधताके साथ-साथ जो इस विकासका अवश्यंभावी परिणाम होगी स्वतंत्रताकी आवश्यकता भी बढ़ने लगेगी; और विचार और बुद्धिको तो स्वतंत्र रूपमें कार्य करनेकी अनुमति प्रदान की जाय, किंतु जीवनके सज्ञान संकल्पकी स्वतंत्र क्रीड़ापर जीवनके अत्यधिक नियमनके द्वारा प्रतिबंध लगा दिया जाय, तो एक असहनीय विरोध और झूठकी स्थिति उत्पन्न हो जायगी। मनुष्य इस स्थितिको कुछ समयतक तो यह सोचकर सहन कर सकता है कि समाजकी समष्टिवादी व्यवस्था अपने साथ आर्थिक विकास, कार्य-कुशलताके साधन, तर्कबुद्धिकी वैज्ञानिक तुष्टि तथा सुप्रबंधके महान्, प्रत्यक्ष और नवीन लाभ लायेगी, किंतु जब उसके लाभ एक वास्तविक तथ्य बन जायेंगे और दोष तीव्र होकर अधिकाधिक अनुभव होने लगेंगे, तो समाजके अत्यधिक निर्मल और उत्साही मनोंमें निश्चित

रूपसे असंतोष और विद्रोह पैदा हो जायगा जो पीछे जनसाधारणमें भी फैल जायगा। इन परिस्थितियोंमें यह बौद्धिक और प्राणिक असंतोष अराजकतावादी विचारका रूप भी धारण कर सकता है, क्योंकि यह विचार आंतरिक जीवन और उसकी वाह्य अभिव्यक्तिमें उन्मुक्त विविधता लानेकी ठीक इसी माँगके साथ संवंध रखता है जो कि विद्रोहका कारण बनेगी, और अराजकतावादी विचार निश्चित रूपसे समाजवादी व्यवस्थाको उलट देगा। 'राज्य' इसका सामना केवल एक ऐसी शिक्षाके द्वारा कर सकता है जो उसकी जीवनसंवंधी नियत परिपाटियोंके अनुकूल हो तथा जिसका उद्देश्य नागरिकको विचारों, रुचियों और प्रवृत्तियोंकी एक दृढ़ पद्धतिका अभ्यास कराना हो, जैसा कि पुरानी अववौद्धिक व्यवस्थामें किया जाता था। राज्य वाणी और विचारकी स्वतंत्रताको दवाकर भी इसका प्रतिकार कर सकता है जिससे कि सवको एक ही विचार, एक ही भावना, एक ही मत और एक ही भाव रखने की शिक्षा दी जा सके और उसके लिये उन्हें विवश किया जा सके। किंतु एक वौद्धिक समाजमें यह इलाज स्व-विरोधी और प्रभावहीन होगा, और यदि इसका कुछ परिणाम निकला भी, तो वह जिस बुराईका सामना करना चाहता है उससे भी अधिक हानिप्रद सिद्ध होगा। वल्कि, यदि प्रारंभसे ही विचारकी स्वतंत्रता नहीं दी गयी, तो इसका अर्थ वौद्धिक युग तथा वौद्धिक समाजके आदर्शका अंत होगा। मनुष्य अर्थात् मनोमय प्राणीको यदि अपने मन और मानसिक संकल्पके प्रयोगकी, एक संकुचित और नियत परिधिको छोड़कर, अनुमति नहीं दी गयी, तो उसका विकास रुक जायगा और वह एक पशु और कीड़ेके समान एक गतिहीन श्रेणीका जीव ही वना रहेगा।

यही वह प्रमुख दोप है जिसके कारण एक समाजवादी 'राज्य' अवश्य ही अपूर्णताका दोपी ठहराया जायगा तथा उसे एक नये आदर्शके विकासकी खातिर समाप्त होनेको वाधित होना पड़ेगा। व्यक्तिके जीवनपर 'राज्य-संगठन'का दवाव पहलेसे ही एक ऐसे विन्दुपर पहुँच गया है जहाँ उसे अव और सहना संभव नहीं रहा है। यदि उसका वर्तमान रूप ऐसा ही चलता रहा अर्थात् यदि व्यक्तिके जीवनका शासन, जैसा कि वह दावा करता है, सामूहिक संकल्प-शक्ति और वुद्धिके द्वारा नहीं, वल्कि अपेक्षाकृत कुछ थोड़ेसे लोगोंके द्वारा होता रहा, दूसरे शब्दोंमें यदि वह प्रत्यक्ष रूपमें अजनतंत्रीय हो गया या मिथ्या जनतंत्रीय वना रहा तो इसी मिथ्याभिमानके द्वारा ही अराजकतावादी विचार उसके अस्तित्वपर आक्रमण कर देगा। किंतु 'समाजवादी राज्य' सच्चे अर्थोंमें जनतंत्रीय हो भी जाय, यदि वह

सच्चे अर्थोंमें एकमत बहुसंख्यक दलके स्वतंत्र युक्तिसंगत संकल्पकी अभिव्यक्ति हो जाय, तो भी उसकी आंतरिक कठिनाई दूर नहीं होगी। इस प्रकारकी कोई भी सच्ची प्रगति वस्तुतः दुःसाध्य है और यह एक काल्पनिक वस्तु प्रतीत होती है। कारण, समष्टिवाद जीवनको उसके कुछ थोड़ेसे मूलभूत सिद्धांतों तथा उसकी कुछ प्रमुख दिशाओंमें ही नहीं, जैसा कि प्रत्येक संगठित समाजको करना चाहिये, बल्कि उसकी बारीकियोंमें भी संचालित करना चाहता है, उसका उद्देश्य एक पूर्णरूपेण वैज्ञानिक नियमन है, और लाखों व्यक्तियोंके स्वतंत्र बुद्धिपूर्ण संकल्पका जीवनकी समस्त दिशाओं और उसकी अनेकों बारीकियोंमें एकमत होना एक स्व-विरोधी कथन है। एक 'संगठित-राज्य' कितना भी पूर्ण क्यों न हो, बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक दलके द्वारा वैयक्तिक स्वतंत्रताका दमन या उत्पीड़न तब भी एक प्रधान दोष रह जायगा जो इसके वास्तविक सिद्धांतको कलुषित कर देगा। यही नहीं, इससे अत्यधिक बुरी बात भी हो सकती है। कारण, जीवनका एक पूर्णरूपेण वैज्ञानिक नियमन केवल जीवनके एक पूर्ण यांत्रीकरणसे ही संभव हो सकता है। यांत्रीकरणकी यह प्रवृत्ति ही 'राज्य-सिद्धांत' तथा उसकी कार्यान्वितिका स्वभावगत दोष है। बौद्धिक अराजकतावादी विचार तथा आध्यात्मिक विचारककी अंतर्दृष्टि दोनोंने इस दोषपर बल देना शुरू कर दिया है और जैसे-जैसे 'राज्य-सिद्धांत' व्यवहारमें अधिकाधिक पूर्णताको प्राप्त होता जायगा वैसे-वैसे यह बल भी अत्यधिक बढ़ता जायगा। वस्तुतः यह तर्कबुद्धिका ही मूलभूत दोष होता है जब कि वह जीवनको शासित करने लगती है तथा उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंको दबाकर उसे एक प्रकारकी बौद्धिक व्यवस्थामें लानेका प्रयत्न करती है।

जीवन भौतिक जगत्की यांत्रिक व्यवस्थासे भिन्न है। तर्कबुद्धि भौतिक जगत्के साथ अपना संबंध रखनेमें इसलिये सफल हुई है कि वह यांत्रिक है तथा अपरिवर्तनशील रूपमें स्थिर जागतिक अभ्यासोंकी लीकपर चलती है। इसके विपरीत, जीवन एक गतिशील, प्रगतिकारी और विकासोन्मुख शक्ति है, वह एक ऐसी शक्ति है जो प्राणियोंमें एक असीम आत्माकी अधिकाधिक अभिव्यक्ति करती है। ज्यों-ज्यों जीवन विकसित होता है, त्यों-त्यों वह अपनी सूक्ष्म विभिन्नताओं, आवश्यकताओं और विविधतासे अधिकाधिक सज्ञान होता जाता है। जीवनकी उन्नतिमें उन अनेकों वस्तुओंका विकास एवं परस्पर-संबंध समाविष्ट है जिनका सदा आपसमें संघर्ष रहता है तथा जो प्रायः ही पूर्णतया विरोधी और विपरीत प्रतीत होती हैं। इन

विरोधोंमें एकताका कोई ऐसा सिद्धांत, आधार, या समझौतेका कोई उपयोगी साधन, जो द्वंद्व और संघर्षके आधारपर नहीं, वरन् सामंजस्यके आधारपर एक अधिक विशाल और श्रेष्ठ विकासको संभव कर दे, ढूँढ़ना ही मनुष्यजातिके सक्रिय जीवन-विकासका अधिकाधिक सार्वभौम लक्ष्य बनते जाना चाहिये, यदि वह जीवनकी अधिक अव्यवस्थित, कष्टप्रद और अस्पष्ट हलचल तथा जीवनप्रधान मनके अज्ञान और स्थूल पदार्थके निर्ज्ञानके साथ किये गये 'प्रकृति'के समझौतोंसे जरा भी बाहर निकलना चाहती है। यह कार्य वास्तविक और संतोषजनक रूपमें तभी हो सकता है जब कि आत्मा अपने सर्वोच्च और पूर्णतम आध्यात्मिक सत्यको प्राप्त कर ले तथा अपने जीवनके मूल्योंका आध्यात्मिक मूल्योंमें एक विकसनशील और ऊर्ध्वगामी रूपांतर साधित कर ले; कारण, वहाँ सभी अपना आध्यात्मिक सत्य प्राप्त कर लेंगे, साथ ही उस सत्यमें उन्हें पारस्परिक मान्यता और सुसंगतिका आधार भी प्राप्त हो जायगा। आध्यात्मिक सत्य ही एकमात्र सत्य है और अन्य सब उसके आवृत रूप, चमकीले आवरण या अंधकारमय विकृतियाँ हैं, उसीमें ये अपना यथार्थ रूप तथा दूसरेके साथ अपना सच्चा संबंध प्राप्त कर सकते हैं। यह कार्य तर्कबुद्धिके वशका नहीं है। बुद्धिका कार्य मध्यवर्ती है, अर्थात् उसे इस जीवनका, विवेककी सहायतासे, निरीक्षण करना तथा इसे समझना है, और इसके लिये उस दिशाकी खोज करनी है जिस ओर यह बढ़ रहा है। साथ ही इसके अपने मार्गपर प्रगति करनेके जो नियम हैं उन्हें भी उसे ढूँढ़ना है। अपने कार्यको कर सकनेके लिये बुद्धिको अस्थायी रूपसे स्थापित उन दृष्टि-कोणोंको अपनाना पड़ता है जिनमेंसे कोई भी पूर्णतया सत्य नहीं होता; उसे ऐसी पद्धतियाँ भी चलानी पड़ती हैं जिनमेंसे वस्तुतः एक भी वास्तविक रूपमें वस्तुओंके समग्र सत्यकी चरम अभिव्यक्तिके रूपमें नहीं टिक सकती। कारण, वस्तुओंका समग्र सत्य बुद्धिका नहीं, वरन् आत्माका सत्य है।

विचारके क्षेत्रमें इसका अधिक महत्त्व नहीं। क्योंकि वहाँ तर्कबुद्धि व्यवहारको अपना लक्ष्य नहीं बनाती, इसलिये वह सुरक्षित रूपमें अत्यधिक विरोधी दृष्टिकोणों तथा प्रणालियोंको साथ-साथ रहनेकी अनुमति दे सकती है, उनमें तुलना और समझौते करनेका प्रयत्न कर सकती है, कई विभिन्न तरीकोंके द्वारा उन्हें समन्वित कर सकती है तथा उन्हें सदैव परिवर्तित, संवर्द्धित तथा उन्नत कर सकती है। वहाँ वह अपना कार्य स्वतंत्र रूपमें करती है, उसे प्रत्येक पगपर तात्कालिक क्रियात्मक परिणामोंके विषयमें सोचना नहीं पड़ता। किंतु जब तर्कबुद्धि जीवनका संचालन करना चाहती

है, तो उसे अपना दृष्टिकोण निश्चित करना पड़ता है, उसे अपनी पद्धतिको एक स्पष्ट रूप देना पड़ता है; प्रत्येक परिवर्तन एक संदिग्ध, विषम और भयावह वस्तु बन जाता है या कम-से-कम ऐसा प्रतीत होने लगता है। इसके समस्त परिणामोंको पहलेसे ही नहीं जाना जा सकता, जब कि दृष्टिकोणों, सिद्धांतों और प्रणालियोंका विरोध किसी सामंजस्यपूर्ण निकासके आधारकी ओर नहीं, वरन् संघर्ष और क्रांतिकी ओर ले जाता है। तर्कबुद्धि एक यंत्रके समान कार्य करती है, जिससे कि वह वस्तुओंकी तरलताके बीचमें आचार-व्यवहारको स्थिर रख सके, किंतु जहाँ यांत्रिक कार्य भौतिक शक्तियोंके साथ व्यवहार करनेमें एक पर्याप्त सिद्धांतका काम करता है,—क्योंकि वह भौतिक प्रकृतिके विधान अर्थात् धर्मके साथ मेल खाता है,—वहाँ वह चेतन जीवनके साथ व्यवहार करनेमें वास्तविक रूपमें कभी सफल नहीं हो सकता; कारण, वहाँ वह जीवनके विधानके, उसके सर्वोच्च धर्मके विपरीत पड़ता है। इसलिये जब कि समाजको एक बौद्धिक व्यवस्थामें लानेका प्रयत्न अवबौद्धिक समाजोंकी तुलनात्मक गतिहीनता तथा उनके मंद अवचेतन या अर्धचेतन विकाससे और अर्ध-बौद्धिक समाजोंकी अस्त-व्यस्त एवं मिश्रित गतिसे आगेका एक पग है, वह अपनी प्रणालियों द्वारा पूर्णतातक कभी भी नहीं पहुँच सकती; कारण, बुद्धि न तो जीवनका प्रथम सिद्धांत है और न वह उसका अंतिम, सर्वोच्च और पर्याप्त सिद्धांत ही हो सकती है।

पर यह प्रश्न अब भी शेष रह जाता है कि समष्टिवादी विचारको अतिक्रांत करनेवाला अराजकतावादी विचार भी एक संतोषजनक सामाजिक सिद्धांत पानेमें कुछ अधिक सफल हो सकता है या नहीं। कारण, यदि वह यांत्रिक क्रियासे मुक्त हो भी जाय जो कि जीवनकी बौद्धिक व्यवस्था करनेका एकमात्र व्यवहार्य साधन है, तो वह किसको अपना आधार बनायेगा और किस वस्तुके द्वारा निर्माण करेगा। अराजकतावादी आक्षेपके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि सामाजिक विकासमें समष्टिवादी युग अंतिम और सर्वश्रेष्ठ अवस्था न भी हो पर कम-से-कम एक अनिवार्य अवस्था अवश्य है, क्योंकि व्यक्तिवादका दोष यह है कि व्यक्तिके जीवन और मनके या उसकी जीवन-आत्माके स्वतंत्र विकास या इन सबकी अभिव्यक्ति-पर बल देते हुए वह मानसिक और प्राणिक सत्ताके अहंको अत्यधिक बढ़ा देता है तथा उसे दूसरोंके साथ उस एकताको अनुभव नहीं करने देता जिसके आधारपर ही पूर्ण आत्मविकास और निर्दोषस्वतंत्रता प्रतिष्ठित हो सकते हैं। समष्टिवाद कम-से-कम पृथक् अहंके जीवनको एक महत्तर

सामुदायिक अहंके जीवनके पूर्णतया अधीन करके इस एकतापर वल तो देता है; इस प्रकार उसका कार्य यह हो सकता है कि वह व्यक्तिके मन और उसके जीवनके अभ्यासोंपर अपने जीवनको दूसरोंके जीवनके साथ एक करनेकी आवश्यकताको दृढ़ रूपसे अंकित कर दे। पीछे, जव कि व्यक्ति पुनः अपनी स्वतंत्रताके अधिकारका वलपूर्वक समर्थन करता है, जैसा कि एक दिन वह करेगा ही, तो वह अपने पृथक् अहंभावयुक्त जीवनके आधारपर नहीं, वरन् इसी ऐक्यके आधारपर ऐसा करना सीख सकता है। यही मानवसमाजमें जव कि वह सामाजिक जीवनके समष्टि-वादी सिद्धांतका अनुसरण कर रहा होता है, प्रकृतिका उद्देश्य हो सकता है। यदि समष्टिवाद अपने प्रमुख सिद्धांतमें इतना संशोधन कर ले कि व्यक्ति एकता तथा सुसमन्वित सार्वजनीन जीवनके आधारपर अपना स्वतंत्र विकास कर सके तो वह स्वयं भी अंतमें अपना उद्देश्य सिद्ध कर सकता है। किंतु ऐसा करनेके लिये उसे पहले अपनेको अध्यात्ममय वनाना होगा तथा अपने प्रेरक सिद्धांतकी अंतरीय भावनाको वदलना होगा, पर यह वह तार्किक वुद्धि और जीवनकी यंत्रवत् वैज्ञानिक व्यवस्थाके आधारपर नहीं कर सकता।

यद्यपि अराजकतावादी विचारने अभीतक कोई निश्चित रूप ग्रहण नहीं किया है, तो भी जैसे-जैसे व्यक्तिपर समाजका दवाव वढ़ेगा, वैसे-वैसे उसकी उन्नति अवश्य होगी, क्योंकि उस दवावमें कोई ऐसी चीज है जो मानव-पूर्णताके एक आवश्यक तत्त्वको अनुचित रूपमें दवा देती है। हमें उस स्थूल प्रकारके प्राणात्मवादी या उग्र अराजकतावादको अधिक महत्त्व देनेकी आवश्यकता नहीं जो सामाजिक सिद्धांतके विरोधमें प्रवल रूपसे प्रतिक्रिया करनेका यत्न करता है या अहंभावयुक्त अथवा स्थूल एवं प्राणात्मवादी अर्थमें "अपने ढंगसे अपना जीवन विताने"के मनुष्यके अधिकारकी माँग करता है। एक उच्चतर और वौद्धिक अराजकतावादी सिद्धांत भी है जो अपने उद्देश्य और नियममें प्रकृतिके तथा मनुष्यके अंतरस्थ देवत्वके एक अत्यंत वास्तविक सत्यको पुनः प्राप्त कर लेता है तथा उसे उसके वहुत आगेके युक्तिसंगत निष्कर्षोंतक ले जाता है। वह सामाजिक सिद्धांतकी इससे ठीक उलटी अत्युक्तिके प्रति विद्रोह कर देता है और कह उठता है कि मनुष्यका मनुष्यपर जोर-जवर्दस्ती द्वारा किया गया शासन एक पाप है, उस शुभसंवंधी प्राकृतिक सिद्धांतका उल्लंघन, दमन अथवा विकृत रूप है जो अन्यथा मनुष्यजातिकी पूर्णताके लिये विकसित तथा प्रवल हो सकता है। स्वयं सामाजिक सिद्धांतपर भी शंका की जाती है, उसे

इस बातका दोषी ठहराया जाता है कि उसीके कारण मनुष्यका एक स्वाभाविक जीवन-सिद्धांतसे एक अस्वाभाविक और कृत्रिम जीवन-सिद्धांतमें पतन हो गया है।

इस ऐकांतिक विचारकी अतिशयोक्ति तथा स्वाभाविक दुर्बलता काफी स्पष्ट है। मनुष्य वास्तवमें एक पृथक् सत्ताके रूपमें जीवन-यापन नहीं करता, और न एक पृथक् स्वतंत्रताके द्वारा अपना विकास ही कर सकता है। वह दूसरोंके साथ संबंध रखकर ही विकसित होता है और उसे अपनी स्वतंत्रताका अपने साथियोंकी स्वतंत्रताके साथ उत्तरोत्तर सामंजस्य स्थापित करके ही उसका प्रयोग करना चाहिये। अतएव, सामाज़िक सिद्धांत जो रूप धारण कर चुका है, उनके होते हुए भी, वह यदि किसी और चीजके द्वारा नहीं तो 'संबंधों'के एक ऐसे क्षेत्रके रूपमें, जो व्यक्तिको एक महत्तर पूर्णताकी ओर बढ़नेका अवसर प्रदान करता है, समाजकी आवश्यकताके द्वारा पूर्ण रूपसे उचित सिद्ध होगा। पुराना सिद्धांत यह अवश्य कहता है कि मनुष्य शुरूमें सरल-स्वभाव और पूर्ण था। यह विचार 'महाभारत' जितना ही पुराना है कि मनुष्यजातिकी पहली आदर्श अवस्था एक ऐसे स्वतंत्र और स्वाभाविक जीवनयापनके सामंजस्यपूर्ण आनंदकी अवस्था थी जिसमें सामाजिक विधान या दबावका कहीं भी अस्तित्व नहीं था, क्योंकि इनकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। किंतु इस सिद्धांतको भी यह स्वीकार करना पड़ा कि मनुष्य अपनी स्वाभाविक पूर्णतासे पतित हो गया है। उसके पतनका कारण यह नहीं था कि उसकी जीवन-व्यवस्थामें सामाजिक सिद्धांतको स्थान दिया गया है, वल्कि इस पतनके कारण ही सामाजिक सिद्धांत और दबावकी शासनसंबंधी प्रणालीको प्रचलित करना पड़ा था। यदि, इसके विपरीत, हम मनुष्यके विकासको पूर्णतासे पतन नहीं, बल्कि एक क्रमिक आरोहण अर्थात् अपनी सत्ताकी अवबौद्धिक अवस्थामेंसे एक क्रमिक विकास समझें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके अवबौद्धिक अहंकी प्राणिक और भौतिक सहज-प्रवृत्तियोंपर सामाजिक दबाव डालकर तथा सामाजिक जीवनकी आवश्यकताओं और उसके विधानोंकी अधीनता स्वीकार करके ही एक बड़े पैमानेपर यह विकास संपन्न किया जा सकता था। क्योंकि अपनी प्रारंभिक स्थूल अवस्थामें होनेके कारण ये सहज-प्रवृत्तियाँ इच्छापूर्वक, आवश्यकता और विवशताके दबावके बिना, अपने-आपको ठीक नहीं करतीं, ये अपनी शुद्धि तभी करती हैं जब कि इनके अपने नियमसे भिन्न कोई अन्य नियम बन जाय जो इन्हें यह शिक्षा दे कि अंतमें इन्हें अपने अंदर इससे भी बड़ा एक और नियम

वनाना है, और यह नियम ही इन्हें संशोधित और पवित्र कर सकता है। सामाजिक दवावका सिद्धांत सदा न तो विलकुल बुद्धिमत्ताके साथ प्रयुक्त किया जा सकता है और न शायद कभी किया ही गया है, क्योंकि वह मनुष्यकी अपूर्णताका नियम है, अतएव, अपने-आपमें अपूर्ण है तथा वह अपनी पद्धति और अपने परिणाममें सदा ही अपूर्ण रहेगा; किंतु मनुष्यके विकासकी प्रारंभिक अवस्थाओंमें यह स्पष्ट रूपमें अनिवार्य था और जवतक मनुष्य इसकी अनिवार्यताके कारणोंसे ऊपर ही न उठ जाय तवतक वह जीवनके अराजकतावादी सिद्धांतके लिये वस्तुतः तैयार भी नहीं हो सकता।

किंतु साथ ही यह भी स्पष्ट है कि जितना अधिक वाह्य विधानका स्थान आंतरिक विधान ले लेगा उतना अधिक ही मनुष्य अपनी सच्ची और स्वाभाविक पूर्णताके निकट पहुँच जायगा। पूर्ण सामाजिक 'राज्य' एक ऐसा रूप होगा जिसमें से सरकारका दवाव हटा दिया जायगा और मनुष्य स्वतंत्र सहमति और सहयोगके द्वारा अपने साथियोंके साथ रह सकेगा। किंतु अव प्रश्न यह है कि किन साधनोंके द्वारा वह इस महान् और कठिन परिणतिके लिये तैयार किया जा सकता है? वौद्धिक अराजकतावाद इसके लिये मनुष्यकी दो शक्तियोंपर निर्भर करता है, इनमेंसे पहली उसकी तर्कवुद्धिका आलोक है; मनुष्यका मन आलोकित होकर अपने लिये स्वतंत्रताकी माँग करेगा, किंतु साथ ही, समान रूपसे, वह दूसरोंके लिये भी इसी अधिकारको स्वीकार करेगा। तव एक न्यायपूर्ण उचित समानता एक सच्ची, स्वयं-उपलब्ध तथा अविकृत मानव-प्रकृतिके आधारपर स्वयमेव प्रकट होगी। विचार-रूपमें यह पर्याप्त हो सकता है। यदि व्यक्ति अपना जीवन, प्रधानतः पृथक् रूपमें, दूसरोंके जीवनके साथ केवल थोड़ेसे आवश्यक संवंध रखते हुए ही यापन कर सके, तो संभवतः यह पर्याप्त हो सकता है, यद्यपि मनुष्यकी मानसिक शक्तियोंमें काफी परिवर्तन और विकास हुए विना यह कठिन है। वास्तविक तथ्य यह है कि हमारा जीवन हमारे चारों ओरके व्यक्तियोंके जीवनके साथ घनिष्ठ रूपसे गुँथा हुआ है और एक ऐसा सामान्य जीवन, सामान्य कर्म और सामान्य प्रयत्न एवं अभीप्सा विद्यमान है जिसके विना मनुष्यजाति अपनी पूर्ण उच्चता और विस्तार नहीं प्राप्त कर सकती। सहयोग प्राप्त करने तथा इस सतत संपर्कमें संघर्ष और विरोधका प्रतिकार करनेके लिये आलोकित वुद्धिकी नहीं, वरन् एक अन्य शक्तिकी आवश्यकता है। अराजकतावादी विचार इस शक्तिको उस स्वाभाविक मानव-सहानुभूतिमें

पाता है जिसे यदि यथार्थ अवस्थाओंमें उन्मुक्त क्रीड़ाका अवसर प्रदान किया जाय तो उसकी सहायतासे स्वाभाविक सहयोग निश्चयपूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। इसमें, जिसे अमरीकन कवि बंधुप्रेम कहता है उसका तथा प्रसिद्ध क्रांतिकारी सूत्रके तीसरे और अत्यधिक उपेक्षित अंग अर्थात् भ्रातृत्वके सिद्धांतका आश्रय लिया गया है। एक ऐसी स्वतंत्र समानता ही जिसका आधार सरकारी शक्ति और सामाजिक दवाव नहीं, वरन् सहज सहयोग होता है सर्वोच्च अराजकतावादी आदर्श है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह हमें एक ऐसे सहकारी साम्यवाद, एक ऐसे एकीभूत जीवनकी ओर ले जायगा जिसमें सबका परिश्रम और सबकी संपत्ति सबके लाभके लिये प्रयुक्त की जायगी, अथवा यह हमें एक ऐसी वस्तुकी ओर भी ले जा सकता है जिसे समुदायवाद कहा जा सकता है, इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति अपनी स्वतंत्र इच्छासे एक ऐसे समाजमें रहेगा जिसमें उसके व्यक्तित्वकी उचित स्वतंत्रताको तो स्वीकार किया ही जायगा, किंतु वह अपने परिश्रम और प्राप्तियोंका अतिरिक्त भाग सामान्य हितके उपयोगमें लायगा अथवा वह विना किसी झिझकके, सहकारिताकी स्वाभाविक प्रवृत्तिके अधीन, इसे सामान्य हितके लिये अर्पण कर देगा। अराजकतावादका कठोरतम सिद्धांत साम्यवादके साथ किसी प्रकारका भी समझौता करना अस्वीकार कर देता है। यह देखना कठिन है कि "राज्य-विहीन" साम्यवाद जो रूसी आदर्शका अंतिम ध्येय माना जाता है, आधुनिक जीवन द्वारा अपेक्षित एक विस्तृत और जटिल स्तरपर किस प्रकार कार्य कर सकता है। वस्तुतः यह भी स्पष्ट नहीं है कि सरकारी शक्ति और सामाजिक दवावके विना एक स्वतंत्र समुदायवाद किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है या स्थिर रखा जा सकता है, अथवा अंतमें उसे एक ओर तो कठोर समष्टिवादमें और दूसरी ओर संघर्ष, अराजकता और विघटनमें गिरनेसे कैसे रोका जा सकता है। कारण, सामाजिक विचारका निर्माण करते हुए तार्किक मन मनुष्यके अंदरके अव-बौद्धिक तत्त्व अर्थात् उस प्राणिक अहंभावकी ओर पर्याप्त ध्यान नहीं देता जिसके साथ उसकी प्रकृतिका अत्यधिक सक्रिय और कार्यकारी भाग बँधा हुआ है; यह उसका अत्यंत स्थायी प्रेरक भाव है और अंतमें यह आदर्शोंका निर्माण करनेवाली तर्कबुद्धिकी समस्त गणनाओंको निष्फल कर देता है, उसकी विपुल पद्धतियोंको व्यर्थ कर देता है अथवा उनमेंसे वह उन थोड़ी-सी पद्धतियोंको ही स्वीकार करता है जिन्हें वह अपनी आवश्यकता और प्रयोजनके उपयोगमें ला सकता है। यदि यह शक्तिशाली तत्त्व अर्थात्

उसकी अहं-शक्ति अत्यधिक आच्छन्न हो जाय, दवा दी जाय या अवसन्न कर दी जाय अथवा उसे अत्यधिक वुद्धिवादी वना दिया जाय या उसकी अभिव्यक्तिपर वहुत अधिक रोक लगा दी जाय, तो मनुष्यका जीवन कृत्रिम, अत्यधिक वोझिल, यांत्रिक तथा वास्तविक प्राणशक्ति और सृजनकी क्षमतासे विहीन वन जाता है। दूसरी ओर, यदि इसे न दवाया जाय तो यह अंतमें अपनी संपुष्टि करके मनुष्यके वुद्धिवादी पक्षकी योजनाओंको अस्त-व्यस्त कर देती है, क्योंकि इसके अंदर कुछ ऐसी शक्तियाँ विद्यमान हैं जिनकी यथार्थ तुष्टिको अथवा जिनके रूपांतरके अंतिम मार्गको तर्कवुद्धि नहीं खोज सकती। यदि तर्कवुद्धि विश्वका गुप्त एवं सर्वोच्च विधान होती अथवा मनोमय प्राणी अर्थात् मनुष्य अपनी मानसिकता द्वारा परिसीमित होता, तो उसके लिये तर्कवुद्धिकी सहायतासे उस अववौद्धिक प्रकृतिकी अधीनतासे निकलकर विकसित होना संभव हो सकता था जिसे उसने पशुसे उत्तराधिकारके रूपमें प्राप्त किया है। उस अवस्थामें वह सुरक्षित रूपसे अपनी सर्वश्रेष्ठ मानव-सत्तामें, एक पूर्णताको प्राप्त वौद्धिक और सहानुभूति-पूर्ण प्राणीके रूपमें रह सकता था; तव वह अपने सभी भागोंमें संतुलित और सुव्यवस्थित होता जिसे भारतीय दर्शनमें सात्त्विक मनुष्य कहा गया है, यह उसकी संभावनाका सर्वोच्च शिखर या उसकी परिणति होती। किंतु मनुष्यका स्वभाव परिवर्तनात्मक है; वौद्धिक प्राणी केवल 'प्रकृति'के विकासक्रमकी एक मध्य अवस्था है। एक वौद्धिक संतोप उसे नीचेसे खिंचावसे सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकता, और न उसे वह ऊपरके आकर्पणसे ही मुक्त कर सकता है। यदि ऐसा न होता तो वौद्धिक अराजकतावादका आदर्श एक ऐसे सिद्धांतके रूपमें, जिसका कार्य यह वताता होता कि मनुष्य-जीवनकी वुद्धिसंगत पूर्णता क्या हो सकती है, अधिक संभव और मान्य हो सकता था; किंतु मनुष्यके वर्तमान स्वरूपको देखते हुए हमें अपने सामने एक उच्चतर लक्ष्य रखकर ही आगे वढ़ना होगा।

एक आध्यात्मिक अथवा आध्यात्मीकृत अराजकतावाद वास्तविक समाधानके अधिक निकट पहुँचता या कम-से-कम दूरसे उसके किसी अंशको छूता प्रतीत हो सकता है। जैसा कि उसका वर्तमान स्वरूप है, उसके अंदर अभी वहुत कुछ अत्युक्ति एवं अपूर्णता है। उसके प्रवर्तक प्रायः ही प्राणिक जीवनके त्यागका तथा एक प्रकारकी तपस्याका प्रचार करते प्रतीत होते हैं जो प्राणिक सत्ताको शुद्ध और रूपांतरित करनेके स्थानपर उसे दवा, यहाँतक कि नष्ट भी कर देती है; अपने स्रोतोंमें ही इस प्रकारकी कठोर तपस्याका अंश होनेसे जीवन दीन-हीन अथवा नीरस हो जाता है।

विद्रोहकी एक अत्यंत प्रचंड भावनाके वशीभूत होकर ये प्रवर्तक सभ्यताको एक असफलता मानकर उसकी निंदा करते हैं, क्योंकि इनके मतानुसार यह प्राणात्मवादी अतिशयोक्तियोंसे भरी हुई है, किंतु ये स्वयं इसके स्थानपर एक ऐसा विरोधी अत्युक्तिपूर्ण रूप खड़ा कर देते हैं जो सभ्यताको उसके कुछ उग्र दोषों तथा कुरूपतासे मुक्त तो कर सकता है, पर साथ ही जो हमें बहुत-से वास्तविक और बहुमूल्य लाभोंसे भी वंचित कर देता है। किंतु एक अत्यधिक तार्किक विचार और एकांगी प्रेरणाकी इन अतियोंके तथा आत्माके सत्यको, जो सब विभाजनोंको अतिक्रम कर जाता है, अभिव्यक्त करनेमें किसी 'वाद'की असमर्थताके रहते भी ऐसा प्रतीत होता है कि हम सच्चे समाधान तथा रक्षा करनेवाली प्रेरक-शक्तिकी उपलब्धिके निकट पहुँच रहे हैं। यह समाधान तर्कबुद्धिमें नहीं, वरन् मनुष्यकी आत्मामें, उसकी आध्यात्मिक प्रवृत्तियोंमें निहित है। केवल आध्यात्मिक अर्थात् आंतरिक स्वाधीनता ही एक पूर्ण मानव-व्यवस्थाका निर्माण कर सकती है। केवल आध्यात्मिक प्रकाश ही जो कि बौद्धिक प्रकाशसे बड़ा है, मनुष्यकी प्राणिक प्रकृतिको आलोकित कर सकता है तथा उसकी स्वार्थपूर्ण इच्छाओं, विरोधों और वैमनस्योंमें समस्वरता ला सकता है। एक गंभीरतर भ्रातृभाव ही, प्रेमका एक अभीतक अज्ञात विधान ही एक पूर्ण सामाजिक विकासके लिये निश्चित आधार हो सकता है, कोई और इसका स्थान नहीं ले सकता। किंतु यह भ्रातृभाव और प्रेम प्राणिक सहज-प्रवृत्तियों अथवा तर्कबुद्धि द्वारा प्रेरित नहीं होंगे, वहाँ ये विरोधी तर्कों तथा अन्य विषम सहजप्रवृत्तियोंके संपर्कमें आ सकते हैं, उनके द्वारा विमूढ़ या विचलित हो सकते हैं। यह प्रेम मनुष्यके स्वाभाविक हृदयको भी अपना आधार नहीं बना सकता, क्योंकि वहाँ कई अन्य आवेग उससे संघर्ष करनेको उपस्थित हैं। इसे तो केवल आत्मामें ही अपनी जड़ें जमानी चाहियें। यह प्रेम हमारी सत्ताके गंभीरतर सत्यपर आधारित होना चाहिये; इस भ्रातृभावको—इसे हम आध्यात्मिक बंधुत्व भी कह सकते हैं—एकत्वकी आंतरिक अनुभूतिकी अभिव्यक्ति होना चाहिये। यहाँ भ्रातृभावका अर्थ कोई प्राणिक या मानसिक भावना नहीं, बल्कि एक अन्य भावना है जो एक अधिक शांत और स्थायी प्रेरक शक्ति है। केवल इसी तरह अहंभाव समाप्त हो सकता है और प्रत्येक मनुष्यके अंदर स्थित अद्वितीय भगवान्‌का सच्चा व्यक्तित्व जातिके अंदर स्थित उसी भगवान्‌के सच्चे समत्ववादको अपना आधार बना सकता है। कारण, प्रत्येक प्राणीमें जो 'आत्मा', 'अंतरतम सत्ता' या विश्वव्यापी भगवान् है वह वही है जिसके स्वभावमें

विभिन्नतासे पूर्ण एकत्व विद्यमान है, इस स्वभावका उद्देश्य सबके अस्तित्वमें तथा वैश्व जीवन और प्रकृतिमें वैयक्तिक जीवन और प्रकृतिकी पूर्णता प्राप्त करना है।

यह एक ऐसा समाधान है जिसके प्रतिवादमें यह कहा जा सकता है कि यह जातिके भावी विकासक्रममें एक श्रेष्ठतर मानवसमाजके निर्माणको सुदूर भविष्यके लिये स्थगित कर देगा। कारण, इसके अनुसार तर्कबुद्धि द्वारा आविष्कृत कोई भी यांत्रिक व्यवस्था व्यक्ति या समुदायको पूर्ण नहीं बना सकती। इसके लिये मानव-प्रकृतिमें एक आंतरिक परिवर्तन होना चाहिये; यह परिवर्तन इतना कठिन है कि कुछ लोगोंको छोड़कर इसे कोई भी साधित नहीं कर सकता। यह कोई निश्चित समाधान नहीं है, पर जो कुछ भी हो, यदि यह समाधान नहीं है, तो और कोई समाधान भी नहीं हो सकता, यदि यह मार्ग उपयुक्त नहीं है तो मनुष्यजातिके लिये और कोई मार्ग भी नहीं है। उस अवस्थामें पार्थिव विकासको मनुष्यका अतिक्रमण करना होगा, जिस प्रकार कि वह पशुका अतिक्रमण कर चुका है और तब एक ऐसी महत्तर जातिका उदय होगा जो अपने अंदर एक आध्यात्मिक परिवर्तन लानेमें समर्थ होगी, एक ऐसे जीवनकी सृष्टि होगी जो भगवान्‌के अधिक निकट होगा। फिर भी तर्क द्वारा यह निष्कर्ष निकालनेकी कोई आवश्यकता नहीं है कि क्योंकि पूरा परिवर्तन अभी तुरंत ही संभव नहीं है, इसलिये इसका आरंभ ही नहीं करना चाहिये। चाहे आरंभमें केवल कुछ गिने-चुने लोग ही उच्च शिखरोंतक पहुँच सकते हों और संपूर्ण जातिके लिये वे काफी दूरकी वस्तुएँ प्रतीत होते हों, तो भी मनुष्यजातिकी आध्यात्मिक आदर्शको अपनानेकी निश्चित प्रवृत्ति, शिखरोंकी ओर उसके सतत आरोहण और निर्देशनका आरंभ कोई सर्वथा असंभव वस्तुएँ नहीं है। और इस आरंभका अर्थ एक ऐसे प्रभावका अवतरण हो सकता है जो मनुष्यजातिके समस्त जीवनकी दिशाको पलट देगा और, जैसा कि तर्कबुद्धिके विकासने, वस्तुतः तर्कबुद्धिके किसी भी विकासने किया था, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक उसकी क्षमताओं और उसके संपूर्ण ढाँचेको विशाल रूप दे देगा।

इक्कीसवाँ अध्याय

आध्यात्मिक उद्देश्य और जीवन

आध्यात्मिकतापर आधारित समाज सामान्य मानव-समाजसे, जो निम्न प्रकृतिसे आरंभ होता है और उसीमें समाप्त होता है, दो मुख्य बातोंमें भिन्न होगा। सामान्य मानव-समाज उस यूथचारी प्रवृत्तिसे शुरू होता है जो विभिन्नता और हितोंके संभव विरोधके फलस्वरूप संशोधित हो गयी है, उसका आरंभ अहंभावोंके साहचर्य और विरोधसे तथा विचारों, प्रवृत्तियों और सिद्धांतोंके सम्मिलन, संयोग और संघर्षसे होता है। वह पहले तो समान हितोंमें अनुकूलता लाने तथा उन विरोधोंमें शांति स्थापन करनेका प्रयत्न करता है जो अंतर्निहित समझौतों, स्वाभाविक या आवश्यक समायोजनोंकी श्रृंखलापर आधारित हैं, ये समझौते और समायोजन पीछे सामुदायिक जीवनकी प्रथाएँ बन जाते हैं और इन समझौतोंके विकसित होनेपर वह इन्हें सामाजिक विधानका नाम दे देता है। संघर्ष उत्पन्न करनेवाले हितोंके विरुद्ध वह उन हितोंकी स्थापना करता है जो साहचर्य और पारस्परिक सहायताकी माँग करते हैं और तब वह उन सहानुभूतियों और सहायक वृत्तियोंको उत्पन्न या प्रोत्साहित करता है जो विधान, प्रथा और समझौते-संबंधी उसकी रचनाको एक मनोवैज्ञानिक आश्रय और स्वीकृति प्रदान करते हैं। वह उन सामाजिक संस्थाओं और सत्ताके अभ्यासगत तरीकोंको उचित ठहराता है जिन्हें वह इस प्रकार मनुष्यके भौतिक, प्राणिक और मानसिक जीवनकी महत्तर संतुष्टि और कुशलताके द्वारा, संक्षेपमें सभ्यताके विकास और लाभोंके द्वारा, उत्पन्न करता है। वस्तुतः इन लाभोंके साथ-साथ बहुत-सी हानियाँ भी उठानी पड़ती हैं, किंतु उन्हें सभ्यताके मूल्यके रूपमें स्वीकार करना ही पड़ेगा।

सामान्य समाज मनुष्यको उसके मूल स्वरूपमें एक भौतिक, प्राणिक और मनोमय सत्ता समझता है। कारण, जीवन, मन और शरीर अस्तित्वके वे तीन तत्त्व हैं जिनके साथ व्यवहार करनेकी वह कुछ योग्यता रखता है। वह मानसिक विकास और कुशलताकी पद्धतिका, एक बौद्धिक, सौंदर्यात्मक और नैतिक संस्कृतिका विकास करता है। वह मनुष्य-जीवनके प्राणिक पक्षको उन्नत करता है तथा आर्थिक कुशलता और प्राणिक सुख-

भोगकी सतत वृद्धिशील प्रणालीका निर्माण करता है और ज्यों-ज्यों सभ्यता विकसित होती है त्यों-त्यों यह प्रणाली भी अधिकाधिक समृद्ध, बोझिल और जटिल बनती जाती है। अपनी मानसिक और प्राणिक अतिवृद्धिके द्वारा वह भौतिक और पशु-सम मनुष्यकी स्वाभाविक शक्तिको मंद कर देता है और फिर शारीरिक व्यायामकी पद्धतियोंसे, अभ्यासों और उन ओषधियोंके बोझिल विज्ञानसे जिनका प्रयोजन स्वयं उसके द्वारा उत्पन्न व्याधियोंको दूर करना है तथा उतने सुधारसे जितना कि वह अपनी सामाजिक पद्धतिके लिये आवश्यक जीवन-यापनकी कृत्रिम प्रणालियोंमें ला सकता है, समतोलता लानेका प्रयत्न करता है। परंतु अंतमें, जैसा कि अनुभव हमें बताता है, समाज अपने ही विकाससे नष्ट होने लगता है जो कि इस बातका एक निश्चित लक्षण है कि उसकी प्रणालीके मूलमें ही कोई दोष रह गया है, यह इस बातका एक दृढ़ प्रमाण भी है कि मनुष्य-संबंधी उसका विचार और विकासकी उसकी प्रणाली मानवी सत्ताकी समस्त वास्तविकता और जीवनसंबंधी उसके उस उद्देश्यके साथ मेल नहीं खाती जिसे वह वास्तविकता उसपर लादती है।

तब अवश्य ही मानव-सभ्यताकी प्रक्रियामें कहीं मौलिक दोष है; पर उसका स्थान कहाँ है और असभ्यताके इस सतत चक्रसे हम किस रास्तेसे बाहर निकलेंगे? हमारे जीवनका सभ्य विकास प्राणिक शक्तिको खोकर समाप्त हो जाता है और उसकी समाप्तिका एक कारण यह भी है कि प्रकृति तब इन दिशाओंपर अनवरत रूपमें बढ़नेके लिये अपनी सहायता देना बंद कर देती है। उधर हमारा सभ्य मन, अपने अधिक बड़े लाभकी खातिर, मानव-प्रणालीकी समतोलताको बिगाड़कर अंतमें यह पाता है कि उसने स्वयं ही अपने पोषक तत्त्वको समाप्त एवं नष्ट कर दिया है और तब वह स्वस्थ कर्म और स्वस्थ उत्पादनकी शक्तिको खो देता है। यह देखा गया है कि जितनी समस्याओंका सभ्यता समाधान कर सकती है उनसे कहीं अधिक समस्याएँ उसने उत्पन्न कर ली हैं। उसने इतनी अधिक आवश्यकताएँ और इच्छाएँ बढ़ा ली हैं कि उनकी पूर्त्तिके लिये उसके पास पर्याप्त प्राणिक शक्ति नहीं है, स्वत्वों और कृत्रिम प्रवृत्तियोंका उसने एक ऐसा झाड़-झंखाड़ पैदा कर लिया है कि उनके बीचमें जीवन भटक जाता है और उसका उद्देश्य भी उसकी दृष्टिसे ओझल हो जाता है। अधिक उन्नत व्यक्ति तब सभ्यताकी असफलताकी घोषणा करने लगते हैं और समाज भी यह अनुभव करने लगता है कि वे ठीक कह रहे हैं। किंतु जो समाधान उसके लिये प्रस्तुत किया जाता है वह या तो रुक जाना है

या फिर पीछे हटना है जिसका अर्थ अंतमें अधिक गड़बड़ी, अवरोध एवं ह्रास होता है अथवा 'प्रकृति'की ओर लौटना भी होता है जो कि असंभव है या जो केवल एक क्रांति और समाजके विघटनसे ही संभव हो सकता है; यहाँतक कि कृत्रिम समाधानोंको उनकी चरम सीमातक पहुँचाकर भी इसके प्रतिकारके लिये यत्न किया जाता है अथवा अधिकाधिक विज्ञान, अधिकाधिक यांत्रिक पद्धतियाँ और जीवनकी एक अधिक वैज्ञानिक व्यवस्था ही उसका इलाज मानी जाती है, जिसका अर्थ यह हुआ कि जीवनका स्थान एक मशीन ले लेगी, एक स्वच्छंद तार्किक बुद्धि जटिल 'प्रकृति'को पदच्युत कर देगी और मनुष्यकी रक्षा मशीनके द्वारा की जायगी। वस्तुतः यह भी कहा जा सकता है कि रोगको उसकी चरम सीमातक पहुँचाना ही उसे दूर करनेका सर्वोत्तम उपाय है।

उधर यह भी कहा जा सकता है और यह कुछ हदतक सत्यको प्राप्त करनेका ठीक मार्ग भी माना जा सकता है कि हमारी समस्त पद्धतियोंका मूल दोष ठीक उसी तत्त्व अर्थात् आध्यात्मिक तत्त्वके अपूर्ण विकासमें निहित है जिसकी समाजने अत्यधिक उपेक्षा की है; यह तत्त्व मनुष्यकी आत्मा है और यही उसकी सच्ची सत्ता है। यहाँ तक कि एक स्वस्थ शरीर, एक सबल प्राण, एक सक्रिय और निर्मल मन और साथ ही उनके कार्य और उपभोगके लिये क्षेत्र भी मनुष्यको अधिक दूर नहीं ले जा सकते। कुछ समय बाद ही वह ढीला पड़ जाता है तथा एक वास्तविक प्राप्तिके और अपने कर्म और विकासके किसी संतोषजनक लक्ष्यके अभावमें निरुत्साहित हो जाता है। ये तीन वस्तुएँ अपने-आपमें एक पूर्ण मनुष्यत्वका निर्माण नहीं कर सकतीं। ये तो एक दूरस्थ उद्देश्यके साधनमात्र हैं, ये अपने-आपमें एक शाश्वत लक्ष्य नहीं हो सकतीं। तुम इसके साथ एक समृद्ध और भावप्रधान जीवन, जो कि एक सुव्यवस्थित नैतिक आदर्श द्वारा संचालित हो, जोड़ भी दो, तो भी तुम किसी वस्तुका, सर्वश्रेष्ठ वस्तुका अभाव अनुभव करते हो। ये वस्तुएँ इस सर्वश्रेष्ठ वस्तुको अपना लक्ष्य तो मानती हैं, पर अपने-आपमें इसतक पहुँच नहीं पातीं; जबतक ये अपने को अतिक्रांत न कर जायें, ये इसे पा नहीं सकतीं। तुम एक धार्मिक पद्धति तथा विश्वास और पवित्रताकी एक व्यापक भावना भी इनके साथ जोड़ सकते हो, पर तब भी सामाजिक मुक्तिके साधन तुम्हें नहीं प्राप्त होंगे। मानवसमाजने ये सब चीजें विकसित तो कर ली हैं, किंतु इनमेंसे किसीने भी मोहभंग, क्लांति और अवनतिसे इसकी रक्षा नहीं की है। यूरोपकी प्राचीन बौद्धिक संस्कृतियाँ एक विस्फोटक संदेह और शंकाशील दुर्बलतामें

तथा एशियाकी धार्मिक वृत्तियाँ अवरोध और पतनमें समाप्त हो गयीं। आधुनिक समाजने जीवित रहने और उन्नति करनेका एक नया सिद्धांत तो ढूँढ़ लिया है, किंतु उस उन्नतिका उद्देश्य उसने कभी नहीं खोजा,—जबतक कि अधिक ज्ञान, अधिक सज्जा, सुविधा और आराम, अधिक उपभोग, सामाजिक सुव्यवस्थाकी अधिकाधिक महान् जटिलता तथा उत्तरोत्तर बोझिल ढंगके समृद्ध जीवनको ही उद्देश्य न समझा जाय। किंतु ये चीजें भी अंतमें वहीं समाप्त होती हैं जहाँ पुरानी समाप्त हुई थीं, क्योंकि ये भी एक बड़े पैमानेमें वही चीजें हैं। ये एक ही स्थानमें चक्कर काटती रहती हैं अर्थात् हमें कहीं भी नहीं पहुँचातीं। ये जन्म, वृद्धि, क्षय और मृत्युके चक्रसे बच नहीं पातीं। वस्तुतः इन्हें अपनेमें सदा नयी-नयी बातें लाकर जो कि अमरत्वका सिद्धांत है अपनेको दीर्घजीवी बनानेका रहस्य प्राप्त नहीं होता, यद्यपि कुछ देरके लिये इन्हें ऐसा प्रतीत अवश्य होता है कि यह रहस्य इन्हें प्रयोगोंकी भ्रमपूर्ण शृंखलाके द्वारा प्राप्त हो गया है, परंतु इनमेंसे प्रत्येक प्रयोग निराशामें समाप्त होता है। अबतक आधुनिक विकासका यही स्वरूप रहा है। केवल, अंदरकी ओर, एक महत्तर अनुभववादी भावनाकी ओर मुड़नेकी उसकी नई प्रवृत्तिमें, जो अभी-अभी आरंभ हुई है, कुछ अधिक आशा दिखायी देती है। कारण, इस प्रवृत्तिसे वह यह जान सकता है कि मनुष्यका वास्तविक सत्य उसकी आत्मामें निहित है। यह वस्तुतः निश्चित नहीं है कि अनुभववादी युग हमें वहाँतक ले ही जायगा, किंतु वह इस संभावनाको प्रस्तुत अवश्य करता है। यदि उसका यथार्थ उपयोग किया जाय, तो वह इस दिशामें मुड़ सकता है जो कि एक अधिक आंतरिक गति होगी।

यह कहा जा सकता है कि यह एक प्राचीन खोज है और धर्मके नामसे यही पुराने समाजोंको संचालित करती थी, किंतु यह केवल एक बाह्य रूप था। खोज हो तो गयी थी, पर वह केवल व्यक्तिके जीवनके लिये ही की गयी थी, और उसके लिये भी वह इस संसारके परे ही अपनी परिपूर्णताकी आशा देखती थी। पृथ्वीको तो वह उसके एकाकी मोक्षके लिये या जीवनके भारसे मुक्त होनेके लिये तैयारीका क्षेत्रमात्र समझती थी। स्वयं मानवसमाजने आत्माकी खोजको अभी भी अपनी सत्ताके विधानकी खोजका साधन स्वीकार नहीं किया, न उसने आत्माके सच्चे स्वभावके, उसकी सच्ची आवश्यकता और उसकी चरितार्थताके ज्ञानको ही पार्थिव पूर्णताके लिये ठीक मार्गके रूपमें अपनाया है। यदि हम पुराने धर्मोंके सामाजिक पक्षको उनके वैयक्तिक पक्षसे अलग करके देखें तो हमें

पता चलता है कि समाजने केवल उनके सर्वथा अनाध्यात्मिक या फिर कम-से-कम उनके कम आध्यात्मिक भागोंका ही उपयोग किया था। उसने अपनी अनेक प्रथाओं और संस्थाओंको एक गंभीर, भयंकर और ऐसी स्वीकृति देनेके लिये, जो भविष्यमें सनातन बन जायगी, उनका उपयोग किया था। समाजने धर्मोंको, मानव-शंकाओंके विरुद्ध, एक रहस्यमय आवरणका, नवनिर्माताके विरुद्ध अंधकारकी ढालका रूप दिया था। जिस हदतक उसने धर्मको मानव-मुक्ति तथा पूर्णताका साधन समझा, उसी हदतक उसने उसे यांत्रिक बनाने, मानव-आत्माको अधीन करके उसे एक मिश्रित सामाजिक-धार्मिक यंत्रके पहियोंके साथ बाँधने तथा उसपर आध्यात्मिक स्वतंत्रताके बदले एक दंभपूर्ण जुआ और लौह-कारागार लानेके लिये उसका उपयोग किया। उसने मनुष्यके धार्मिक जीवनपर चर्च, पुरोहित-प्रथा और नानाविध अनुष्ठानोंकी जीन कसकर उसपर मतों और वादोंके पहरेदार बिठा दिये। व्यक्तिके लिये इन वादोंको स्वीकार करना तथा इनके सिद्धांतोंके अनुसार चलना आवश्यक हो गया, क्योंकि ऐसा न करनेसे उसे इस बातका भय रहता था कि परलोकका एक सनातन न्यायाधीश उसे एक सनातन नरकमें डाल देगा, ठीक उसी प्रकार जैसे कि किसी व्यक्तिको एक मर्त्यलोकके न्यायाधीश द्वारा दिये गये अल्पकालीन कारावास या मृत्युके दंडके भयसे समाजके नियमोंको मानना तथा आचरणमें लाना पड़ता है। मनुष्यजातिको पुनः जीवन प्रदान करनेमें असफलताकी प्राप्तिका मुख्य कारण सदा धर्मका यह झूठा सामाजीकरण ही रहा है।

कारण, धर्मके लिये इससे अधिक घातक बात और कोई नहीं हो सकती कि उसके बाह्य अवलंबों, रूपों और मशीनरीके द्वारा उसके आध्यात्मिक तत्त्वका अस्तित्व नष्ट कर दिया जाय या उन्हें औपचारिक बना दिया जाय। धर्मका प्राचीन सामाजिक प्रयोग स्वयं उसके परिणामों द्वारा ही मिथ्या सिद्ध हो रहा है। इतिहासने हमें अनेक बार बताया है कि अधिकतम धार्मिक उत्साह और पवित्र निष्ठाके युगोंके साथ-साथ घोरतम अज्ञानके, सामान्य मानवजीवनके अस्पष्ट दुःख और उसकी निरर्थक चिर-वृद्धिके, क्रूरता, अन्याय और अत्याचारके स्वेच्छाचारी शासन अथवा अत्यधिक साधारण, अभीप्सारहित और अविकसित जीवनकी व्यवस्थाके युग भी आये हैं; ऐसे जीवनको शायद ही कभी, और वह भी उपरितलपर ही, बौद्धिक अथवा अर्ध-आध्यात्मिक प्रकाशका संपर्क मिलता है। इस सबका अंत एक ऐसे व्यापक विद्रोहमें हुआ जो सबसे पहले उस प्रचलित धर्मके विरुद्ध ही खड़ा हो गया जो उस समय एक प्रबल मिथ्यात्व, अशुभ और

अज्ञानका आधार बन गया था। यह भी इस बातका लक्षण है कि तब व्यक्ति और जातिका आध्यात्मिक विकास नहीं बल्कि सामाजिक-धार्मिक पद्धति, उसके कर्मकांड और आचार-विचारका—जो अनुचित महत्त्व देनेके कारण अपना अर्थ और सच्चा धार्मिक मूल्य खोने लगते हैं—अधिक सावधानी एवं यथार्थताके साथ किया गया निरीक्षण ही धर्मका विधान और मुख्य लक्ष्य बन जाता है। और इस असफलताका एक बड़ा लक्षण तब प्रकट होता है जब कि व्यक्तिको अपने आध्यात्मिक विकासके लिये क्षेत्र ढूंढ़नेकी खातिर समाजसे भागना पड़ता है; जब उसे यह पता लगता है कि मनुष्य-जीवन असंस्कृत मन, प्राण और शरीरको सौंप दिया गया है और आध्यात्मिक स्वतंत्रताका स्थान बाह्य स्वरूपोंके बंधनों, अर्थात् चर्च, शास्त्र अथवा 'अज्ञान'के किसी विधानने ले लिया है, तो उसे इन सब बंधनोंको तोड़कर आत्माके विकासके लिये किसी मठ, पर्वतकी चोटी, गुफा, मरुभूमि अथवा वनमें शरण लेनी पड़ती है। जब जीवन और आत्मा इस प्रकार विभक्त हो जाते हैं तो मानवजीवनको अभिशप्त करार कर दिया जाता है; या तो वह अपने ही चक्करमें घूमनेके लिये छोड़ दिया जाता है या फिर उसे अनुपयोगी, झूठा और अत्यधिक निस्सार घोषित कर दिया जाता है, और तब वह आत्मविश्वासको और अपने पार्थिव उद्देश्योंके महत्त्वमें उस श्रद्धाको भी खो बैठता है जिसके बिना वह कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। कारण, मनुष्यकी आत्माको ऊँचाइयोंकी ओर बढ़ना ही है; जब वह अपने प्रयत्नमें ढील दे देती है तो जाति निश्चित ही गतिहीन और निश्चेष्ट हो जाती है, यहाँतक कि अंधकारमें डूबकर गर्त्तमें जा गिरती है। जहाँ जीवन आत्माको अस्वीकार कर देता है अथवा आत्मा जीवनका त्याग कर देती है, वहाँ भी आंतरिक सत्ता अपना समर्थन कर सकती है, यहाँतक कि आध्यात्मिकताकी शक्तिदायिनी भूमिमें संतों और संन्यासियोंका उत्कृष्ट प्रादुर्भाव भी हो सकता है। किंतु जबतक जाति, समाज तथा राष्ट्र ही जीवनके आध्यात्मीकरणकी ओर नहीं बढ़ते अथवा किसी आदर्शके प्रकाशमें प्रगति नहीं करते, तबतक परिणाम तुच्छता, दुर्बलता और गतिरोध ही होगा। या फिर जातिको अपने उद्धारके लिये, किसी आशा अथवा नये आदर्शकी प्राप्तिके लिये बुद्धिका आश्रय लेना होगा तथा उसे बुद्धिवादके युगमेंसे गुजरते हुए आध्यात्मिक सत्यको पुनः घोषित करने तथा मनुष्यजीवनको आध्यात्मिक बनानेके लिये नये सिरेसे प्रयत्न करना होगा।

समाजका सच्चा और पूर्ण आध्यात्मिक लक्ष्य मनुष्यको मन, प्राण

और शरीरके रूपमें नहीं देखेगा, वह उसे एक ऐसी आत्मा मानेगा जिसका अवतरण ऊपर स्वर्गमें ही नहीं, बल्कि इस पृथ्वीपर भी दिव्य पूर्णता लानेके लिये हुआ है। वस्तुतः, यदि उसका यहाँ, शारीरिक, प्राणिक और मानसिक प्रकृतिके जगत्में, कोई दिव्य कार्य नहीं होता तो उसे स्वर्ग छोड़नेकी आवश्यकता ही क्या थी। अतएव, वह मन, प्राण और शरीरको अपने-आपमें न तो ऐसे लक्ष्य ही समझेगा जो अपनी संतुष्टिके लिये स्वतःपूर्ण हैं और न ही वह उन्हें ऐसे मर्त्य और व्याधिग्रस्त अंग समझेगा जिन्हें त्यागना आवश्यक हो जाता है, जिससे कि आत्मा बचकर अपने पवित्र प्रदेशोंमें चली जाय। वह उन्हें आत्माके ऐसे प्रारंभिक यंत्रोंके रूपमें लेगा जो अभीतक एक अप्राप्त दिव्यतर उद्देश्यके अपूर्ण यंत्र हैं। वह उनकी भवितव्यतामें विश्वास रखेगा तथा उन्हें आत्मविश्वासकी ओर प्रेरित करेगा, किंतु इसी कारण वह उन्हें उनकी निम्नतम या निम्नतर संभावनाओंकी नहीं, वरन् उच्चतम संभावनाओंकी पूर्त्तिमें सहायता भी पहुँचायगा। उसकी दृष्टिमें उनकी भवितव्यता अपने-आपको आध्यात्मिक रूप देनेमें होगी जिससे कि वे आत्माके प्रत्यक्ष अंगोंमें विकसित हो सकें, उसकी अभिव्यक्तिके स्पष्ट साधन बन सकें और स्वयं आध्यात्मिक, आलोकित एवं अधिकाधिक चेतन और पूर्ण बन सकें। कारण, मानव-आत्माके सत्यको एक ऐसी वस्तुके रूपमें स्वीकार करते हुए जो अपने सारतत्त्वमें पूर्णतया दिव्य है, यह आध्यात्मिक लक्ष्य इस संभावनाको भी स्वीकार कर लेगा कि प्रकृतिके आरंभिक प्रत्यक्ष विरोधों तथा इस चरम निश्चयके प्रति अज्ञानपूर्ण निषेधोंके होते हुए भी उसकी संपूर्ण सत्ता दिव्य बन सकती है; यहाँतक कि इन विरोधों एवं निषेधोंको वह अनिवार्य पार्थिव आरंभ-बिंदु भी मान सकता है, और क्योंकि वह मनुष्यको व्यक्तिके रूपमें लेगा, समष्टिगत मानवको वह असीमके आत्मा-रूपमें और एक ऐसी सामूहिक आत्माके रूपमें लेगा जो अपने अनेकों संबंधों तथा अनगिनत कार्योंमें दिव्य परिपूर्णता लानेके लिये इस पृथ्वीपर सहस्रों रूपोंमें अवतरित हुई है। इस कारण, वह मनुष्य-जीवनके उन सब विभिन्न भागोंको पवित्र समझेगा जो उसकी सत्ताके शारीरिक, प्राणिक, गतिशील, आवेगात्मक, सौंदर्यात्मक, नैतिक, बौद्धिक तथा आत्मिक विकासके साथ संबंध रखते हैं और साथ ही वह उन्हें एक दिव्यतर जीवनमें विकसित होनेके लिये साधन भी समझेगा। वह प्रत्येक मानव-समाज, राष्ट्र, जाति अथवा किसी भी अन्य सुघटित समुदायको इसी दृष्टिसे देखेगा; यह भी कहा जा सकता है कि वह उन्हें उप-आत्माएँ समझेगा, उन्हें 'परम आत्मा'की, दिव्य सद्वस्तुकी तथा पृथ्वीपर मनुष्यके अंदरके चेतन 'असीम'की जटिल

अभिव्यक्ति और स्व-परिपूर्णताके साधन समझेगा। क्योंकि मनुष्य आंतरिक रूपमें भगवान्के साथ एक है, उसकी संभावित दिव्यता ही उसका एकमात्र धर्म अथवा सिद्धांत हो सकती है।

किंतु वह इस एकमात्र सिद्धांतको भी मनुष्यकी प्राकृतिक सत्ताके निम्न भागोंपर *किसी वाह्य दवावके द्वारा लागू करना नहीं चाहेगा;* कारण, इसका अर्थ 'निग्रह' अर्थात् प्रकृतिका एक दमनकारी संकोच होगा जिसके फलस्वरूप वुराई तो ऊपरसे दव जायगी, किंतु भलाई एक सच्चे और स्वस्थ रूपमें विकसित नहीं हो पायगी। वह इस सिद्धांत और आदर्शको एक आलोक और प्रेरणाके रूपमें अपने सव रहस्योंके आगे प्रस्तुत करेगा जिससे कि वे अपने अंदरसे ही भागवत सत्तामें विकसित हों तथा स्वतंत्र रूपमें दिव्य वन जायँ। वह न व्यक्तिको और न समाजको ही वंदी वनाना, अवरुद्ध करना या क्षीण करना चाहेगा, वह उनके अंदर उन्मुक्त वायु और सर्वोच्च प्रकाश आनेकी अनुमति देगा। एक विशाल स्वाधीनता आध्यात्मिक समाजका विधान वन जायगी तथा स्वतंत्रताकी वृद्धि इस वातका संकेत देगी कि मानव-समाज सच्चे आध्यात्मीकरणकी संभावनाकी ओर वढ़ रहा है। इस अर्थमें दासोंके समाजको आध्यात्मिक वनाना—जिसमें शक्तिके दास, सत्ताके दास, प्रथाके दास, सिद्धांतोंके दास और उन सव प्रकारके लागू किये गये नियमोंके दास हैं जिनके द्वारा नहीं, वल्कि जिनके अधीन वे रहते हैं, आंतरिक रूपमें अपनी उस दुर्वलता, अज्ञान तथा आवेगोंके दास भी हैं जिनके अत्यधिक हानिकारक प्रभावसे वे किसी अन्य वाह्य दासताके द्वारा अपनी रक्षा करना चाहते हैं या उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं—एक सफल प्रयत्न कभी भी नहीं हो सकता। एक उच्चतर स्वतंत्रताके योग्य वननेके लिये पहले उन्हें अपनी वेड़ियाँ काट देनी होंगी। इसलिये नहीं कि ऊपरकी ओर प्रगति करनेमें उसे कोई वंधन नहीं होगा, वरन् केवल वही उसके लिये पूर्ण रूपसे सहायक वंधन होगा जिसे वह इसलिये स्वीकार करता है कि वह उसकी अपनी प्रकृति और अभीप्साके सर्वोच्च आंतरिक विधानका प्रतिनिधित्व करता है और *वह यह कार्य जितनी अधिक पूर्णताके साथ करेगा उतना ही अच्छा होगा।* वाकी वंधनोंके अच्छे परिणाम तो वड़े भारी मूल्यपर ही प्राप्त हो सकते हैं और वे मनुष्यकी उन्नति करनेमें जितने सहायक होते हैं उतने ही या उससे भी अधिक वाधक भी हो सकते हैं।

आध्यात्मिक लक्ष्य इस वातको स्वीकार करेगा कि जैसे-जैसे मनुष्य अपनी सत्तामें उन्नति करता है वैसे-वैसे उसके पास यथासंभव अधिक-से-

अधिक स्वतंत्र क्षेत्र होना चाहिये जिससे कि उसके समस्त अंग अपनी-अपनी सामर्थ्य विकसित कर सकें तथा अपने-आपको और अपनी शक्यताओंको उपलब्ध कर सकें। अपनी स्वतंत्रताकी प्राप्तिमें वे भूलें भी करेंगे, क्योंकि भूल करके ही मनुष्य अनुभव प्राप्त करता है, किंतु प्रत्येक भूलके अंदर एक दिव्य तत्त्व होता है और वे इसे ढूंढ़ लेंगे और जैसे-जैसे अपने विषयमें उनकी अनुभूति अधिक और गहन होती जायगी वे इसके तत्त्व, अर्थ और नियमको उसमेंसे अलग कर लेंगे। इस प्रकार सच्ची आध्यात्मिकता विज्ञान और दर्शनपर कोई प्रतिबंध नहीं लगायगी और न वह उन्हें अपने परिणामोंको कट्टर धार्मिक या निश्चित आध्यात्मिक सत्यकी किसी स्थापनाके अनुकूल बना देनेके लिये वाध्य ही करेगी, जैसा कि कुछ प्राचीन धर्मोंने अहंकार, अज्ञान और एक अनाध्यात्मिक दुराग्रह एवं अभिमानके वशमें होकर किया था। मनुष्यकी सत्ताके प्रत्येक भागका अपना 'धर्म' है जिसका पालन उसे करना होगा और अंतमें वह करेगा भी, चाहे तुम उसे किन्हीं भी बंधनोंमें क्यों न डाल दो। विज्ञान, विचार और दर्शनका धर्म बुद्धिके द्वारा, विना कोई पूर्वपक्षपात और सम्मति वनाये, सत्यकी निष्पक्ष खोज करना है; वह केवल उन्हीं आरंभिक सिद्धांतोंके अनुसार कार्य करता है जिन्हें स्वयं विचार और निरीक्षणका विधान प्रयुक्त करता है। विज्ञान और दर्शनको अपने निरीक्षणों और निष्कर्षोंका किसी धार्मिक मत, नैतिक नियम या सौंदर्यात्मक धारणाके किन्हीं प्रचलित विचारोंके साथ मेल बैठानेकी आवश्यकता नहीं है। अंतमें, यदि वे अपना कार्य करनेके लिये स्वतंत्र छोड़ दिये जायँ तो वे 'शिव', 'सुन्दर' और ईश्वरके साथ सत्यका तादात्म्य पा लेंगे और इन्हें किसी भी कट्टरपंथी धर्म या लोकाचारी नीतिशास्त्र या किसी संकुचित सौंदर्यात्मक विचारकी अपेक्षा एक अधिक वड़ा अर्थ प्रदान करेंगे। किंतु तवतक इन्हें स्वतंत्र ही छोड़ देना चाहिये। यदि इस समय वस्तुविषयक उनका सच्चा निरीक्षण उन्हें 'शिव', 'सुन्दर' और ईश्वरको अस्वीकार करनेका निर्देश देता है, तो ऐसा करनेके लिये भी उन्हें स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। कारण, ये सब अस्वीकृतियाँ घूम-फिरकर ठीक रास्तेपर आ जायँगी तथा वस्तुओंके जिस महत्तर सत्यको वे इस समय अस्वीकार कर रही हैं उसकी ओर पुनः लौट आयँगी। हम प्रायः ही देखते हैं कि व्यक्ति और समाजमें नास्तिकता एक गहनतर धार्मिक और आध्यात्मिक सत्यतक पहुँचनेके लिये एक आवश्यक मार्गका काम देती है : कभी-कभी भगवान्को प्राप्त करनेके लिये उसे अस्वीकार भी करना पड़ता है। समस्त सच्चे संदेहवाद और निषेधके अंतमें प्राप्तिका होना अवश्यंभावी है।

यही नियम 'कला'पर भी लागू होता है। मनुष्यकी सौंदर्यात्मक सत्ता भी इसी प्रकार अपनी दिशामें अपनी दिव्यतर संभावनाओंकी ओर बढ़ती है। सौंदर्यात्मक सत्ताका सर्वोच्च लक्ष्य सौंदर्यके द्वारा भगवान्को प्राप्त करना है; सर्वोच्च 'कला' वह है जो अर्थपूर्ण और व्याख्यात्मक रूपके अंत:प्रेरित प्रयोगके द्वारा आत्माके द्वार खोल देती है, किंतु इस अत्यधिक महान् कार्यको विस्तृत और सच्चे रूपमें करनेके लिये उसे पहले मनुष्य, 'प्रकृति' और जीवनको, उन्हींकी खातिर उन्हींके विशिष्ट सत्य और सौंदर्यके रूपमें देखने एवं वर्णित करनेका प्रयत्न करना चाहिये। कारण, जीवन, मनुष्य और 'प्रकृति'के अंदर स्थित भगवान्का सौंदर्य सदा इन प्रथम विशिष्टताओंके पीछे विद्यमान रहता है और जो चीज पहले इनके द्वारा छुपी हुई थी उसे इनके यथार्थ रूपांतरके द्वारा ही प्रकट करना होता है। यह सिद्धांत कि 'कला'को या तो धार्मिक होना चाहिये या उसका अस्तित्व ही न रहे एक मिथ्या सिद्धांत है, इसी प्रकार यह दावा भी मिथ्या है कि इसे नीतिशास्त्र, उपयोगिता या वैज्ञानिक सत्य अथवा दार्शनिक विचारोंके अधीन होना चाहिये। 'कला' इन चीजोंका तत्त्वोंके रूपमें प्रयोग कर सकती है, किंतु उसका अपना अलग 'धर्म' है, एक आवश्यक विधान है, और वह अपनी स्वाभाविक दिशाओंका अनुसरण करके ही अत्यधिक व्यापक आध्यात्मिकतातक पहुँचेगी। उसे अपनी सत्ताके निकटतम विधानकी अपेक्षा और कोई बंधन स्वीकार नहीं है।

मनुष्यकी निम्नप्रकृतिके संबंधमें, यद्यपि यहाँ स्वभावत: ही हम इस बातको सोचनेके लिये प्रेरित होते हैं कि दबाव ही एकमात्र इलाज है, आध्यात्मिक उद्देश्यका कार्य यही होगा कि उसकी गतिशील और प्राणिक सत्ताके ऊपर बाहरसे दबाव न डाला जाय, बल्कि वह स्वतंत्रतापूर्वक अपने अंदरसे, अपने ही नियमके द्वारा संचालित तथा विकसित हो। समस्त अनुभव हमें यह बताता है कि जबतक मनुष्य अपने अंदरसे ही गलत क्रिया और भूलसे मुक्ति नहीं पा लेता तबतक उसे कार्यमें गलती करने तथा ज्ञानप्राप्तिमें भूल करनेकी कुछ स्वतंत्रता मिलनी ही चाहिये, अन्यथा उसका विकास नहीं हो सकता। समाजको अपने हितके लिये गतिशील और प्राणिक मनुष्यको दबाना पड़ता है, पर दबाव तो केवल शैतानको बाँध ही देता है, अथवा अधिक-से-अधिक उसकी कार्य-प्रणालीको हल्की और सभ्य क्रियाओंमें बदल देता है, पर वह उसे निर्वासित नहीं करता और न कर ही सकता है। गतिशील और प्राणिक मनुष्य अर्थात् 'प्राणमय पुरुष'का सच्चा गुण तभी प्रकट हो सकता है यदि वह अपने

कार्यके लिये अपने अंदर ही एक उच्चतर नियम और भावनाको खोज ले। उसे यह प्रदान करना, उसकी प्रवृत्तिको नष्ट न करके उसे आलोकित और रूपांतरित करना ही पुनरुद्धारका सच्चा आध्यात्मिक उपाय है।

इस प्रकार आध्यात्मिकता निम्न अंगोंकी स्वतंत्रताका मान करेगी, किंतु वह उन्हें उनके अपने भरोसे छोड़ नहीं देगी। वह उनके अपने अंदर ही आत्माके उस सत्यको उपस्थित करेगी जो उन्हींके कार्यक्षेत्रोंके अनुसार रूप धारण कर लेगा और वह एक ऐसे प्रकाशमें उनके सामने उपस्थित किया जायगा जो उनकी समस्त गतिविधियोंको आलोकित कर देगा तथा उनपर उनकी अपनी स्वतंत्रताका सर्वोच्च विधान प्रकट कर देगा। उदाहरणार्थ, वह भौतिक जीवनसे शुष्क घृणा करके या जड़तत्त्वका त्याग करके वैज्ञानिक जड़वादसे भाग नहीं सकती, वल्कि वह संशयवादी मनके अपने अनुमोदनों और निषेधोंमें ही कार्य करके उसे वहीं भगवान्का स्वरूप दिखायगी। यदि वह ऐसा नहीं कर सकती, तो यह सिद्ध होता है कि वह स्वयं ही आलोकित नहीं है या, क्योंकि वह स्वयं एकपक्षीय है, उसके प्रकाशमें कहीं त्रुटि है। वह जीवनका निषेध करके मनुष्यकी प्राण-शक्तिको नष्ट करनेका प्रयत्न नहीं करेगी, बल्कि वह जीवनके सामने स्वयं भगवान्को प्रकट करेगी, यही उसके रूपांतरका मूल तत्त्व होगा। यदि वह ऐसा नहीं कर सकती, तो उसका कारण यह है कि वह अभी स्वयं ही सृष्टि के अर्थ तथा अवतारके रहस्यकी पूरी तरहसे थाह नहीं पा सकी है।

अतएव, आध्यात्मिक उद्देश्य अपने-आपको, व्यक्ति और जातिमें जीवन तथा मानव-सत्ताकी परिपूर्णताके रूपमें, चरितार्थ करनेका प्रयत्न करेगा और यही आत्माकी ऊँचाइयोंका आधार वनेगा जो अंतमें उच्चतम शिखरोंके साथ सारतः एक हो जायगा। वह शरीरकी घृणापूर्वक उपेक्षा करके आगे नहीं वढ़ेगा, न वह प्राणिक सत्ताको तपस्या द्वारा भूखों ही मारेगा, वह चरम रिक्तता या दुःखको आध्यात्मिक जीवनका नियम नहीं समझेगा, वह कला, सौंदर्य और जीवनके सौंदर्यात्मक आनंदका अतिनैतिक तरीकेसे निषेध भी नहीं करेगा, न ही वह विज्ञान और दर्शनको हीन, उपेक्षणीय अथवा भ्रांतिपूर्ण वौद्धिक विषय समझकर उनकी उपेक्षा करेगा, यद्यपि विपक्षी अतियोंके विरोधमें इन अत्युक्तियोंकी सामयिक उपयोगिताको अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। वह सवके लिये सव कुछ होगा, किंतु वह सवमें एक साथ उनका सर्वोच्च उद्देश्य और अर्थ भी होगा और उनकी अपनी अत्यधिक परिपूर्ण अभिव्यक्ति भी, जिसमें वे जो कुछ हैं

और जो कुछ वे पाना चाहते हैं वह सब चरितार्थ हो जायगा। उसका उद्देश्य समाजमें एक प्रबल चर्च या पुरोहित-वर्गके झूठे धर्मतंत्रकी नहीं, वरन् एक सच्चे आंतरिक धर्म-तंत्र अर्थात् आंतरिक पुजारी, पैगंबर या राजाके राज्यकी स्थापना करना होगा। वह मनुष्यके सामने उसके अंदर स्थित दिव्य तत्त्वको अंतरस्थ प्रकाश, 'शक्ति', 'सौंदर्य', 'शुभ', आनंद और अमरत्वके रूपमें प्रकट करेगा तथा उसके बाह्य जीवनमें भी भगवान्के उस राज्यको स्थापित करेगा जो पहले हमारे अंदर ही प्रकट होता है। वह मनुष्यको उसकी अपनी सत्ताके प्रत्येक भावमें ('सर्वभावेन'*) भगवान्को प्राप्त करने और उसमें निवास करनेका रास्ता बतायगा। मनुष्य चाहे जिस प्रकार भी रहे और कर्म करे, वह उसीमें अर्थात् भगवान्में, परम आत्मामें, अपनी सत्ताके सनातन सत्यमें निवास करेगा और कर्म करेगा।

*सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते। (गीता)

बाईसवाँ अध्याय
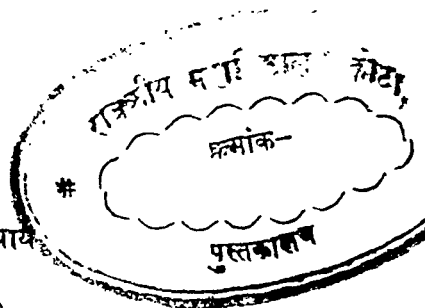
आध्यात्मिक रूपांतरकी आवश्यकता

हमारे जीवनका सामान्य व्यवहार, चाहे वह वैयक्तिक हो या सामाजिक, वस्तुतः दो परस्परपूरक शक्तियोंके संतुलनसे नियंत्रित होता है। पहली जीवनकी केंद्रीय और अंतर्निहित इच्छाशक्ति है जो उसके कर्मकी मुख्य सामर्थ्यमें निहित है और दूसरी वह परिवर्तनकारी इच्छाशक्ति है जो इस जीवनशक्तिको एक चेतन लक्ष्य और प्रणाली प्रदान करनेके लिये मनके विचारसे उठ सकती है—क्योंकि मनुष्य एक मनोमय प्राणी है—और हमारे अभीतकके अपूर्ण मानसिक यंत्रोंके द्वारा कार्य कर सकती है। सामान्यतः जीवनका केंद्र हमारी प्राणिक और भौतिक सत्तामें, उसकी लालसाओं और आवश्यकताओंमें, स्थायित्व, वृद्धि, विस्तार और उपभोग-संबंधी उसकी माँगमें और समस्त प्रकारकी शक्तियों, आधिपत्यों, कर्मों और वैभव और विशालताकी प्राप्तिके प्रयत्नमें अवस्थित रहता है। इस 'जीवन-शक्ति'का पहला स्व-संचालन और इसकी प्रणालीकी पहली व्यवस्था सहज-प्रेरित हैं और पूर्णतया अथवा अत्यधिक रूपमें अवचेतन हैं, साथ ही वे उत्कृष्ट रूपमें स्वतः-चालित भी हैं। पशु पर्यंत, प्रकृतिके अवमानव जीवनकी सुख-सुविधा, सहजता, सूक्ष्म स्वाभाविकता, सुन्दरता, स्वतुष्टि, अत्यधिक प्राणिक शक्ति और सामर्थ्यका कारण इस सहजप्रेरित और स्वतःचालित प्रेरणाके प्रति उसका पूर्ण आज्ञापालन है। इस सत्यका और मानव-जीवनके अति भिन्न और इस दृष्टिसे निम्न स्वभावका एक धुंधला-सा अर्थ ही विचारकको—जब कि वह हमारी वर्तमान अवस्थाओंसे असंतुष्ट हो जाता है—यह कहनेके लिये प्रेरित करता है कि 'प्रकृति'के अनुसार विताया गया जीवन ही हमारी समस्त व्याधियोंका इलाज है। मनुष्यकी मूल प्रकृतिमें इस नियमको पानेके प्रयत्नने नीति-शास्त्र, समाज तथा वैयक्तिक स्व-विकासके कितने ही क्रांतिकारी विचारोंको प्रेरणा दी है। इन विचारोंमेंसे एक विचार, जो अभी हालका है, 'नीत्से' (Nietzche) का अद्भुत प्रेरणासे युक्त प्राणात्मवादी दर्शन भी है। इन सभी विचारोंमें एक सामान्य दोष यह है कि इनकी पैठ मनुष्यके सच्चे स्वभाव तथा उसकी सत्ताके सच्चे नियम अर्थात् उसके 'धर्म'तक नहीं होती।

'नीत्से'का यह विचार कि हमारी वर्तमान अत्यंत असंतोषजनक मानवतामेंसे अतिमानवको विकसित करना ही हमारा वास्तविक कार्य है, अपने-आपमें एक अत्यंत यथार्थ शिक्षा है। उसने जो यह लक्ष्य वनाया है कि 'अपने स्वरूपको प्राप्त करो', 'अपनेको अतिक्रम करो'——जिसका अर्थ यह है कि मनुष्यने अभीतक अपनी समस्त सच्ची सत्ताको, अपनी सच्ची प्रकृतिको ही नहीं पाया है जिसके द्वारा वह सफलतापूर्वक और सहज भावमें जीवन यापन कर सके——तो इससे अच्छा लक्ष्य और क्या हो सकता है। किंतु तव भी प्रश्नोंका यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों हमारे सामने है : हमारी सत्ता क्या है, हमारी सच्ची प्रकृति क्या है? वह क्या वस्तु है जो हमारे अंदर विकसित हो रही है, पर जिसके अंदर अभी हम विकसित नहीं हुए हैं? इसका उत्तर यह है कि वह एक दिव्य वस्तु है, ओलिम्पिआ, आपोलो और डियोनिसिअसका दिव्यत्व है जैसा कि तार्किक और चेतन रूपमें सवल शक्ति रखनेवाला प्राणी अर्थात् मनुष्य थोड़े वहुत अस्पष्ट रूपमें वननेका प्रयास कर रहा है। निश्चय ही वह यही चीज है, किंतु हम इस दिव्यताके वीज किस वस्तुमें पायँगे और वह कौन-सा संतुलन होगा जिसमें वह अतिमानव जो एक वार अपने-आपको उपलव्ध कर चुका है स्थायी रूपमें निवास कर सके तथा इस निम्न और अपूर्ण मानवतामें पतित होनेसे सुरक्षित रह सके? क्या वह वुद्धि और संकल्प-शक्ति भारतीय मनोवैज्ञानिक पद्धति की द्विपक्षीय वुद्धि होगी? किंतु यह अभी तो अत्यंत भ्रांतिकारी, स्व-प्रतिकूल और प्रत्येक प्राप्त वस्तुके वारेमें अनिश्चित है, यद्यपि कुछ हदतक चमत्कारी ढंगसे सृजनशील तथा कुशल भी है; पर जव सव कुछ कहा और किया जा चुका है तो अंतमें यह इतनी वुरी तरहसे अनुपयोगी और हमारी निम्न प्रकृतिके साथ इतनी संघर्षरत पर फिर भी उसपर इतनी आश्रित और उसके अधीन है कि चाहे संपूर्ण दिव्यताका कोई वीज छुपा भी हुआ हो, तो भी यह अपने-आपमें वह वीज नहीं हो सकती, कम-से-कम यह हमें वह सुरक्षित और दिव्य संतुलन तो नहीं प्रदान कर सकती जिसे हम ढूँढ़ रहे हैं। इसीलिये हम कहते हैं कि वुद्धि और संकल्पशक्ति नहीं, किंतु हमारे अंदरकी वह सर्वोच्च वस्तु जो तर्क-वुद्धिसे भी ऊँची है अर्थात् आत्मा, जो यहाँ हमारी निम्न प्रकृतिके आवरणोंके पीछे छुपी हुई है, दिव्यताका गुप्त वीज है और जव यह ढूँढ़ ली जायगी और हमारे सामने प्रकट हो जायगी, तो यह मनके ऊपरकी एक ज्योतिर्मय वस्तु होगी, यह एक ऐसा विस्तृत आधार होगी जिसपर मनुष्यका दिव्य जीवन सुरक्षित रूपसे प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

जब हम अतिमानवकी चर्चा करते हैं, हम प्रत्यक्षतः ही एक ऐसी वस्तुकी चर्चा करते हैं जो हमारी वर्तमान प्रकृतिके लिये इतनी असामान्य या अतिसामान्य है कि उसका विचारतक हमारी सामान्य मनुष्यजातिके लिये सहज ही भयावह और अरुचिकर हो जाता है। एक सामान्य मनुष्य अपने अविराम यांत्रिक चक्रसे बाहर निकलकर उन ऊँचाइयोंतक नहीं पहुँचना चाहता जो उसे असंभव प्रतीत होती हैं और यह तो वह और भी नहीं चाहता कि कोई उसका अतिक्रमण कर जाय या उसे पीछे छोड़कर उसपर आधिपत्य जमा ले,—यद्यपि एक सच्चे अतिमानवत्वका उद्देश्य अपनी खातिर किसीका अतिक्रमण करना या किसीपर आधिपत्य जमाना नहीं है, बल्कि उसका वास्तविक उद्देश्य हमारी सामान्य मानवताको उस वस्तुके प्रति खोलना है जो उससे ऊपर है और जो उसकी भावी पूर्णता है। किंतु एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि जिस चीजको हम सामान्य मानवता कहते हैं वह अपने-आपमें 'प्रकृति'की एक असामान्य वस्तु है, जिसके समान या जिसकी बराबरीकी वस्तु खोजनेपर हमें निराशाके सिवाय और कुछ हाथ नहीं लगेगा; यह एक द्रुत तरंग है, आकस्मिक चमत्कार है। 'प्रकृति'में असामान्यता कोई आपत्तिजनक वस्तु नहीं है और न वह अपूर्णताका अनिवार्य संकेत ही है, उलटे वह तो अत्यधिक बड़ी पूर्णताको प्राप्त करनेके लिये एक प्रयत्न हो सकती है। किंतु यह पूर्णता तबतक प्राप्त नहीं होती जबतक कि असामान्यता अपनी सुरक्षित सामान्यताको तथा अपनी ही श्रेणी और सामर्थ्यमें और अपने ही स्तरपर अपने जीवनकी यथार्थ व्यवस्थाको न प्राप्त कर ले। मनुष्य एक असामान्य प्राणी है जिसने अभीतक अपनी सामान्यताको प्राप्त नहीं किया है,—वह इसके होनेकी कल्पना कर सकता है, वह अपने ढंगके अनुसार अपनी जातिमें सामान्य प्रतीत हो सकता है, किंतु यह सामान्यता केवल एक प्रकारकी अस्थायी व्यवस्था ही होती है; अतएव, मनुष्य, वनस्पति या पशुसे अत्यधिक बड़ा होते हुए भी, उनके समान अपनी प्रकृतिमें पूर्ण नहीं है। यह अपूर्णता कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसके लिये दुःख माना जाय, बल्कि यह एक विशेषाधिकार और आश्वासन है, क्योंकि यह हमारे सामने स्व-विकास और स्व-अतिक्रमणका एक अत्यधिक बड़ा क्षेत्र उन्मुक्त कर देती है। मनुष्य अपनी उच्चतम अवस्थामें एक ऐसा अर्ध-देवता है जो पशु-प्रकृतिसे ऊपर उठ चुका है तथा इस बातमें अत्यधिक असामान्य है, किंतु जो चीज अर्थात् संपूर्ण देवता बनना उसने आरंभ कर दिया है, वह जो कुछ मनुष्य वस्तुतः है उससे इतनी अधिक बड़ी चीज है कि वह उसे अपनी तुलनामें उतनी ही असामान्य

प्रतीत होती है जितना कि वह स्वयं पशुकी तुलनामें प्रतीत होता है। इसका अर्थ यह है कि उसके सामने विकासका एक बड़ा और दुष्कर कार्य पड़ा है, किन्तु यह उसकी जातिका एक सुंदर मुकुट और उसकी विजयमाला भी है। उसे एक ऐसा राज्य अर्पण किया जा रहा है जिसके सामने मनके क्षेत्रमें प्राप्त की हुई उसकी सफलताएँ या बाह्य प्रकृतिपर प्राप्त की हुई उसकी वर्तमान विजय केवल एक स्थूल संकेत और एक अति-साधारण आरंभ प्रतीत होगी।

तब वह ठीक कौन-सा दोष है जिसमेंसे उसकी समस्त अपूर्णता उत्पन्न होती है? उसके बारेमें संकेत तो हम पहले ही दे चुके हैं,—वस्तुतः यही विषय हमारे पहले अध्यायोंका सामान्य लक्ष्य रहा है,—तो भी इस विषयमें अब कुछ अधिक संक्षेपसे और यथार्थ रूपमें कहना आवश्यक हो गया है। हम देखते हैं कि पहली दृष्टिमें मनुष्य एक दोहरी प्रकृतिवाला प्राणी प्रतीत होता है, एक तो प्राणिक और भौतिक सत्ताकी पशुवत् प्रकृति है जो अपनी सहज-प्रवृत्तियों, आवेगों, इच्छाओं, स्वतःचालित प्रेरणाओं और प्रणालियोंके अनुसार जीवन यापन करती है, दूसरी एक ऐसी सचेतन बौद्धिक, नैतिक, सौन्दर्यात्मक, विवेकपूर्ण रूपसे भावात्मक और गतिशील मनवाली अर्द्ध-दिव्य प्रकृति है जो अपने कर्मोंका नियम ढूँढने और समझनेमें, उसका सचेतन रूपमें प्रयोग करने तथा उसे उन्नत करनेमें समर्थ है; वह एक ऐसा चिन्तन-शील मन है जो प्रकृतिको समझता है, एक ऐसा संकल्प है जो प्रकृतिका प्रयोग करता और उसे उन्नत और पूर्ण बनाता है, एक ऐसी इंद्रिय है जो सज्ञान रूपमें प्रकृतिका उपभोग करती है। इसकी पशु-प्रकृतिका उद्देश्य प्राणिक अस्तित्व और उपभोगकी वृद्धि करना है; इसके अर्द्ध-दिव्य भागका उद्देश्य भी विकसित होना, अधिकृत करना और उपभोग करना है, किन्तु पहले तो बुद्धिमत्तापूर्ण, सौन्दर्यात्मक और नैतिक सत्ताके, प्राण और शरीरकी शक्तियोंसे कहीं अधिक ऊँची शक्तियों द्वारा, अधिकृत और उपभोग करना है। इसमें उसका उद्देश्य प्राणिक और भौतिक वस्तुओंको उतना नहीं जितना कि बौद्धिक, नैतिक और सौन्दर्यात्मक वस्तुओंको अधिकृत एवं उपभोग करना है; प्राणिक और भौतिक वस्तुओंको भी इसी प्रकार [illegible] प्रयत्न करना है जिस प्रकार उन्हें आधार, [illegible], प्रारंभिक आवश्यकता या [illegible] तथा [illegible] होनेके लिये भूमि और [illegible] रूपमें प्राप्त करना आवश्यक है। इसकी अर्द्ध-दिव्य प्रकृतिका उद्देश्य उतना [illegible] निर्धारित होता नहीं है जितना कि 'सत्य', 'शिव' और 'सुन्दर'से निर्धारित होता है। [illegible] उद्देश्य

वहींतक ठीक है जहाँतक कि वह मानवी-अस्तित्वकी सुरक्षा, सुख-सुविधा और मर्यादाके लिये आवश्यक है। यही मनुष्यका मनुष्यत्व है, यही इस निश्चेतन भौतिक प्रकृतिके स्वाभाविक नियममें उसकी अपूर्व विलक्षणता तथा असामान्यता है।

इसका अर्थ यह है कि मनुष्यने सत्ताकी एक नयी शक्ति विकसित कर ली है,—हम इसे नयी आत्मशक्ति कह सकते हैं, साथ ही हम प्राण और शरीरको भी एक आत्मशक्ति मानते हैं—और जिस सत्ताने यह कार्य किया है उसका यह स्वाभाविक कर्तव्य है कि वह जगत्‌को इस नयी ऊँचाईसे ही न देखे और न समस्त वस्तुओंका मूल्यांकन ही वहाँसे करे, बल्कि अपनी समस्त प्रकृतिको इस शक्तिका आदेश माननेके लिये, एक प्रकारसे अपने-आपको उसके ही साँचेमें ढालनेके लिये, यहाँतक कि अपने चारों ओरके जीवनको भी इस महत्तर सत्य और नियमके किसी प्रतिरूपमें यथासंभव गठित करनेके लिये विवश करे। ऐसा करनेमें ही उसका स्वधर्म, उसके जीवनका सच्चा नियम और विधान अर्थात् उसकी पूर्णता और वास्तविक प्रसन्नताका विधान निहित है। यदि इसमें वह असफल हो जाता है तो वह अपनी प्रकृति और सत्ताके उद्देश्यमें भी असफल हो जाता है और फिर उसे अपना कार्य फिरसे आरंभ करना पड़ता है जबतक कि उसे ठीक रास्ता ही नहीं मिल जाता और वह रूपांतरके एक सफल मोड़ और निश्चयात्मक संधि-स्थलतक ही नहीं पहुँच जाता। यही वह कार्य है जिसे करनेमें मनुष्य असफल हुआ है। वह कुछ कार्य अवश्य कर चुका है, अपनी यात्राका एक पड़ाव वह पार कर चुका है। उसने अपने प्राणिक और भौतिक भागोंपर बौद्धिक, नैतिक और सौंदर्यात्मक जुआ रख दिया है तथा उसके लिये अब केवल मानव-पशु बने रहकर उससे संतोष मानना असंभव हो गया है। किंतु इससे अधिक करनेमें भी वह सफल नहीं हो पाया है। सत्य, शिव और सुंदरके प्रतिरूपमें अपने जीवनको रूपांतरित करना भी उसे पहले जितना ही दूर प्रतीत होता है। और यदि वह उसके किसी अधूरे रूपके निकट पहुँचता भी है—पर ऐसा भी केवल एक वर्ग या कुछ व्यक्ति ही कर पाते हैं जिसकी जनसाधारणके ज
कुछ प्रतिक्रिया अवश्य होती है—तो भी वह पुनः पीछे लौटकर सामान्य ह्रासकी अवस्थामें गिर पड़ता है, या फिर उससे f
ऐसी व्याकुल कर देनेवाली क्रांतिमें जा गिरता है जिसमें से प्राप्तियोंके साथ निकल तो आता है, पर इसके साथ ही उसे हानियाँ भी उठानी पड़ती हैं। वास्तवमें वह कभी भी -
महान् मोड़ या निश्चयात्मक संधिस्थलतक नहीं पहुँचा है।

उसकी समस्त असफलताका प्रधान कारण, वस्तुत: उसका मूल कारण यह है कि वह ऊपरकी ओर, उस वस्तुकी ओर, जिसे हम उसके जीवनके केंद्रमें गुप्त रूपसे अवस्थित संकल्पशक्ति कहते हैं, और साथ ही इस संकल्प-शक्तिके कार्यकी प्रमुख शक्तिमें निहित सामर्थ्य और सुनिश्चित विश्वासकी ओर नहीं बढ़ सका है। उसके जीवनकी प्रधान संकल्प-शक्ति अभी भी उसकी प्राणिक और भौतिक सत्तामें ही स्थित है, उसकी प्रवृत्ति प्राणिक और शारीरिक उपभोगकी ओर है। कुछ आलोक उसे प्राप्त अवश्य हुआ है तथा उसके आवेगोंपर उच्चतर शक्तियोंने कुछ हदतक प्रतिबंध भी लगाया है, किंतु कुछ आलोक ही, और वह भी आंशिक रूपमें प्राप्त हुआ है, उसका रूपांतर नहीं हुआ है। उसपर प्रतिबंध अवश्य लगा है, किंतु वह न तो अधीन हुई है और न वह उच्चतर स्तरतक पहुँची ही है। अभीतक उच्चतर जीवन एक ऐसी वस्तु ही माना जाता है जो निम्न जीवनपर ऊपरसे लादी जाती है, उसे एक ऐसा अनधिकारी आक्रांता समझा जाता है जो सदा हमारे सामान्य जीवनमें हस्तक्षेप करता है। यह आक्रांता अनवरत रूपसे सामान्य जीवनमें हस्तक्षेप करता है, उसे डाँटता, उत्साहित और निरुत्साहित करता तथा उपदेश देता है, उसपर कार्य करता और उसमें अनुकूलीकरण लाता है, उसे फिरसे गिर पड़नेके लिये ऊपर उठाता है, पर उसे रूपांतरित करने, उसमें चमत्कारी परिवर्तन लाने और उसका पुनर्निर्माण करनेकी शक्ति उसमें नहीं है। वस्तुत: ऐसा प्रतीत होता है कि वह यह ठीक जानता भी नहीं कि यह समस्त प्रयत्न और दु:खदायी संघर्ष उसे किस ओर ले जायगा। कभी वह यह सोचता है कि पृथ्वीपरका मानवजीवन उसके लिये सह्य है, पर उसका मानदंड वह सफलतापूर्वक कभी भी निश्चित नहीं कर सकता, और कभी वह इस बातकी भी कल्पना करता है कि उसे परलोकका पथिक बनना है और वह धार्मिक जीवन या फिर प्रगतिकी ओर ले जानेवाली मृत्युके द्वारा इस मर्त्य सत्ताकी समस्त हलचल एवं कष्टसे छुटकारा पा जायगा। अतएव, ये दोनों तत्त्व एक सतत और पारस्परिक झमेलेमें निवास करते हैं और सदा ही एक-दूसरेके द्वारा व्याकुल, दु:खित, और प्रभावहीन किये जाते हैं। ये दोनों उन बेमेल पति और पत्नीके समान हैं जो सदा ही झगड़ते रहते हैं, पर फिर भी आपसमें थोड़ा बहुत प्रेम भी करते हैं या कम-से-कम एक-दूसरेके लिये आवश्यक होते हैं, परस्पर मेल रखनेमें भी असमर्थ हैं, पर एक दु:खदायी डोरमें तबतक बँधे रहना भी उनके भाग्यमें है जबतक कि मृत्यु ही उन्हें अलग न कर दे। मानव-मनकी समस्त

व्याकुलता, असंतुष्टि, भ्रममुक्ति, श्रांति, उदासी और निराशाका स्रोत मनुष्यकी उस व्यावहारिक असफलतामें है जो उसे अपनी दोहरी प्रकृतिकी पहेली और कठिनाईको हल करनेमें प्राप्त होती है।

जैसा कि हम कह चुके हैं इस असफलताका कारण यह है कि यह उच्चतर शक्ति केवल मध्यस्थका ही काम करती है और प्राणिक और भौतिक जीवनको पूर्ण रूपसे इसके प्रतिरूपमें रूपांतरित करना शायद संभव नहीं है, कम-से-कम यह हमारे अंदर 'प्रकृति'का उद्देश्य तो नहीं है। शायद यह भी कहा जा सकता है कि आखिरकार कुछ व्यक्ति तो रूपांतरका कोई रूप साधित करनेमें सफल हो ही चुके हैं, वे पूर्णतया नैतिक या कलात्मक या बौद्धिक जीवन बिता चुके हैं, यहाँतक कि सत्य, शिव और सुंदरके किसी आदर्शके अनुसार अपना जीवन ढाल भी चुके हैं। अतएव जो कुछ भी व्यक्ति कर चुका है उसे करनेमें जाति भी अंतमें सफलता प्राप्त कर सकती है और करेगी ही, क्योंकि एक विशिष्ट व्यक्ति भविष्यका प्रतिरूप और अग्रदूत है। किंतु वास्तवमें उनकी सफलता पहुँची कहाँतक थी? या तो उन्होंने अपनी सत्ताके एक अंगको कार्यक्षेत्र प्रदान करनेके लिये अपने अंदरके प्राणिक और भौतिक जीवनको निर्बल कर दिया और एकपक्षी और सीमित जीवन व्यतीत करने लगे, या फिर वे एक ऐसे समझौतेपर पहुँचे जिसने, जब कि उच्चतर जीवनको बहुत प्रधानता दी गयी, निम्न जीवनको उच्चतर शक्ति या शक्तियोंकी कड़ी दृष्टि और ढीले दबावके नीचे अपने ही क्षेत्रमें विचरण करनेकी अनुमति दी। अपने-आपमें, अपनी सहज-प्रवृत्तियों तथा माँगोंमें वह अपरिवर्तित ही रहा। वहाँ आधिपत्य था, पर रूपांतर नहीं।

जीवन पूर्णतया बुद्धिसंगत नहीं हो सकता, न वह नैतिक, सौंदर्यात्मक या वैज्ञानिक और दार्शनिक मनोवृत्तिके पूर्णतया अनुकूल ही बन सकता है; मन रूपांतरका कोई निर्दिष्ट देवदूत नहीं है। इसके विपरीत, समस्त बाह्य रूप सदा चक्षु-भ्रम, अर्थात् एक प्रकारकी बौद्धिक, सौंदर्यात्मक या नैतिक भ्रांति होते हैं। जीवन अधीनता और दबावमें आ सकता है, किंतु वह अपना अधिकार सुरक्षित रखता है, चाहे कुछ व्यक्ति या एक वर्ग कुछ समयके लिये इस प्रभुत्वको स्थापित कर ले और समाजपर उसका कोई मिथ्या रूप लाद भी दे, तो भी अंतमें 'जीवन' बुद्धिको पराजित कर देता है; उसके सबल तत्त्वोंको वह अपने पक्षमें कर लेता है—कारण, विद्रोही तत्त्व तो सदा ही कार्य करते रहते हैं—और अपनी सहज-प्रवृत्तियोंको पुन: प्रतिष्ठित करके अपना क्षेत्र फिरसे प्राप्त कर लेता है। और यदि

वह इसमें असफल हो जाय तो उसके प्रतिशोध-स्वरूप वह स्वयं नष्ट हो जाता है तथा चिरंतन आशाको तोड़ देता है, यहाँतक कि कुछ ऐसे समय भी होते हैं जब कि मनुष्यजाति इस तथ्यको देख लेती है और जीवनकी सहज-प्रवृत्तिको दबा देनेका प्रयत्न त्यागकर वुद्धिको अपनी सेवामें लगाने और उसे एक उच्चतर, पर काल्पनिक आदर्शकी सेविका बना देनेके स्थानपर उसे उसके अपने क्षेत्रमें ही प्रकाश देनेका निश्चय कर लेती है।

अभी हालका जड़वादी युग ऐसा ही समय था, जब कि मानव-बुद्धिने यह निश्चय कर लिया प्रतीत होता था कि वह 'जीवन' और 'जड़तत्त्व'का पूर्णतया अध्ययन करेगी, केवल उसीको स्वीकार करेगी तथा मनको 'जीवन' और 'स्थूल पदार्थ'का एक यंत्रमात्र समझेगी। वह अपना समस्त ज्ञान प्राणिक और भौतिक जीवनके अत्यधिक विस्तारके लिये, उसकी व्यावहारिक योग्यता, कुशलता और सुख-सुविधाके लिये तथा उसकी उत्पादन, अधिकार एवं उपभोगसंबंधी सहज-प्रवृत्तियोंकी अत्युत्तम व्यवस्थाके लिये ही प्रयुक्त करेगी। यही मनुष्यजातिके जड़वादी, व्यावसायिक एवं आर्थिक युगकी विशिष्टता थी। वह एक ऐसा युग था जिसमें नैतिक मनको अपना अस्तित्व बनाये रखनेके लिये कष्ट उठाना पड़ा, उसका आत्मविश्वास कम होने लगा, आत्मशंका बढ़ने लगी और उसकी प्रवृत्ति नैतिक नियमके किलेको जीवन तथा सौंदर्यसंबंधी सहजप्रेरणाके हाथमें सौंप देनेकी हो गयी। उधर बुद्धि एक काफी चमकीले विजातीय आभूषण और प्राणिक मनुष्यके कोटमें लगे एक पुष्प-विशेषके रूपमें शोभा पाने लगी, और तर्क-बुद्धि 'जीवन' और 'स्थूल पदार्थ'की एक उत्कृष्ट सेविका बन गयी। इसके परिणाम-स्वरूप प्राणिक जीवनका जो दैत्याकार विकास हुआ वह अब समाप्त हो रहा है जैसे कि दैत्य सदा हुआ करते हैं। उसने विश्वयुद्धकी प्रलयाग्निमें अपनी चिता स्वयं जलायी। यह युद्ध उसका स्वाभाविक परिणाम था, यह संसारपर, उसकी धन-संपत्तिपर, उसके बाजारों और प्राप्य प्रदेशोंपर अधिकार करने तथा उनका उपभोग करनेके लिये, स्फीत और परिवर्तित व्यापारिक विस्तार और साम्राज्यीय परिमाण और शासनकी विस्तीर्णताके लिये अत्यधिक 'कुशल' और 'सभ्य' राष्ट्रोंके बीच युद्ध था। कारण, इस महान् युद्धका यही अर्थ था और अपने मूलमें वह था भी यही, क्योंकि यही युद्धसे पूर्वकी समस्त कूटनीति और अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिका रहस्य या स्पष्ट अभिप्राय था। और यदि कम-से-कम एक श्रेष्ठतर विचार कुछ समयके लिये उठा भी तो उसका कारण मृत्युका भय और विकराल पारस्परिक विनाशका भयावह प्रेत था। तब भी इस 'जागृति'को किसी

प्रकार भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता, न यह सर्वत्र सर्वथा सच्ची ही थी, किंतु यह थी अवश्य और जर्मनीमें भी, जो एक समय जीवनके प्राणात्मवादी दर्शनका अत्यधिक समर्थक था, यह जन्म लेनेके लिये संघर्ष कर रही थी। इस जागृतिमें श्रेष्ठ व्यवस्थाकी कुछ आशा अवश्य थी। किंतु, चाहे कुछ समयके लिये ही हो, प्राणात्मवादी उद्देश्यने अव फिरसे एक नये रूपमें अपना सिर ऊँचा कर लिया है और आशा एक ऐसे अंधकार और विक्षोभमें पड़कर क्षीण हो गयी है जिसमें केवल श्रद्धायुक्त दृष्टि ही यह देख सकती है कि यह तीव्र अव्यवस्था एक नयी सृष्टिकी तैयारी कर रही है।

इस अपूर्ण जागृतिका पहला परिणाम संभवत: एक प्राचीनतर आदर्शकी ओर लौटना प्रतीत होता था, इसके साथ ही, वैयक्तिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय जीवनकी व्यवस्था करनेके लिये तर्कबुद्धि और नैतिक मनको अधिक श्रेष्ठ और विस्तृत रूपमें प्रयुक्त करनेका संकल्प भी विद्यमान था, किंतु ऐसा प्रयत्न, चाहे प्रथम पगके रूपमें वह काफी अच्छा था, एक वास्तविक और अंतिम समाधान नहीं हो सकता; यदि हमारा प्रयत्न यहीं समाप्त हो जाता है, तो हम लक्ष्यपर कभी नहीं पहुँचेंगे। हम कह चुके हैं कि समाधान हमारी उस वास्तविक और प्रच्छन्न सत्ताकी जागृतिमें निहित है,—क्योंकि यही हमारी सर्वोच्च सत्ता और प्रकृति है,—जो अभी हम हैं नहीं, पर जो हमें बनना है तथा जो 'नीत्से' द्वारा स्तुत, प्रबल और प्रबुद्ध प्राणिक 'संकल्प शक्ति' नहीं, बल्कि वह आध्यात्मिक सत्ता और आध्यात्मिक प्रकृति है जो मानसिकतासे, वरंच आध्यात्मीकृत मानसिक सत्तासे जो कि हम पहलेसे हैं कार्य लेगी तथा आध्यात्मिक आदर्शके द्वारा हमारी प्राणिक और भौतिक प्रकृतिके उद्देश्य और कार्यका रूपांतर कर देगी। कारण, यह मनुष्यकी उच्चतम शक्यताका सिद्धांत है और हमारी सुरक्षा एक निम्न शक्यतामें ही संतोष मानकर पड़े रहनेमें नहीं वरन् एक उच्चतम शक्यताकी ओर बढ़नेमें है। हमारे अंदर जो उच्चतम तत्त्व है उसका अनुसरण करनेका अर्थ खतरेमें निवास करना प्रतीत हो सकता है—यह 'नीत्से'की एक अंत:प्रेरित उक्ति है,—किंतु इसी खतरेके द्वारा विजय और सुरक्षा प्राप्त हो सकती हैं। निम्न शक्यतामें निवास करना या उसका अनुसरण करना सुरक्षित, युक्तिसंगत, सुखकर और सुगम तो प्रतीत हो सकता है, किंतु उसका परिणाम बुरा होता है अर्थात् इसकी समाप्ति किसी व्यर्थतामें या एक ही परिधिमें चक्कर काटने या किसी गढ़ेमें या गँदले पंकके अंदर गिर पड़नेमें होती है। हमारा ठीक और स्वाभाविक रास्ता ऊपर शिखरोंकी ओर है।

अतएव, हमें उस प्राचीन रहस्यकी पुनः खोज करनी है जिसे मनुष्यने, जातिके रूपमें, केवल अस्पष्टतया ही देखा है तथा जिसका अधूरे रूपमें अनुसरण भी किया है; उसने सचमुच ही ईश्वरीय 'राज्य'के आदर्शको अर्थात् मन, प्राण और शरीरपर आत्माके शासनके रहस्यको केवल स्थूल मनसे ही समझा है, उसके अर्थका मर्म नहीं जाना है, तो भी इस प्राचीन रहस्यका अनुसरण करनेमें ही वैयक्तिक और सामाजिक मुक्ति निहित है। क्योंकि प्राचीन समयके एशियाई राष्ट्रोंने इस रहस्यको पूर्ण रूपसे कभी भी नहीं खोया, न अधीर होकर किसी तुच्छ विजयके लिये उन्होंने इसका त्याग ही किया, वे इतनी देरतक जीवित रहे, और अब भी वे अमर देवोंके समान एक नयी उषाकी ओर निहार सकते हैं। कारण, वे केवल निद्राके वशीभूत हो गये हैं, नष्ट नहीं हुए हैं। यह सत्य है कि वे कुछ समयके लिये जीवनमें असफल हुए हैं, जब कि यूरोपीय राष्ट्रोंको जो स्थूल पदार्थ और बुद्धिपर विश्वास रखते थे सफलता प्राप्त हुई है; किंतु वह सफलता, जो देखनेमें पूर्ण, पर अस्थायी थी, सदैव विपत्तिमें परिणत होती रही। तथापि एशियाको जीवनमें सफलता प्राप्त नहीं हुई, वह धूलि-धूसरित हो गया और जिस धूलिमें वह गिरा वह एशियाके आधुनिक कविके शब्दोंमें पवित्र तो थी, पर वह पवित्रता संदेहास्पद हो सकती है। तो भी धूलि मनुष्यके लिये उपयुक्त स्थान नहीं है, न ही उसमें चित लेट जाना उपयुक्त मानव-वृत्ति है। एशियाको कुछ समयके लिये असफलता तो मिली पर उसका कारण यह नहीं था कि उसने आध्यात्मिक वस्तुओंका अनुसरण किया, जैसा कहकर कुछ लोग अपने-आपको दिलासा देते हैं,— मानों कभी आत्मा भी एक दुर्बल वस्तु या दुर्बलताका कारण हो सकती हो! उसकी असफलताका कारण यह था कि उसने आत्माका अनुसरण पर्याप्त मात्रामें नहीं किया, उसे पूर्णतया जीवनका स्वामी बनाना नहीं सीखा। उसके मनने या तो जीवन और आत्माके बीचमें एक खाई खोद दी, या फिर वह उनके बीचमें किये गये समझौतेपर स्थिर रहा। उसने सामाजिक-धार्मिक पद्धतियोंको ही जो कि उस समझौतेपर आधारित थीं अंतिम मान लिया। अतएव, स्थिर रहनेमें संकट है। कारण, आत्माकी पुकार सबसे अधिक इस बातकी माँग करती है कि हमें उसका अनुसरण सदा अंततक करना चाहिये, और अंत संबंध-विच्छेद, विचलन और समझौता नहीं है, वह तो आत्माके द्वारा सबपर विजय है, वह पूर्णताकी खोज करने-वालोंका एक ऐसा राज्य है जिसे स्थापित करनेके लिये, हिन्दुओंके धार्मिक प्रतीकके अनुसार, अंतिम अवतार जन्म लेता है।

इस सबकी ओर ध्यान देना आवश्यक है, क्योंकि इस पथपर चलते हुए जो गलतियाँ की जाती हैं वे प्रायः उन गलतियोंसे भी अधिक शिक्षाप्रद होती हैं जो इस पथसे विचलित होकर की जाती हैं। जिस प्रकार प्राणिक और भौतिक प्रकृतिपर बौद्धिक, नैतिक या सौंदर्यात्मक जीवन अथवा इनके उद्देश्योंके समूहको लादना तथा एक आंशिक आधिपत्य या समझौतेसे संतुष्ट हो जाना संभव है, उसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन या आध्यात्मिक विचारों और उद्देश्योंकी शक्ति अथवा आधिपत्यके किसी रूपको भी मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृतिपर लादा जा सकता है। भौतिक प्रकृतिको, प्राणिक और भौतिक जीवनको दीन-हीन बनाना तथा आध्यात्मिक जीवनको एक सहजतर आधिपत्य प्रदान करनेके लिये मनको भी दबाना संभव है, या फिर कोई समझौता भी किया जा सकता है और निम्न सत्ताको अपने ही क्षेत्रमें इस शर्तपर छोड़ा जा सकता है कि वह अधिकतर आध्यात्मिक जीवनके अधीन ही रहे, उसके प्रभावको, कम या अधिक मात्रामें, स्वीकार करे तथा एक नियमके रूपमें उसे मानव-सत्ताकी अंतिम अवस्था और परिणति मान ले। मानवसमाजने भूतकालमें अधिक-से-अधिक इतना ही किया है। यद्यपि यह आवश्यक रूपमें यात्राकी एक अवस्था हो सकती है, तथापि इसीपर स्थिर रहनेका अर्थ वस्तुके सारतत्त्वको, एकमात्र आवश्यक वस्तुको खो देना है। एक ऐसी मनुष्यजाति नहीं जो आज सामान्य ढर्रेका जीवन बिता रही है, यद्यपि उसे कुछ आध्यात्मिक संस्पर्श भी प्राप्त है, बल्कि एक ऐसी मानवजाति, जो संपूर्ण हृदयसे एक ऐसे विधानके लिये अभीप्सा कर रही है जो अब उसे असामान्य प्रतीत होता है और ऐसा तबतक प्रतीत होता रहेगा जबतक कि उसका समस्त जीवन ही आध्यात्मिकतामें उन्नत नहीं हो जाता, वह खड़ी चढ़ाईका रास्ता है जो मनुष्यके सामने खुला पड़ा है और इसीपर चलकर वह उस पूर्णता और रूपांतरको जो उसे साधित करना है प्राप्त कर सकता है।

रूपांतरका रहस्य हमारे जीवन-केंद्रको एक उच्चतर चेतनामें रूपांतरित करने और हमारी प्रधान जीवनशक्तिको परिवर्तित करनेमें है। यह एक ऐसी छलांग अथवा चढ़ाई होगी, जो उस आरोहणसे भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होगी जिसे एक समय 'प्रकृति' पशुके प्राणिक मनसे ऊपर उठकर उस चिंतक मनतक पहुँचनेके लिये कर चुकी है जो अभी भी हमारी मानव-बुद्धिमें अपूर्ण है। जीवनमें निहित प्रधान संकल्पको अब और अधिक समयतक जीवन और शरीरका प्राणिक संकल्प नहीं रहना चाहिये, वरन् उसे वह आध्यात्मिक संकल्प बन जाना चाहिये जिसके हमें अभी केवल

थोड़े और अस्पष्ट संकेत और आभास ही प्राप्त होते हैं। कारण, अव वह हमारे सामने प्रच्छन्नप्राय, निर्वल और मानसिक 'विचार'के रूपमें आवृत होकर आता है, किंतु वह अपनी प्रकृतिमें अतिमानसिक है और उसकी अतिमानसिक शक्ति और सत्यकी ही हमें किसी-न-किसी प्रकार खोज करनी है। हमारे जीवन धारण करनेकी शक्तिको अव और अधिक 'प्रकृति'का निम्न प्राणिक आवेग नहीं रहना चाहिये, जो हमारे अंदर पहले ही चरितार्थ हो चुका है और अव केवल अहं-केंद्रके चारों ओर चक्कर ही काट सकता है, पर जिसका अंतरतम रहस्य हमें अभीतक प्राप्त नहीं हुआ है। कारण, अभी भी वह हमारी गहराइयोंमें विश्राम कर रही है और इस वातकी प्रतीक्षा कर रही है कि हम अपने अहंसे ऊपर उठकर सच्चे व्यक्तित्व की खोज कर लें, क्योंकि उसीकी विश्वमयतामें हम अन्य सवके साथ एक हो सकेंगे। प्राणिक सत्तासे जो हमारे अंदरकी करणात्मक सत्ता है केंद्रीय सत्ता अर्थात् आत्माकी ओर जाना, अस्तित्वकी इच्छा और जीवनकी शक्तिको भी उसी ऊँचाईतक पहुँचाना ही वह रहस्य है जिसे खोज निकालनेके लिये हमारी प्रकृति चेष्टा कर रही है। जो कुछ भी हम अभीतक कर चुके हैं वह इसी इच्छा और शक्तिको मानसिक स्तरतक ले जानेका एक अर्ध-सफल प्रयत्नमात्र है। हमारा सर्वोच्च प्रयास और परिश्रम मानसिक प्राणी वनना और 'विचार'की सामर्थ्यमें निवास करना ही रहा है। किंतु हमारा मानसिक विचार सदा ही मध्यवर्ती और साधनरूप होता है। कर्मके आधारके लिये वह सदा ही अपनेसे अतिरिक्त किसी और वस्तुपर निर्भर रहता है, और इसीलिये, यद्यपि वह कुछ समयके लिये अपनी पृथक् तुष्टिके हित यत्न भी कर सकता है, वह सदा केवल उसीसे संतुष्ट नहीं रह सकता। वह या तो नीचे और वाहर प्राणिक और भौतिक जीवनकी ओर आकर्षित होता है और या फिर उसे अंदर और ऊपर आत्माकी ओर उठना होता है।

और इसी कारण हम अपने विचार और व्यवहार, जीवन और कलामें सदा दो प्रवृत्तियोंमें विभक्त हो जाते हैं, एक प्रवृत्ति आदर्शवादी होती है और दूसरी यथार्थवादी। यथार्थवादी प्रवृत्ति हमें वड़ी आसानीसे अधिक वास्तविक, अधिक सुप्रतिष्ठित तथा वास्तविक तथ्योंके साथ अधिक संवद्ध, प्रतीत होती है, क्योंकि वह उस वास्तविकतापर निर्भर करती है जो व्यक्त इंद्रियगोचर और पहलेसे ही सिद्ध होती है। उधर आदर्शवादी प्रवृत्तिको हम वड़ी सुगमतासे एक अवास्तविक, काल्पनिक, असार और अस्पष्ट वस्तु अनुभव करते हैं, वह एक ऐसी चीज प्रतीत होती है जिसका संवंध उतना सजीव तथ्योंसे नहीं जितना कि विचारों और शब्दोंसे है। कारण, वह

एक ऐसी वास्तविकताको मूर्त्त रूप देनेका प्रयत्न कर रही है जो अभीतक चरितार्थ नहीं हुई है। कुछ हदतक हमारा कहना ठीक हो सकता है, क्योंकि आदर्श, जो कि हमारे भौतिक जीवनकी वास्तविकताओंमें एक परदेसीके समान है, वस्तुत: एक अवास्तविक वस्तु है, जबतक कि वह किसी प्रकार हमारे बाह्य जीवनकी अपूर्णताओंके साथ समझौता ही नहीं कर लेता अथवा उस महत्तर और पवित्रतर वास्तविकताको ही उपलब्ध नहीं कर लेता जिसे वह खोज रहा है तथा उसे हमारे बाह्य कर्मोंपर लागू ही नहीं कर देता। जबतक ऐसा नहीं हो जाता, वह दो लोकोंके बीचमें लटकता रहता है, न वह ऊपरके प्रकाशतक पहुँच सकता है और न नीचेके अंधकारतक। किसी एक समझौतेके द्वारा 'वास्तविक'की अधीनता स्वीकार करना सुगम है, पर आध्यात्मिक सत्यकी खोज करना और जीवनयापनकी वास्तविक प्रणालीका रूपांतर करना कठिन है। किंतु, यदि मनुष्यको अपनी सच्ची प्रकृतिको पाना और चरितार्थ करना है तो ठीक इसी कठिन कार्यको उसे करना होगा। हमारा आदर्शवाद हमारे अंदर सदा ही अत्यंत यथार्थ मानवीय वस्तु होता है, किंतु एक मानसिक आदर्शवादके रूपमें वह एक प्रभावहीन वस्तु है। प्रभावपूर्ण बननेके लिये उसे एक ऐसे आध्यात्मिक यथार्थवादमें बदल जाना होगा जो आत्माकी उच्चतर यथार्थताको हस्तगत कर लेगा और इसके लिये वह हमारी संवेदनात्मक, प्राणिक तथा भौतिक प्रकृतिकी इस निम्नतर सत्ताको भी अपने हाथमें ले लेगा।

अस्तित्वकी इच्छा और जीवनशक्तिके ऊर्ध्वगमनको हमें अपनी पूर्णताका सिद्धांत बनाना पड़ेगा। उस इच्छा और शक्तिको हमारे अंदरके प्राणिक भागके आधिपत्य और आत्माके आधिपत्यमेंसे एकको चुनना होगा। प्रकृति प्राणिक सत्ताके चक्रमें पड़ी रह सकती है, वहाँ एक प्रकारकी पूर्णता भी ला सकती है, किंतु वह पूर्णता एक ऐसा अवरुद्ध विकास है जो अपनी सीमाओंसे ही संतुष्ट रहता है। यह कार्य वह वनस्पति और पशुमें कर सकती है, क्योंकि वहाँ जीवन और शरीर एक ही समयमें साधन और लक्ष्य दोनों हैं; वे अपनेसे आगेकी वस्तु नहीं देखते। पर वह मनुष्यमें ऐसा नहीं कर सकती, कारण यहाँ वह अपने भौतिक और प्राणिक आधारके बहुत ऊपर निकल गयी है। वह मनुष्यके अंदर एक ऐसा मन विकसित कर चुकी है जो आत्माके प्रकाशकी ओर जीवनका प्रस्फुटन है; जीवन और प्राण अब साधन-रूप बन गये हैं, अब वे अपने लक्ष्य नहीं रहे हैं। अतएव, मनुष्यकी पूर्णता भौतिक जीवनका अज्ञानपूर्वक चक्कर काटनेसे साधित नहीं हो सकती, न वह मानसिक सत्ताकी अधिक व्यापक परिधियोंमें

ही प्राप्त हो सकती है, क्योंकि वह भी एक साधन ही है। उसकी प्रवृत्ति अपनेसे आगे किसी और वस्तुकी ओर जानेकी है, उस वस्तुकी ओर जिसकी शक्ति उसके अंदर कार्य तो अवश्य करती है, किंतु जिसका विशालतर सत्य उसकी वर्तमान वुद्धिके लिये एक अतिचेतन वस्तु है, वह अतिमानसिक है। मनुष्यकी पूर्णता सदा-पूर्ण 'आत्मा'की अभिव्यक्तिमें निहित है।

वनस्पति और पशुमें 'प्रकृति'की निम्नतर पूर्णता प्रत्येक व्यष्टिकी अपनी-अपनी सत्ताके प्राणिक सत्यका सहजप्रेरित, स्वतःचालित और अवचेतन अनुसरण करनेसे ही साधित होती है। आध्यात्मिक जीवनकी उच्चतर पूर्णता तभी प्राप्त हो सकती है जब कि आध्यात्मीकृत मनुष्य अपनी अनुभूत सत्ताके सत्यका सहज भावमें अनुगत रहे, जब वह 'अपना-आप' बन जाय, जब वह अपनी वास्तविक प्रकृतिको प्राप्त कर ले। कारण, यह सहज अनुसरण स्वयंप्रेरित और अवचेतन नहीं होगा, बल्कि अंतः-स्फुरित तथा पूर्ण और समग्र रूपसे चेतन होगा। यह आध्यात्मिक प्रकाशके एक सहज तत्त्वका, एक एकीकृत और सर्वांगसंपन्न उच्चतम सत्य, विशालतम सौंदर्य, शुभ, सामर्थ्य, आनंद, प्रेम और एकत्वकी शक्तिका प्रसन्नतापूर्वक अनुगमन होगा। जीवनमें कार्य करनेवाली इस शक्तिका उद्देश्य, जैसा कि समस्त जीवनमें होता है, वृद्धि, आधिपत्य तथा उपभोग होगा और होना चाहिये भी, परंतु वह वृद्धि एक दिव्य अभिव्यक्ति होगी और आधिपत्य और उपभोग आध्यात्मिक तथा वस्तुओंकी आत्मासे संबंध रखने-वाले होंगे,—यह उपभोग हमारे जीवनके मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रतीकोंको प्रयोगमें तो लायगा, पर उनपर निर्भर नहीं रहेगा। अतएव, वह उस अवरुद्ध विकासकी सीमित पूर्णता नहीं होगी जो उन्हीं रूपों एवं कर्मोके उसी एक चक्करकी आवृत्तिपर निर्भर रहता है और जिससे जरा भी इधर-उधर होनेसे खतरा और उपद्रव पैदा हो जाता है। यह एक असीम पूर्णता होगी जो अपने रूपोंमें अंतहीन विविधता लानेमें समर्थ होगी,—कारण 'आत्मा'के ढंग अनगिनत और अनंत हैं,—किंतु वह स्वयं सब विविधताओंमें, सुरक्षित रूपमें, वही रहेगी, एक होकर भी अनेक रूपोंमें असीम होगी।

इस कारणसे भी यह पूर्णता मानसिक विचारके आत्माके साथ उस प्रकार व्यवहार करनेसे नहीं आ सकती जिस प्रकार कि वह जीवनके साथ व्यवहार करता है। जब मनका विचार आत्माके अंदरकी मुख्य संकल्प-शक्तिको अधिकृत करके इस उच्चतर शक्तिको, वुद्धिके विचारोंके अनुसार, एक चेतन दिशा और प्रणाली प्रदान करनेका यत्न करता है तो वह इस

चमत्कारको कार्यरूप देनेमें एक अत्यंत सीमित, अंधकारपूर्ण और अत्यंत हीन शक्ति सिद्ध होता है। और यदि हम आत्माको किसी दृढ़ मानसिक विचार अथवा धार्मिक मतके साथ, किसी बौद्धिक सत्य, सौंदर्यात्मक आदर्श, नैतिक नियम, व्यावहारिक कर्म, प्राणिक और भौतिक जीवन-प्रणाली या रूपों और कर्मोंकी किसी विशेष व्यवस्थाके साथ बाँध दें और उसके समस्त व्यतिक्रमको एक संकट और उपद्रव या आध्यात्मिक जीवनसे विचलन घोषित कर दें तो यह पूर्णता और भी कठिनाईसे साधित हो सकेगी। यही गलती एशियामें की गयी थी और यही उसके अवरुद्ध विकास और ह्रासका कारण भी थी, क्योंकि इसका अर्थ उच्चतर सिद्धांतको निम्नतर सिद्धांतके अधीन करना और स्व-अभिव्यक्ति करनेवाली आत्माको मन और प्राणिक प्रकृतिके साथ किये गये एक अस्थायी और अधूरे समझौतेके साथ बाँध देना है। मनुष्यको सच्ची स्वतंत्रता और पूर्णता तभी प्राप्त होगी, जब आत्मा मन और प्राणके रूपोंमेंसे फूट पड़े और अपने विज्ञानमय और तेजोमय शिखरोंतक उड़ान लेकर उसी प्रकाश और ज्योतिसे उन्हें अधिकृत करना तथा अपनी प्रतिमूर्त्तिमें रूपांतरित करना आरंभ कर दे।

वस्तुतः, जैसा कि हम देख चुके हैं, मन और बुद्धि हमारे जीवनकी प्रमुख शक्ति नहीं हैं, क्योंकि वे केवल अर्ध-सत्यों और अनिश्चितताओंका वृत्त ही बना सकती हैं और उसी असंतोषजनक घेरेमें घूमती रह सकती हैं। किंतु मन और प्राणमें, बौद्धिक, सौंदर्यात्मक, नैतिक, गतिशील, व्यावहारिक, भावुक, संवेदनात्मक, प्राणिक और शारीरिक सत्ताके समस्त कर्ममें छुपी हुई एक ऐसी शक्ति विद्यमान है जो तादात्म्य और सहज-स्फुरणाके द्वारा देखती है और इन सब चीजोंको ऐसा सत्य, ऐसी निश्चयता और स्थिरता प्रदान करती है जिसे ये ग्रहण कर सकते हैं। अस्पष्ट रूपमें हमने इसका कुछ अंश अपने समस्त विज्ञान, दर्शन और अपनी अन्य प्रवृत्तियोंके पीछे देखना प्रारंभ कर दिया है। किंतु जबतक इस शक्तिको अपने लिये नहीं, वरन् मन और प्राणके लिये कार्य करना है, अपने सहज प्रकाशमें नहीं बल्कि उनके रूपोंके अनुसार कर्म करना है, तबतक हम इस खोजका कोई बड़ा उपयोग नहीं कर सकते, इस आंतरिक देवका अपना निजी लाभ नहीं प्राप्त कर सकते। आध्यात्मिक अतिमानवताकी ओर मनुष्यका पथ तभी प्रशस्त होगा जब कि वह साहसपूर्वक यह घोषित कर देगा कि जो कुछ उसने अभीतक विकसित किया है,—इसमें वह बुद्धि भी आ जाती है जिसपर उसे यथार्थ, पर निरर्थक गर्व है—वह उसके लिये पर्याप्त नहीं है, और भविष्यमें अपने अंदरके इस महत्तर प्रकाशको अनावृत

करना, खोजना तथा मुक्त करना ही उसका व्यापक और प्रमुख कार्य होगा। तब उसका दर्शन, विज्ञान और नीतिशास्त्र, उसकी कला और उसका सामाजिक अस्तित्व एवं प्राणिक कार्य-कलाप मन और प्राणके अभ्यास नहीं होंगे, न वे अपनी खातिर किये जायेंगे और न वे एक ही परिधिमें चलते रहेंगे, बल्कि वे मन और प्राणके पीछे स्थित महत्तर 'सत्य'की खोज करने तथा उसकी शक्तिको हमारे मानवजीवनमें उतारनेके लिये साधनका काम करेंगे। इस प्रकार हम अपना सच्चा स्वरूप प्राप्त करनेके लिये, अपनी पूर्णताका सच्चा विधान खोजनेके लिये, अपनी वास्तविक सत्ता और दिव्य प्रकृतिमें अपना सच्चा और संतुष्ट जीवन यापन करनेके लिये ठीक मार्गपर बढ़ रहे होंगे।

तेईसवाँ अध्याय

आध्यात्मिक युगके आगमनकी अनिवार्य अवस्थाएँ

इससे पहले कि इस प्रकारका परिवर्तन अर्थात् जीवनकी मानसिक और शारीरिक व्यवस्थाका आध्यात्मिक व्यवस्थामें परिवर्तन समाजके अंदर पूर्ण रूपसे साधित हो सके, उसे व्यक्तिमें, वस्तुतः व्यक्तियोंकी एक बड़ी संख्यामें, अवश्य ही चरितार्थ हो जाना चाहिये। व्यक्तिमें ही मानव-स्थित 'आत्मा' रूपकी खोज, उसका विकास एवं निर्माण करती है। विकसनशील और निर्माणकारी व्यक्तिके द्वारा ही वह जातिके मनको एक नये आत्म-सृजनका ज्ञान और अवसर प्रदान करती है। कारण, सामुदायिक मन पहले अवचेतन रूपमें ही वस्तुओंको धारण करता है और यदि चेतन रूपसे धारण करे भी तो अस्तव्यस्त और अव्यवस्थित ढंगसे ही करता है। समुदाय केवल वैयक्तिक मनके द्वारा ही अपनी अवचेतन सत्ताके अंदर स्थित वस्तुओंके बारेमें स्पष्ट ज्ञान प्राप्त कर सकता है अथवा उनका निर्माण कर सकता है। जो विचारक, इतिहासकार या समाजशास्त्री 'व्यक्ति'को तुच्छ समझते हैं और उसे समुदायमें लीन कर देना चाहते हैं या जो उसे मुख्यतया एक कोषाणु या परमाणुके रूपमें लेते हैं वे मनुष्यजातिमें प्रकृतिकी क्रियाओंके सत्यका केवल एक अस्पष्ट अंश ही ग्रहण कर सके हैं। क्योंकि मनुष्य प्रकृतिकी स्थूल रचनाओं या पशुके समान नहीं है, क्योंकि उसमें प्रकृति एक अधिकाधिक चेतन विकास चरितार्थ करना चाहती है, इसीलिये उसके अंदर व्यक्तित्व इतना अधिक विकसित हो गया है और पूर्ण रूपसे महत्त्वशाली और अनिवार्य बन गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जो कुछ व्यक्तिमें प्रकट होता है तथा पीछे समुदायको प्रेरित करता है उसका अस्तित्व वैश्व 'मन'में पहलेसे ही होता है और व्यक्ति उसकी अभिव्यक्ति, खोज और विकासका साधनमात्र होता है; यह साधन भी केवल अवचेतन प्रकृतिका या उस सहजप्रस्फुरित प्रेरणाका ही नहीं है जो समुदायको परि-चालित करती है, वरन् यह अधिक प्रत्यक्ष रूपमें उस 'आत्मा'का साधन है जिसके लिये प्रकृति स्वयं साधनस्वरूप है तथा जिसकी रचनाओंका वह

एक उपादान है। अतएव, समस्त महान् परिवर्तन अपनी पहली, स्पष्ट एवं अमोघ शक्ति तथा अपनी प्रत्यक्ष निर्माणकारी सामर्थ्य एक व्यक्तिके या कुछ थोड़ेसे व्यक्तियोंके मन और आत्मामें ही प्राप्त करते हैं। समुदाय तो केवल अनुसरण करता है, परंतु दुर्भाग्यवश वह एक ऐसे अत्यधिक अपूर्ण और अव्यवस्थित ढंगसे अनुसरण करता है कि उसका अंत वहुवा या वरावर ही, असफलतामें या निर्मित वस्तुकी विकृतिमें होता है। यदि ऐसा न होता तो मनुष्यजाति अपने रास्तेपर एक विजयशील द्रुत वेगसे वढ़ सकी होती, उसकी अवस्था आज-जैसी नहीं होती जव कि वह भारी पगोंसे रुक-रुककर चल रही है, या फिर वह यदि तेजीसे चलती भी है तो शीघ्र ही क्लांत हो जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि अभीतक तो वह केवल इतना ही करनेमें समर्थ हुई है।

अतएव, जिस आध्यात्मिक परिवर्तनकी हम चर्चा करते आ रहे हैं उसे यदि हमें चरितार्थ करना है तो हमें उन दो अवस्थाओंको संयुक्त करना होगा जिन्हें एक साथ ही साधित करना आवश्यक है, पर जिनका संयोग अत्यंत कठिन है। प्रथम, कोई एक ऐसा व्यक्ति या कई ऐसे व्यक्ति होने चाहियें जो अपने-आपको 'आत्मा'की प्रतिमूर्तिके रूपमें देख सकें तथा उसी रूपमें अपना विकास और पुनर्निर्माण कर सकें, साथ ही वे अपने विचार और उसकी शक्ति दोनोंको जन-समुदायतक पहुँचा भी सकें। इसके साथ ही एक ऐसा जन-समुदाय, समाज, सामुदायिक मन अथवा कम-से-कम एक ऐसे सामुदायिक संगठनके उपादान अथवा एक सामूहिक आत्माकी संभावना भी होनी ही चाहिये जो ग्रहण कर सकती हो तथा सफलतापूर्वक आत्मसात् कर सकती हो, जो अनुसरण करने तथा लक्ष्यको पूर्ण रूपसे प्राप्त करनेके लिये तैयार हो; उसे अपनी अंतर्निहित त्रुटियोंके कारण या तैयारीमें दोप रह जानेके कारण किसी निश्चित परिवर्तनके हो जानेसे पहले ही मार्गमें रुक जाने या पीछे हटनेके लिये वाध्य नहीं होना चाहिये। इस प्रकार सव वातोंका एक साथ पूरा होना अभीतक संभव नहीं हुआ है, यद्यपि किसी क्षणिक उत्साहके कारण ऐसा होता प्रतीत अवश्य हुआ है। पर ये दोनों वातें एक साथ एक दिन पूरी होंगी, इसमें तनिक भी संदेह नहीं, किंतु यह कोई नहीं वता सकता कि उसके लिये कितने प्रयत्न करने पड़ेंगे और इससे पहले कि जमीन तैयार हो, सामुदायिक मनुष्यकी अवचेतन मनोवृत्तिमें आध्यात्मिक अनुभवके कितने संस्कार संचित करने पड़ेंगे। कारण, एक ऐसे कठिन ऊर्ध्वमुखी प्रयत्नमें जो हमारी प्रकृतिके मूलपर प्रभाव डालेगा सफलताके अवसर असफलताकी अनेकों संभावनाओंसे सदा कम

शक्तिशाली होते हैं। प्रवर्तक स्वयं अपूर्ण हो सकता है; वह स्वयं जो कुछ उसने देखा है पूर्ण रूपसे वही बन जानेके लिये प्रतीक्षा नहीं भी कर सकता। हो सकता है कि उन थोड़ेसे लोगोंने जिन्हें ध्येयके प्रसारका कार्य सौंपा गया है उसे पूर्ण रूपसे आत्मसात् न किया हो और न उसे अपने अंदर कोई रूप ही दिया हो; वे भी 'आत्मा'की शक्तिको जो अब और भी कम हो जाती है अपने बाद आनेवाले बहुतसे लोगोंको सौंप सकते हैं। यह भी संभव है कि समाज बौद्धिक, प्राणिक, नैतिक और प्राकृतिक रूपसे तैयार न हो, जिसका फल यह होता है कि समाज जब आध्यात्मिक विचारको अंतिम रूपसे स्वीकार करता है तो वह हीन और विकृत होने लगता है और अंतमें हम 'आत्मा'के पथसे विचलित और दूर हो जाते हैं। इनमेंसे कुछ या सभी बातें घटित हो सकती हैं और इसका परिणाम यह होगा, जैसा कि प्राचीन समयमें प्रायः हो चुका है, कि यद्यपि कुछ उन्नति हो जाती है और एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी साधित हो जाता है, पर वह एक ऐसा सुनिश्चित परिवर्तन नहीं होगा जो अकेला ही मनुष्य-जातिको एक दिव्यतर प्रतिमूर्तिमें पुनः ढाल सके।

तब समाजकी वह अवस्था, मनुष्यके सामान्य मनकी वह तैयारी जो इस परिवर्तनके लिये अत्यधिक अनुकूल हो कब साधित होगी, जिससे कि यह परिवर्तन यदि एकदम न भी आये, तो भी वह कम-से-कम अपने मार्गपर बढ़नेके लिये एक ऐसी अधिक निश्चयात्मक तैयारीकी अवस्था तो प्राप्त कर ही ले जैसी कि अभीतक कभी संभव नहीं हुई है? कारण, यही बात अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है, क्योंकि यही चीज, समाज या सामान्य मानव-मनकी यही अतत्परता और अयोग्यता ही सदा मार्गका प्रधान रोड़ा होती है। वस्तुतः इस सामान्य मानव-मनकी तैयारी ही सबसे अधिक महत्त्व रखती है। कारण, चाहे समाजकी अवस्था या समाजका संचालन करनेवाला सिद्धांत और नियम आध्यात्मिक परिवर्तनके विरोधी भी हों, चाहे ये, प्रायः पूर्णतया ही, प्राणिक, बाह्य, आर्थिक और यांत्रिक व्यवस्थासे ही संबंध रखते हों, जैसा कि आजकल सर्वसाधारणका तरीका है, तो भी यदि सामान्य मानव-मन अंतमें स्थापित होनेवाली उच्चतर व्यवस्थाके विचारोंको स्वीकार करना आरंभ कर दे और मानव-हृदय इन विचारोंसे उत्पन्न अभीप्सासे प्रेरित होने लगे तो निकट भविष्यमें कुछ उन्नतिकी आशा हो सकती है। और इसका पहला आवश्यक संकेत जीवनके अनुभवगत विचारका अर्थात् आत्माके, आंतरिक सत्ता और उसकी शक्तियों, संभावनाओं, उसके विकास और उसकी अभिव्यक्तिके तथा उसके लिये एक

सत्य, सुन्दर और सहायक वातावरणके निर्माणके विचारका, एक प्रथम और परम महत्त्व रखनेवाली वस्तुके रूपमें, विकास होना चाहिये। ऐसे संकेत तो मिलने ही चाहिये जो मानवजातिके विचार और सामाजिक प्रयत्नमें एक अनुभववादी युगके अग्रदूतका काम करें।

संभवतः ये विचार अपनी प्रवृत्तिको पहले दर्शनमें, मनोवैज्ञानिक चिंतन और कलाओंमें, काव्य, चित्रकारी, मूर्त्तिविद्या और संगीतमें, नीतिशास्त्रके प्रमुख विचारमें, विचारकों द्वारा अनुभववादी सिद्धांतोंको सामाजिक प्रश्नोंपर लागू करनेमें, यहाँ तक कि शायद––और यह एक खतरेवाला प्रयत्न है––राजनीति और अर्थशास्त्र, अर्थात् उस कठोर, हठीले जड़ पदार्थमें भी प्रकट करते हैं जो एक स्थूल उपयोगितावादी व्यवहारको छोड़कर और सवका प्रतिरोध करता है। विज्ञान या कम-से-कम अनुसंधान-कार्यके क्षेत्रसे अलग कई नये अप्रत्याशित सिद्धांत भी निकलेंगे, पर इस प्रवृत्तिको, चाहे वह कितनी भी उपयोगी खोजें करे, कट्टरपंथी मनुष्य विज्ञानका नाम देना अस्वीकार कर देगा। ऐसी खोजें की जायँगी जो आत्मा और जड़ पदार्थके वीचकी दीवारोंको पतला कर देंगी। मनोवैज्ञानिक और आंतरात्मिक क्षेत्रोंमें यथार्थ ज्ञानका विस्तार करनेके प्रयत्न किये जायँगे और लोग इस सत्यको जान लेंगे कि इनके भी अपने नियम हैं जो भौतिक नियमोंसे भिन्न हैं, किंतु इस कारण कि ये वाह्य इंद्रियोंसे परे हैं और अत्यधिक नमनीय और सूक्ष्म हैं इन्हें किन्हीं भी नियमोंसे कम नहीं कहा जा सकता। धर्मको अपनी निर्जीव सामग्रीके पुराने भारी वोझको त्याग देने तथा आत्माके स्रोतोंमें अपनी शक्तिको पुनर्जीवित करनेके लिये काफी परिश्रम करना पड़ेगा। ये सव यदि किसी भविष्यकी घटनाके नहीं तो कम-से-कम उसकी एक महान् संभावनाके अर्थात् एक अवश्यंभावी प्रयत्नके, एक ऐसे प्रयासके निश्चित संकेत अवश्य हैं जिसका क्षेत्र वहुत कुछ व्यापक होगा, साथ ही जिसे एक ऐसी अधिक सुसज्जित वुद्धिकी सहायता भी प्राप्त होगी जो केवल अपनी सुनवाईकी माँग करनेवाले उस सत्यको न केवल अनुभव करनेमें ही समर्थ होगी, वल्कि उसे वह समझ भी सकेगी। ऐसे कुछ संकेत हम आजकल भी देख सकते हैं, यद्यपि वे हैं अभी प्रारंभिक और अकेले-दुकेले ही; वे अभी इतनी दूरतक नहीं पहुँचे हैं कि मनुष्य इस संवंधमें विश्वासपूर्ण निश्चयता प्राप्त कर ले। जव ये अंधान्वेषी खोजें उस वस्तुको जिसे वे ढूंढ़ रही हैं प्राप्त कर लेंगी, तभी वह वस्तु मनुष्य-जीवनके पुनर्निर्माणमें सफलतापूर्वक प्रयुक्त हो सकेगी। जवतक ऐसा नहीं होता एक आंतरिक तैयारीसे अधिक और कुछ नहीं हो सकता। हाँ, कुछ

आमूल अथवा क्रांतिकारी अनिश्चित प्रयोग तो चलते ही रहेंगे। इनमें उस विशाल और बोझिल मशीनरीकी जिसके नीचे जीवन अब कराह और पिस रहा है सब बातें पायी जायेंगी।

अनुभववादी युग आध्यात्मिकतासे बहुत इधर ही रुक सकता है, क्योंकि अनुभववादी प्रवृत्ति केवल पहली अवस्था ही है, अपने-आपमें आध्यात्मिकता नहीं है और न इस विषयका अंत ही है। 'सद्वस्तु'की अर्थात् मनुष्यकी सच्ची सत्ताकी खोज बड़ी सुगमतासे उस स्वाभाविक क्रमका अंततक अनुसरण कर सकती है जिसका वर्णन उपनिषद्ने वरुणके पुत्र भृगुकी खोजोंके गहन उपाख्यानमें किया है। कारण, पहले-पहल इस अन्वेषकने जड़ और भौतिक पदार्थको अर्थात् स्थूल सत्ताको अंतिम सत्यके रूपमें प्राप्त किया और बाह्य मनुष्यको हमारी एकमात्र सत्ता और आत्मा समझा। इसके बाद उसने प्राणको सद्वस्तुके रूपमें और प्राणमय पुरुषको सत्ता और आत्माके रूपमें लिया; उसकी तीसरी खोज 'मन' और मनोमय पुरुषकी थी। इसके बाद ही वह बाह्य अनुभववादी चेतनासे ऊपर उठकर और अतिमानसिक 'सत्य-चेतना'मेंसे होता हुआ सनातन आनंदमयी और नित्य-सृजनशील सद्वस्तुतक पहुँच सका था; ये सब तो इसके ऊपरी कोषमात्र हैं। किंतु मनुष्यजाति वरुणके पुत्रके समान दृढ़ या नमनीय नहीं भी हो सकती, उसकी खोज कहीं बीचमें ही रुक भी सकती है। यदि प्रकृतिका यह आशय हो कि मनुष्यका अब कुछ प्राप्त करने और खोज करनेका समय आ गया है, तो आत्मा प्रत्येक अधूरे सिद्धांतको उसके निर्मित होते ही तोड़ देगी और मनुष्यके विचारको एक विशालतर खोजकी ओर और अंतमें तो एक अत्यधिक विशाल और प्रकाशमय खोजकी ओर आगे बढ़नेके लिये बाधित करेगी। इस प्रकारका कुछ कार्य होता भी रहा है किंतु वह बड़े बाह्य ढंगसे और ऊपरी तलपर ही हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दीके अधिकांश भागपर भौतिक सिद्धांतका शासन था जिसने मनुष्यको बाह्य भौतिक जीवनके यंत्रकी एक अत्यंत बोझिल दासतासे लाद दिया जैसी कि उसने पहले कभी अनुभव नहीं की थी। इस सिद्धांतके बाद ही उस दासतामेंसे निकलने, वस्तुओंकी सजीव वास्तविकताको समझने और जीवन और जीवनयापनके तथा समाजके यांत्रिक विचारसे दूर हटनेके पहले प्रयत्न ने हमें उस बाह्य प्राणात्मवादमें पहुँचा दिया जिसने पहलेसे ही विचारको शासित करना आरंभ कर दिया था; ये दो सिद्धांत जो जटिल रूपमें परस्पर गुँथे हुए थे पीछे प्रकाशमें आये और इन्होंने अपने-आपको विश्वयुद्धकी भयानक चितामें झोंक दिया। इस प्राणिक उत्साहने भी हमें कोई मुक्तिका रास्ता

नहीं दिखाया, उल्टे इसने अधिक जोशीले आग्रहके साथ, अधिक द्रुतगति और अधिक तीव्रतासे जीवन यापन करनेके उग्र प्रयत्न तथा कर्म करने, सफल होने और केवल जीवन यापन करनेकी शक्तिको ही विस्तृत रूप देने तथा जीवनकी विपुल कुशलताको अर्जित करनेके एक असीम संकल्पके साथ पहलेसे निर्मित हुई मशीनका प्रयोग किया। यदि यह प्राणात्मवाद कम स्थूल और वाह्य होता या अधिक वास्तविक रूपमें अनुभववादी होता तो भी इससे अन्यथा कुछ नहीं हो सकता था। जीवित रहना, कर्म करना, विकसित होना, प्राणिक शक्तिको बढ़ाना, जीवनकी सहजज्ञानसे युक्त प्रेरक शक्तिको समझना, उसे उपयोगमें लाना तथा चरितार्थ करना अपने-आपमें बुरी वस्तुएँ नहीं हैं, बल्कि यदि इनका ठीक ढंगसे अनुसरण और प्रयोग किया जाय, दूसरे शब्दोंमें, यदि इनका उद्देश्य केवल प्राणात्मवादी प्रवृत्तिसे आगेकी कोई वस्तु हो और ये अंदरकी उस वस्तुसे शासित हों जो 'जीवन'से अधिक ऊँची है तो ये बहुत ही उत्तम वस्तुएँ हो सकती हैं। 'जीवन-शक्ति' एक यंत्र तो है, पर लक्ष्य नहीं। यह ऊर्ध्वमुखी मानदंडमें आत्माका पहला महान् आंतरिक अतिभौतिक यंत्र है एवं समस्त कर्म और प्रयत्नका आधार है। किंतु एक ऐसी 'जीवन-शक्ति' जो अपनेसे आगे कुछ नहीं देखती तथा जो केवल अपनी संगठित माँगों और आवेगोंके अतिरिक्त और किसी चीजको सेवाके योग्य नहीं समझती शीघ्र ही एक ऐसी वाष्प-शक्ति वन जाती है जो चालकके विना ही इंजिनको चलाती है या फिर वह ऐसे इंजिनको चलाती है जिसमें स्वयंचालक शक्तिने चालकको अपना नियंत्रक न वनाकर दास वना लिया है। यह केवल भौतिक जगत्‌की प्राकृतिक शक्तियोंको ऊँची चोटी अथवा विशाल आधार-वाली आसुरिकताके—या फिर यह एक निम्न कोटिकी एक ज्वलंत पैशाचिकता भी हो सकती है—अदम्य वेगसे युक्त कर सकता है, तव बुद्धि उसकी दास होती है। यह वेग एक असीम और सतत सृजन, अधिकार और विस्तारका एक ऐसा वेग होता है जिसका अंत एक प्रचंड, विशाल और दैत्याकार वस्तुमें होगा। वह अपने स्वभावसे ही 'अति' और विनाशको प्राप्त होगी; कारण उसमें न तो प्रकाश है, न आत्माका सत्य और न देवताओंकी स्वीकृति और उनका स्थिर सनातन संकल्प और ज्ञान।

किन्तु प्राणिक सत्ताके अनुभववादसे परे एक मानसिक, यहाँतक कि एक ऐसे आंतरात्मिक अनुभववादकी भी संभावना है जो शायद शुरूमें, कर्मरत 'प्राण'-रूपी आत्माके पूर्व-चरितार्थ विचारका आश्रय लेता हुआ, पर साथ ही उसमें सुधार भी करता हुआ, एक अत्यंत मानसिक ढंगका

व्यवहारवाद प्रतीत होगा, किंतु पीछे वह इस उच्चतर विचारतक भी पहुँच सकता है कि मनुष्य एक आत्मा है जो नित्य विस्तृत होनेवाले मानसिक जीवनकी क्रीड़ाके द्वारा प्राण और शरीरमें व्यक्तिगत और सामूहिक रूपमें अपने-आपको विकसित करती है। यह महत्तर विचार इस बातको समझ लेगा कि मानवजीवनकी उन्नति केवल भौतिक कुशलतासे या उसकी उन प्राणिक और क्रियाशील शक्तियोंकी जटिल क्रीड़ा द्वारा नहीं साधित होगी जो जीवनकी सहजप्रवृत्तियोंकी संतुष्टिके लिये बुद्धिकी सहायतासे भौतिक 'प्रकृति'की शक्तियोंको वशमें कर लेती हैं जिसका अर्थ उसके जीवनकी वर्तमान प्रणालीको ही प्रबल रूप देना हो सकता है, बल्कि वह अपनी उन्नति तभी कर सकता है जब कि वह अपनी मानसिक और आंतरात्मिक सत्ताको महान् बना लेता है तथा एक ऐसी खोज कर लेता है जो उसकी विशाल और प्रच्छन्न प्रकृति और उसकी शक्तियोंको व्यवस्था प्रदान करती हो। यह विचार जीवनको ज्ञानके आनंद और बलके लिये, सौंदर्यके आनंद और बलके लिये और भौतिक ही नहीं, बल्कि प्राणिक और मानसिक 'प्रकृति'को भी वशमें करनेवाले मानव-संकल्पके आनंद और बलके लिये एक अवसर समझेगा। यह उसके उस रहस्यको जान सकेगा जिसका मन और प्राणकी शक्तियोंने स्वप्न भी न देखा हो, यह उसका प्रयोग मनुष्यको उसके बेड़ियोंमें जकड़े शारीरिक जीवनकी सीमाओंसे अधिक स्वतंत्र मुक्ति दिलानेमें भी कर सकता है। यह नये आंतरात्मिक संबंधोंको, अपने-आपको कर्ममें चरितार्थ करनेवाली विचारकी एक उच्चतर शक्तिको, दूरी और विभाजनकी बाधाओंको पार करनेके उन आंतरिक साधनोंको भी प्राप्त कर सकता है जिनके आगे भौतिक विज्ञानकी अंतिम चमत्कारपूर्ण सफलताएँ भी फीकी पड़ जायँगी। यह सत्य है कि इस प्रकारकी उन्नति सर्व-साधारणके स्वप्नोंसे काफी दूर है, परंतु इस संभावनाके कुछ धुँधले संकेत और पूर्व लक्षण अवश्य मिलते हैं और इसतक ले जानेवाले विचार बहुत-से लोगोंमें मौजूद भी हैं, ये लोग शायद इस बातमें मानवजातिके अज्ञात अग्रदूत हैं। यह असंभव नहीं है कि इस समयकी अव्यवस्थित प्रभातकालीन आवाजोंके पीछे एक इस प्रकारकी ज्योति जो अभी क्षितिजके नीचे ही चमक रही है अपने ऐश्वर्य और वैभवके समेत ऊपर उठनेकी प्रतीक्षामें हो।

यदि मनुष्यके जीवनसंबंधी विचार प्रयत्न और भावनाओंकी ऐसी प्रवृत्ति सामुदायिक मनको वशीभूत कर ले तो उसका परिणाम निश्चित ही मानवजीवनके समस्त क्षेत्रमें एक गंभीर क्रांति होगा। वह उसे प्रारंभसे ही एक नया रंग और वातावरण, एक उच्चतर भावना, अधिक विस्तृत

क्षेत्र, एक महत्तर उद्देश्य प्रदान करेगी। वह बड़ी सुगमतासे एक ऐसा विज्ञान विकसित कर सकती है जो भौतिक जगत्‌की शक्तियोंको सांयोगिक और यांत्रिक रूपमें नहीं, बल्कि वास्तविक रूपमें अपने अधीन कर लेगा; इतना ही नहीं वह शायद दूसरे जगतोंके द्वार भी खोल दे। वह कला और सौंदर्यके क्षेत्रमें भी ऐसी सफलता प्राप्त कर सकती है जो भूतकालकी महानताको अपेक्षाकृत बहुत छोटा बना दे, साथ ही वह संसारको कुरूप उपयोगितावादके उस आश्चर्यजनक कठोर शासनसे बचा लेगी जो अभी भी उसे दुःख दे रहा है। वह मानव-मनोंमें एक अधिक निकट और अधिक स्वतंत्र आदान-प्रदानका, वस्तुतः आशा की जा सकती है कि मानव-हृदयों और मानव-जीवनोंमें भी एक अधिक दयापूर्ण आदान-प्रदानका रास्ता खोल देगी। उसकी सफलताएँ यहीं समाप्त नहीं हो जायँगी, बल्कि वे उन अधिक महान् वस्तुओंकी ओर बढ़ सकती हैं जिनका वे केवल प्रारंभ ही होंगी। इस मानसिक और आंतरात्मिक अनुभववादके अपने संकट भी हैं,—ये उनसे कहीं अधिक भयावह हैं जो एक प्राणात्मवादी अनुभववादके साथ रहते हैं; कारण, इसकी कार्य-शक्तियाँ भी अधिक बड़ी होंगी, किंतु जो चीज इसके पास है वह प्राणात्मवादी अनुभववादके पास न तो है और न वह उसे आसानीसे प्राप्त ही कर सकता है। ये हैं—सूक्ष्मग्राही विवेककी संभावना, सुरक्षाके सबल साधन तथा एक शक्तिशाली मुक्तिदायक प्रकाश।

जड़प्रकृतिसे आत्माकी ओर यह कठिन आरोहण शायद मानव-विकासकी एक अनिवार्य अवस्था है। मानवजातिको आध्यात्मिक बनानेके पिछले प्रयत्नोंकी असफलताका एक प्रधान कारण यह था कि उन्होंने एकबारगी ही भौतिक मनुष्यको एक प्रकारके द्रुत चमत्कारके द्वारा आध्यात्मिक बनानेका प्रयास किया और यद्यपि ऐसा होना संभव है, तो भी यदि यह चमत्कार मनुष्यके आरोहणकी बीचकी अवस्थाओंको छोड़कर तथा इन बीचके स्तरोंको बिना पार एवं अधीन किये आगे बढ़ जाय तो यह स्थायी नहीं हो सकता। यह प्रयत्न कुछ व्यक्तियोंमें सफल हो सकता है,—भारतीय विचारके अनुसार यह उनमें सफल हो सकता है जिन्होंने पिछले जन्ममें अपनी तैयारी कर ली है,—किंतु सर्वसाधारणमें इसे सफलता प्राप्त नहीं होगी। जब यह कुछ लोगोंतक ही सीमित न रहकर आगे बढ़ता है तो आत्माका शक्तिशाली चमत्कार जैसे ढीला पड़ जाता है और तब नया धर्म जो आंतरिक शक्ति द्वारा रूपांतर लानेमें असमर्थ है यंत्रकी सहायतासे रक्षा करना चाहता है और अपने ही साधनोंकी यांत्रिक प्रवृत्तिमें ग्रस्त होकर मूल भावको खो देता है और तब फिर यह या तो जल्दी नष्ट हो जाता

है या फिर धीरे-धीरे विनाशको प्राप्त होता है। इसलिये भौतिक मनुष्यके साथ मुख्यतया या केवल उसके भौतिक मनके द्वारा व्यवहार करनेके समस्त प्राणिक, बौद्धिक, मानसिक और आध्यात्मिक प्रयत्नोंका यही हाल होता है। जिस मशीनरीका यह निर्माण करता है वह इसे अपने वशमें कर लेती है और तब यह स्वयं उसका दास और शिकार बन जाता है। हमारी जड़ प्रकृतिका जो कि स्वयं ही यांत्रिक है ऐसे समस्त प्रबल प्रयत्नोंसे बदला लेनेका यही ढंग है। वह इस बातकी प्रतीक्षा करती है कि जब वे उसके नियमोंको स्वीकार कर लेंगे तब वह उन्हें अपने वशमें कर लेगी। यदि मनुष्यजातिको आध्यात्मिक होना है, तो उसे पहले जनसाधारणमें भौतिक या प्राणिक मनुष्य न रहकर अंतरात्ममय और सच्चा मनोमय प्राणी बनना होगा। यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या इस प्रकारका सामूहिक विकास या रूपांतर संभव हो सकता है। यदि यह संभव नहीं है तो मनुष्यजातिका सामूहिक आध्यात्मीकरण केवल एक भ्रांति है।

इस दृष्टिकोणसे यह एक अति उत्तम बात है तथा एक महान् संभावनाका संकेत है कि सभ्यताका चक्र अपने पुराने तथा वर्तमान मोड़पर, ऊपरकी ओर, गति कर रहा है। वह एक ठोस भौतिक ज्ञानसे आरंभ करके उन उच्च-से-उच्च शक्तियोंकी क्रमशः थाह ले रहा है जो जड़ पदार्थ और 'आत्मा'के बीचमें कार्य करती है। आधुनिक समयमें मानव-बुद्धि सबसे पहले इस बातकी ओर प्रेरित हुई है कि वह जीवन और संसारके साथ अत्यधिक संबंध रखकर भौतिकवादकी संभावनाओंको समाप्त कर दे। इस संबंधका आधार यह था कि 'जड़ पदार्थ' ही अकेली सद्वस्तु है, वही सनातन है, वही ब्रह्म है, 'अन्नं ब्रह्म'। इसके बाद उसने इस विचारकी ओर मुड़ना आरंभ किया कि जीवन महान् विकसनशील 'प्राण'का एक बृहत् स्पंदन है, यह प्राण 'जड़ पदार्थ'का स्रष्टा है जो उसे इस आधारपर हमारे जीवनके साथ संबंध रखनेके योग्य बना देता है कि प्राण ही मूल सद्वस्तु है, प्राण ही महान् सनातन तत्त्व है, 'प्राणं ब्रह्म'। उसके अंदर पहलेसे ही बीज-रूपमें, प्रारंभिक तैयारीकी अवस्थामें, एक तीसरा विचार भी विद्यमान है; यह एक महान् स्व-अभिव्यक्ति और स्व-उपलब्धि करनेवाला आंतरिक 'मन' है जो हमारे ऊपरी मनसे भिन्न है और सत्ताकी एक प्रधान शक्ति है। इसे इस आधारपर हमारी जीवनसंबंधी संभावनाओं तथा प्रणालियोंके साथ संबंध रखनेका प्रचुर प्रयत्न शुरू करना होगा कि 'मन' मूल सद्वस्तु है, महान् सनातन तत्त्व है, 'मनो ब्रह्म'। यदि ये विचार शीघ्र ही एकके बाद एक आयें तथा प्रत्येक स्तरकी संभावनाएँ व्यापक रूपमें शीघ्रताके

साथ प्रकट हों तो यह एक महती आशाका चिह्न होगा। इसका अर्थ यही होगा कि हमारी अवचेतन 'प्रकृति'में तैयारी पूरी हो गयी है और हमें एक ही अवस्थामें सदियोंतक पड़े रहनेकी आवश्यकता नहीं है।

किंतु फिर भी मानवजातिका अनुभववादी युग एक ऐसा साहसपूर्ण कार्य है जो जातिके समस्त महान् कार्योंके समान ही संकटों और अनिश्चितताओंसे भरा हुआ है। यह अपने-आपको चरितार्थ करनेसे पहले काफी भटक सकता है, अथवा यह भी संभव है कि यह चरितार्थ न भी हो और विकासके पुराने चक्रकी पुनरावृत्ति करने लगे।

सच्चा रहस्य तभी प्राप्त हो सकता है यदि तीसरी अवस्थामें अर्थात् मानसिक अनुभववादके युगमें यह विचार प्रवल हो जाय कि मन केवल 'आत्मा'के कार्यकी एक गौण शक्ति है और आत्मा ही महान् सनातन और मूल तत्त्व है और यह मानते हुए भी कि यह कई अवस्थाओंमें अभिव्यक्त तथा आवृत होती है, वह 'एक' ही सद्वस्तु है, 'अयम् आत्मा ब्रह्म'। केवल तभी सच्चा और निश्चयात्मक प्रयत्न आरंभ होगा तथा आत्माकी स्व-उपलब्धि और स्व-अभिव्यक्तिके रूपमें जीवन और जगत्का सव ओरसे अध्ययन किया जायगा, और उसके विपयमें ज्ञान प्राप्त करके उसके साथ संबंध रखा जा सकेगा। केवल तभी मानवजातिका आध्यात्मिक युग संभव होगा। इसके अर्थके विपयमें पर्याप्त विवाद करनेका प्रयत्न करनेके लिये—और अपर्याप्त विवादका कोई फल नहीं—दो-एक और लेख-मालाओंकी आवश्यकता पड़ेगी। कारण, हमें एक ऐसी विद्याका परीक्षण करना होगा जो विरल है तथा कहीं भी प्रारंभिक अवस्थासे आगे नहीं वढ़ी है। यह कहना काफी है कि एक आध्यात्मिक मानव-समाज जीवनसंवंधी तीन आवश्यक सत्योंसे आरंभ करके उन्हें चरितार्थ करनेका प्रयत्न करेगा, इन सत्योंको इनके विरोधी तथ्यों द्वारा आवृत करना ही समस्त प्रकृतिका प्रयत्न होता है और इसलिये ये अभी तक समूची मानवजातिके लिये शब्द और स्वप्नमात्र हैं। ये सत्य हैं भगवान्, स्वतंत्रता और एकता। ये तीनों चीजें जो एक ही हैं,—क्योंकि तुम जवतक भगवान्को नहीं पा लेते, तवतक स्वतंत्रता और एकता भी नहीं पा सकते, तुम जवतक भगवान्को अधिगत नहीं कर लेते, तवतक स्वतंत्रता और एकताको भी अधिगत नहीं कर सकते—एक साथ ही तुम्हारी उच्चतम सत्ता तथा समस्त प्राणियोंकी सत्ताको अपने अंदर धारण करती हैं। स्वतंत्रता और एकता, जिनका वैसे नाम यही है, केवल हमारी अधीनता और हमारे विभाजनके प्रयत्न हैं जिन्हें वे आँखें वंद करके, अपने केंद्रके चारों ओर कलावाजियाँ खाते हुए, अपनेसे छुटकारा

पानेके लिये करते हैं। जब मनुष्य भगवान्‌को देखने और उसे प्राप्त करनेमें समर्थ हो जायगा तभी वह वास्तविक स्वतंत्रताको जानेगा तथा वास्तविक एकताको प्राप्त करेगा, अन्यथा कभी नहीं। और भगवान् तो इस बातकी प्रतीक्षामें है कि कोई उसका ज्ञान प्राप्त करे, जब कि मनुष्य उसे सर्वत्र खोजता हुआ तथा उसकी मूर्तियाँ बनाता हुआ भी असलमें केवल अपने मन और प्राण-रूपी अहंकी मूर्तियाँ खोजता है, प्रभावशाली रूपमें उनकी स्थापना और पूजा करता है। जब इस अहं-रूपी धुरीको त्याग दिया जाता है और इस अहंका पीछा करना छोड़ दिया जाता है तभी मनुष्यको अपने आंतरिक और बाह्य जीवनमें आध्यात्मिकता प्राप्त करनेका पहला और वास्तविक अवसर मिलता है। यह काफी तो नहीं है, पर यह एक आरंभ अवश्य है; यह एक सच्चा द्वार होगा, अंधकारपूर्ण मार्ग नहीं।

एक आध्यात्मीकृत समाज, ठीक अपने आध्यात्मिक व्यक्तियोंके समान ही, अहंमें नहीं बल्कि आत्मामें निवास करेगा, एक सामूहिक अहंके रूपमें नहीं, बल्कि सामूहिक आत्माके रूपमें अस्तित्व रखेगा। अहंभावपूर्ण दृष्टिकोणसे यह मुक्ति इसकी पहली और प्रमुखतम विशेषता होगी। किन्तु अहंको दूर करनेके लिये व्यक्तिको अपनी इच्छाशक्ति तथा अभीप्साका, अपने बहुमूल्य और कठिनाईसे प्राप्त व्यक्तित्वका समाजके सामूहिक संकल्प, उद्देश्यों और अहंभावपर उत्सर्ग करनेके लिये उकसाना या विवश करना—जैसा कि आजकल माना जाता है—उपयुक्त साधन नहीं हैं, यह तो ऐसा हुआ मानो उसे पूर्वकालीन यज्ञके बलि-पशुकी भाँति विशाल आकृतिहीन मूर्तिकी वेदीपर उसकी आत्माका वध करनेके लिये ले जाया जा रहा हो। कारण, इसका अर्थ केवल छोटे अहंका बड़े अहंके लिये बलिदानमात्र होगा—बड़ा वह केवल डील-डौलमें ही होगा; यह आवश्यक नहीं कि वह गुणोंमें बड़ा हो या अधिक विस्तृत अथवा अधिक श्रेष्ठ हो,—क्योंकि सामूहिक अहंभावकी भी जो सबके संयुक्त अहंभावोंका एक परिणाम है उतनी ही कम पूजा होनी चाहिये जितनी कि व्यक्तिके अहंभावकी, वह भी व्यक्तिगत अहंभावके समान ही दोषपूर्ण होता है, बल्कि प्रायः उससे भी अधिक कुरूप, बर्बर एवं पशुवत् होता है। उधर आध्यात्मिक मनुष्यकी खोज, अहंका त्याग करके, उस सत्ताको प्राप्त करनेके लिये है जो सबमें एक है तथा प्रत्येकमें पूर्ण और सर्वांगीण है और उसीमें निवास करते हुए उसे उसकी पूर्णतामें विकसित होना है, पर इस बातको ध्यानमें रखना चाहिये कि व्यक्तिगत रूपमें ही वह ऐसा कर सकता है, यद्यपि उसे अपनी प्रकृतिकी सर्वतोमुखी व्यापकता तथा उसकी चेतन परिधिके द्वारा विकसित होना

होगा। प्राचीन भारतीय ग्रंथोंमें यह कहा गया है कि द्वापर युग अर्थात् शक्तिके युगमें विष्णु राजाके रूपमें अवतरित होते हैं और त्रेता युग अर्थात् संतुलनके युगमें वे व्यवस्थापक या संविधायकके रूपमें प्रकट होते हैं, पर सत्य युगमें 'यज्ञ' अर्थात् प्राणियोंके हृदयोंमें प्रकट कर्मोंके स्वामीके रूपमें अवतरित होते हैं। सत्ययुग या आध्यात्मिक युगमें समाजकी अवस्था इसी अंतरस्थित भगवान्के राज्यकी, जो सुदूर स्वर्गमें नहीं, वल्कि अपने अंदर ही भगवान्को प्राप्त करनेका परिणाम है, परिणति और वाह्य आकृति होगी।

अतएव, एक ऐसा समाज जो चाहे प्रारंभिक रूपसे आध्यात्मिक वन चुका हो मनुष्यके अंदर स्थित दिव्य 'सत्ता'की अभिव्यक्ति और प्राप्तिको ही अपने समस्त क्रिया-कलापका, अपनी शिक्षा, विद्या और अपने विज्ञानका, नैतिक शास्त्र, कला तथा अपने आर्थिक और राजनीतिक ढाँचेका संपूर्ण एवं प्रधान लक्ष्य वना देगा। जो कुछ प्राचीन वैदिक युगमें किसी हदतक उच्च जातियोंकी सांस्कृतिक शिक्षाके साथ हुआ था, वही तव समस्त शिक्षाके साथ होगा। वह अपने क्षेत्रमें समस्त ज्ञानको अपने अंदर समेट लेगी, किंतु उसकी समस्त प्रवृत्ति, उद्देश्य तथा व्यापक भावना केवल सांसारिक कुशलताकी ही नहीं होगी, वल्कि आत्म-विकास और आत्म-उपलब्धिकी भी होगी। वह समाज भौतिक और आंतरात्मिक विज्ञानका अध्ययन इसलिये नहीं करेगा कि वह केवल संसार और प्रकृतिको उनकी क्रियाओंमें जान ले तथा स्थूल मानव-उद्देश्योंके लिये उनका प्रयोग करे, अपितु इसलिये भी कि वे संसारमें समस्त वस्तुओंके वीचमें, उनके अंदर, नीचे और ऊपरसे भी भगवान्को तथा 'आत्मा'के तरीकोंको उसके आवरणोंमें तथा उनके पीछेसे भी पहचान ले। नैतिक शास्त्रसंवंधी उसका उद्देश्य कर्मका नियम स्थापित करना नहीं, वल्कि मनुष्यमें दिव्य प्रकृतिको विकसित करना होगा। यह नियम सामाजिक नियमके साथ योग भी दे सकता है और आंशिक रूपमें उसमें सुधार भी ला सकता है। परंतु यह सामाजिक नियम भी केवल द्विपाद् प्राणियों अर्थात् मानव-यूथका प्रायः ही एक अधूरा और अज्ञानपूर्ण नियम होता है। कलासंवंधी उसका उद्देश्य आंतर और वाह्य जगत्की प्रतिमूर्तियोंको ही उपस्थित करना नहीं होगा, वरन् वह उन्हें एक ऐसी अर्थपूर्ण और निर्माणकारी अंतर्दृष्टिसे देखेगा जो उनके वाह्य रूपोंके मूलतक जाती है, वह उस 'सौंदर्य' और 'सत्य'को प्रकट करेगा जिसके अन्य दृश्य और अदृश्य वस्तुएँ केवल रूप, आवरण अथवा प्रतीक और अर्थपूर्ण आकार हैं।

एक आध्यात्मीकृत समाज अपने समाजशास्त्रमें व्यक्तिको, संतसे लेकर अपराधी तकको, सामाजिक समस्याकी कुछ ऐसी इकाइयोंके रूपमें नहीं लेगा जिन्हें किसी सुनिश्चित मशीनरीमेंसे गुजारकर और ठोक-पीटकर सामाजिक साँचेमें ढाल लेना है या जिनपर दबाव डालकर इच्छानुसार गढ़ लेना है, वरन् वह उन्हें ऐसी आत्माएँ समझेगा जो एक जालमें फँसी दुःख उठा रही हैं और जिन्हें उसे मुक्त करना है, ऐसी आत्माएँ जो विकसित हो रही हैं और जिन्हें विकसित होनेके लिये उत्साहित करना है अथवा ऐसी आत्माएँ जो विकसित हो चुकी हैं और जिनसे वे निम्न आत्माएँ जो अभी परिपक्व अवस्थाको नहीं पहुँची हैं सहायता एवं शक्ति ग्रहण कर सकती हैं। उसके अर्थशास्त्रका उद्देश्य उत्पादनकी एक विशाल मशीन का निर्माण करना नहीं होगा, फिर चाहे वह प्रतियोगीय ढंगकी हो चाहे सहकारी ढंगकी, बल्कि उसका उद्देश्य मनुष्योंको, कुछको ही नहीं, वरन् सबको, प्रत्येकको, उसके उच्चतम संभव परिमाणके अनुसार, उनकी अपनी प्रकृतिके अनुसार कार्यका आनंद एवं आंतरिक विकासके लिये स्वतंत्र अवकाश प्रदान करना होगा, साथ ही उसका उद्देश्य सबके लिये एक सरल ढंगके समृद्ध और सुंदर जीवनकी व्यवस्था करना भी होगा। अपनी राजनीतिमें वह राष्ट्रोंको, उनके अपने आंतरिक जीवनके क्षेत्रमें, व्यवस्थित और सुसज्जित विशाल 'राज्य-मशीनें' नहीं समझेगा, जब कि मनुष्य केवल मशीनकी खातिर ही जीवन धारण कर रहा हो तथा उसे ही अपने भगवान् और अपनी विशालतर सत्ताके रूपमें पूजता हो, अथवा पहली पुकारपर ही उसकी वेदीपर दूसरोंका वध करने तथा साथ ही अपना भी रक्त बहानेमें संतोष मानता हो, जिससे कि मशीन दुरुस्त और शक्तिशाली बनी रहे तथा अधिकाधिक विशाल, जटिल, भारी और यांत्रिक रूपसे कुशल और पूर्ण बनती जाय। न ऐसा समाज इन राष्ट्रों या राज्योंको अपने पारस्परिक संबंधोंमें ऐसे दुःखदायी इंजिन ही बनाये रखनेसे संतुष्ट होगा जिनका काम शांतिके समय एक-दूसरेपर विषैली गैस छोड़ना और संघर्षके समय एक-दूसरेकी सशस्त्र फौजों तथा निहत्थे लोगोंपर धावा बोलना हो तथा जिनमेंसे गोलियोंकी बौछार होती हो और जिनमें मनुष्योंको आधुनिक युद्धक्षेत्रमें विपक्षियोंके टैंकोंकी भाँति संहार करनेका काम सौंपा गया हो। वह मनुष्योंको सामूहिक आत्माएँ अर्थात् ऐसा दिव्य तत्त्व समझेगा जो छिपा हुआ है और जिसे अपनी मानव-समष्टियोंमें खोजा जाना है, ऐसी सामूहिक आत्माएँ जिन्हें व्यक्तिके समान ही अपनी प्रकृतिके अनुसार विकसित होना है तथा उस विकासके द्वारा उसे एक-दूसरेकी, बल्कि मानवजातिके एक

ही सहकार्यमें समस्त जातिकी सहायता करनी है। और यह कार्य व्यक्ति और समुदायमें दिव्य सत्ताको प्राप्त करना तथा आध्यात्मिक, मानसिक, प्राणिक और भौतिक रूपमें उसकी अत्यधिक महान्, विशाल, समृद्ध और गहन संभावनाओंको सबके आंतरिक जीवनमें तथा उनके बाह्य कार्य और प्रकृतिमें चरितार्थ करना होगा।

कारण, प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक जातिके अंदर स्थित भगवान्‌में ही मनुष्य और राष्ट्रको विकसित होना है न कि कोई बाह्य विचार या नियम उनपर बाहरसे लादा जाना है। इसलिये मनुष्यजातिके आध्यात्मिक युगमें एक विकसनशील आंतरिक स्वतंत्रताके नियमका ही सबसे अधिक आदर होगा। यह तो सच है कि जबतक मनुष्य आत्मज्ञानके काफी निकट नहीं पहुँच जाता और उसकी ओर अभिमुख नहीं हो जाता, वह बाह्य दबावके नियमसे नहीं छूट सकता और यदि वह ऐसा करनेका प्रयत्न करेगा भी तो वह व्यर्थ जायगा। और जबतक ऐसा चलता है वह दूसरोंका, अपने कुटुंबका, अपनी जातिका, अपने कुल, धर्म, समाज और राष्ट्रका दास रहता है और उसे सदा ऐसा रहना ही पड़ेगा। इसके सिवाय वह कुछ और कर भी नहीं सकता और वे भी अपना स्थूल और यांत्रिक दबाव उसपर डाले बिना नहीं रह सकते, क्योंकि 'वह' और 'वे' अपने-अपने अहं-भावोंके, अपनी निम्न प्रकृतिके दास हैं। यदि हम बाह्य दबावसे बचनेके लिये अपना आंतरिक अधिकार स्थापित करना चाहते हैं तो हमें 'आत्मा'का दबाव अनुभव करना चाहिये तथा उसीकी आज्ञामें रहना चाहिये। हमें अपनी निम्न प्रकृतिको अपने अंदर स्थित दिव्य सत्ताका स्वेच्छा-प्रेरित दास, उसका चेतन और आलोकित यंत्र, अथवा श्रेष्ठताको प्राप्त, पर फिर भी उसका स्वेच्छापूर्वक अधीन अंग, उसका सहचारी अथवा सहभागी बना देना चाहिये, क्योंकि यही अधीनता हमारी स्वतंत्रताकी शर्त है; कारण, आध्यात्मिक स्वतंत्रता हमारे पृथक मन और जीवनकी अहंकारमयी पुष्टिमें नहीं, बल्कि हमारे अंगोंमें तथा हमारे चारों ओरके मनुष्योंमें स्थित दिव्य सत्यके अधीन रहनेमें है। किन्तु तब भी हमें यह कहना होगा कि भगवान् हमारी सत्ताके प्राकृतिक अंगोंकी स्वतंत्रताका आदर करते हैं और उन्हें उनको अपनी प्रकृतिके अनुसार विकसित होनेके लिये अवसर प्रदान करते हैं जिससे कि वे स्व-विनाशसे नहीं, बल्कि स्वाभाविक विकासके द्वारा अपने अंदर भगवान्‌को प्राप्त कर लें। जिस अधीनताको वे अंतमें स्वीकार करेंगे और जो पूर्ण और सर्वांगीण होगी, उनके अपने ज्योति और शक्तिके स्रोत तथा अपनी उच्चतम सत्ताकी स्वीकृति

और अभीप्साके प्रति स्वेच्छापूर्वक की गयी अधीनता होना चाहिये। इसी कारण असंस्कृत अवस्थामें भी हमें यह पता लगता है कि अत्यधिक स्वस्थ, सच्चा और सजीव विकास और कर्म वह है जो यथासंभव विशालतम स्वतंत्रतामें प्रकट होता है और समस्त अत्यधिक दबाव या तो क्रमिक क्षयका विधान होता है या अत्याचारका, जिनमें उन्मत्त अव्यवस्थाके फूट पड़नेसे कुछ परिवर्तन या सुधार होता रहता है। ज्योंही मनुष्य अपनी आध्यत्मिक सत्ताको पहचान लेता है, वह इस खोजके द्वारा, यहाँतक कि प्राय: इसकी जिज्ञासामात्रसे भी, जैसा कि प्राचीन विचार और धर्मने समझ लिया था, बाह्य विधानसे छूट जाता है और स्वतंत्रताके विधानमें प्रवेश पा लेता है।

मनुष्यजातिका आध्यात्मिक युग इस सत्यको अनुभव कर लेगा। वह मनुष्यको मशीन द्वारा पूर्ण बनानेका या उसके हाथ-पैर बाँधकर उसे सीधा रखनेका प्रयत्न नहीं करेगा। वह समाजके सदस्यके आगे उसकी उच्चतम सत्ताको एक सिपाही, नियुक्त और अनियुक्त कर्मचारीके रूपमें या, यह भी कहा जा सकता है, एक समाजवादी नौकरशाही अथवा एक श्रमिक सोवियतके रूपमें उपस्थित नहीं करेगा। उसका उद्देश्य मानवजीवनमें बाह्य दबावको, जितना जल्दी हो सके और जिस हदतक हो सके, कम कर देना होगा और ऐसा वह अंत:स्थित आत्माके आंतरिक दिव्य दबावको जागृत करके करेगा; जो भी प्राथमिक साधन वह काममें लायगा उन सबका उद्देश्य भी यही होगा। और अंतमें वह, यदि अनन्य रूपमें नहीं तो मुख्य रूपमें, उस आध्यात्मिक दबावका प्रयोग करेगा जो एक आध्यात्मिक व्यक्ति भी अपने आस-पासके लोगोंपर प्रयुक्त कर सकता है,—और एक आध्यात्मिक समाज तो इससे भी बहुत अधिक कर सकता है,—यह दबाव हमारे समस्त आंतरिक विरोध और बाह्य अस्वीकृतिके होते हुए भी हमारे अंदर 'प्रकाश'के दबावको तथा मनुष्यकी अपनी प्रकृतिसे दिव्य सत्तामें विकसित होनेकी इच्छा और शक्तिको जगा देता है। कारण एक पूर्णतया आध्यात्मिक समाज वह होगा जिसमें, जैसा कि एक आध्यात्मिक अराजकतावादी स्वप्न देखता है, सब मनुष्य गहरे रूपमें स्वतंत्र होंगे और ऐसा इसलिये होगा, क्योंकि प्राथमिक शर्तें पूरी हो चुकी होंगी। उस अवस्थामें प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने लिये 'एक' विधान नहीं, बल्कि विशेष विधान अर्थात् दिव्य विधान होगा। कारण, वह भगवान्‌में निवास करनेवाली एक आत्मा होगा, एक ऐसा अहंभाव नहीं जो यदि पूर्णतया नहीं तो प्रधानतया अपने हित और स्वार्थके लिये जीवित रहता है। उसका जीवन उसकी अपनी दिव्य अहंमुक्त प्रकृतिके नियमसे संचालित होगा।

आध्यात्मीकृत समाजका अर्थ यह भी नहीं होगा कि समस्त मानव-समुदाय व्यक्तियोंके पृथक्-पृथक् कर्ममें खंडित हो जाय; कारण, 'आत्मा'का तीसरा सूत्र एकता है। आध्यात्मिक जीवन एक विशिष्टताहीन एकत्वका नहीं, बल्कि एक चेतन और विविधतासे पूर्ण एकत्वका विकास है। प्रत्येक मनुष्यको अपने अंदरसे ही, अपनी वैयक्तिक सत्ताके द्वारा, भगवान्में विकसित होना होगा। इसलिये एक प्रकारकी विकसनशील स्वतंत्रता प्राणीके लिये, उसके विकासमें एक आवश्यक वस्तु है और पूर्ण स्वतंत्रता पूर्ण जीवनका चिह्न और उसकी शर्त है। किंतु साथ ही यह भी है कि जिन भगवान्को वह इस प्रकार अपने अंदर देखता है उन्हींको वह समान रूपमें अन्य सबमें और सबके अंदर रहनेवाली एक ही 'आत्मा'के रूपमें भी देखता है। अतएव, दूसरोंके साथ एक विकसनशील आंतरिक एकता उसकी सत्ताकी एक आवश्यकता है और पूर्ण एकता उसके पूर्ण जीवनका चिह्न और उसकी शर्त है। भगवान्को केवल अपने अंदर ही देखना या प्राप्त करना नहीं, बल्कि उन्हें सबके अंदर देखना और प्राप्त करना, अपनी ही वैयक्तिक मुक्ति या पूर्णताकी खोज करना नहीं, बल्कि दूसरोंकी भी मुक्ति और पूर्णताको खोजना आध्यात्मिक सत्ताका सर्वांगीण नियम है। जिस दिव्य सत्ताको मनुष्य ढूँढ़ रहा है वह यदि एकमेव भगवान् नहीं, बल्कि उसके अपने अंदरका कोई पृथक् देवता होता या यदि मनुष्य केवल अपने लिये ही भगवान्की खोज करता, तब सचमुच ही परिणाम एक विशालकाय अहंभाव या गेटेका ओलिम्पियन अहंभाव या नीत्से द्वारा कल्पित आसुरिक अहंभाव होता, या फिर वह लौह दुर्ग अथवा स्टाइलाइट्स (Stylites) स्तंभका अपना अलग आत्मज्ञान अथवा कठोर तपस्या भी हो सकता था। किंतु जो मनुष्य सबमें भगवान्के दर्शन करता है वह प्रेममयी सेवाके द्वारा सबमें भगवान्की उपासना करेगा। दूसरे शब्दोंमें, वह केवल अपनी स्वतंत्रता ही नहीं, वरन् सबकी स्वतंत्रता, केवल अपनी पूर्णता ही नहीं, वरन् सबकी पूर्णता प्राप्त करना चाहेगा। वह विशालतम विश्वमयताके सिवाय और किसीमें अपने व्यक्तित्वको पूर्ण अनुभव नहीं करेगा, न वह वैश्व जीवनके साथ एक हुए बिना अपने जीवनको पूर्ण ही समझेगा। वह न तो अपने लिये और न राज्य और समाजके लिये और न वैयक्तिक या सामूहिक अहंभावके लिये ही जीवन धारण करेगा; उसका जीवन एक महत्तर वस्तुके लिये, उसके अंदर स्थित भगवान्के लिये और विश्व-स्थित दिव्य सत्ताके लिये होगा।

आध्यात्मिक युग अपने आगमनकी तैयारी तभी करेगा जब कि मनुष्यका

सामान्य मन इन सत्योंके प्रति सचेतन होना, तथा इस त्रिविध अथवा त्रिक-रूप 'आत्मा'के द्वारा प्रेरित होना या प्रेरित होनेकी इच्छा करना आरंभ कर देगा। इसका अर्थ यह होगा कि जिस सामाजिक विकासक्रमके बारेमें हम अबतक विचार करते आये हैं, वह अपनी अपूर्ण पुनरावृत्तियोंमेंसे निकलकर एक नयी ऊर्ध्वमुखी दिशामें अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ने लगेगा। हमारे अनुमानके अनुसार वह विकासक्रम एक प्रतीकात्मक युगसे आरंभ होकर—एक ऐसे युगसे जिसमें मनुष्यने समस्त जीवनके पीछे एक ऐसी महान् सद्वस्तुको अनुभव किया था जिसकी खोज उसने प्रतीकों द्वारा की थी—एक ऐसे युगतक पहुँचेगा जिसमें वह उस सद्वस्तुमें ही निवास करना शुरू कर देगा। ऐसा वह प्रतीकके द्वारा या किसी प्रतिमूर्त्ति, परंपरा या वैयक्तिक बुद्धि और बौद्धिक संकल्पकी शक्तिसे नहीं करेगा, परंतु हमारी उस उच्चतम प्रकृतिके द्वारा करेगा जो पार्थिव अस्तित्वकी अवस्थाओंमें चरितार्थ हुई सद्वस्तुकी प्रकृति होगी—ये अवस्थाएँ आवश्यक रूपसे वही नहीं होंगी जो आजकल हैं। यही वह वस्तु है जिसे धर्मोंने थोड़े बहुत पर्याप्त अंतर्ज्ञानसे देख लिया है, पर प्रायः ही वे मानो शीशेमें धुँधले रूपसे देखते हैं, वे उसे पृथ्वीपर भगवान्का राज्य कहते हैं,—आंतरिक रूपसे उनका राज्य मनुष्योंकी आत्मामें होता है और क्योंकि बाह्य राज्य आंतरिक राज्यकी सफलताका भौतिक परिणाम है, बाहर उनका राज्य मनुष्योंके जीवनमें होता है।
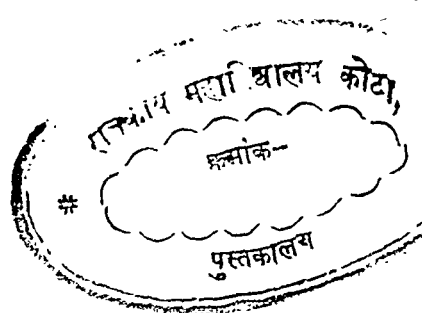
चौबीसवाँ अध्याय

आध्यात्मिक युगका उदय और विस्तार

यदि आध्यात्मिक युगको जो कि सामाजिक विकासक्रमका अंतिम खंड है एक आध्यात्मिक समाजमें अपनी अभिव्यक्ति और सफलता प्राप्त करनी है तथा एक उच्चतर विकसनशील स्तरपर मनुष्यजातिका विकास साधित करना है तो इतना ही काफी नहीं है कि मानवजीवनकी इस प्रवृत्तिके कुछ सहायक विचार जातिके सामान्य मनपर अपना अधिकार जमा लें या उसके चिंतन, कला-कौशल, नीतिशास्त्र, राजनीतिक आदर्श और सामाजिक प्रयाससंबंधी सामान्य उद्देश्योंमें प्रविष्ट हो जायँ, या फिर सोचने और अनुभव करनेके उसके आंतरिक तरीकेमें अपना अच्छा स्थान बना लें। यह काफी नहीं है कि पृथ्वीपर भगवान्के राज्यका विचार अर्थात् आध्यात्मिकता, स्वतंत्रता और एकताके राज्यका, एक सच्ची आंतरिक समानता और समन्वयके राज्यका विचार—केवल एक बाह्य और यांत्रिक समीकरण और साहचर्यका नहीं—निश्चित रूपमें जीवनका आदर्श बन जाय। यह भी काफी नहीं है कि इस आदर्शको क्रियात्मक रूपमें संभव, वांछनीय तथा खोज और प्रयत्नके योग्य माना जाय; यह भी पर्याप्त नहीं कि यह विचार मानव-मनके एक प्रधान धंधेके रूपमें हमारे सामने आये। यह स्पष्ट है कि यह आगेकी ओर एक बड़ा भारी पग, एक बहुत ही बड़ा पग होगा, विशेषतया जब कि हम यह जानते हैं कि आजकल मनुष्यजातिके क्या आदर्श हैं। यह एक आवश्यक आरंभ होगा तथा उच्चतर आदर्शमें मानव-समाजके नवीन पुनर्जन्मके लिये अनिवार्य मानसिक वातावरण होगा। किंतु अपने-आप यह मानवजीवन और उसकी संस्थाओंमें अभिव्यक्त आत्माका अंश लानेका केवल एक अधूरा प्रयत्न ही कर सकता है, या फिर यह प्रयत्न यदि सशक्त हुआ भी तो इसे केवल आंशिक और अस्थायी सफलता ही प्राप्त हो सकती है। भूतकालमें मानवजाति इस दिशामें अभी इतना ही करनेका प्रयत्न कर चुकी है। वस्तुतः इतना थोड़ा भी उसने,—किसी धार्मिक संप्रदाय या किसी विशिष्ट समाजके क्षेत्रको छोड़कर—पूर्ण रूपसे करनेका प्रयत्न नहीं किया, और वहाँ भी उसमें इतने गंभीर दोष और त्रुटियाँ रह गयी थीं कि प्रयोग निष्फल रहा तथा उसका

मानवजीवनपर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। यदि हम आदर्शकी स्वीकृतिमात्रसे तथा मनुष्यजीवनपर उसके सामान्य प्रभावसे आगे न बढ़ें तो भविष्यमें भी मनुष्यजाति केवल इतना थोड़ा-सा ही कर सकेगी। वस्तुतः आवश्यकता अधिक की है; मनुष्यजातिके अंदर एक सामान्य आध्यात्मिक जागृति एवं अभीप्साका होना निःसंदेह एक महान् आवश्यक प्रेरकशक्ति है, किंतु कार्यकारिणी शक्तिको और भी अधिक बड़ा होना चाहिये। मानव-व्यष्टिका आध्यात्मिक रूपमें सक्रिय नवनिर्माण अवश्य होना चाहिये।

कारण, मनुष्यजाति आदर्शके साथ एक ऐसे ढंगसे व्यवहार करती है जो उसे अभीप्साका विषय मानकर ही संतुष्ट रहता है; यह अभीप्सा भी अधिकतर एक अभीप्सा ही बनी रहती है और इसे एक आंशिक प्रभावके रूपमें ही स्वीकार किया जाता है। आदर्शको समस्त जीवनको गढ़नेकी अनुमति नहीं मिलती, वरन् वह केवल उसे थोड़ा बहुत रंजित ही करता है। प्रायः तो वह उन वस्तुओंको जो उसकी वास्तविक भावनाके नितांत विरुद्ध हैं छुपानेके लिये एक आवरण और बहानेका काम करता है। संस्थाओंका निर्माण होता है जिनसे यह आशा की जाती है—यद्यपि यह आशा बड़ी हलकी होती है—कि वे उस भावनाको मूर्तिमान करेंगी और यह तथ्य कि आदर्श सामने है और मनुष्य उसकी संस्थाओंमें निवास कर रहे हैं पर्याप्त समझा जाता है। आदर्शको मानना आदर्शके अनुसार चलनेका एक बहाना-सा बन जाता है। उसकी संस्थाओंका अस्तित्व उनका निर्माण करनेवाली भावनापर बल देनेकी आवश्यकताका खंडन करनेके लिये पर्याप्त होता है। किंतु आध्यात्मिकता अपने मूल स्वभावमें एक आंतरिक वस्तु है, यांत्रिक नहीं; यदि वह आंतरिक रूपसे जीवनमें चरितार्थ नहीं की जाती और बाह्य जीवन इस आंतरिक अस्तित्वसे नहीं प्रवाहित होता तो इसका कोई महत्त्व नहीं है। प्रतीक, प्रतिरूप, परंपराएँ तथा विचार पर्याप्त नहीं हैं। आध्यात्मिक प्रतीक केवल एक अर्थहीन प्रवेशपत्र ही रहता है जबतक कि वह वस्तु जिसका वह प्रतीक है अपनी भावनामें चरितार्थ न हो जाय। एक आध्यात्मिक परंपरा अपनी भावनाको खो सकती है या उसका बहिष्कार करके एक असत्यका रूप धारण कर सकती है। एक आध्यात्मिक प्रतिरूप भी एक ऐसा अस्थायी साँचा हो सकता है जिसमें आध्यात्मिक जीवन प्रवाहित हो सके किंतु वह भी एक बंधन है और एक ऐसा कारागृह बन सकता है जिसमें वह जड़ बनकर नष्ट हो जाता है। आध्यात्मिक विचार भी एक शक्ति अवश्य है किंतु

तभी, जब वह आंतरिक और बाह्य दोनों रूपोंमें सृजनकारी हो। यहाँ हमें इस व्यवहारवादी सिद्धांतको एक विस्तृत और गहन रूप देना होगा कि सत्य वह है जिसका हम सृजन करते हैं और इस अर्थमें सबसे पहले सत्य वह है जिसे हम अपने अंदर गढ़ते हैं, दूसरे शब्दोंमें, जो हम स्वयं बनते हैं। निःसंदेह, आध्यात्मिक सत्य सदा ही ऊपर, स्वतंत्र रूपमें, आत्माके स्वर्गोंमें रहता है, किंतु यहाँ मनुष्यजातिको इसका कोई लाभ नहीं पहुँचता, यह तबतक पृथ्वीका सत्य अर्थात् जीवनका सत्य नहीं बनता जबतक कि इसके अनुसार चला ही न जाय। दिव्य पूर्णता हमसे ऊपर सदा ही उपस्थित रहती है, किंतु मनुष्यके लिये अपनी चेतना और कर्ममें दिव्य बनना तथा आंतरिक और बाह्य रूपमें दिव्य जीवनको चरितार्थ करना ही आध्यात्मिकताका ठीक अर्थ है; इस शब्दके जो हीनतर अर्थ किये जाते हैं वे सब अपर्याप्त अनुमान और ढोंगमात्र होंगे।

जैसा कि अनुभववादी धर्म भी मानते हैं, यह कार्य प्रत्येक मानव-जीवनमें केवल व्यक्तिगत परिवर्तनके द्वारा ही संपन्न हो सकता है। समष्टिगत आत्मा तो केवल वैयक्तिक जीवनके एक महान् अर्ध-अवचेतन स्रोतके रूपमें ही अपना अस्तित्व रखती है। यदि इसे एक निश्चित मनोवैज्ञानिक रूप ग्रहण करना है अथवा एक नये प्रकारका सामूहिक जीवन अपनाना है तो ऐसा वह अपने व्यक्तियोंके वृद्धिशील विकासके द्वारा ही कर सकती है। इसके अंगभूत व्यक्तियोंका जैसा भाव और जीवन होगा वैसे ही भाव और वैसी ही सच्ची जीवन-शक्तिको समुदाय भी चरितार्थ कर लेगा। जो समाज अपने व्यक्तियोंको छोड़कर अपनी संस्थाओंपर निर्भर रहता है वह एक सामुदायिक आत्मा नहीं, एक मशीन है। उसका जीवन एक यंत्र-निर्मित वस्तु बन जाता है, वह एक सजीव विकसनशील वस्तु नहीं रहता। इसलिये आध्यात्मिक युगके आनेसे पहले कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य प्रकट होने चाहियें जो अब मनुष्यके सामान्य बौद्धिक, प्राणिक और भौतिक जीवनसे संतुष्ट न हों, बल्कि वे यह देखने लगें कि मनुष्य-जातिका सच्चा लक्ष्य एक महत्तर विकास है और वे अपने अंदर इसे चरितार्थ करनेका, दूसरोंको इस ओर ले जाने तथा इसे जातिका एक स्वीकृत लक्ष्य बनानेका प्रयत्न करें। जिस हदतक वे सफलता प्राप्त करेंगे तथा जिस परिमाणमें वे इस विकासको साधित करेंगे, उसी हदतक और उसी परिमाणमें वह शक्यता जो अभीतक चरितार्थ नहीं हुई है तथा जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं भविष्यकी एक वास्तविक संभावना बन जायगी।

प्राचीन समयमें आध्यात्मिकताके सर्व-सुलभ होनेका परिणाम साधारणतया

यह हुआ कि एक विशेष प्रकारका नया धर्म उत्पन्न हो गया तथा उसने एक नये सार्वभौम संप्रदायके रूपमें अपने-आपको मनुष्यजातिपर लादनेका प्रयत्न किया। तथापि, यह सदा केवल एक अपरिपक्व ही नहीं, बल्कि एक गलत ढंगकी नियत अवस्था भी रही, जिसने किसी भी गहन और गंभीर उपलब्धिको सहायता न पहुँचाकर उसमें बाधा ही डाली। मनुष्य-जातिके आध्यात्मिक युगके लक्ष्यको अनुभववादी धर्मोंके मूल लक्ष्यके साथ एक हो जाना चाहिये, यह लक्ष्य है एक नया जन्म, एक नयी चेतना, मनुष्यका एक ऊर्ध्वमुखी विकास, हमारे अंगोंमें सच्ची आत्माका अवरोहण तथा हमारे जीवनकी आध्यात्मिक पुनर्व्यवस्था। यदि वह किसी धार्मिक आंदोलनकी पुरानी परिचित सामग्री तथा अपूर्ण साधनोंके द्वारा अपने-आपको सीमित कर लेता है तो अधिक संभव है कि उसके हाथ फिर भी असफलता ही लगेगी। सामान्यतया एक धार्मिक आंदोलन अपने साथ आध्यात्मिक जोश और अभीप्साकी लहर लाता है जो व्यक्तियोंके एक वृहत् समुदायमें संचारित हो जाती है और उसके परिणामस्वरूप एक अस्थायी उत्थान तथा एक प्रभावपूर्ण निर्माण दृष्टिगोचर होने लगता है जो अपने स्वभावमें कुछ आध्यात्मिक, कुछ नैतिक तथा कुछ हठधर्मी होता है। किंतु दो-एक पीढ़ियों या कुछ पीढ़ियोंके बाद यह लहर पीछे हटने लगती है, पर वह रचना फिर भी बनी रहती है। यदि कोई ऐसा आंदोलन अत्यधिक शक्तिशाली हो और उसके मूलमें कोई महान् आध्यात्मिक व्यक्ति भी विद्यमान हो तो वह अपने पीछे एक केंद्रित प्रभाव तथा एक आंतरिक अनुशासन भी छोड़ सकता है जो नयी लहरोंका प्रारंभिक बिंदु बन सकता है, किंतु जैसे-जैसे यह आंदोलन अपने मूल स्रोतसे दूर होता जायगा, वैसे-वैसे ये लहरें भी सतत रूपमें निर्बल और अस्थायी होती जायँगी। कारण, इस बीचमें इनमें से अधिक विश्वासपात्र लहरोंको एक सूत्रमें बाँधने तथा साथ ही इन्हें असंस्कृत बाह्य जगत्से अलग करनेके लिये एक धर्म, चर्च, पुरोहितवाद, नैतिक जीवनका एक स्थिर अप्रगतिशील रूप, कुछ रूढ़ सिद्धांतोंका समूह, बाह्य आडंबर, अनुष्ठान, पवित्र माने जानेवाले अंधविश्वास अर्थात् मनुष्यजातिको मुक्ति दिलानेवाली एक लंबी-चौड़ी मशीनरी विकसित हो चुकी होगी, जिसका फल यह होता है कि आध्यात्मिकता बौद्धिक विश्वासके तथा व्यवहारके बाह्य रूपों एवं बाह्य कर्मकांडोंके अधिकाधिक अधीन होती जाती है। दूसरे शब्दोंमें, ऊँचे उद्देश्य निम्न उद्देश्योंके अधीन हो जाते हैं और मूल वस्तु साधनों, यंत्रों तथा संयोगोंके वशमें हो जाती है। समस्त जीवनको आध्यात्मिक जीवनमें बदल देनेका पहला सहज और शक्तिशाली

प्रयत्न अपना स्थान नीतिशास्त्र और एक नियत विश्वासप्रणालीको दे देता है, यद्यपि इसे आध्यात्मिक भावावेगका कुछ स्पर्श भी मिल जाता है। किंतु अंतमें तो इस रक्षक अंगको भी वाह्य मशीनरी आक्रांत कर लेती है; आश्रय देनेवाला घर समाविस्थल वन जाता है। चर्च आत्माका स्थान ले लेता है तथा उसके विशाल कर्मकांड और नियमके प्रति वैधिक स्वीकृतिकी व्यापक रूपमें माँग की जाती है। आध्यात्मिक जीवनका कुछ थोड़ेसे लोग ही अनुसरण करते हैं और वे भी अपने धर्म और वर्ग द्वारा सुनिश्चित सीमाओंके भीतर ही रहते हैं। अधिकतर लोग तो इस सीमित प्रयत्नकी भी उपेक्षा करते हैं तथा गहनतर जीवनकी पुकारका स्थान एक सतर्क या उपेक्षापूर्ण धर्मपरायणताको देकर ही संतुष्ट हो जाते हैं। अंतमें यह पता चलता है कि धर्मकी मूल भावना एक ऐसी पतली धारा बन गयी है जिसे बालूने अवरुद्ध कर दिया है। अधिक-से-अधिक यह होता है कि इसके रूढ़ परंपराओंरूपी सूखे तलमें कभी-कभी कुछ समयके लिये बाढ़ आ जाती है जो उसे 'काल'के विस्मृत अध्यायोंमें खो जानेसे बचा लेती है।

धर्मके किसी विशेष विश्वास और रूपकी अपने-आपको व्यापक रूप देने या दूसरोंपर लादनेकी महत्त्वाकांक्षा मानवप्रकृतिकी विविधताके तथा कम-से-कम 'आत्मा'के एक मूल स्वभावके प्रतिकूल है। कारण, आत्माका स्वाभाविक गुण एक ऐसी विस्तृत आंतरिक स्वतंत्रता एवं विशाल एकता है जिसमें प्रत्येक मनुष्यको अपनी प्रकृतिके अनुसार विकसित होनेकी अनुमति मिलनी चाहिये। एक बात और भी है—और यह अभीतक अनिवार्य असफलताका एक और कारण बनी हुई है—कि इन मताग्रही धर्मोंकी सामान्य प्रवृत्ति परलोककी चिंता करनेकी तथा पार्थिव जीवनके अभ्युदयको एक गौण वस्तु बना देनेकी होती है; और जैसे-जैसे मनुष्यजातिके वर्तमान सार्वभौम अभ्युदयकी प्रारंभिक आशा निर्बल होती जाती है वैसे-वैसे यह प्रवृत्ति भी बढ़ती जाती है। अतएव, जब कि बहुत-सी नयी आध्यात्मिक लहरोंको, अपनी सबल विशिष्ट प्रेरणाओं और अनुशासनोंके साथ, आवश्यक रूपमें आध्यात्मिक युगके अग्रदूत बनना चाहिये, जाति तथा उसके आध्यात्मिक नेताओंके भी समष्टिगत मनमें उनकी माँगोंको इस सत्यके अधीन हो जाना होगा कि समस्त प्रेरणाएँ और अनुशासन ठीक हैं, किंतु फिर भी इनमेंसे कोई भी पूर्णतया ठीक नहीं है, क्योंकि ये साधनमात्र हैं, एकमात्र करणीय वस्तु नहीं। एक बात बड़ी आवश्यक है और उसे प्रधानता मिलनी ही चाहिये कि मनुष्यके समचे जीवनको आत्माके पथप्रदर्शनमें छोड़ देना चाहिये। मनुष्यका स्वर्गकी ओर आरोहण समाधान नहीं है, बल्कि उसका यहाँ

आत्माकी ओर आरोहण और साथ ही आत्माका उसकी सामान्य मानवतामें अवरोहण और इस पार्थिव प्रकृतिका रूपांतर ही समाधान है। कारण, मृत्युके बादका मोक्ष नहीं बल्कि यह रूपांतर ही वह सच्चा नया जन्म है जिसके लिये मानवजाति अपने लंबे, अंधकारपूर्ण और कष्टप्रद पथकी चरम परिणतिके रूपमें प्रतीक्षा कर रही है।

अतएव, जो व्यक्ति नये युगमें मनुष्यजातिके भविष्यको अत्यधिक सहायता पहुँचायेंगे, वही आध्यात्मिक विकासको मनुष्यकी भवितव्यताके और इसी कारणसे उसकी एक बड़ी माँगके रूपमें स्वीकार करेंगे। जिस प्रकार पशुप्रकृति मानव अधिकतर एक मनःप्रधान और विशेष रूपसे अत्यधिक मनःप्रधान मनुष्यमें बदल गया है, उसी प्रकार अब या भविष्यमें वर्तमान मनुष्यजातिका एक अध्यात्मभावयुक्त मनुष्यजातिमें विकास या रूपांतर जातिकी माँग तथा प्रकृतिका सुनिश्चित उद्देश्य है; इसका कुछ अधिक महत्त्व नहीं कि हम किस रूपकका प्रयोग करते हैं या उसका समर्थन करनेके लिये किस सिद्धांतका आश्रय लेते हैं। यह विकास या रूपांतर उनका आदर्श और प्रयत्न होगा। जाति एवं प्रकृति अपेक्षाकृत किसी विशेष विश्वास और रूपके प्रति उदासीन होंगी तथा मनुष्योंको उन्हीं विश्वासों और रूपोंकी सहायता लेनेके लिये स्वतंत्र छोड़ देंगी जिनकी ओर वे स्वभावतया ही आकृष्ट होते हैं। वे केवल इस आध्यात्मिक रूपांतरमें विश्वासको, इसीके अनुसार चलनेके प्रयत्नको तथा जिस भी ज्ञानको इस प्रकारके जीवनका रूप दिया जा सकता है उसको ही मूल वस्तु समझेंगे। इस ज्ञानको जिस भी मतका रूप दिया जाय उसका कुछ विशेष महत्त्व नहीं। विशेषतया वे यह विचारनेकी गलती तो नहीं करेंगे कि यह परिवर्तन मशीनरी और बाह्य संस्थाओं द्वारा साधित किया जा सकता है। वे यह जान लेंगे और कभी भी नहीं भूलेंगे कि इसका पालन प्रत्येक मनुष्यको अपने अंदर ही करना होगा, नहीं तो यह परिवर्तन जातिके लिये कभी भी एक वास्तविक वस्तु नहीं हो सकता। वे 'पूर्व'के उस आंतरिक दृष्टिकोणको उसके सच्चे अर्थोंमें अपनायेंगे जो मनुष्यको अपनी भवितव्यता और मुक्तिको अपने अंदर ही खोजनेका आदेश देता है, किंतु साथ ही वे उस उचित महत्त्वको भी स्वीकार करेंगे जो 'पश्चिम' जीवनको तथा जो कुछ भी उत्तम-से-उत्तम हम जानते हैं या प्राप्त कर सकते हैं उसे समस्त जीवनका सामान्य नियम बनानेको देता है, परंतु उनका दृष्टिकोण भिन्न होगा। वे समाजको कुछ प्रबुद्ध आध्यात्मिक व्यक्तियोंकी एक धुंधली-सी पृष्ठभूमि नहीं बनायेंगे, न वे उसे वैराग्यपूर्ण कठोर आध्यात्मिकताके एक

अपेक्षाकृत विरल और वंध्य फूलके विकासके लिये एक ऐसी जड़ ही बना देंगे जो एक मजबूत बाड़से घिरी हुई तथा पृथ्वीके साथ बँधी हुई है। वे इस सिद्धांतको स्वीकार नहीं करेंगे कि अधिक लोग सदाके लिये और आवश्यक रूपमें जीवनके निम्न स्तरोंपर ही निवास करेंगे और केवल कुछ थोड़ेसे लोग ही मुक्त वायु और प्रकाशकी ओर बढ़ेंगे, किंतु वे उन महान् आत्माओंके दृष्टिकोणसे प्रारंभ करेंगे जिन्होंने पृथ्वीके जीवनका उद्धार करनेके लिये प्रयत्न किया है तथा जो समस्त पूर्व-असफलताके होते हुए भी इसी विश्वासमें दृढ़ रही हैं। शुरू-शुरूमें सभी महान् और कठिन कार्योंमें बारंबार असफलताएँ होती हैं, किंतु एक ऐसा समय आता है जब पुरानी असफलताओंका अनुभव लाभदायक रूपमें प्रयुक्त किया जा सकता है तथा जो द्वार इतना प्रतिरोधपूर्ण था वह खुल जाता है। सभी महान् मानव-अभीप्साओं और प्रयत्नोंकी भाँति इसमें भी 'असंभवता'की पूर्व घोषणा कर देना अज्ञान और दुर्बलताका चिह्न है। अन्वेषक ही की भाँति अभीप्सुके प्रयत्नका आदर्श-वचन भी एक परीक्षणसिद्ध सत्य होना चाहिये। कर्मरत रहनेसे ही कठिनाई हल होती है। एक सच्चा आरंभ करना ही होगा; शेष कार्य 'काल'पर निर्भर है, चाहे प्राप्ति एकदम हो जाय या फिर एक लंबे धैर्यपूर्ण प्रयत्नके बाद हो।

जो कार्य करना है वह उतना ही बड़ा है जितना कि जीवन, और इसलिये वे व्यक्ति जो पथप्रदर्शनका काम करते हैं समस्त मानवजीवनको ही अपना क्षेत्र बना लेते हैं। ये अग्रदूत किसी भी वस्तुको परकीय नहीं समझेंगे, न ही किसी चीजको अपने क्षेत्रसे बाहर समझेंगे। कारण, आध्यात्मिकताको मनुष्य जीवनके प्रत्येक भागको—केवल बौद्धिक, सौंदर्यात्मक और नैतिकको ही नहीं, वरन् गतिशील, प्राणिक और भौतिक भागको भी—अपने हाथमें ले लेना होगा। इसलिये इनमेंसे जो भी वस्तुएँ अथवा क्रियाएँ उत्पन्न होंगी उनमेंसे किसीसे भी न वे घृणा करेंगे और न अरुचि, चाहे वे स्वयं कितना भी आत्माके रूपांतर और रूपक परिवर्तनपर बल क्यों न दें। हमारी प्रकृतिकी प्रत्येक शक्तिमें वे उसके रूपांतरके विशेष साधनोंकी खोज करेंगे। यह जानते हुए कि भगवान् सबमें प्रच्छन्न रूपमें विद्यमान हैं, वे यह कहेंगे कि सब कुछ आत्माकी स्व-उपलब्धिका साधन बन सकता है और सबको दिव्य जीवन यापन करनेके लिये उसके साधनोंमें परिवर्तित किया जा सकता है। और वे यह देखेंगे कि सामान्य मनका आध्यात्मिक मनमें रूपांतर और फिर उस मनकी उसके अपने उच्चतर स्तरोंकी ओर उन्मुखता एवं अधिकाधिक सर्वांगीण गति बहुत ही आवश्यक

वस्तुएँ हैं। कारण, इससे पहले कि निश्चित परिवर्तन साधित हो सके, लड़खड़ाते हुए बौद्धिक तर्कको एक यथार्थ, प्रकाशपूर्ण और सहज ज्ञानयुक्त तर्कमें परिवर्तित कर देना होगा। और फिर यह अधिमानस और अतिमानस या विज्ञान्-ज्योति तकके उच्चतर स्तरोंकी ओर उठ सकता है। अनिश्चित और स्खलनशील मानसिक संकल्पको एक निश्चित, सहजप्रेरित तथा एक उच्चतर दिव्य और विज्ञानमय संकल्पकी ओर बढ़ना होगा; आंतरात्मिक मधुरता, हृदयके पीछे स्थित, "हृदये गुहायाम्", आत्माकी अग्नि और प्रकाशको हमारे स्थूल आवेगों और कठोर अहंभावों तथा हमारी प्राणिक प्रवृत्तियोंकी कोलाहलपूर्ण इच्छाओंको रूपांतरित करना होगा। हमारे अन्य सब अंगोंको भी ऊपरकी प्रबल शक्ति और ज्योतिके दबावसे अपने अंदर इसी प्रकारका रूपांतर लाना होगा। आध्यात्मिक प्रगतिके नेता उस ज्ञान और उन साधनोंसे आरंभ करेंगे तथा उनका प्रयोग भी करेंगे जिन्हें प्राचीन प्रयत्नने इस दिशामें विकसित किया है, किंतु वे उन्हें उसी रूपमें, बिना किसी गभीर और आवश्यक परिवर्तनके, स्वीकार नहीं करेंगे, न वे अपने-आपको उस सबसे सीमित ही रखेंगे जितना कि उन्हें अबतक ज्ञात है। वे रूढ़ और परंपरावादी प्रणालियों या ज्ञात परिणाम-समूहोंके साथ चिपटे भी नहीं रहेंगे, बल्कि वे 'प्रकृति'में 'आत्मा'की प्रणालीका अनुसरण करेंगे। जब 'आत्मा' भविष्यकी महानताकी ओर बढ़ती है तो हमारी गत उपलब्धियोंके साथ बर्तनेका उसका ढंग होता है मनमें एक सतत पुनरन्वेषण, नयी रचना और विशालतर समन्वय तथा उसके गभीरतर भागोंमें एक अत्यधिक सबल पुनर्गठन। इसका कारण यह है कि एक महत्तर विस्तृत सत्य पहलेसे खोजा नहीं गया है और न पहलेसे वह सुनिश्चित ही होता है।

यह प्रयास व्यक्ति के लिये भी एक बहुत बड़ा और कठिन कार्य होगा, किंतु जातिके लिये तो यह और भी अधिक कठिन है। यह हो सकता है कि एक बार आरंभ हो जानेपर भी यह अपनी पहली निश्चित मंजिलपर भी शीघ्रतासे न पहुँचे। और यह भी संभव है कि किसी प्रकारका स्थायी जन्म लेनेके लिये इसे अनेक शताब्दियोंतक प्रयत्न करना पड़े। किंतु ऐसा होना पूर्ण रूपसे अनिवार्य नहीं है, क्योंकि प्रकृतिमें ऐसे परिवर्तनोंका सिद्धांत एक ऐसा लंबा और अस्पष्ट तैयारीका समय होता है जिसके बाद नये जन्मके लिये तत्त्व शीघ्रतासे इकट्ठे होकर कार्य करने लगते हैं; दूसरे शब्दोंमें एक द्रुत परिवर्तन एवं एक ऐसा रूपांतर साधित हो जाता है जो अपनी प्रकाशमयी घड़ीमें चमत्कार जैसा प्रतीत होता है। पहला सुनिश्चित

परिवर्तन हो जानेपर भी यह निश्चित है कि समस्त मानवजाति उस स्तरतक नहीं पहुँच सकेगी। जो लोग केवल उच्च स्तरसे मानसिक स्तरपर उतरनेवाले प्रकाशमें ही निवास कर सकते हैं उनमें एक प्रकारका विभाजन अवश्य ही होगा। इनसे नीचे भी एक ऐसा बृहत् जनसमुदाय हो सकता है जो ऊपरसे प्रभावित तो हुआ है, पर अभीतक प्रकाशके लिये तैयार नहीं है। किंतु यह भी एक ऐसा रूपांतर और आरंभ होगा जो अभीतककी उपलब्धिसे कहीं अधिक बड़ी वस्तु होगा। इस स्तर-परंपराका यह अर्थ नहीं होगा, जैसा कि हमारी वर्तमान प्राणिक जीवन-प्रणालीमें होता है, कि अधिक विकसित लोग अविकसित लोगोंको अहंकारवश अपने अधीन कर लेंगे, वरन् मनुष्यजातिमें बड़े भाई अपने छोटे भाइयोंका पथ-प्रदर्शन करेंगे और उन्हें एक आध्यात्मिक स्तर एवं अधिक विस्तृत क्षेत्रोंतक उठानेके लिये सतत रूपमें कार्य करेंगे। मार्गदर्शकोंके लिये भी प्रारंभिक आध्यात्मिक स्तरोंतक यह आरोहण दैवी यात्राका अंत अथवा परिणति नहीं होगा जिसके बाद पृथ्वीपर कुछ और प्राप्त करनेके लिये न रह जाता हो। कारण, अतिमानसिक प्रदेशमें अभी और भी उच्चतर स्तर होंगे जैसा कि पुराने वैदिक कवि जानते थे जब कि वे आध्यात्मिक जीवनको एक सतत आरोहण कहते थे—

ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे।
यत् सानोः सानुमारुहद् भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्॥

"ओ शत-विध सामर्थ्यवाले! ब्राह्मण तेरी ओर क्रमशः एक स्तरसे दूसरे स्तरपर आरोहण करते हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य एक चोटीसे दूसरी चोटीपर पहुँचता है, यह स्पष्ट होता जाता है कि अभी बहुत कुछ करना शेष है।"

किंतु एक बार जब आधार सुदृढ़ हो जाता है तो शेष एक विकसनशील आत्म-अभिव्यक्तिके द्वारा विकसित होता रहता है और तब आत्मा अपने मार्गके बारेमें सुनिश्चित हो जाती है, जैसा कि प्राचीन समयके वैदिक गायक कहते हैं—

अभ्यवस्थाः प्र जायन्ते प्र वव्रेर्वव्रिश्चिकेत।
उपस्थे मातुर्विचष्टे॥

"एक अवस्थाके बाद दूसरी अवस्था आती है, आवरण-पर-आवरण ज्ञानके प्रति सचेतन होते जाते हैं; माताकी गोदमें आत्मा सब कुछ देखती है।"

परिशिष्ट

परिशिष्ट

सूची

मनुष्य—दास या मुक्त ?

योगाभ्यासका प्रायः ऐसे ही लोगोंके द्वारा किया जाना जो शरीर अथवा मनसे संसारके सम्पर्कसे अलग रहते आये हैं, इस भ्रान्त धारणाके मूलमें है कि यह विज्ञान रहस्यमय है, अतिदूर और अवास्तविक है। यौगिक क्रियाओंको जो इतना गोपन रखा गया है—जो गोपनीयता मानव-विकासके प्रारम्भिक कालमें आवश्यक भी थी—उससे यह भ्रान्ति और भी जड़ पकड़ गयी है। वे अभ्यास, जिन्हें ऐसे लोगोंने किया जो गुप्त समाजमें रहते अथवा उन्हीं लोगोंको बतलाते थे जिनमें वे आवश्यक प्रारम्भिक तैयारी देख लेते, सचमुच ऐसे अभ्यास थे जिनपर बाहरी जगत अगोचरवादकी मुहर लगी देखता था। वस्तुतः योगके सम्बन्धमें कुछ भी रहस्यमय, छिपा हुआ अथवा अगोचर नहीं है। योग मानव-मनोविज्ञानके कुछ नियमोंपर आधारित है, मनका शरीरके ऊपर तथा अन्तरात्माका मनपर जो नियंत्रण है, उसके ज्ञानपर आधारित है, जो ज्ञान आजतक सर्वसाधारणपर प्रकट नहीं हो सका है और जो इसे जानते हैं वे यह समझते हुए कि यह ज्ञान प्रभावकी दृष्टिसे बहुत ही महत्वपूर्ण है और जबतक व्यक्तिको इसके सही उपयोगकी शिक्षा न दी जाय तबतक उसे नहीं देना चाहिये, इसे गोपनीय रखते रहे हैं। जिस तरह वे लोग जिन्होंने सम्मोहन अथवा वशीकरणकी अन्तिम सम्भावनाओंको ढूंढ़ा और परखा है, उसका रहस्य लोगोंके सामने खोल देनेमें झिझकेंगे, क्योंकि ऐसा करनेसे उस सम्मोहिनी शक्तिका मूर्खता अथवा दुष्टतापूर्ण दुर्व्यवहार होगा, लोग स्वार्थ सिद्धिके लिये अथवा अपराधके लिये उसका उपयोग करने लगेंगे, उसी प्रकार योगियोंने भी मानवके भीतरकी इन महत्तर शक्तियोंके ज्ञानको स्वयं अपनेमें बचा रखा है और इसका प्रकाश वे तभी करते रहे हैं जब उन्होंने यह देख लिया कि जिसे वे देना चाहते हैं वह पहलेसे ही नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त कर चुका है अथवा इन अभ्यासोंके लिये उसमें नैतिक वा शारीरिक क्षमता है। सीखनेवालेके लिये यह नियम निर्धारित कर दिया गया कि वह अपनी अनुभूतियोंको किसीसे न कहे और विकसित योगीके लिये यह नियम बना कि वह यथासाध्य गुप्त रहे। इससे योगका जो शारीरिक पक्ष है अथवा उसका जो बौद्धिक अथवा नैतिक पक्ष है, उसके सम्बन्धमें व्याख्या अथवा पुस्तक रचना बन्द नहीं हो गयी। इससे

उन महान् आत्माओंके काममें बाधा नहीं पहुँची जिन्होंने साधारण शास्त्रोक्त नियमोंसे योग न प्राप्त कर अपनी आन्तरात्मिक शक्तिसे तथा भगवान्की विशेष कृपासे योग प्राप्त किया तथा मानवके प्रति अपनी महती करुणाके वशीभूत हो अपनेको तथा अपने आध्यात्मिक ज्ञानको उसके सामने प्रकट किया अथवा अपनी शक्तिका एक अंश जगत्को दे दिया। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, चैतन्य ऐसे ही महापुरुष थे, रामकृष्ण और विवेकानन्द भी ऐसे ही थे। यह एक कट्टर मत है कि योगकी अनुभूतियाँ उससे नहीं कहनी चाहिएँ जो शिष्य न हो चुका हो। लेकिन अब एक नया युग आ गया है और पुराने नियमोंमें संशोधन हो जाना चाहिये। पश्चिमी जगत् भी योगके रहस्योंका अनुसंधान करने लगा है। इसके कुछ नियम, धुँधले और अपूर्ण तौरपर ही सही, यूरोपीय वैज्ञानिकोंको ज्ञात हो चुके हैं और कुछ अध्यात्मवादके द्वारा, ईसाई-धर्म-विज्ञानके द्वारा, दूर-दर्शनके द्वारा, दूर-श्रवण तथा अन्य आधुनिक गुह्य अभ्यासोंके द्वारा अनजाने ही नित्य ज्ञात हो रहे हैं मानों अँधेरेमें टटोलते हुए आदमी उन सत्योंसे टकरा रहे हों जिन्हें वे समझते नहीं। समय आ गया है जब भारतको अपना प्रकाश अपनेतक ही सीमित नहीं रखना चाहिये, बल्कि संसारमें उसे उँड़ेल देना चाहिये। योग मानवमात्रको दिया जाना चाहिये, क्योंकि इसके बिना विकासमें दूसरा पग नहीं उठ सकता।

मानवजातिका मनोविज्ञान आजतक विज्ञानके द्वारा नहीं ढूंढ़ा जा सका है। सारी सृष्टि एक ही है और एक ही नहीं तो एक ही प्रकारके नियमोंसे अनुशासित है। इस प्रकार यदि हम यह जान गये हैं कि भौतिक जगत्में सभी पदार्थ उस एक ही भौतिक तत्त्वमें समाहित हो जाते हैं जिससे वे पैदा होते, जिसमें गति करते तथा अंतमें विलीन हो जाते हैं, यही सत्य अध्यात्मसत्ताके बारेमें भी लागू हो सकता है। भौतिक जगत्का एकत्व यूरोपियन वैज्ञानिक बुद्धिके द्वारा मान लिया गया है और जर्मनीके वस्तुवादी और अनीश्वरवादी महारथियोंने "एकमेवाद्वितीयं"की घोषणा भौतिक तत्त्वके सम्बन्धमें निर्भ्रान्त रूपसे कर डाली है। इसमें उन्होंने हजारों वर्ष पहले भारतीय योगियोंके सिद्धान्तका ही प्रतिपादन किया है। परन्तु आध्यात्मिक तत्त्वोंके अनुसंधानार्थ उन्होंने इस तरहके निश्चित तरीके अबतक नहीं ढूंढ़े जिस तरहके तरीके वे भौतिक तत्त्वके सम्बन्धमें ढूंढ़ चुके हैं। वे मनकी ऊपरी क्रियाओंका ही प्रेक्षण करते हैं। लेकिन ऐसी क्रियाओंमें मन बाहरी वस्तुओंसे इतना अधिक घिरा हुआ होता है और उनपर इतना आश्रित होता है कि परीक्षकके लिये मनकी अपनी क्रियाके उत्सका पता

पा लेना मुश्किल है। यूरोपीय वैज्ञानिक इस प्रकार इस निष्कर्षपर पहुँच चुके हैं कि मानसिक क्रियाओंके कारण हैं वाहरी वस्तुओंकी उत्प्रेरणाएँ और जव मन स्वयं अपने-आपमें भी क्रियाशील दीखता है तो भी वह अपनी वाहरी वस्तुओंके पूर्वार्जित अनुभूतियोंको ही मिलाता, छाँटता, एकत्र करता अथवा वनाता-विगाड़ता रहता है। मनकी प्रकृति ही है पूर्वमें अर्जित भौतिक अनुभूतियोंकी सृष्टि जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस प्रकार निश्चित ढंगसे उतरती चली आयी है कि मानव विकास करता हुआ आदि मानवके अनगढ़ मस्तिष्कसे बीसवीं शतीके सभ्य मानवतक वढ़ता चला आया है। इन वस्तुवादी सिद्धान्तोंका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि विज्ञानके लिये सचमुच किसी ऐसे मनोमय केन्द्रका अनुमान करना मुश्किल हो गया जो मानसिक क्रियाओंका उत्स हो और इसीलिये उन्होंने विचारके भौतिक उपकरण मस्तिष्कको ही एकमात्र सच्चा केन्द्र समझ लिया है, इस भौतिकवादी दर्शनसे कुछ ऐसे सिद्धान्त निकले हैं जो मानवके नैतिक भविष्यके लिये अत्यन्त ही भयावह हैं। पहला यह कि मानव जड़तत्त्वकी सृष्टि है और उसका दास है। वह जड़तत्त्वपर अधिकार केवल इसकी आज्ञाका पालन करके ही कर सकता है। दूसरा यह कि मन स्वयं जड़द्रव्यका एक रूप है और इन्द्रियोंसे स्वतंत्र तथा उनका स्वामी नहीं है। तीसरा यह कि स्वतंत्र संकल्प नामकी कोई चीज नहीं, क्योंकि हमारी सारी क्रियाएँ दो महान् शक्तियोंसे नियंत्रित हैं, आनुवंशिकता और परिपार्श्व। हम लोग अपनी प्रकृतिके दास हैं और जहाँ हम इसकी दासतासे मुक्त दिखलायी पड़ते हैं वहाँ हम इससे भी अधिक परिपार्श्वके दास होते हैं जिसपर उन शक्तियोंका प्रभाव होता है जो हमारे इर्द-गिर्द हैं और हमें चलाया करती हैं।

योग हमें वस्तुवादी दर्शनके इन्हीं झूठे और भयंकर सिद्धान्तोंसे, जो भविष्यको खतरेमें डाल रहे हैं और मानव-प्रगतिके अवरोधी हैं, वच निकलनेका उपाय देता है। यह जड़तत्त्वसे मनुष्यकी स्वतंत्रताका जोरसे प्रतिपादन करता और वह उपाय वतलाता है जिससे मानव इस स्वतंत्रताको अपने जीवनमें वरते। योगियोंका सवसे पहला वड़ा अनुसंधान यह था कि उन्होंने मन और हृदयकी अनुभूतियोंका विश्लेषण किया। योगके द्वारा मनको पृथक् किया जा सकता है, इसकी क्रियाओंको उसी प्रकार देखा जा सकता है जिस प्रकार अनुवीक्षण-यंत्रके द्वारा सूक्ष्म चीजोंको। अन्तःकरणके, प्रत्येक मानसिक और नैतिक शक्तिके विभिन्न भागोंके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कार्यको अलग-अलग किया जा सकता है, उनकी अलग-अलग क्रियाओंको

तथा साथ ही दूसरी क्रियाओंके साथ उनके संबंधों और गुणोंसे परखा जा सकता है और इस प्रकार अध्ययन करते हुए पीछे हटते-हटते वहाँतक पहुँचा जा सकता है जहाँ मानसिक क्रियाओंके उद्‌गम-रूप, उस मूल आध्यात्मिक तत्त्वपर उसी प्रकार पहुँचा जा सकता है जिस प्रकार वस्तुवादी विश्लेषणके द्वारा एक मूलगत भौतिक तत्त्वपर पहुँचा गया है। मनोमय चेतनाके उस मूल केन्द्रको भी इसने विलग किया और आँका है जहाँ सभी मानसिक क्रियाएँ एकत्र होती हैं और इसी तरह व्यक्तित्वके मूलका पता लगाया है। इस विश्लेषणका पहला अनुसंधान यह है कि बाहरी तत्त्वोंसे मन अपने-आपको बिलकुल पृथक् कर सकता है और स्वयं अपने-आपमें अपनी शक्तियोंके द्वारा क्रियाशील रह सकता है। यह सच है कि यह स्वयं हमें बहुत दूर नहीं ले जाता, क्योंकि हो सकता है कि यह अपने उन तत्त्वोंका उपयोग कर रहा है जो इसने अतीतकी अनुभूतियोंसे अर्जित कर रखा है। लेकिन दूसरा अनुसंधान यह है कि ज्यों-ज्यों मन अपनेको विषयोंसे अधिक मुक्त तथा अलग रखता जाता है त्यों-त्यों यह अधिक शीघ्रतासे, शक्तिसे तथा निश्चयतासे काम करता है, तब इसमें एक तीव्र-गामी स्पष्टता, एक विजयिनी और प्रभुत्वसंपन्न अनासक्ति रहती है। यह एक अनुभूति है जो उस वैज्ञानिक सिद्धान्तको खण्डित-सी करती है कि मन सभी इन्द्रियोंको अपने-आपमें खींच सकता है और उन सबके साथ फिर उन चीजोंपर क्रिया कर सकता है जिनका इसे उस समय पता भी नहीं रहता जब यह दूसरी चीजोंमें लगा रहता है। विज्ञान स्वभावतः इन चीजोंको दृष्टिभ्रम कहेगा और चुनौती देगा। जवाब यह है कि ये कुछ ऐसे व्यापार हैं जो एक-दूसरेसे निश्चित रूपसे, सीधे-सादे, बोधगम्य तरीकेसे सम्बन्धित हैं; स्वयं इनकी अपनी दुनिया है और जड़ जगत्‌पर विचारोंकी जो क्रिया चलती है उससे ये स्वतंत्र हैं। यहाँ भी विज्ञान सम्भवतः यह उत्तर देगा कि यह जगत् भौतिक जगत्‌के मस्तिष्कमें केवल काल्पनिक अभिज्ञा है और हम इसके सम्बन्धमें इसकी घटनाओंसे निश्चित और अप्रत्याशित होनेके बारेमें जो भी तर्क देंगे, हमारी अपनी कल्पना और संकल्पसे इसकी स्वतंत्रताके बारेमें जो भी तर्क उपस्थित करेंगे, विज्ञान उसके विरोधमें अपनी अचेतन मस्तिष्ककी क्रिया और अचेतन कल्पनाका सिद्धान्त ला खड़ा करेगा। चौथी खोज यह है कि मन केवल बाह्य तत्त्वसे अलग ही नहीं है, वह इसका स्वामी भी है; बाहरके उत्प्रेरकोंका न केवल निराकरण कर सकता है, वरन् यह उनका नियंत्रण भी कर सकता है, इतना ही नहीं, यह गुरुत्वाकर्षण जैसे स्पष्ट भौतिक नियमोंको झुठला

सकता है, उन्हें अलग हटा सकता है और प्रभावहीन बना सकता है, क्योंकि आखिर ये भौतिक प्रकृतिके नियम हैं और मनके नियमोंके अन्तर्गत हैं, उनसे अवरकोटिके हैं, क्योंकि मनकी उपज जड़तत्त्व है न कि जड़तत्त्वकी उपज मन। योगका यह निश्चयात्मक अनुसंधान, वस्तुवादी दर्शनका अन्तिम खण्डन है। फिर इसके बाद आती है वह सर्वोपरि सिद्धि जो हमारे अन्दर अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्दका उत्स है जो निर्बलता, अज्ञान और कष्टकी सारी सम्भावनाओंके बहुत ऊपर है; हम इसका स्पर्श प्राप्त कर सकते हैं और असम्भव नहीं तो कठिन अवस्थाओंमें भी स्वभावतः इनका उपयोग और आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। यही वह तत्व है जिसे उपनिषदें 'ब्रह्म' कहती हैं और जो सबका मूल तत्व है जहांसे सभी चीजें पैदा होतीं, जिसमें निवास करतीं और अंतमें जिसके अन्दर लौट जाती हैं। यही भगवान् है जिसके साथ एकत्व प्राप्त करना योगका चरम उद्देश्य है—यही वह मिलन है जो ज्ञान, धर्म और आनन्दके लिये होता है।

व्यक्तिकी महत्ता

सभी आंदोलनोंमें, मानव-समाजके प्रत्येक वृहत् कार्यमें कालकी आत्मा ही, जिसे यूरोप ट्साइट्गाइस्ट (Zeitgeist) और भारत 'काल'के नामसे पुकारता है, अपने-आपको प्रकट करती है। ये नाम हैं ही गभीर अर्थसे परिपूर्ण। सबकी माता और सबका संहार करनेवाली काली वह शक्ति है जो, मनुष्यों, संस्थाओं और आंदोलनोंकी शाश्वत तरंगमें अपने-आपको प्रकट करती हुई, मानव-जातिके हृदयमें गुप्त तौरसे कार्य करती है, महाकाल वह अन्त:स्थित आत्मा है, जिसकी शक्ति उसमें (कालीमें) सर्वत्र संचरित है और विश्वकी प्रगति तथा राष्ट्रोंकी नियतिका निर्माण करती है। उसीका आवेग अपने-आपको, कालमें, चरितार्थ करता है, और जब उस अन्त:स्थित आत्मासे गति एवं प्रेरणा प्राप्त हो जाती है, तो काल और शक्ति उसका भार ग्रहण कर लेते हैं, उसे तैयार करते, परिपक्व करते और पूर्णतया सफल करते हैं। जब ट्साइट्गाइस्ट, अर्थात् काल-स्थित ईश्वर, निश्चित दिशामें गति करता है, तब संसारकी सब शक्तियोंको आवाहन होता है कि वे आज्ञापित उद्देश्यकी सिद्धिके निमित्त जारी की गयी उस गतिधाराको संवर्धित करें। जो सचेत रूपसे उसकी सहायता करता है, उसे वह खूब बढ़ाता है, किंतु जो बाधा डालता है उसे वह और भी अधिक बढ़ाता है, और गुप्त मूलस्रोतसे उद्भूत आवेग, पवनान्दोलित समुद्रके पृष्ठपर क्षणमें उठती क्षणमें गिरती लहरकी तरह, कभी विजय और गौरवके शिखरपर आरूढ़, कभी अनुत्साह और पराजयके गर्तमें पतित,—पूर्वनिर्धारित कार्यसिद्धिकी ओर आगे-आगे बढ़ा चला जाता है। चाहे मनुष्य सहायता दे, चाहे प्रतिरोध करे, किंतु 'काल' काम करता है, निर्माण करता है, दबाव डालता है, निर्माणको दृढ़ कर देता है।

कुरुक्षेत्रके समयका वह विराट् और स्मरणीय दिव्य दर्शन, जब श्रीकृष्णने अपना विश्व-रूप दिखलाते हुए अपने-आपको संहारकारी काल घोषित किया, मानवजातिके इस गंभीर तथ्यका द्योतक है। जब अर्जुनने अपना धनुष और तूणीर परे फेंकना चाहा, जब उसने कहा, "यह पाप है जिसे हम करने लगे हैं और यह प्रजाओं और भाइयोंका महान् संहार है, मैं ऐसा नहीं करने का", तब श्रीकृष्ण उसकी बुद्धिको उसकी गलतीका निश्चय करा गीताके ग्यारहवें अध्यायमें वर्णित उस अत्यद्भुत दर्शनसे उसकी कल्पना

शक्तिपर वस्तुओंके सत्यको अंकित करनेमें प्रवृत्त हुए। ये हैं वे ओजस्वी श्लोक—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवेते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥

"मैं काल हूँ, लोकोंको उजाड़ता और नष्ट करता हूँ, देखो, मैं अपनी पूरी शक्तिके साथ उठ खड़ा हुआ हूँ, मैं राष्ट्रोंको निगल जानेके लिये यहाँ उपस्थित हूँ। तेरे बिना भी वे बचे नहीं रहेंगे, वे योद्धा जो विरोधी सैन्यदलोंमें व्यूह बाँधे खड़े हैं। इसलिये तू उठ खड़ा हो और महान् यश लाभ कर, अपने शत्रुओंको जीत ले और विशाल, समृद्ध राज्यका उपभोग कर। क्योंकि ये!—ये सब तो पहले ही मारे जा चुके हैं और मैंने ही इनका वध कर डाला है; केवल निमित्त बन, हे सव्यसाचिन्।"

श्रीकृष्ण यहाँ अर्जुनके सामने कालकी मंद प्रक्रियाके रूपमें प्रकट नहीं हुए, बल्कि 'काल'के रूपमें, जिस रूपमें कि कालपुरुष मानो दशाब्दियोंतक सावधानतापूर्वक तैयार किये गये कार्यको क्षणभरमें पूरा कर रहा होता है। सभी कुरुक्षेत्रकी दैवी विपत्तिकी तरफ अटल रूपसे बढ़े चले आ रहे थे। मनुष्य उसे नहीं जानते थे; जो उस विपत्तिको हर तरह टालना चाहते थे उन्होंने भी अपने कर्म तथा कर्माभावसे उसके आनेमें ही सहायता की; जिन्हें वह भावी विपत्ति किंचित् दीख गयी थी उन्होंने भी विधिके चक्रोंको थामनेका व्यर्थ प्रयास किया; स्वयं श्रीकृष्ण भी एक निष्काम कर्मयोगीकी तरह, जो फलका विचार किये बिना कर्म किया करता है, उस निराशापूर्ण दूत-कार्यको निभानेके लिये हस्तिनापुर गये; किंतु 'काल'ने सब कुछ पलट दिया। बादमें कहीं लोगोंकी आँखें खुलीं और उन्होंने देखा कि कैसे वह सारे-का-सारा सुन्दर, शक्तिशाली और गर्वित भारतीय जगत् अपने राजसंघों और अपने शस्त्रास्त्रों और अपने रथों और अपनी विकरालकाय सेनाओंके साथ संहारकके खुले मुखोंमें, उसके जबर्दस्त जबड़ोंमें खत्म होनेके लिये, उसके कटकटाते दाँतोंके बीच चूर-चूर होनेके लिये वैसे ही भागा चला जा रहा है जैसे नदियाँ समुद्रकी ओर दौड़ी चली जाती

हैं, जैसे पतंग सवेग फड़फड़ाते हुए प्रज्वालामें जा गिरते हैं। उस सनातन पुरुषकी लीलामें कुछ गतियाँ ऐसी हैं जो भयानक हैं तथा कुछ ऐसी भी हैं जो मधुर और सुन्दर हैं। वृन्दावनका नृत्य कुरुक्षेत्रके मृत्यु-नृत्यके विना पूरा नहीं होता; क्योंकि इनमेंसे प्रत्येक विश्वकी उस महान् समस्वर गतिका एक स्वर है जो दुःख और पापको सौन्दर्य, आनंद और भद्रमें—शिव, शांत, शुद्ध, आनंदमें—रूपांतरित कर वैषम्य-विरोधसे साम्य-संवादकी ओर बढ़ती है,—घृणा और कलहसे प्रेम और भ्रातृभावकी ओर, बुराईसे विकासकी परिपूर्णताकी ओर।

कौन 'काल' (Zeitgeist) के लक्ष्यका प्रतिरोध कर सकता था? उस समय भारतवर्षमें बलवान् पुरुष सैकड़ों थे, महान् दार्शनिक और योगी, सूक्ष्म नीतिज्ञ, जन-नेता, विचारशील और कार्यनिपुण राजा भी विद्यमान थे। शक्तिशालिनी बुद्धिप्रधान सभ्यताका विकास अपने शिखरपर आरूढ़ था। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि उन महानुभावोंमेंसे कुछ एकका जरा इधरसे उधर हो जाना सारे संकटको रोक देता। कम-से-कम अर्जुनने अपना तीर-कमान फेंकते समय ऐसा ही सोचा था। वह ही पाण्डवोंकी एकमात्र आशा था और उसके विना उनकी विजय अवश्य निरा स्वप्न लगती होगी और लड़ना पागलपनका कार्य। तथापि उसीको संबोधित कर 'काल'ने महान्-से-महान् शक्तिशाली व्यक्तिकी भी नितांत असहायता और ईश्वरके आदेशकी निश्चित सफलता उद्घोषित की। "तेरे विना भी वे सब नहीं रहेंगे, वे योद्धा जो विरोधी सेनाओंमें व्यूहबद्ध खड़े हैं।" क्योंकि ये केवल शरीरसे जीवित हैं; उस सत्तामें जो पीछे स्थित है और अपने आशयोंको सफल बनानेमें सशक्त है, वे मृत हैं। जिसकी ईश्वर रक्षा करता है उसे कौन मार सकता है? जिसे ईश्वर मार चुका है उसे भला कौन बचा सकता है? जो मनुष्य वध करता है वह तो निमित्त या यंत्र मात्र होता है जिसके द्वारा, जो काम पर्देके पीछे हो चुका होता है वह इस तरफ घटित होता है। कुरुक्षेत्रमें हुए महान् वधके विषयमें जो सत्य था वह उन सभी कार्योंके विषयमें भी सत्य है जो इस संसारमें किये जाते हैं; उस सब उत्पत्ति, प्रलय और विनाशके बारेमें भी सत्य है जो लीलाका निर्माण करते हैं।

इस शिक्षाकी महत्ता महान् पुरुषोंके लिये है। जिन्हें अतिप्रबल परिवर्तन करनेका आदेश प्राप्त हुआ होता है वे 'काल'की शक्तिसे पूरित होते हैं। काली उनमें प्रवेश कर चुकी होती है और जब काली किसी मनुष्यमें प्रवेश कर लेती है तो वह बुद्धिगम्यता और संभाव्यताकी कुछ पर्वाह नहीं

करती। वह प्रकृतिकी शक्ति है जो नक्षत्रोंको उनकी कक्षाओं-(orbits) में घुमाती है, ऐसी आसानीसे जैसे कोई बालक गेंद घुमाता हो, और उस शक्तिके लिये कुछ भी असंभव नहीं। वह अघटनघटनापटीयसी है, अर्थात् असंभवको साधित करनेमें सिद्धहस्त। वह 'देवात्मशक्तिः स्वगुणैर्निगूढा' है, दिव्य आत्माकी शक्ति है जो अपनी ही क्रियाओंके तीन गुणोंमें छिपी हुई है, और जिस प्रयोजनको संपादित करनेका उसे आदेश मिला है उसे पूरा करनेके लिये उसे समयके सिवाय और किसी चीजकी जरूरत नहीं। वह कालमें गति करती है और वह गति ही अपने आपको सफल बनाती है, अपने साधन पैदा करती है, अपने लक्ष्योंको सिद्ध करती है। वह जब एक मनुष्यमें दूसरेकी अपेक्षा अधिक काम करती है तो यह कोई आकस्मिक घटना नहीं होती। वह मनुष्य इसलिए चुना जाता है क्योंकि वह उपयुक्त पात्र हो सकता है, और उसे चुनकर वह (काली) न तो उसे तबतक छोड़ती है जबतक प्रयोजन सिद्ध नहीं हो जाता और न ही उसे अपने-आपको छोड़ने देती है। इसीलिये श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।

"अहंकारका आश्रय ले तू जो विचार कर रहा है और कह रहा है 'मैं युद्ध नहीं करूंगा', तेरा यह निश्चय व्यर्थ है; प्रकृति तुझे तेरे काममें नियुक्त करेगी ही।" जब ऐसा दिखायी देता है कि किसी मनुष्यने अपना काम छोड़ दिया है, तो उसका केवल यह अर्थ होता है कि उसका काम समाप्त हो गया है और काली किसी दूसरे मनुष्यको पात्र बनानेके लिये उसका परित्याग कर देती है। जब कोई आदमी जिसने महान् कार्य संपादित किया है नष्ट हो जाता है, तो उसका कारण होता है अहंकार जिसके द्वारा उसने अन्तःस्थित शक्तिका दुरुपयोग किया होता है, और वह शक्ति स्वयं ही उसका मानमर्दन कर डालती है, जैसा उसने नेपोलियनका किया। कुछ यंत्र संभालकर सुरक्षित रखे जाते हैं, दूसरे एक तरफ पटक दिये जाते और खण्ड-खण्ड कर दिये जाते हैं, पर हैं सभी यंत्र ही। यही महान् पुरुषोंकी महत्ता है, यह नहीं कि वे अपनी ही शक्तिसे महान् घटनाओंको निर्धारित कर सकते हैं, वल्कि यह कि वे उस शक्तिके कार्योपयोगी और विशेषतया-निर्मित यंत्र होते हैं जो उन घटनाओंको निर्धारित करती है। मीराबोने फ्रांसकी राज्यक्रान्तिको जन्म देनेमें जितनी सहायताकी, उससे अधिक और किसीने भी नहीं की। जब वह उसका विरोध करनेपर तुल गया और, राजतंत्रका आश्रयस्तंभ वनकर, उसके पहियेको रोकनेका यत्न

किया, तो क्या फ्रांसके उस सर्वाधिक शक्तिशाली पुरुषद्वारा पीछे खिसकाये जानेकी वजहसे फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति रुक गयी? कालीने मीराबोको अपने पैरों तले दबोच लिया और वह नष्ट हो गया; किंतु क्रान्ति जारी रही, क्योंकि क्रान्ति थी 'काल'की अभिव्यक्ति, क्रान्ति थी ईश्वरकी इच्छा।

ऐसा ही सदा होता है। वे जो अपनेपर गर्व करते थे कि महान् घटनाएँ हमारा कार्य हैं, क्योंकि उनमें शुरूमें उनका हाथ दिखायी देता था, कालकी खाईमें जा गिरते हैं और दूसरे उनकी विध्वस्त ख्यातियोंको रौंदते हुए आगे बढ़ते हैं। वे जो अपने अन्दर कालीसे वेगपूर्वक आगे बढ़ाये चले चलते हैं और दैवके साथ कोई समझौता नहीं करते, वे ही जीवित रहते हैं। व्यक्तियोंकी महत्ता है अन्तःस्थित शाश्वत शक्तिकी महत्ता।

बलिदानका सिद्धान्त

आत्मबलिदानका भाव सब राष्ट्रों और सभी व्यक्तियोंमें आम नहीं; यह दुर्लभ और अति उत्कृष्ट है, यह है मनुष्यजातिकी नैतिक उन्नतिका पुष्पित रूप, स्वार्थरत पशुत्वसे स्वार्थरहित देवत्वकी ओर हमारे क्रमिक उदय-का प्रमाण। *जिस मनुष्यमें आत्मबलिदानका सामर्थ्य है वह पशुत्वको अपने-*से पीछे छोड़ आया है, चाहे उसके अन्य पाप कितने भी क्यों न हों; उसमें भावी और उच्चतर मानवताके निर्माणकी सामग्री है। जो राष्ट्र राष्ट्रीय तौरपर आत्मबलिदान करनेका सामर्थ्य रखता है उसका भविष्य सुरक्षित है।

आत्मबलिदान चाहे अनैच्छिक हो या स्वार्थके रूपोंसे आवृत, वह हमारे जीवनकी शर्त है। मानवतामें इसका क्रमिक विकास हुआ है। प्रथम बलिदान सदा ही स्वार्थमय होते हैं—उनमें अपनी उन्नतिके लिये दूसरोंका बलिदान समाविष्ट रहता है। एक मातामें, जो अपने बच्चेके लिये अपना जीवन बलिदान करनेके लिये तैयार है, पाशविक प्रेमकी सहजप्रवृत्ति पहला कदम आगे रखती है, वैसे ही एक पुरुषमें, जो अपनी स्त्रीके लिये अपने जीवनकी बलि देनेको तैयार है, रक्षाकी सहजप्रवृत्ति पहला कदम आगे रखती है। इस प्रवृत्तिकी वृद्धि आत्माके विषयमें हमारे मानसिक विस्तारका चिह्न है। जबतक मनुष्य अपने शरीर और उसकी इच्छाओंको ही अपनी "मैं" करके जानता है तबतक जीवकी अवस्था है अप्रगतिशील और पाशविक। जब "मैं"की परिधि विस्तृत होकर स्त्री-पुत्रको अपने अन्तर्गत कर लेती है तभी प्रगति संभव हो पाती है। यह मनुष्यताकी सबसे पहली अवस्था है, किन्तु इसमें भी पशुत्वकी कुछ मात्रा बची रह जाती है क्योंकि इसमें स्त्री और *बच्चोंके संबंधमें कुछ ऐसा विचार रहता है कि ये मनुष्यके अपने सुख, बल,* शान, आरामके लिये अभिप्रेत चल व अचल संपत्ति हैं। पर परिवार इस दृष्टिसे देखा जानेपर भी सभ्यताका आधार होता है, क्योंकि यह सामाजिक जीवनको संभव बनाता है। परन्तु मनुष्यमें देवत्वका वास्तविक विकास तबतक नहीं शुरू होता जबतक परिवार अपने दैहिक जीवनसे इतना अधिक प्रियतर नहीं हो जाता कि मनुष्य इसके लिये अपने स्वार्थका बलिदान करने और इसके हित या इसके रक्षणके लिये अपने आराम वा अपने जीवनतकका उत्सर्ग कर देनेके लिये तैयार न हो जाय। परिवारके लिये अपने आराम-को त्याग देना, यह एक ऐसी अवस्था है जिसे अनेक ही प्राप्त कर चुके

हैं; स्त्रीके सम्मान या घरकी सुरक्षाके लिये अपने जीवनका उत्सर्ग कर देना, यह एक उच्चतर प्रकृतिका कार्य है जिसमें मनुष्य व्यष्टि-रूपमें तथा विशेष वर्गोंके रूपमें भी समर्थ होता है, परन्तु समष्टि-रूपमें नहीं। परिवारके बाद समाज या जनसंघ आता है और इस प्रकार आत्माके विस्तारमें अगला कदम तब उठाया जाता है जब शरीरस्थ आत्मा और परिवारनिष्ठ आत्माके साथ तादात्म्य, समाजवर्ती या संघवर्ती आत्माके साथ तादात्म्यके सामने झुक जाता है। यह स्वीकार करना कि मनुष्यपर अपने परिवारकी अपेक्षा अपने जनसंघका कहीं बड़ा दावा है, सामाजिक अवस्थाकी और प्रगतिकी सबसे पहली शर्त है। यह अवस्थाक्रम वैसा ही है जैसा पितृशासित परिवारमेंसे जातिका विकास और उन सांघिक संस्थाओंकी परिपक्वावस्था जिनका नमूना था हमारा ग्रामसंघ या पंचायत। यहाँ फिर, संघके अधिक विस्तृत स्वार्थपर पारिवारिक स्वार्थकी बलि चढ़ानेके लिये सदा उद्यत रहना, सांघिक जीवनकी सर्वप्रथम आवश्यक अवस्था होनी चाहिये और संघकी सुरक्षाके लिये अपना जीवन दान करना एक दिव्यताका कार्य होना चाहिये, जो दिव्यता कि विस्तृत होती हुई आत्माकी सांघिक विचारमें पूर्णता-प्राप्तिका चिह्न है। अगला विशालीकरण है राष्ट्रगत आत्मा। राष्ट्रका विकास एक ऐसी प्रगति है जो आधुनिक अवस्थामें मानवताके लिये अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि मनुष्यके स्वार्थको, परिवारके स्वार्थको तथा वर्गके स्वार्थको, जिनकी गहरी जड़ें आजतक भी अतीतमें जमी हुई हैं, अब विशालतर राष्ट्रीय आत्मामें अपने-आपको विलुप्त करना सीखना होगा, जिससे कि मानवजातिमें भगवान्‌का क्रमविकास हो सके। अतः राष्ट्रवाद इस युगका धर्म है, और भगवान् हमारी सार्वजनीन भारतमाताके रूपमें अपने-आपको हमारे सामने अभिव्यक्त कर रहे हैं। राष्ट्रीयताका निर्माण करनेके सर्वप्रथम प्रयत्न थे यूनानी नगर, सैमिटिक या मंगोलियन एकराजतन्त्र, कैल्टिक गण, आर्य कुल या जाति। इन सब विचारोंके संमिश्रणके ही फलस्वरूप, आगे चलकर मध्यकालीन राष्ट्र बने और आधुनिक जनताओं वा राष्ट्रीय प्रजाओंका विकास हुआ। यहाँ फिर, विशालतर राष्ट्रीय स्वार्थपर अपने स्वार्थ, पारिवारिक स्वार्थ, वर्गके स्वार्थकी बलि चढ़ानेके लिये उद्यत रहना ही मानवताकी राष्ट्रके रूपमें पूर्णता-प्राप्तिकी शर्त है और इसकी भलाई या सुरक्षाके लिये मर मिटना विशालतर राष्ट्रीय 'अहं'में आत्माकी पूर्णता-प्राप्तिका परम कार्य है। इससे भी अधिक ऊँची एक पूर्णता है जिसके लिये कुछ एक व्यक्तियोंने ही अपनेको तैयार दिखलाया है, वह है सारी मानवताको अन्तर्गत कर लेनेके लिये आत्माका विस्तार। मानवतावादके

आदर्शोंपर कुछ एक व्यक्तियोंके निज स्वार्थकी वलि चढ़ा देनेसे इस दिशामें आगे कदम बढ़ाया जा चुका है, परन्तु राष्ट्रके हितोंका मानवताके विशालतर हितपर वलिदान कर डालना एक ऐसा कार्य है जिसके लिये मानवता समष्टि-रूपमें अभी तक न तैयार हुई है न समर्थ। परमेश्वर तैयारी करता है, पर वह फलको उसकी ऋतुसे पहले पकानेकी जल्दी नहीं करता। एक समय आवेगा जव यह भी संभव होगा, परन्तु वह समय अभी आया नहीं। न ही मानवताके लिये यह अच्छा होगा कि वह वृहत्तर अवस्था अपनेसे इतर तथा लघुतर एकमयता-आत्माकी राष्ट्रीय अहंके साथ एकमयताके पूरा होनेसे पहले ही आ उपस्थित हो; क्योंकि ऐसा होनेसे फिर पीछे हटना आवश्यक हो जायगा ताकि जिस अवस्थाको छोड़ दिया गया है उसे पीछे हटकर, ठहरकर सुरक्षित कर लिया जाय। मानवताका आगे बढ़ना एक अविरत प्रगति है और दूर आगेकी पस्थतियोंपर जल्दीसे जा पहुँचनेमें कोई वड़ा लाभ नहीं, जबतक कि पीछेके आवश्यक स्थान काबूमें न लाये जा चुके हों।

राष्ट्रीय अहंका सहज ही यह अर्थ हो सकता है कि यह सामूहिक स्वार्थपरता है, इससे अधिक कुछ नहीं। मैं देशके लिये धनदौलत और आरामका वलिदान करनेको तैयार हो सकता हूँ ताकि अपने धन, यश या स्थिति और संपत्तिको, जो उसकी सुरक्षा और महत्तापर निर्भर हैं, सुरक्षित रख सकूँ। मैं अपनी उस घर-गृहस्थीकी रक्षाके हेतु, जिसे राष्ट्रकी सुरक्षा दृढ़ करती है, इनका और इनसे भी अधिक चीजोंका उसपर बलिदान करनेको उद्यत हो सकता हूँ। मैं उसके लिये बहुत कुछ बलिदान करनेको तैयार हो सकता हूँ क्योंकि उसकी महत्ता, ऐश्वर्य, आरामका अर्थ होता है मेरे संघ या मेरे वर्गकी महत्ता, ऐश्वर्य, आराम। या उसमें मेरा स्वाभिमान निहित होनेसे और अपने राष्ट्रको बलशाली तथा साम्राज्यशाली देखनेकी मेरी इस इच्छासे उसकी महत्ताको अधिगत करनेके लिये मैं प्रत्येक चीजका उत्सर्ग करनेको उद्यत हो सकता हूँ। ये सब स्वार्थके रूप हैं जो मनुष्यका उस विशालतर जीवनमें पीछा करते हैं जो उसे स्वार्थसे मुक्ति दिलानेके लिये अभिप्रेत हैं। पूँजीवाद एवं साम्राज्यवाद प्रभृति जो महारोग आधुनिक राष्ट्रोंको पीड़ित कर रहे हैं उनका मूल है यह दृढ़ स्वार्थपरता। यह उस अभिमान, मद और अन्यायका उद्गम है जो किसी राष्ट्रकी समृद्धिपर आघात पहुँचाते हैं और, उस घातक प्रगतिद्वारा जिसकी यूनानियोंने (इन चीजोंके लिये तीव्र संवेदनशक्ति होने के कारण) स्पष्टतया सीमा निर्धारित की थी, मद तथा क्रोधावेशसे उस अन्धसंमोहकी ओर जो मनुष्यों और राष्ट्रोंके

संहारके लिये ईश्वरका साधन है। इस पीछा करनेवाली बुराईका एक ही इलाज है और वह है राष्ट्रको सर्वसमान मानवतामें एक आवश्यक इकाई मात्र समझना और इससे अधिक कुछ नहीं।

किसी भी राष्ट्रके जीवनमें दो अवस्थाएँ आती हैं, पहली तब जब यह अपना निर्माण या नव-निर्माण कर रहा होता है, दूसरी, जब यह निर्मित, गठित और शक्तिशाली हो उठता है। पहली वह अवस्था है जब राष्ट्रवाद व्यक्तिके सामने अपनी बड़ी-से-बड़ी माँगें उचिततया ही पेश करता है, दूसरीमें इसे अपनी माँगोंको न्यून कर अपनेको तृप्त कर विश्वबन्धुत्वमें सुरक्षित रखें कुछ वैसे ही ढंगसे जैसे व्यक्ति अपने-आपको परिवारमें सुरक्षित रखता है, परिवार अपनेको वर्गमें, वर्ग राष्ट्रमें अपनेको अनावश्यक तौरपर नष्ट करते हुए नहीं बल्कि विशालतर हितको अंगीकार करते हुए। किसी पराधीन राष्ट्रके अपने पृथक् अस्तित्वको उपलब्ध करनेके लिये किये गये संघर्षोंमें इस विशालतर हितको एक आगे आनेवाली दूरकी वस्तुके तौरपर ही सामने रखा जा सकता है, और विशालमनयुक्त तथा उदार देशभक्तिके एक उच्चतर प्रेरकके तौरपर ही अपनाया जा सकता है। ऐसे राष्ट्रका विशालतर हितके लिये कोई बलिदान संभव नहीं, क्योंकि उच्चतर भलाईके लिये अपने हितोंकी बलि दे सकनेके पूर्व उस राष्ट्रको अपना अस्तित्व अवश्य सुस्थिर कर लेना होगा।

इस समय हमारी अवस्था प्राथमिक या निर्माणोन्मुखी है और इस अवस्थामें राष्ट्रवादकी मांग पूरी करना अनिवार्य है। राष्ट्रका निर्माण करनेके परम ध्येयपर व्यक्ति, परिवार और वर्गके बलिदानोंसे ही यह संभव होगा कि ऐसी विरोधी परिस्थितियोंमें भी राष्ट्रवाद अपनी सत्ताके लिये आवश्यक सर्वप्रथम अवस्थाओंको सुरक्षित तौरपर दृढ़ कर सके। नवीन राष्ट्रीयताका प्रत्येक कार्य कष्ट-सहन और आत्मत्यागके लिये पुकार-रूपको उपस्थित होता रहा है। स्वदेशी एक ऐसी ही पुकार थी, पंचायत एक ऐसी ही पुकार थी, राष्ट्रीय शिक्षा एक ऐसी ही पुकार थी; इन सबसे बढ़कर, निष्क्रिय प्रतिरोध एक ऐसी ही पुकार थी। व्यक्ति और परिवारका राष्ट्रके हितोंपर उत्सर्ग करनेकी आम तैयारीके बिना इनमेंसे कोई भी चीज उपलब्ध नहीं की जा सकती। आजकल एक नयी पुकार मूर्त आकार ले रही है उच्चतर वर्गोंके प्रति यह पुकार कि वे निम्न वर्गोंके उत्थानके लिये अपने विशेषाधिकारों और अविचारपूर्ण पक्षपातोंका उसी प्रकार बलिदान कर डालें जैसा कि जापानी सामुराइयोंने किया था। स्वेच्छापूर्वक आत्मबलिदानकी आम भावनाका प्रसार भारतीय राष्ट्रके निर्माणकी अपरिहार्य

भूमिका है। यह सत्य केवल हमारे उस आन्दोलनके स्वरूपसे ही स्पष्ट नहीं होता जिसे हमने आरंभ किया है, बल्कि इतिहास और अनुभवकी कसौटियोंसे भी पुष्ट होता है। जिस किसी भी मामलेके लिये बलिदान-कार्यका अन्तिम निश्चय करनेसे पहले हमें आजकल इन्हीं कसौटियोंपर प्रत्येक फुटकर बातको परखकर प्रमाणित करना होता है। इतिहास और अनुभवका प्रमाण देकर राष्ट्रवादी दलने राष्ट्रकी बुद्धिको वैसे ही कायल किया है जैसे अपने प्रेरणादायक आदर्शों और कष्ट सहनकी तैयारीसे इसने राष्ट्रके हृदयको अपने साथ कर लिया है। यह माँग, कि हमें प्रत्येक फुटकर बातके संबन्धमें सारे प्रश्नपर ही फिरसे विचार करना चाहिये, अत्यधिक और असंभव है। इतना काफी है कि हमें बलिदानकी उपयोगिता और आवश्यकतापर सामान्यतया विश्वास हो चुका है और हम व्यक्तिगत पुकारको अनुभव करते हैं। यह अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि उस जन-समाजकी अवस्थासे जो सुगठित है, स्वाधीन है और समृद्ध हो रहा है, हम उस जनसमाजकी अवस्थाका अनुमान नहीं कर सकते जो पराधीन है, संघर्षरत है, आपद्ग्रस्त है। पहली अवस्थामें आत्म-बलिदानके बार-बार होनेवाले कार्योंके लिये व्यक्तिका आह्वान नहीं किया जाता, किन्तु केवल उनके लिये जिनकी माँग राष्ट्रको नियमित तौरसे रहती है, और आवश्यकता आ पड़नेपर विशेष बलिदानकी सामान्य तैयारी रखनेके लिये भी, परन्तु दूसरी अवस्थामें बलिदानकी आवश्यकता एक स्थिर वस्तु है। न ही यह कोई युक्तियुक्त सिद्धांत है कि ऐसी परिस्थितियोंमें साहस तथा आत्मोत्सर्गके प्रत्येक फुटकर कार्यके लिये पर्याप्त मूल्यकी माँग की जाय। अपनी स्वाधीनताका मूल्य माँगे जानेपर पराधीन राष्ट्रके व्यक्तियोंका कर्मफलप्रदातासे यह कहना निःसंदेह अजीब होगा कि "हमारे प्रत्येक फुटकर बलिदानके बदलेमें आपको हमें इतना देना पड़ेगा और हमें आपकी शर्तें पहलेसे ही मालूम होनी चाहियें, अपने कष्टोंके पैसाभर प्रतिफलके मामलेमें भी हम आपपर विश्वास नहीं करेंगे।" ऐसे पुरुषोंद्वारा और ऐसी भावनासे कभी कोई पराधीन राष्ट्र स्वतंत्र नहीं हुए।

उन्नायिका शक्ति

इटैलियन क्रांतिके अग्रभागमें जितने भी महान् अभिनेता थे, उनमेंसे इटलीके पुनरुद्धारके लिये सबसे अधिक आवश्यक थे मैजिनी और कावूर। इन दोनोंमेंसे निस्संदेह मैजिनी अधिक महान् था। कावूर था राजनीतिज्ञ और संगठनकर्ता, पर मैजिनी था मसीहा और स्रष्टा। मैजिनी व्यस्त था उन महान् और शाश्वत विचारों और भावनाओंके साथ जो सभी देशों और विभिन्न युगोंमें मानव-समाजोंको परिचालित करते हैं, पर कावूर व्यस्त था आधुनिक इटलीकी सामयिक आवश्यकताओं तथा परिस्थितियोंके साथ। एक तो था तीक्ष्ण मस्तिष्क और दूसरा था एक शक्तिशाली आत्मा। कावूर सिर्फ इटलीका था, पर मैजिनी था। समूची मानवजातिका कावूर बस उस कालका ही पुरुष था, पर मैजिनी था। शाश्वतताका नागरिक परंतु मैजिनीके कार्यको तुरत सफलताका सेहरा कभी न प्राप्त हुआ होता यदि उस समय कावूर न हुआ होता। ठीक उसी तरह कावूरका कार्य भी मैजिनीके न होनेपर असंभव हो गया होता। मैजिनीने समस्त मानवताकी आत्माको, उसके अतीतकी भावनाको और उसके भविष्यकी अंतःप्रेरणाको इटैलियन आकारमें मूर्तिमान् किया था और मृतको जीवन प्रदान किया था। उसके श्वास-प्रश्वाससे मृत हड्डियोंने मांस धारण कर लिया था और विषाक्त झाड़ियोंके जंगलमें गुलाब खिल उठे थे। मैजिनीने देखा कि इटली भ्रष्ट, अधःपतित, विश्वासघातक, अनैतिक, स्वार्थपरायण, संपूर्णतः विभक्त और एकत्वके लिये आयोग्य है; उसने उसे एक महान् आशा, उच्च आध्यात्मिकताका प्रवेग, एक बौद्धिक प्रवेग प्रदान किया, जो कुतर्क तथा भ्रामक ब्योरोंकी अवमाननाकर सीधे वस्तुओंके हृदयमें पैठ गया और एक या दो आवश्यकताओंपर आ जमा, एक आदर्शपर आ जमा जिसके लिये जिया या मरा जाय और एक शक्तिपर आ जमा जिसके लिये जिया या मरा जाय। बस, इतना ही उसने किया, पर यह पर्याप्त था। कावूर प्राचीन इटैलियन राजनीतिज्ञता, कूटनीतिज्ञता और व्याव-हारिकताको ले आया और उसने उन्हें स्वतंत्रता और एकताके उस महान् आदर्शकी सेवामें लगा दिया जिसके लिये मैजिनीने लाखों-करोड़ों मनुष्योंको पागल बना दिया था। फिर भी इटलीके इन दोनों उद्धारकों और प्रेमियोंने एक-दूसरेको कभी नहीं समझा। मैजिनी कावूरको बेईमान, मक्कार और

'मेकियावेलियन' (धूर्त कूटनीतिज्ञ) समझकर उससे घृणा करता था और कावूर मैजिनीको एक मतान्ध तथा खतरनाक आग भड़कानेवाला व्यक्ति समझकर उसपर नाक-भौं सिकोड़ता था। इन दोनोंके बीचकी चिरस्थायी गलतफहमीका कोई ऊपरी और प्रत्यक्ष कारण निर्धारित कर देता और यह कहना बड़ा आसान है कि राजतंत्रवादी तथा व्यावहारिक राजनीतिज्ञ और कल्पनाविलासी तथा प्रजातंत्रवादी एक-दूसरेको गलत समझने और चिरकाल अविश्वास तथा नापसंद करनेके लिये बाध्य थे। परंतु इसका एक अधिक गंभीर कारण था।

(1)

मैजिनी एक चीजको सबसे अधिक घृणा करता था और उसने इटलीके युवकोंके हृदय और कल्पना-शक्तिको उससे मुक्त रखनेकी कोशिश की। उसे वह संक्षेपमें 'मेकियावेलियनिज्म' (चाणक्य-नीति) कहा करता था। 'मेकियावेलियन' उस मनुष्यको कहते हैं जिसमें निखालिस बुद्धि होती है और कल्पना-शक्ति नहीं होती, महान् उद्देश्योंके प्रति वह बौद्धिक रूपसे मरा तो नहीं होता, पर वह उन्हें अपना आदर्श नहीं बनाता बल्कि उनकी ओर ठोस हितोंकी दृष्टिसे देखता है तथा उन्हें कार्यान्वित करनेके लिये उन सभी साधनोंका उपयोग करनेको तैयार रहता है जिन्हें मानवीय छल-छद्म सुझाता है अथवा अविवेकपूर्ण शक्ति कार्यमें लगाती है। मैजिनीसे पहलेकी इटलीकी देशभक्ति इस 'मेकियावेलियन' साँचेमें ही ढली हुई थी। वहाँका 'कारबोनारी' आन्दोलन, जो इटलीका जीनेका सबसे पहला प्रयास था, इस भावसे ओतप्रोत था। मैजिनीने देशको इस निम्न और निष्प्रभाव-स्तरसे ऊपर उठाया और उसे वह एकमात्र शक्ति प्रदान की जो पुनरुज्जीवनकी आशाको सत्य सिद्ध कर सके, जो अंतरस्थ आत्माकी शक्ति है, वह बल है जो आशु हितों और पारिपार्श्विक परिस्थितियोंकी अवहेलना करता है और, एक आदर्शके प्रति तीव्रानुरागके द्वारा परिचालित होकर, जिस तीव्र शक्तिको वह उत्पन्न करता है उसके प्रवेग तथा वर्द्धनशील गतिके ऊपर अपनेको छोड़कर असंभाव्यता और असाध्यताकी भावनाओंको घृणा करता है तथा जीवन, संपत्ति और सुखको पासके उस दावपर झोंक देता है जो विपरीत भाग्य और अनुकूल परिस्थितिद्वारा पहलेसे रुका होता है। अंतरस्थ आध्यात्मिक शक्ति केवल भविष्यका ही सृजन नहीं करती बल्कि भविष्यके लिये उपयुक्त सामग्रियोंको भी उत्पन्न करती है। वह न तो वर्तमान सामग्रियोंके स्वभावसे सीमित होती है न उनके तादादसे। वह

बुरी सामग्रीको अच्छी सामग्रीमें; अपर्याप्त साधनको प्रचुर साधनमें रूपांतरित कर सकती है।

बस, इसी महान् सत्यकी गभीर चेतनाने मैंजिनीको आधुनिक इटलीका निर्माण करनेकी शक्ति प्रदान की। उसकी आँखें सर्वदा राष्ट्रके मन और हृदयपर आबद्ध थीं, उसने इटली बाह्य या आंतरिक परिस्थितियोंकी ओर बहुत कम दृष्टि दौड़ायी। वह कोई राजनीतिज्ञ नहीं था, पर उसे एक राजनीतिज्ञकी अपेक्षा कहीं अधिक अंतर्दृष्टि प्राप्त थी। उसने जो लगातार कई छोटे-छोटे, स्थानीय और आवश्यक रूपसे विफल विद्रोहोंकी योजना बनायी उससे साधारण व्यावहारिक मनुष्यको झट ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उसमें सामान्य समझदारी और राजनीतिक ज्ञानका नितांत अभाव था। वह सब करीब-करीब उतना ही निरर्थक प्रतीत होता है जितना कि किसी असंतुलित मस्तिष्कका यह विचार, यदि निस्संदेह इस विचारका वास्तवमें पोषण किया जाय, कि यत्र-तत्र कुछ हत्याएँ कर देनेसे इस देशकी स्वाधीनताकी रक्षा की जा सकती है। परंतु वहां एक मौलिक भेद है। मैंजिनी अच्छी तरह जानता था कि वह क्या करने जा रहा है। उसकी आंखें राष्ट्रके हृदयपर निबद्ध थीं। इटैलियन रोगके एक चिकित्सकके रूपमें उसका कार्य अंतिम और पूर्ण परिणाम ले आना नहीं था बल्कि पूर्ण स्वस्थता और पुनरुत्थानके उपयुक्त अवस्थाओंका सृजन करना था। वह जानता था कि अंतिम सफलताका आना तबतक असंभव है जबतक कि एक शक्तिको उत्पन्न न किया जाय और उस शक्तिको अभी कुछ दिनोंतक आयत्त नहीं किया जा सकता। और वह यह भी जानता था कि वह शक्ति भी तबतक सफल नहीं हो सकती जबतक उसके कार्यके पीछे एक महान् आध्यात्मिक और नैतिक बल न हो और उसकी अभीप्साओंमें जान न फूंक दे। इसी बलको उत्पन्न करनेका प्रयास उसने किया इस अध्यात्मिक शक्तिको उसने अपने शक्तिशाली और उन्नायक विचारोंका प्रचार करके उत्पन्न किया जो उसके लेखोंमें भरे पड़े हैं और जिनके प्रचारका मुख्य वाहन था उसका 'यंग इटली' नामक पत्र।

परंतु नैतिक बल महज विचारोंके द्वारा नहीं स्थापित किया जा सकता, वह तो केवल कर्मके कारखानेमें ही तैयार किया जा सकता और पैना बनाया जा सकता है। और कर्म करनेके इसी अभ्यासको, साहसिक तथा प्रारंभात्मक इस शक्ति-प्रयोगके अभ्यासको ही मैंजिनीने इटलीके प्रसुप्त हृदय और निष्क्रिय अंगोंमें पुनः उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया। और, इसके साथ-साथ उसने उसके अंदर आत्मत्याग और आत्मोत्सर्गके, कठिनाई

और आपातदृष्ट असंभाव्यताके प्रति अवहेलनाके तथा हारके प्रति लौह असंवेदनशीलताके परमोच्च रोमन भावको स्थापित करनेकी चेष्टा की। उनके इस उद्देश्यसिद्धिके लिये उनके प्रारंभ किये गये साहसिक कार्योंकी एकदम व्यर्थता ही उनके व्यवहार्य प्रबंधोंसे कहीं अधिक अनुकूल थी। और जब दूसरोंका तथा कभी-कभी स्वयं उनका भी हृदय उतने सारे नवजवान और होनहार देशवासियोंको अपने तुच्छ और साथ ही असंभव प्रयासोंकी रक्तपूर्ण खाइयोंमें फेंक देनेके लिये उनकी भर्त्सना करता तो उनके अंदरका विश्वास और ज्ञान ही प्रत्येक निरुत्साहके सामने उन्हें सीधे खड़ा रखता। क्योंकि उनमें वह अतिमानवीय बल था, उन्हें इटलीको ऊपर उठानेकी आज्ञा प्राप्त थी। यदि भगवान्का उद्देश्य यह रहा होता कि इटलीको शीघ्र ही एक महत्तर यूरोपियन शक्ति बन जाना चाहिये, तो उन्हें उसे स्वतंत्र कर देनेकी आज्ञा भी प्राप्त हुई होती। और उन्होंने कावूरसे एक भिन्न तरीकेसे वैसा कर भी लिया होता—बहुत अधिक समय बीत जानेके बाद, मानवजीवनका बहुत अधिक भयानक और खूनी मूल्य चुकाकर कर लिया होता, पर उन्होंने 'सवाय' और 'नीस'को घूसके रूपमें देकर फ्रांसके बाजारमें इटलीकी स्वतंत्रता नहीं खरीदी होती और उन्होंने आध्यात्मिक तथा नैतिक बलका इतना दिव्य उत्पादन किया होता जिसने उनके देशको शताब्दियोंतक लालित-पोषित किया होता तथा उनके इस महान् स्वप्नको चरितार्थ कर दिया होता कि इटली ऐसा देश बने जो यूरोपका आध्यात्मिक, बौद्धिक और राजनैतिक पथप्रदर्शन करे।

(2)

यह (इटलीको स्वतंत्र करनेका) कार्य कावूरको दिया गया था ठीक इसी कारण कि वह एक निम्न कोटिका मनुष्य था। मैज़िनीने उसके अंदर 'मैकियावेलियनिज्म' (कूटनीति) को पुनः जागृत होते हुए, तथा अपने निजी नैतिक कार्यको व्यर्थ होते हुए देखा। उसका देखना गलत था, पर पूर्ण रूपसे गलत नहीं था। कावूरका स्वभाव और पद्धति दोनों स्पष्ट रूपसे 'मैकियावेलियन' थे। उसने इटैलियन चरित्रके इस तत्त्वको धारण किया और उसे एक विजयपूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान की। 'शार्लमान'की तरह उसने शक्तियोंको तौला, ठोस भौतिक हितोंको ऊंचा स्थान दिया, असंभव तो नहीं, पर महान् लक्ष्योंके लिये प्रयास किया और ऐसी पद्धतियोंका किया जो वीरतापूर्ण तो नहीं थीं, पर साहसिक जरूर थीं, कूटनीति, अवसरवादिता तथा छल-चातुरीका व्यवहार ऐसी शक्तिके साथ किया जिसकी

योग्यता उन लोगों (कारबोनारी) में नहीं थी और उनके विपरीत, वह भौतिक बलिदानोंसे जरा भी नहीं कतराया। जहाँ वे असफल हुए वहाँ वह सफल हुआ, महज इस कारण नहीं कि वह एक महान् राजनीतिज्ञ था, बल्कि इस कारण कि उसने इटलीकी एकता और स्वतंत्रताको प्यार करना सीखा था, और वह इस एकता और स्वतंत्रताको महज राष्ट्रीय हितकी दृष्टिसे नहीं देखता था, वल्कि ये उसके अत्यंत आकर्षक आदर्श थे। उसने जिस तीव्रानुरागको, जो संतान और स्त्रीके प्रति मनुष्यके अनुरागसे कहीं अधिक वड़ा था, इन अभीप्साओंमें भर दिया था तथा जिस भावप्रवण उत्साहके साथ 'स्वतंत्र राज्यके अंदर स्वतंत्र चर्च'का अपना उदार आदर्श प्रदान किया था, ये दोनों उसके और विशुद्धत: 'मेकियावेलियन कारबोनारी'के बीचकी आध्यात्मिक खाईको सुस्पष्ट सूचित करते हैं। यही वह चीज थी जिसने उसे महान् प्रयास करने तथा पासेके एक ही दावपर सब कुछ रख देनेकी शक्ति प्रदान की। इस तरह हम देखते हैं कि उसमें मैंजिनीकी शिक्षाके एक अंशकी अंत:प्रेरणा विद्यमान थी और उसने उस शक्तिका व्यवहार किया जिसे मैंजिनीने उत्पन्न किया था। इस शक्तिके विना वह निस्सहाय अवस्थामें ही रहा होता। सच पूछा जाय तो कावूरने इटलीकी रक्षा नहीं की, रक्षा तो पुनरुज्जीवन प्राप्त करनेवाली इटलीकी शक्तिने की, वस, उसने कार्य कावूरके माध्यमसे किया।

इतिहास वहुधा गलत वर्णन करता है। उसने पहले ऐसा वर्णन किया था कि क्रांतिके पिछले भागको पूर्णत: संचालित करनेका श्रेय कावूरके राजनीति-कौशलको था। पर अव यह स्वीकार किया जाने लगा है कि कई वार वड़े-वड़े मामलोंमें कावूरने एक प्रकारकी योजना वनायी और महान् राष्ट्र-निर्माताने दूसरे प्रकारकी योजना वनायी। परंतु कावूरको राजनीतिज्ञका सवसे वड़ा गुण प्राप्त था, वह यह स्वीकार करना जानता था कि घटनाएँ उससे कहीं अधिक विज्ञ हैं और वह अपनी योजनाओंकी सफलताके प्रति अपनी आसक्तिको एक ओर फेंककर एक ऐसी स्थितिके लाभोंको वह देखता और उनका व्यवहार करता था जिसका पूर्वाभास उसे नहीं मिला होता था। इस गुणका मतांध और सिद्धांतवादी मैंजिनीमें लगभग पूर्णत: अभाव था। फिर भी कावूरकी सफलताके कारण दीर्घ कालतक दासत्वमें रहे राष्ट्रके कुछ निम्नतर गुण इटैलियन चरित्र और राजनीतिक कार्यमें वने रहे और उन्हींके कारण इटलीको उन विपरीतताओं, वाधाओं और गहराईतक जड़ जमाये हुए विकारोंका शिकार होना पड़ा जो उसे अपनी महानता प्राप्त करनेसे रोकते हैं। मैंजिनीने

राष्ट्रीय रोगका निदान कहीं अधिक अच्छे रूपमें किया होता और सर्जन-जैसी निर्दयताके साथ अधिक गहराईतक छुरी चुभो दिया होता, उससे पीड़ा कुछ अधिक तेज तो हो गयी होती और कुछ लंबे कालतक बनी तो रहती, पर जड़-मूलसे दूर हो गयी होती।

(3)

भारतकी परिस्थितियाँ ठीक उन्हीं साधनोंका उपयोग करनेसे हमें रोकती हैं जिनका उपयोग इटलीके लोगोंने किया था। परंतु राष्ट्रोंके उत्थान, चरमोन्नति, अवनति और पुनरुत्थानमें जो सामान्य मनोवैज्ञानिक नियम-विधान उनको परिचालित करते हैं वे सर्वदा एक ही होते हैं। जिस स्वतंत्रताको प्राप्त करनेकी चेष्टा हम भारतमें कर रहे हैं वह अपनी परि-स्थितियोंमें इटलीकी स्वतंत्रतासे भिन्न हो सकती है और जिन उपायोंका हम व्यवहार कर रहे हैं वे तो निश्चित रूपमें भिन्न हैं ही, पर सिद्धांत वही है। भारतकी उन्नीसवीं शताब्दिकी पुरानी देशभक्ति बड़ी दीन-हीन, सिद्धांतशून्य, दुर्बल तथा असच्चाइयों, दुराव-छिपाव और छल-छद्मसे भरपूर थी, वह तुच्छ भौतिक हितोंकी चिंता करती थी, महान् आदर्शोंसे उसका कोई सरोकार नहीं था, यद्यपि बौद्धिक रूपमें और बहुत दूरसे वह महान् लक्ष्योंकी ओर ताकनेसे अनिच्छुक नहीं थी। उसमें न तो कोई अंतःप्रेरणा थी, न कोई सत्य और न कोई राजनीतिक ज्ञान। राष्ट्रवादने देशमें एक महान् आध्यात्मिक शक्ति जगाकर और नयी पीढ़ीको महान् आदर्श, आशा और अभीप्साका विशाल क्षितिज, तीव्र विश्वास और शक्ति प्रदान करके एक मैजिनीके कार्यको पूरा किया है। इसने मैजिनीकी तरह राष्ट्रकी नैतिक अवस्थाको ऊपर उठानेका प्रयत्न किया है—राष्ट्रमें प्रेम, पराक्रम, आत्मत्याग, हारमें अशिथिलता, अथक और अदम्य अध्यवसाय, व्यक्तिगत और सुसंगठित कार्य करनेका अभ्यास, आत्मनिर्भरता तथा दुर्दमनीय साहस आदि गुणोंको उत्पन्न किया है। परंतु इसने विप्लवी हिंसाकी प्राचीन पद्धतिको त्याग दिया है और उसके स्थानपर आत्मनिर्भरता तथा निष्क्रिय प्रतिरोधको स्वीकार किया है।

कार्य अभी पूरा नहीं हुआ है और जब यह पूरा हो जायगा केवल तभी देशमें एक शक्तिका उत्पन्न होना संभव होगा और उस शक्तिको नौकरशाहीका प्रतिनिधि-रूप भूतकाल भविष्यके प्रतिनिधिके रूपमें स्वीकार करने तथा क्रमशः अपने अधिकारोंका त्याग करते हुए उसके हित सिंहासन छोड़नेके लिये सहमत होगा। हमें आशा है कि जिस तरह कार्य शुरू

हुआ है उसी तरह राष्ट्रवादकी भावनाके साथ जारी रहेगा और भारतकी केवल राजनीतिक परिस्थितियाँ ही नहीं बदलेंगी बल्कि उसका गभीरतर रोग भी दूर हो जायगा और उसकी नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्तिके विशाल भांडारोंके उद्बोधनके द्वारा भारतके लिये वह कार्य संपन्न हो जायगा जिसे मैजिनी इटलीके लिये नहीं पूरा कर सका। उस कार्यके फलस्वरूप भारत उस नवीन जगत्के शीर्ष और अग्रभागमें अपना स्थान पा लेगा जिसकी प्रसव-वेदनाने अब पृथ्वीको प्रकंपित करना आरंभ कर दिया है।

फ्रांसकी क्रान्ति

फ्रांसकी क्रान्तिकी महत्ता उसमें नहीं जिसे उसने संपन्न किया, बल्कि उसमें है जिसे उसने सोचा और जो वह वास्तवमें थी। उसका कार्य मुख्यत: ध्वंसात्मक था। उसने तैयार तो बहुत-सी चीजें कीं, किन्तु स्थापना किसी चीजकी नहीं की। नेपोलियनका रचनात्मक कार्य भी सन् 1789 के विचारोंके लिये रास्तेके बीचका एक पड़ावभर था जिसमें वे तबतक टिक सकें जबतक कि विश्व उन्हें ज्यादा अच्छी तरह समझने और सचमुच पूरा करनेके लायक न बन जाय। वे विचार अपने-आपमें नये नहीं थे; वे ईसाई-मतमें मौजूद थे और ईसाइयोंसे भी पहले बौद्धमतमें थे; किन्तु सन् 1789 में पहली बार उन्होंने गिरजा और धर्म-ग्रंथोंकी परिधिसे बाहर निकलकर शासन-सत्ता और समाजके पुनर्निर्माणकी कोशिश की। यह एक असफल प्रयत्न था, किन्तु इस असफलताने भी यूरोपके चेहरेको ही बदल दिया। यह प्रभाव मुख्यत: उस शक्तिके कारण, उस उत्साहके कारण और उस सच्चाईके कारण पड़ा जिसके साथ उस विचारको अपनाया गया और उस सर्वांगसंपन्नताके कारण पड़ा जिसके साथ उसे कार्यान्वित करनेकी कोशिश की गयी। असफलताका कारण था ज्ञानकी कमी और कल्पनाकी अधिकता। लोगोंको भौतिक विचार मालूम थे, जिन प्रकारों और चीजोंको स्थापित करना था वे भी मालूम थीं, किन्तु उन्हें विचारोंके व्यावहारिक पक्षका अनुभव नहीं था। यूरोपीय समाजमें उस समयतक स्वतंत्रता नहीं, बंधन और दमन; समता नहीं, विषमता; भ्रातृ-भाव नहीं, स्वार्थपरायण शक्ति और हिंसा व्याप्त थी। इन विचारोंकी व्यावहारिक पूर्णताके लिये विश्व उस समय तैयार नहीं था और आज भी तैयार नहीं है। यह मानवताका लक्ष्य तो है, पर लक्ष्यसे हम अभी बहुत दूर हैं। किन्तु उसके निकट पहुँचनेकी कोशिश करनेका समय आ गया है। और इसके लिये प्रथम आवश्यकता है भ्रातृ-भावनाके अनुशासन और संगठनकी, क्योंकि बिना बन्धुत्वकी भावना और अभ्यासके स्वतंत्रता या समतामेंसे कोई चीज एक थोड़ी-सी अवधिसे अधिक नहीं टिक सकती। फ्रांसीसी इस व्यावहारिक सिद्धान्तसे अपरिचित थे। उन्होंने स्वतंत्रताको आधार बनाया और भ्रातृ-भावको ऊपरका ढाँचा। उन्होंने स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृ-भावके त्रिभुजको स्वतंत्रताके शीर्ष-बिन्दुपर खड़ा किया, क्योंकि

उनकी कल्पनामें यूनान और रोमकी प्रधानता होनेके कारण वे स्वतंत्रताके विचारोंसे सरावोर थे और वन्धुत्वके एशियाई और ईसाई सिद्धान्तको उन्होंने केवल ऊपरी तौरसे ही स्वीकार किया था। उन्होंने अपनी जानकारीके अनुसार ही निर्माण किया, किन्तु अगर इस त्रिभुजको स्थायी वनाना है तो इसे उलट देना होगा।

× × ×

फ्रांसीसी क्रान्तिकी क्रियाका रूप था कालीका प्रचण्ड तांडव नृत्य जो अपने ही वनाये खण्डहरोंको, अंधाधुंध, क्रोधाविष्ट होकर कुचल रही थी, वह विश्वके लिये दयासे पागल हो रही थी और इसीलिये पूरी तरह निर्दय होकर काम कर रही थी। उसने अपने अन्दरसे यातुधानीको सहायताके लिये पुकारा और राक्षसीको वुलाया। यातुधानी विनाशका आनन्द है, हत्याकाण्डका उन्माद है, वह विराट् पुरुषका रुद्र-रूप है—वह रुद्र-रूप जो भूतसे, प्रेतसे काम लेता है, जो मानवमें रहनेवाले पशुका स्वामी है, पिशाचोंका प्रभु है, पशुपति और प्रमथनाथ है। राक्षसी विना लगाम, मनमानी करनेवाले अहंकी शक्तिका प्रदर्शन और आत्म-स्थापन है, जो अपनी अच्छी और वुरी, सभी इच्छाओंकी पूर्तिपर जोर देती है और क्रोधसे सारे विरोधोंको छिन्न-भिन्न कर डालती है। यातुधानी और राक्षसीने ही फ्रांसको अपने कर्कश चीत्कारसे गुंजा दिया, उन्होंने स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृ-भावके ज्योतिर्मय मंत्रके साथ कठोर और भयावने शब्द 'या मृत्यु' जोड़ दिये। मृत्युका अर्थ था असुरोंकी मृत्यु, उन सवोंकी मृत्यु जो भगवान्के सृष्टि-विधानके विरोधी हैं। उन दो भयावनी शक्तियोंसे कालीने अपना कार्य किया। अपने दिव्य ज्ञानको उसने क्रोध और उत्तेजनाके अंधकारसे ढक दिया और सुरापानकी तरह रक्तपान किया। संस्कारों और रूढ़ियोंसे मुक्त होकर उसने समूचे यूरोपमें नग्न-नृत्य किया। वह समस्त महादेश उसके रणनाद और हत्याकाण्डसे भर गया, उसके हुंकार और अट्टहाससे निनादित हो उठा। उसने जव देखा कि वह महादेवको ही—राष्ट्रीयताके सिद्धान्तमें व्यक्त ईश्वरको ही—कुचल रही है, तो उसे अपनी याद हो आयी और उसने शक्तिशाली राक्षस नेपोलियनको दूर फेंक दिया, और शान्तिके साथ राष्ट्रीयताको एक ऐसे वाह्य आवरणके रूपमें, जिसमें भ्रातृ-भाव सुरक्षित एवं विस्तृत रूपसे संगठित किया जा सके, पूर्ण वनानेके काममें जुट गयी।

× × ×

क्रान्तिकी महत्ता उसके लोगोंमें भी थी, उन लोगोंमें उसने अपनी प्रचण्डता, उत्तेजना और विराट् प्रेरणा भरी और साथ ही विश्वसे उसने जो भीषण माँग की थी, वह भी भर दी। इसने मुख्यतः चार व्यक्तियोंसे—मीरावो, दाँतों, रोब्सपियर और नेपोलियनसे अपना काम निकाला। मीरावोने सूत्रपात किया, दाँतोंने प्रेरणा दी, रोब्सपियरने हत्या की और नेपोलियनने कार्य सम्पादित किया। प्रथम तीन व्यक्ति कुछ क्षणोंके लिये प्रकट हुए, साधारण जन-समूहके व्यक्तियोंकी भाँति, अपना काम करके विदा हो गये। काल-गति तेज थी, अगर वे ठहरे रहते, तो उनका ठहरना उनकी उपयोगिता पूरी हो जानेके बादका ठहरना होता और वे भविष्यको हानि पहुँचाते। हर व्यक्तिका अपना काम पूरा होते ही चला जाना, माँके आदर-सत्कारके बाद न ठहरना ही अच्छा है। जो उस समय छुट्टी पा जाते हैं या गैरीबाल्डीकी तरह बुद्धिमत्तासे छुट्टी ले लेते हैं, वे भाग्यशाली हैं। जो नेपोलियन या मेजिनीकी तरह अपनी महत्ताकी निश्चित अवधिके बाद भी ठहरे रह जाते हैं उनका भाग्य बहुत सुखमय नहीं होता।

× × ×

मीराबोने ऊषाकालपर—नवयुगकी संध्यापर शासन किया। अभिजात जनरक्षक, सिद्धान्तोंका असैद्धांतिक समर्थक, गर्वीला प्रजातंत्रवादी, मीराबो एक ऐसा मनुष्य था जिसका चिन्तन विक्षुब्ध था, जिसकी स्वयं बुद्धिमत्ता साहसपूर्ण, अडिग और निर्भीक थी। वह था दो युगोंका संधिस्थल। उसमें अतीतके आवेग थे, किन्तु उनका सुसभ्य संयम नहीं, उसमें भविष्यकी उत्तेजना, प्रतिभा और उद्दामता थी, किन्तु आदर्शोंके साथ उस जैसा दृढ़ लगाव न था। अभिजात वर्गकी एक मर्यादा होती है जिसकी जड़ें व्यावहारिक शिष्टाचारमें होती हैं; वह अपनी परिपाटीका आदर करती है; यह रूढ़िवादीकी मान-मर्यादा है। एक प्रजातंत्रवादीकी भी मर्यादा होती है जिसका आधार विचारोंमें होता है और जो अपने सिद्धान्तोंकी पवित्रताका आदर करता है; यह उदार-दलकी मर्यादा है। इनमेंसे कोई भी चीज मीराबोमें न थी। वह था विशुद्ध अहंवादी, चिर राक्षस। मीराबोको न्याय और स्वतंत्रता, न्याय और स्वतंत्रताके लिये नहीं, प्रत्युत् मीराबोके लिये प्रिय थे। अगर उसका जीवन भाग्यशाली होता, अगर पुराने शासनका ढाँचा उसकी आकांक्षाओं और उत्तेजनाओंको सन्तुष्ट करनेके लिये काफी अवकाश दे सकता तो सन् 1789 की उथल-पुथल शायद उसे दूसरे दलमें पाती। लेकिन, चूँकि मीरावोका हृदय और उसकी

भावनाएँ असन्तुष्ट थीं, इसीलिये फ्रांसीसी क्रान्ति विजयी हो पायी। इसीलिये यह सच है कि भगवान् मानव और मुहूर्त दोनोंको तैयार करते हैं, अच्छे और बुरे दोनोंको अपनी दिव्य निष्पक्षतासे अपने महत् उद्देश्यकी पूर्तिमें लगाते हैं। मनुष्यके बिना उचित मुहूर्त एक निष्फल अवसर होता है, और बिना उचित मुहूर्तके मनुष्य एक निष्क्रिय शक्ति। इन दोनोंका सम्मिलन ही राष्ट्रोंका भाग्य-परिवर्तन करता है और विश्व-संतुलनमें ऐसी चीजोंसे परिवर्तन लाता है जो ऊपरी तौरसे देखनेवालोंको आकस्मिक घटनायें ही प्रतीत होती हैं।

× × ×

ऐसा भी समय आया करता है जब किसी युग या आंदोलनकी मनोदशा और प्रकृतिको एक ही व्यक्ति अपने-आपमें केन्द्रित कर लेता है और इस व्यक्तिका अस्तित्व ही उसकी सफलताको निश्चित कर देता है। यह ठीक-ठीक बताना कठिन है कि दाँतोंको वे कौन-सी सेवायें थीं जिनके कारण यह कहा जा सके कि उसका अस्तित्व क्रान्तिकी सफलताके लिये आवश्यक था। उसने कुछ ऐसे काम किये जिन्हें कोई और न कर सकता था, जिन्होंने नियतिको बाधित किया। उसने कुछ ऐसी बातें कहीं, जिन्होंने फ्रांसको दृढ़ निश्चय और साहससे पागल कर दिया। ये शब्द, ये कार्य युगयुगान्तरतक गूँजते हैं। ये इतने सजीव, इतने अमर हैं कि स्वयं प्रलयका भी तिरस्कार करते प्रतीत होते हैं और चिर-विस्मृतिके आगे डटे रहनेका आग्रह करते हैं। वे मानव-आत्माकी अमरता और सर्वशक्तिमत्तासे तथा भाग्यपर भी शासन करनेकी उसकी शक्तिसे भरे हैं। ऐसा मालूम होता है कि वे आनेवाले उन युगोंमें भी जिनका अभीतक जन्म नहीं हुआ है और उन संसारोंमें भी जिनकी अभी सृष्टि नहीं हुई है, बार-बार दुहराये जायँगे। वह शक्ति, जिससे उनकी उत्पत्ति हुई थी, किन्हीं विरले और केवल महान् क्षणोंमें ही कार्य-रूपमें अभिव्यक्त हुई थी। दाँतोंकी शक्ति प्रसुप्त और निष्क्रिय पड़ी रही। वह अपने-आपको विस्मयकारक वक्तृतामें बिखेरकर, भावनाओं और भाषासे ही संतुष्ट थी। किन्तु जब-जब वह अनुप्राणित होती थी तब-तब वह घटनाओंको झकझोरती और प्रमुख मौलिक शक्तिकी धारा बहाती थी जो समूचे फ्रांसीसी राष्ट्रकी चेतनाको झंकृत कर देती थी। जिस शक्तिसे वह स्वयं काम न लेता था वही शक्ति उसके जीने, चलने, बोलने, अनुभव करने और कार्य करनेमात्रसे लाखोंमें संचारित हो उठती थी। जिन विचारोंको वह व्यक्त नहीं करता था, वे लोगोंके मस्तिष्कको पकड़ लेते थे और लोग उन्हें अपने ही विचार

समझते थे। जिन कामोंको वह कहीं अधिक अच्छी तरह कर सकता था वे ही दूसरोंके द्वारा कहीं अधिक बुरी तरह किये गये। दांतों संतुष्ट था। भव्य और आडंबरप्रिय होते हुए भी वह अनूठे रूपसे व्यक्तिगत महत्वाकांक्षासे रिक्त था। वह अपनी शक्तिसे, किन्तु दूसरोंके कामोंद्वारा क्रान्तिको सफल होते देखकर संतुष्ट था। उसके पतनने फ्रांसके आंदोलनमेंसे विजयी आतंकके बलको, उसकी नष्ट करने और जीतनेकी प्रवृत्तिको निकाल दिया। कुछ समयतक तो संचित प्रेरणाने इसे आगे बढ़ाया किन्तु बादमें यह लड़खड़ाई और रुक गयी। कार्यकी प्रत्येक भारी बाढ़के केन्द्रित होनेके लिये एक मानव-आत्माकी आवश्यकता होती है, विश्व पुरुषके एक साकार बिन्दुकी आवश्यकता होती है जहाँसे वह दूसरोंको भी आप्लावित कर सके। दांतों एक ऐसा ही बिन्दु था, ऐसा ही केन्द्र था। उसके दैनिक विचारों, भावनाओं और प्रेरणाओंने उस उबलते हुए क्रोधको एक सन्तुलन, और उस अर्थपूर्ण उथल-पुथलको एक स्थिरता प्रदानकी। वह क्रान्तिके मूर्त स्वरूपका मेरुदंड था, उसका हृदय था, जबकि रोब्सपियर था उसका हाथ मात्र। इतिहास, जो यूरोपीय होनेके नाते घटनाओंपर बहुत अधिक बल देता है और थोड़ा-बहुत भाषणों पर, किन्तु जिसने कभी आत्माओंके महत्वका अनुभव ही नहीं किया है, दांतों-जैसे व्यक्तिका मूल्यांकन नहीं कर सकता। केवल सत्य-द्रष्टाकी आँखें ही जनतामेंसे उन्हें ढूँढकर निकाल सकती हैं और उन विराट् स्पन्दनोंके मूलका पता लगा सकती हैं।

मीराबो और दांतोंकी प्रतिभाके विषयमें भले चर्चा कर ली जाय पर नेपोलियनकी प्रतिभाके बारेमें कुछ कहना व्यर्थ है। किन्तु रोब्सपियरकी प्रतिभाके बारेमें कुछ नहीं कहा जा सकता। उसमें प्रतिभा नामकी चीज ही नहीं थी। उसकी बुद्धि प्रखर थी और वह बहुश्रुत था, पर था प्रेरणाशक्तिसे खाली। उसका व्यक्तित्व प्रभावित करनेमें असफल रहता है। तो फिर वह कौन-सी चीज थी जिसने उसे अपरिमित शक्ति और प्रभाव दिया? यह चीज थी उसका मनुष्यमें विश्वास, उसकी श्रद्धा। उसे क्रान्तिपर विश्वास था, कुछ विचारोंपर विश्वास था और उनके प्रवक्ता एवं कार्यसंपादकके रूपमें अपने ऊपर विश्वास था। उसे यह विश्वास हो गया था कि उस विचारके शत्रुओंकी हत्या करना और उन्हें नेस्तनाबूद कर देना ही उसका मिशन है। और उसने जिस बातपर भी विश्वास किया, निर्विवाद रूपसे, बिना किसी हिचकिचाहटके, अदम्यभावसे विश्वास किया और दृढ़ निष्ठाके साथ उसे कार्य-रूपमें परिणत किया। मीराबो, दांतों, नेपोलियन— सभी स्थायी निरुत्साहके शिकार हो सकते थे, वे यह स्वीकार कर सकते

थे कि वे मार खा गये, समय उपयुक्त नहीं था, भाग्य विरुद्ध था, किन्तु रोब्सपियर ऐसा नहीं था। वह पीछे हट सकता था, डरसे अपना मुँह छिपा सकता था, किन्तु यह सब वह केवल अगली छलांग लगानेके लिये, अगले अवसरतक अपनेको सुरक्षित रखनेके लिये ही करता। उसमें श्रद्धाकी एक विराट् शक्ति थी। वास्तवमें इसी तरहके आदमी, जो पूरी तरह कर्तव्यनिष्ठ और सिद्धान्तोंके पक्के होते हैं, विना दयाके, विना पछतावेके, विना आराम किये और विना मुँह मोड़े हत्या कर सकते हैं। यातुधानीने उसे अपने कामके लिये पकड़ लिया था। वह कर्तव्यनिष्ठ वकील, जिसने अभियुक्तको मृत्युदण्ड देकर अपने सिद्धांत तोड़नेकी जगह न्यायाधीशके पदसे इन्कार कर दिया, वह अपने समयका या किसी भी समयका सबसे बड़ा राजनीतिक जल्लाद बना। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अगर दाँतों फ्रांसीसी क्रान्तिके मूर्तिमान स्वरूपका मेरुदंड था, तो रोब्सपियर हत्याकाण्डमें अग्रसर होनेवाला उसका हाथ था। लेकिन स्वभावतः ही वह अपनी सीमाओंको न जान सका और उसने सोचने, निर्माण करने और शासन करनेके लिये अभीप्सा की, ऐसे कार्योंकी अभीप्साकी जिनके लिये वह अयोग्य था। जब दाँतोंने माँगकी कि आतंकका अन्त होना चाहिये और उसका स्थान दयाको लेना चाहिये तो रोब्सपियरको उसकी माँगमें क्रान्तिकी आवाज सुननी चाहिये थी जो उसे रक्तरंजित कार्यविधिको रोकनेके लिये आदेश दे रही थी। किन्तु वह अपने अंधे विश्वाससे भरपूर था, उसने वह आवाज न सुनी। दांतों मर गया, क्योंकि उसने कालीके हाथका विरोध किया, किन्तु उसकी शक्तिशाली अशरीरी आत्मा विजयी हुई और उसने उसके अन्तिम विचारको देशपर थोप दिया। आतंकका अन्त हो गया और उसका स्थान दयाने ले लिया। फिर भी इतिहासमें रोब्सपियरका अपना सम्माननीय स्थान है। इन चारोंमें वही विशुद्धमति और सिद्धान्तका पक्का था, ऐसा आदमी था जिसने जब एक बातको ठीक समझ लिया तो फिर उस रास्तेसे कभी विचलित न हुआ।

× × ×

नेपोलियनने अपने अन्दर दूसरोंके कामोंका भी समावेश कर लिया। जैसे मीराबोने विनाशका श्रीगणेश किया, उसी तरह इसने निर्माण और संगठनकी व्यवस्थाका प्रारम्भ किया और किया उसी आत्म-विरोधी भावसे। वह राक्षस था, इतिहासका भीमकाय अहंवादी, स्वतंत्रताका तानाशाह, समानताका महाप्रतापी संरक्षक और महान् सिद्धान्तोंका असैद्धांतिक व्यवस्था-

पक। दाँतोंकी तरह, कुछ समयके लिये उसने अपने चरित्र और विचारोंसे घटना-चक्रका निर्माण किया। जब दाँतों जीवित था, राजनीति एक उच्छृं-खल प्रजातंत्रवादमें बदल गयी थी और युद्ध राष्ट्र-रक्षाकी शूरतामें। उसके प्रयाणके बाद नेपोलियनकी आत्माने घटना-चक्रका निर्माण किया और राज-नीति पहले नागरिक शासन और फिर सैनिक निरंकुशताके शासनमें परिणत हो गयी और युद्ध प्रजातंत्रकी विजय-व्यवस्थाके रूपमें बदल गया। रोब्स-पियरकी तरह वह विध्वंसात्मक शक्तिका कार्य करनेवाला हाथ, लेकिन साथ ही रोब्सपियरके विपरीत, निर्माण-शक्तिका हाथ भी था। कालीका क्रोध उसमें आत्मकेन्द्रित, सक्षम, व्यवस्थित विचारधारा और क्रियाशीलतासे पूर्ण, किन्तु साथ ही अति प्रचंड, प्रकांड, हिंसात्मक और विध्वंसात्मक हो गया।

नेपोलियन

नेपोलियनका नाम सव प्रकारके आलोचकोंके मतोंकी युद्ध-भूमि रहा है और लोगोंने अपने पक्षपातों, दृष्टिकोणों और राजनीतिक विचारोंके अनुसार उस कोर्सिकनसे प्यार या घृणाकी है, उसकी प्रशंसा या निन्दाकी है। नेपोलियनको दोष देना मानों मोंब्लांकी आलोचना करना या कंचनजंघापर कीचड़ फेंकना है। इस अद्भुत चमत्कारको समझना और जानना चाहिये, इसकी प्रशंसा करने या दोष देनेकी जरूरत नहीं। हमें इसकी प्रशंसा तो करनी होगी, पर नैतिकतावादी वनकर नहीं, मनोमय प्राणी होकर। उसके प्रशंसक और आलोचक समुचित रूपसे यह नहीं देख पाये हैं कि वोनापार्ट एक व्यक्ति था ही नहीं, वह तो था एक शक्ति। यहाँ केवल उस शक्तिके स्वरूपपर विचार करना है। कुछ ऐसे लोग होते हैं जो स्वतः सिद्ध अतिमानव होते हैं, ऐसी महान् आत्मायें होते हैं जो मानव-शरीरका उपयोग भर करती हैं। यूरोप उन्हें अतिमानव कहता है और हम उन्हें विभूति कहते हैं। ये व्यक्ति प्रकृतिकी, एक दैवी शक्तिकी, अभिव्यक्तियाँ होते हैं जो उस कार्यके लिये नियुक्त एक आत्माद्वारा संचालित होते हैं और वह आत्मा उन सर्वशक्तिमानसे निःसृत एक अंश होती है जो मानव-शक्ति और दुर्वलताको स्वीकार तो करता है किन्तु उनके द्वारा सीमित नहीं होता। वे नैतिकतासे ऊपर और साधारणतया धर्माधर्मविवेकसे रहित होते हैं। वे अपने स्वभावके अनुसार ही कार्य करते हैं, क्योंकि, वे अपनी निम्न प्रकृतिसे संघर्ष करनेवाले, पाशविकताके स्तरसे ऊपर देवत्वकी ओर विकसित होनेवाले मानव नहीं, वल्कि ऐसे जीव होते हैं जो पूर्ण हो चुके हैं और अपनेसे संतुष्ट हैं। उनमेंसे जो सवसे पवित्र होते हैं उन्हें भी साधारण परिपाटियों और नियमोंके प्रति एक तिरस्कार-भाव होता है और वे उन्हें विना पश्चातापके, आसानीसे तोड़ देते हैं, जैसे कि ईसामसीहने कई वार किया—शराव पी, सैवथ (विश्राम-दिवसका नियम) को तोड़ा और भठियारों और वेश्याओंका संग किया; जैसा वुद्धने किया जव उन्होंने अपने स्वीकार किये हुए पति, पिता और नागरिकके कर्तव्योंका त्याग किया; जैसा शंकरने किया जव उन्होंने अपनी मृत माताको संतुष्ट करनेके लिये पवित्र नियमोंको तोड़ दिया और रीति तथा आचारको कुचल दिया। हमारे साहित्यमें ऐसे लोगोंका वर्णन देवता, सिद्ध, दानव या राक्षसके रूपमें किया गया है। वाल्मीकिने

रावणको दस सिरोंवाले राक्षसके रूपमें चित्रित किया है, किन्तु यह देखना सहज है कि यह कल्पना-लोक या सूक्ष्म जगत्में दिखाई देनेवाला उसका रूप था; मानवताके शब्दोंमें वह एक विभूति था, अतिमानव था, नेपोलियनकी ही श्रेणीका जीव था।

राक्षस कभी समझौता न करनेवाला परम अहंवादी होता है जो विश्वास करता है कि जीवन उसकी अपनी स्वच्छन्द आत्मपूर्ति एवं आत्मस्थापनके लिये ही है। वह मानवताका एक आवश्यक तत्त्व है और क्रान्तियोंमें विशेष रूपसे उपयोगी होता है। साधारणतः मानवजातिमें विशुद्ध श्रेणीके रूपमें वह अतीतकी चीज हो चुका है; अब वह दूसरे तत्त्वोंके साथ मिलकर आता है। किन्तु नेपोलियन विशुद्ध श्रेणीका राक्षस था, अपनी शक्ति और सफलतामें विशालकाय। वह संसारमें शक्ति और आधिपत्यके लिये भयंकर भूख लेकर आया और रावणकी तरह उसने भी अपनी अमानुषी भूख मिटानेके लिये सम्पूर्ण पृथ्वीको निगल जानेकी चेष्टा की। उसके रास्तेमें जो आया,—विचार, पुरुष, नारी, यश, सम्मान, सेना और राज्य—उसे उसने अपनी ही चीज समझा और उनपर आधिपत्यलाभके लिये वह अपने अधिकारके विषयमें कभी धर्मभीरु या शंकालु नहीं हुआ। उसका स्वभाव ही उसका अधिकार था और उसकी आवश्यकता ही उसका औचित्य। इस दृष्टिकोणको कुछ इस तरहके शब्दोंमें व्यक्त किया जा सकता है—"दूसरोंको यह सब करनेका अधिकार नहीं भी हो सकता किन्तु मैं तो नेपोलियन हूँ।"

× × ×

राक्षस परोपकारी नहीं होता। अगर वह अपने-आपको संतुष्ट करनेमें दूसरोंको संतोष दे सके तो वह खुश होता है, किन्तु उसे वह अपना ध्येय नहीं बनाता। अगर अपने संतोषके लिये दूसरोंको कुचलना आवश्यक हो तो वह बिना किसी द्विविधाके कुचलता है। क्या वह एक तेजस्वी पुरुष, कुशल शासक और शक्तिशाली व्यक्ति नहीं है? राक्षसके अन्दर काम होता है, प्रेम नहीं। नेपोलियन नहीं जानता था कि प्रेम क्या है। उसमें केवल वह कृपा थी जो आधिपत्यके साथ होती है। उसने जोसेफीनसे प्यार किया, क्योंकि वह उसकी प्रकृतिको संतुष्ट करती थी, उसने फ्रांसको प्यार किया क्योंकि उसपर उसका आधिपत्य था, उसने अपनी मांसे प्यार किया क्योंकि वह उसकी थी और उसके अनुकूल थी, और उसने प्यार किया अपने सैनिकोंसे, क्योंकि वे उसकी कीर्तिके लिये आवश्यक थे। किन्तु उसका प्यार अपने लिये उनकी आवश्यकतासे आगे नहीं गया। यह

मात्र आत्म-तोप था, इसमें आत्मसमर्पण लेशमात्र भी न था। राक्षस जो उन सबकी हत्या कर डालता है जो उसका विरोध करते हैं और हत्या-काण्डकी सीमाके बारेमें कठोर होता है। किन्तु वह कभी क्रूर नहीं होता। नेपोलियनमें नीरोका रंग जरा भी नहीं था। परन्तु उसने अपनी कीर्तिकी बलिवेदीपर, बिना किसी अनुपातके, समूची सेनाओंकी आहुति दे डाली, होफरको गोली मार दी और एंजियंकी हत्या की। तो फिर, राक्षसमें वह कौन-सी चीज है जो उसे आवश्यक बनाती है? राक्षस एक व्यक्तित्व है, एक शक्ति है, एक सामर्थ्य है; वह ईश्वरकी दूसरी शक्ति है—क्रोध, बल, ऐश्वर्य, तीव्र आवेग, उद्दाम साहस, हिमस्खलन, वज्र है। वह बल-राम है, जेहोवा है, रुद्र है। और इसी रूपमें हम उसकी प्रशंसा और उंसका अध्ययन कर सकते हैं।

× × ×

किन्तु, विभूति कभी केवल आत्मतोप और उपभोगके लिये नहीं आती, यद्यपि वह मार्गमें आत्मतोप और उपभोग भी कर लेती है। वह एक कार्यके लिये आती है, वह आती है मानवको उसके पथपर एवं संसारको उसके विकासक्रममें सहारा देने। नेपोलियन सर्वाधिक शक्तिशाली और प्रबल विभूतियोंमेंसे एक था। उनमें कुछ ऐसे होते हैं जो अपने-आपको रोके रखते हैं, अपनी शक्तिको अपने व्यक्तित्वमें दबाये रखते हैं ताकि वे उसे पूरी तौरसे अपने काममें लगा सकें। शेक्सपियर, वाशिंगटन, विक्टर इमेनुएल ऐसे ही लोगोंमें थे। कुछ दूसरे सिकन्दर, सीजर, नेपोलियन, गेटे जैसे हैं। ये अपने व्यक्तित्वमें भी उतने ही स्पष्टतया अतिमानवीय होते हैं, जितने उस कार्यमें, जिसे वे पूरा करते हैं। व्यावहारिक सामर्थ्य-में नेपोलियन आधुनिकोंमें सबसे बड़ा था। यद्यपि चरित्रमें तो नहीं, परन्तु सामर्थ्यमें नेपोलियन महाभारतके भीष्मकी समानता करता है। उसे भी युद्ध, राजनीति, शासन, विधि-निर्माण, समाज आदि विषयोंकी वैसी ही सर्वोपरि, अप्रतिहत और विश्वग्राही पकड़ थी; जनताकी वैसी ही अवि-कारपूर्ण संचालन-क्षमता, और पूरे ब्यौरेके लिये वही आश्चर्यजनक चाह थी। उसके पास वह लोह मस्तिष्क था जिसे कोई चीज थका नहीं सकती, वह अचूक स्मृति थी जिसमें कुछ भी नहीं खोता, और वह स्पष्ट अन्तर्दृष्टि थी जो स्वतःस्फूर्त रीतिसे हरएक चीजको अपने सही स्थानपर रख देती है। यह तो ऐसा था मानों कोई मनुष्य काकेसस पर्वतको अपने कंधोंपर उठाये और उस बोझको लिये हुए एक्सप्रेस इंजिनके साथ सफलतापूर्वक दौड़ लगाये,

फिर भी प्रत्येक कदमका ध्यान रखे और उसकी पूर्वसूचना देता चले इसमें कभी न चूके। 'मानव-शरीरमें निहित कोई शक्ति इतना काम कर भी सकती है'—यह सिद्ध कर देना ही अपने-आपमें हमारी प्रगतिके लिये इतनी बड़ी सेवा है कि जिसके लिये हम नेपोलियनके प्रति पर्याप्त रूपमें कृतज्ञ नहीं हो सकते।

× × ×

बोनापार्टका काम संपूर्णतया प्रशंसनीय था। यह सच है कि उसने कुछ समयके लिये फ्रांससे स्वतंत्रता छीन ली। किन्तु उस समय फ्रांस प्रजातंत्रात्मक स्वतंत्रताके योग्य न था। उसे कुछ समय क्रान्तिके सैनिकके शासनमें रहकर अनुशासन सीखना था। उसने जो काम कर दिखाया वह कभी न हो पाता यदि विजयमें उल्लसित और पराजयमें हताश होनेवाली बुदबुदाती हुई फ्रेंच संसद् उसके मार्गमें बाधा डालती रहती। उन दिनों धरती जितना सह सकती थी उसके अनुरूप उसे फ्रांसीसी क्रान्तिकी व्यवस्था करनी थी और वह भी एक छोटे-से साधारण जीवन-कालमें। उसे इसकी रक्षा भी करनी थी। यूरोपपर फ्रांसका आक्रमण आत्मरक्षाके लिये आवश्यक था, क्योंकि यूरोप क्रान्तिको बरदाश्त करना नहीं चाहता था। उसे यह पाठ पढ़ानेकी आवश्यकता थी कि क्रान्तिका मतलब अराजकता नहीं, बल्कि पुरानीसे भी इतनी अधिक सुदृढ़ पुनर्व्यवस्था था कि एक ही पुनर्व्यवस्थित राष्ट्र संयुक्त यूरोपपर विजय प्राप्त कर सके। यह काम नेपोलियनने सफलताके साथ किया। कहा जाता है कि उसकी परराष्ट्र-नीति असफल रही, क्योंकि उसने फ्रांसको जितना बड़ा पाया था, उससे छोटा छोड़ गया। यह सच है। किन्तु नेपोलियनका कार्य फ्राँसका भौगोलिक विस्तार करना था ही नहीं। वह फ्राँसके लिये नहीं, मानवताके लिये आया था और अपनी असफलतामें भी उसने ईश्वरकी सेवा की और भविष्यके लिये तैयारी कर दी। नये संगठन बनानेके लिये यूरोपके संतुलनको भंग करना जरूरी था और नेपोलियनकी प्रकाण्ड कार्रवाइयोंने उसपर घातक असर किया। विशाल साम्राज्योंके निर्माणकी प्रवृत्तिकी स्थापना करते हुए उसने इटली, जर्मनी और पोलैंडमें राष्ट्रीयताकी भावनाको जगा दिया। राष्ट्रीयता और साम्राज्यकी सुसमंजस परिपूर्णता ही तुरंत आनेवाले भविष्यकी चीजें थीं। उसने यूरोपको राजनीतिक एवं सामाजिक पुनर्व्यवस्थाकी आवश्यकताको स्वीकार करनेके लिये बाधित किया।

× × ×

नेपोलियनका तख्ता उलट देनेका पुण्य इंग्लैंड, जर्मनी और रूसमें वंट गया। उसे उलटना ही था, क्योंकि, यद्यपि उसने अतीतका विनाश और भविष्यका निर्माण तो किया परन्तु वर्तमानका दुरुपयोग भी किया। वर्तमानको उसके हिंसात्मक हाथोंसे वचाना उसके शत्रुओंका काम था और इसी गुणके परिणामस्वरूप इन तीनों देशोंको तत्कालीन वृद्धि और उन्नीसवीं शताव्दिपर आधिपत्यकी प्राप्ति हुई। इस काममें इंग्लैंड और जर्मनी सवसे आगे वढ़ गये क्योंकि उन्होंने सरकारोंकी हैसियतसे नहीं, राष्ट्रोंकी हैसियतसे अपने-आपको पूरी तरह इस काममें झोंक दिया। रूसमें काम सरकारने किया, किन्तु जनताकी सहायतासे। दूसरी ओर, नेपोलियनसे सहानुभूति रखनेवाले राष्ट्र—इटली, आयरलैंड, पोलैंड या वे राष्ट्र जिन्होंने कमजोरीसे या गलत तरीकेसे काम किया था, जैसे स्पेन और आस्ट्रिया—अवनतिकी राहमें जा पड़े, कष्ट भोगते और संघर्ष करते रहे, और अगर कहीं आंशिक रूपमें सफल भी हुए तो उद्देश्य प्राप्त नहीं कर सके। किन्तु वह पुण्य अव क्षीण हो गया है। जिस भविष्यका कार्य नेपोलियनने किया था, जिसकी प्रातःकालीन गतिकी उसने तैयारी की थी, जिस भविष्यके साथ विजयी राष्ट्रोंने एक अस्थायी समझौता कर लिया था, वही अव अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहता है, और जो इसके दवावमें सवसे जल्दी और पूर्णतया अपनेको पुनर्व्यवस्थित कर सकेंगे, वे ही वीसवीं शताव्दीके उत्तराधिकारी हो सकेंगे और जो इसे अस्वीकार करेंगे वे नष्ट हो जायेंगे। प्रथम अवसर उन राष्ट्रोंको दिया गया है जिनका अभी आधिपत्य है, दूसरोंसे कुछ समयके लिये इसे रोक रखा गया है। यही कारण है कि समाजवाद अभी इंग्लैंड, जर्मनी और रूसमें सवसे अधिक जोरोंपर है। किन्तु इन सव देशोंमें इसका सामना हठीले और असैद्धान्तिक विरोधसे पड़ा है। वीसवीं सदीके पहले कुछ दशक भविष्यके लिये चुने हुए राष्ट्रोंको छांट लेंगे।

× × ×

अव राष्ट्रीयता और साम्राज्यका प्रश्न वच रहता है। यह प्रश्न इन सव देशोंके सामने रखा गया है, किन्तु मुख्यतः इंग्लैंडके सामने। उसके सामने यह प्रश्न आयरलैंडमें, मिस्रमें और भारतमें रखा गया है। उसे राष्ट्रीयता और साम्राज्यकी विरोधी माँगोंको संतुलित करनेका सवसे सुन्दर अवसर मिला है। राष्ट्रीयताके विरुद्ध लड़कर इंग्लैंड अपने ही भविष्यके अवसरोंके विरुद्ध लड़ रहा है। भारतीय राष्ट्रीयतापर उसकी अस्थायी विजय ही एक ऐसी चीज है जिससे उसकी अभिभावक शक्तियोंको सवसे

अधिक डर है। क्योंकि यह प्रतिक्रिया उतनी ही भयंकर होगी जितनी नेपोलियनको उलटनेवाली प्रतिक्रिया थी। उसका यह भ्रम कि भारतपर निरंकुश आधिपत्यका होना उसके साम्राज्यके टिके रहनेके लिये अनिवार्य है, उसका विनाश ला सकता है। यह उसके लिये अनिवार्य उसी हालतमें है यदि वह नेपोलियनकी तरह सारे एशियाकी और संसारकी विजयकी बात सोचता हो। किन्तु उसकी साम्राज्यवादी आत्मपूर्तिके लिये यह अनिवार्य नहीं है, क्योंकि भारतके बिना भी उसके पास रोमनोंसे बड़ा साम्राज्य बचा रहता है। भारतमें उसकी वास्तविक स्थिति एक न्यासी (ट्रस्टी) की, अस्थायी अभिभावककी है और उसके लिये बुद्धिमत्तापूर्ण और न्यायपरायण नीति केवल यही है कि वह धरोहरको रक्षित व्यक्तिके हाथोंमें सौंप दे और वह भी मालिकके नाते नहीं, मित्रके नाते। जिस सुयोगका,—विशाल भारतीय साम्राज्यका,—स्वप्न नेपोलियन देखा करता था, वह सुयोग नेपोलियनको नहीं, इंग्लैंडको मिला किन्तु यह सुयोग एक दुधारी तलवार है जिसका दुरुपयोग किया जाय तो वह उलटी चलानेवालेपर ही पड़कर उसे समाप्त कर सकती है।

दोनों अवस्थाओंमें

मानव-समाजकी दो गतियाँ होती हैं: ऊर्ध्वमुखी और अधोमुखी, और ये दोनों ही हैं अदम्य। क्षणभरके लिये कभी ऐसा प्रतीत हो सकता है कि अधोमुखी गति रुक गयी है और ऊर्ध्वमुख उठाव कुछ देर उन हृदयोंको प्रसन्नता दे सकता है जो ईश्वर और दैवद्वारा त्यक्त कर्ममें आसक्त हैं। किसी धर्म, विचार या राष्ट्रके शानदार और वेगशाली अभ्युदयको प्रबल शक्ति कुछ देर रोक सकती है और भयंकर तथा अपरिमित आयाससे पहिया दो-एक इंच पीछे हट सकता है, परन्तु ईश्वरको न धोखा दिया जा सकता है और न उसे जबर्दस्ती जीता जा सकता है। जहाँ परमात्मा स्वयं सारथि हैं, वहाँ विजय निश्चित है और यदि वह पीछे हटता है तो केवल इसलिये कि जो भूमि अब और आगे उसके लिये लाभदायक नहीं उसे छोड़ दिया जाय और जिस प्रदेशपर विजय होनी पहलेसे निश्चित हो चुकी है वहाँ संघर्ष किया जाय। बहुधा ईश्वर अपने विरोधियोंको बाधित करता है कि वे उसे विजित और अधिकृत भूमिसे निकाल भगावें ताकि वे एक ऐसी स्थितिके लिये जिसका स्थिर रूपसे कायम रहना कभी अभिप्रेत नहीं था, अपनी शक्तिको खत्म कर डालें और अपनी विजयसे ही अपनी एक अधिक निर्णायक पराजयकी तैयारी करें।

बारीक छानबीन करनेवाले ब्यौरेकी बातोंपर दृष्टि डालकर कहते हैं, "इस-इस बातमें हम असफल रहे, उस-उसमें सफल"; और अगर पराजयोंका पत्रक लंबा तथा संदिग्ध सफलताओंसे अधिक वजनदार प्रतीत होता है तो वे अनुत्साहित हो अपने कार्यके नष्ट हो जानेकी आशंका करने लगते हैं। इस प्रकार मनुष्य अपने-आपको घटनाओंके रुखके बारेमें धोखेमें रखते हैं क्योंकि वे अपनी दृष्टि उस अपरिहार्य प्रवृत्तिकी महान् धारापर नहीं डालते जो लौटते गौण प्रवाहों और क्षुद्र धाराओंपर विजय पाती है। और जहाँ थोड़े समयके लिये पराजय होनी नियत होती है, वहाँ श्रद्धाका अभाव उन्हें उसी मुसीबतमें डाल देता है जिसकी वे आशंका करते थे। श्रद्धा और ज्ञानकी दृष्टि एक ही नहीं। श्रद्धा विषयको सामूहिक और सामान्य रूपसे भाँप लेती है, ज्ञान उसे सुस्पष्ट और अलग-अलग जानता है। परन्तु प्रधानतः श्रद्धा और ज्ञान एक ही हैं और ऋषिकी प्रज्ञा प्रेमीकी प्रज्ञाको उचित ठहराती है तथा उसका समर्थन करती है। श्रद्धा ईश्वरके

लिये तब भी लड़ती रहती है जब ज्ञान अभी पूरी जानकारीके लिये प्रतीक्षा कर रहा होता है, और जबतक ज्ञान अप्राप्त रहता है तबतक श्रद्धाकी आवश्यकता रहती ही है। क्योंकि अदम्य श्रद्धा और अन्तःस्फुरित प्रज्ञाके बिना कोई बड़ा उद्देश्य सफल नहीं हो सकता।

अतः हमें घटनाओंकी महान् प्रवृत्तिको सावधानीसे देखना होगा और उसके प्रकाशमें उन सूक्ष्म घटनाओंका अर्थ लगाना होगा जो वर्तमानमें घट रही हैं। घटनाओंकी मुख्य प्रवृत्ति ऊपरकी ओर है या नीचेकी ओर ? यदि नीचेकी ओर है तो भी हमें प्रयत्न करना होगा, क्योंकि जो आदमी सच्चे ध्येयको इसलिये छोड़ देता है कि इसमें सफलता नहीं मिल रही, वह गर्हणीय है और वह वर्तमान तथा भविष्यमें मनुष्यजातिको आघात पहुँचाता है। बड़े-बड़े उद्देश्य, जिनके लिये लोग अन्ततक साहसपूर्वक लड़ मरते हैं, धैर्य और कष्टसे पवित्र हो जाते हैं और उनका पुनरुज्जीवन तथा विजय अनिवार्य होती है। केवल वही काम जिनका समर्थन कायर करते हैं और जिन्हें वे नीचतासे बीचमें ही छोड़ देते हैं, भविष्यकी पुस्तकोंसे मिट जाते हैं। मध्य युगमें फ्रांस और इटलीमें नागरिक स्वाधीनताका आंदोलन असफल हुआ और उसने टयूटनोंकी स्वेच्छाचारिताको स्थान दिया, परन्तु फ्रांसीसी राज्यक्रांतिके समय यह सौगुनी शक्तिसे पुनरुज्जीवित हो उठा और उन आत्माओं द्वारा, जो पहले सैकड़ों वर्षोंतक इसके लिये लड़ी थीं, पृथ्वीकी ओर सवेग द्रुत प्रदान किये गये सहयोगने एक समयकी विजयशालिनी सामन्त-पद्धतिको टुकड़े-टुकड़े कर डाला। परन्तु यदि प्रवृत्ति ऊपरकी ओर है,—जैसी हमारे विश्वासके अनुसार है ही,—तो हमें पूर्ण श्रद्धासे डटे रहना चाहिये यह निश्चय रखते हुए कि कुछ अंशोंमें हानि हो जाना तो केवल विजयके सच्चे मार्गको तैयार करने और उसका निर्देश करनेके लिये ही होता है।

डटे रहनेका अभिप्राय यह नहीं कि हम उन उपायों तथा विधियोंपर डटें रहें जो निष्फल सिद्ध हुई हैं या जिनसे ईश्वरने अपनी अनुमति हटा ली है, भले ही वे कुछ समयके लिये फलदायी रह भी चुकी हों। हमें स्मरण रखना होगा कि हम एक ऐसी जाति हैं जिसने वर्नमान राजनीतिकी विस्तीर्णतर गतियोंमें अभीतक शिक्षण नहीं पाया है। हमारे सिपाहियोंको ही नहीं, वल्कि हमारे सेनापतियों और हमारे व्यूहरचना-विशारदोंको भी घटनाओंसे सीखनेकी और अनुभवके ज्ञानकी आवश्यकता है परिपक्व बननेके लिये। तेज, उग्रता, आत्मबलिदान, बौद्धिक बल, सूक्ष्मता, विचारोंकी संपत्ति, अप्रत्याशित घटनाओंका सामना करनेके लिये साधनोंकी उर्वरता—

ये हमें भरपूर प्राप्त हैं। किन्तु महान् संग्रामोंका चिरकालीन अनुभव रखनेवाले सिद्धहस्तका-सा पूर्ण अनुभव, तीव्र राजनीतिक प्रतिभा जो महान् राजकार्यों और राष्ट्रोंके भाग्योंको संभालनेके दीर्घकालिक परिचयसे उत्पन्न होती है, ये हममें अभीतक अपरिपक्व हैं और वाल्यावस्थामें हैं। परन्तु परमेश्वर स्वयं हमारे शिक्षक और गुरु हैं, वे अपने विशिष्ट राष्ट्रको त्रुटि-रहित शिक्षण और पूर्ण सामर्थ्य देंगे। जरूरत केवल इस वातकी है कि हम अपनी गलतियोंको स्वीकारनेके लिये, अपने मार्गको वदलनेके लिये, सीखनेके लिये तैयार रहें। तभी हम सव वाधाओंको सफलतापूर्वक पार करेंगे और स्थिर तथा प्रचण्ड गतिसे, ठोकर खाये विना, विचलित हुए विना, अपने उद्देश्यकी ओर वढ़ेंगे।

इसके अतिरिक्त हममें कुछ ऐसी कमजोरियाँ हैं जो अवतक चली आ-रही हैं और दूर नहीं की गयीं। यह हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य है कि हम निर्दय शल्यक्रियासे उन्हें अपने हृदयोंसे निकाल फेंकें। यदि वौद्धिक तैयारी-की कमी है, तो आत्मिक तैयारी अभी है पूर्णतासे कोसों दूर। नेताओं और अनुयायियों दोनोंको आवश्यकता है गम्भीरतर साधनाकी, हमारे आन्दोलनके दिव्य गुरु और दिव्य सेनापतिसे—भगवान्से—अधिक साक्षात् संवन्धकी, आन्त-रिक उत्थानकी, विचार और कर्मके मूलमें एक वृहत्तर तथा उच्चतर शक्ति-की। एकके वाद एक अनुभवसे हममें यह वात घर कर गयी है कि अपरि-पक्व, नैतिकताविहीन यूरोपीय उत्साहके वलपर हम विजयी नहीं हो सकेंगे। भारतीयो, भारतकी आध्यात्मिकता, भारतकी साधना, 'तपस्या', 'ज्ञान' और 'शक्ति' ही हमें स्वतंत्र और महान् वनावेगी। परन्तु पूर्वके ये महान् भाव अंग्रेजीके घटिया पर्यायों-discipline, philosophy, strength से ठीक-ठीक व्यक्त नहीं होते। 'तपस्या' डिसिप्लिन-(discipline) से अधिक कुछ और भी है; यह है उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकारिणी दिव्यशक्तिको आध्यात्मिक साधनोंसे अपनी दैहिक सत्तामें चरितार्थ करना। 'ज्ञान' फिला-सफी-(philosophy) से कहीं उदात्त है, यह अंतःस्फुरित और साक्षात् ज्ञान है जो उस शक्तिसे उदित होता है जिसे हमारे पूर्वपुरुषोंने 'दृष्टि' अर्थात् 'अध्यात्मदृष्टि' शव्दसे पुकारा है। 'शक्ति' स्ट्रेन्ग्थ-(strength) से कहीं वड़ी है; जो विश्वव्यापी (समष्टि) शक्ति ग्रह-नक्षत्रोंको घुमाती है, उसीका व्यष्टिरूप है शक्ति। निश्चितरूपेण, पूर्व ही भारतके अभ्युदयमें विजय लाभ करेगा। योगीको ही राजनीतिक नेताके पीछे खड़े होना होगा और उसके अन्दर व्यक्त होना होगा; रामदासको शिवाजीके साथ एक शरीरमें जन्म लेना होगा; मेजिनीको कावूरके साथ मिल जाना होगा।

बुद्धिका आत्मासे, शक्तिका पवित्रतासे विच्छेद यूरोपीय क्रांतिमें सहायक हो सकता है किन्तु यूरोपीय शक्तिसे हम विजयी नहीं हो सकते।

गत शताब्दीके आन्दोलन इसलिए असफल रहे कि वे विशुद्धतया बौद्धिक थे, उनके पीछे ज्ञानदीप्त हृदय नहीं था। राष्ट्रवादने इस न्यूनताको पूरा करनेका प्रयत्न किया है; इसने हृदयकी महत् प्रेरणाओंको द्रुततर और अधिक विवेकशील बौद्धिक चेष्टामें सम्मिश्रित किया है। परन्तु राष्ट्रवाद भी सदोष रहा है; यह भावना और अभिकांक्षामें भारतीय रहा है पर क्रिया और व्यवहारमें यूरोपीय। इसने अपनी लघुता, स्पष्टता, यथार्थता और तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टिमें आनन्द लेती हुई बुद्धिसे सहायता प्राप्तकी है, परन्तु इसे अन्त:स्फुरित प्रज्ञाका पर्याप्त आश्रय नहीं मिला है। यह भव्य मानसिक दृश्यों और आदर्शवादोंमें आसक्त रहा है, परन्तु गम्भीरतर सत्यको देखना और ईश्वरकी इच्छाको जानना इसने नहीं सीखा है। जोश और उत्साह भरे आवेगोंने इसे संचालित किया है, परन्तु इसमें कमी थी स्पष्ट इच्छाशक्ति और पवित्र बलकी जो किसी भी आवेगमय अनुभवसे कहीं अधिक महान् और अधिक तीव्र होते हैं। या तो राष्ट्रवाद अपने-आपको पवित्र करेगा, एक पवित्रतर सत्य सीखेगा और दिव्यतर प्रेरणाको अपनावेगा या फिर इसे अपना पुराना शरीर सर्वथा छोड़ देना होगा और एक नया शरीर धारण करना होगा। घटनाओंका जोर दूसरी अवस्थाका संकेत दे रहा प्रतीत होता है। परन्तु किसी भी अवस्थामें पराजय परिणाम नहीं हो सकती, अन्तमें विजय ही अवश्यंभावी है।

पिछले डेढ़ सालकी सभी घटनाओंमें भगवान् गुरुकी आवाज हमें पुकार-पुकारकर कहती हुई सुनायी दे सकती है, "त्याग करो ताकि तुम प्राप्त कर सको; मेरी इच्छाके अनुसार चलो और अपने-आपको जानो, अपने-आपको पवित्र करो, अपनी मानसिक तरंगोंका अनुसरण करना बन्द करो।" जिसके कान हैं वह सुन ले,—आत्मासे संबन्ध जोड़े विना, अन्तरसे प्रकाश पाये विना, ज्ञान प्राप्त नहीं होगा; उन क्रियात्मक कदमोंका भी ज्ञान नहीं होगा जो सफलता तक पहुँचा सकते हैं। वह हर एक कदम जो निम्न ज्ञानके प्रकाशमें उठाया जायगा तबतक असफल होता रहेगा जबतक यह सत्य हमारे अन्दर घर नहीं कर जाता।

दक्षिणेश्वरमें जो काम शुरू हुआ था वह पूरा होनेसे अभी कोसों दूर है, वह समझा तक नहीं गया है। विवेकानन्दने जो कुछ प्राप्त किया और जिसे अभिवर्द्धित करनेका प्रयत्न किया वह अभीतक मूर्त नहीं हुआ है। विजय गोस्वामीने भविष्यके जिस सत्यको अपने अन्दर निगूढ़ रखा वह

अभीतक उनके शिष्योंके सामने पूरी तरह प्रकट भी नहीं हुआ है। और अब अधिक उन्मुक्त ईश्वरीय प्रकाशकी तैयारी हो रही है, अधिक ठोस शक्ति प्रकट होनेको है, परन्तु यह सब कहाँ होगा, कब होगा, यह कोई नहीं जानता।

हमारा आदर्श

हम मानवताके अनवरत अग्रगमनमें विश्वास करते हैं और मानते हैं कि यह अग्रगति एक जीवनगत विचारका रूपायण है जो कभी-कभी सतह-पर उदय होता और कभी-कभी भीतर डूब जाता और बाहरी शक्तियों और हितोंके आवरणमें काम करता है। जब सतहके पीछे डूब जानेवाला काल आता है मानवताके इतिहासमें प्रत्यक्षतः पतनकी घड़ियाँ अथवा बेतर-तीब उत्क्रांतिकी घड़ियाँ आती हैं, यह अंधकार वा छायालोकके वे लम्बे अर्से होते हैं जिनमें प्रच्छन्न विचार छिपकर काम करता हुआ अपनी उस अवस्थामें होता है जब कि वह प्रधानतः आर्थिक राजनीतिक और व्यक्तिगत हितोंके दबावसे ही काम करता और भीतरके किसी गहरे लक्ष्यसे अनजान ही होता है। जब विचार ऊपर आता है तो मानवताके फिर वे समय आते हैं जिनमें प्रकाशकी उज्ज्वल चमक होती है, इसकी ऊषाएँ और वसन्त आ जाते हैं और उस उदीयमान विचारकी कायाकी गहराई, प्राणवन्तता, सत्य और आत्मप्रभावकारी शक्तिके अनुरूप ही होता है महत्व उस पगका जो मानवता पार्थिव अभिव्यक्तिके इन देव मुहूर्त्तोंमें बढ़ाती है।

इस बातको सोचकर बैठ जानेसे बढ़कर दूसरा कोई भ्रम नहीं है, जैसा कि सोचना राजनीतिक आदमीकी आदत है कि विचार जीवनका एक अलंकार है, एक फूल है और मानवी क्रियाशीलताके प्रभावकारी तथा महत्त्वपूर्ण उत्प्रेरक हैं राजनीतिक, आर्थिक और व्यक्तिगत हित। हम जानते हैं कि यह जगत् है प्राणका, क्रियाका और विकासशील देहका। लेकिन जो जीवन अपनेको केवल प्राणिक और जड़-तात्त्विक शक्तियोंसे चालित होने देता वह तो एक मंद, अंधेरा और भूलनेवाला विकास है। यह एक ऐसी चेष्टा है जो मानवको वनस्पति और पशुकी पद्धति श्रेणीमें लगभग ला विठाती है, धरती प्राण और जड़तत्त्वका जगत् है, लेकिन मनुष्य न वनस्पति है न पशु, वह एक आध्यात्मिक और विचार करनेवाला प्राणी है, जो यहाँ इसलिये धरा गया है कि पशु ढाँचेको वह ऊँचे कामके लिये ऊँची प्रेरणाओंके अधीन रखता हुआ, एक अर्धक दिव्य यंत्रत्वके साथ काममें लाये और उसके रूपका विकास करे।

अतः अपने स्वभावसे ही, यद्यपि अपने बाह्य जीवनमें इसके प्रति सचेतन वह नहीं भी होता, वह अपने भीतर एक विचारकी सेवा कर रहा

है। व्यवहारकुशल आदमी भी जो भावके गहरे जीवनको हेय समझता अथवा उसे वह झुठलाता है, उसीकी सेवा कर रहा है जिसे वह झुठलाता अथवा हेय समझता है। दुर्व्यवस्था-ग्रस्त यूरोपको अपनी तलवारसे काट-पीटकर रूप प्रदान करनेवाला शार्लेमैंञ् उस कालकी तैयारी कर रहा था जो सरमायादारोंका, मानव-जीवनके कैथोलिकोंके द्वारा व्याख्याका काल था, और उसके साथ वे सारे तत्त्व थे जो मानवके इतिहासके उस धुंधले किंवा महान् कालने विचार तथा मानवजातिके आध्यात्मिक विकासके लिये उत्क्षिप्त किये। लेकिन तभी, जबकि विचार प्रकाशमान होता और जीवनको चलाने लगता है आदमी अपनी पूरी मानवताकी ओर विकास करता, अपनी राहपर आगे पग बढ़ाता, अपनी नियतिमें प्रकृतिके विकासको नियंत्रित करना प्रारंभ कर देता, या सचेतन मन तथा आत्माके रूपमें कम-से-कम उस सत्ताके साथ सहयोग करता जो इसे चलाता और नियंत्रित करता है।

मानवकी अग्रगति, अतः, एक अथक उत्क्रान्ति रही है जो अंधकार और प्रकाशके लय-तालसे निर्मित है, लेकिन दोनों इन रात-दिनोंने, जो बढ़ती हुई चीज है उसको मदद पहुँचायी है। भूमण्डलके सभी स्थानोंके लिये ये समय समान ही नहीं रहे हैं। वर्तमान सभ्यताके युगचक्रके इतिहास-कालोंमें यह गति प्रायः पूर्णतः एशिया और यूरोपके दो महाद्वीपोंमें केन्द्रित रही है। और यहाँ यह बराबर दिखलाई पड़ा है कि जब एशिया प्रकाशके पंथपर चलता रहा है तब यूरोपमें अंधकार छाया रहा है और दूसरी ओर जब एशिया रजनीके विराम और स्थिरतामें डूबा रहा है तो यह यूरोपके लिये मानसिक तेज और प्राणिक क्रियाशीलताके दिन रहे हैं।

लेकिन, मौलिक भेद यह रहा है कि एशियाने (एकमात्र रूपमें नहीं) प्रधानतः मानवकी आध्यात्मिक अनुभूति और प्रगतिके क्षेत्रके रूपमें सेवा की है; यूरोप मनुष्यकी मानसिक और प्राणिक क्रियाओंका कारखाना रहा है। जैसे युगचक्र आगे बढ़ता गया पूरबी महादेश आध्यात्मिक शक्ति-पिण्डके रूपमें न्यूनाधिक रूपमें बदलता गया जो कभी-कभी तो क्रियाशील रहा और विकासके नये सोपानोंतक जा पहुँचा और कभी-कभी शांत और स्थिर रहता आया। इतिहासके तीन-चार कालोंमें इस शक्तिकी एक धारा यूरोपके ऊपर बही लेकिन यूरोपने प्रत्येक बार पूर्णतः या आंशिक रूपमें इस प्रवाहके आध्यात्मिक तत्त्वको निराकृत किया और एक नयी बौद्धिक और जड़वादी क्रियाशीलताकी प्रवर्त्तना और उन्नतिके रूपमें इसका व्यवहार किया।

पहला प्रयत्न तब हुआ जब यूनानी दार्शनिकगण पिथागोरससे प्लेटो और नवप्लेटोवादीकी विचारधारासे छनकर मिस्री कैल्डियन और भारतीय ज्ञान यूरोप पहुँचा। इसका परिणाम हुआ खूब प्रतिभावान् रूपसे बौद्धिक, किन्तु अनाध्यात्मिक यूनानी और रोमन सभ्यता। लेकिन इसने दूसरे प्रयत्नके लिये रास्ता साफ कर दिया जबकि बौद्ध और वैष्णव मतोंका प्रभाव सेमेटिक वृत्तिसे छनकर यूरोपमें क्रिश्चियन धर्मके रूपमें प्रविष्ट हुआ। क्रिश्चियन धर्म लगा कि अब यूरोपके मनको आध्यात्मिक रंगमें, आध्यात्मिक ही क्यों वैराग्यके रंगमें रंग डालेगा; परन्तु वह ग्रीक पादरियोंके मानसमें होने वाली निजकी धर्म-तत्त्व संबंधी विकृतियोंसे अभिभूत हो गया और हठात् सवपर पानी फेर देनेवाली उस जर्मन बर्बरताकी बाढ़की चपेटमें आ गया जो स्वभावसे ही, गुणोंमें और दोषोंमें भी, क्रिश्चियन आध्यात्मिकता और यूनानी रोमन बौद्धिकतासे बिलकुल विपरीत थी।

स्पेन और भूमध्य सागरके दक्षिणी किनारोंपर जो इस्लामका आक्रमण हुआ वह तीसरा प्रयत्न हुआ जो इस अर्थमें विचित्र है कि यूरोपियन ढंगके वस्तुवादी और राजनीतिक हलचलको लेकर बहनेवाली एशियाई संस्कृतिका यह एक ऐसा मार्केका उदाहरण है जो विचारोंके शान्त आक्रमणसे विपरीत ढंगका है। यूनानी प्रभावमें पड़े क्रिश्चियन धर्मके साथ जो इसका मिलन हुआ उसका परिणाम यह हुआ कि सरमायादार और कैथोलिक यूरोपमें मस्तिष्कका नया जागरण दिखलाई पड़ा और आजके विचार और विज्ञानकी धुंधली नींव उसी समय पड़ी।

चौथा और आखिरी प्रयत्न जिसका किंचित् आभास ही हमें अभी गोचर हो रहा है, वह है यूरोपमें पूर्वी चिन्तनका, विशेषत: भारतीय चिन्तनका शान्त प्रवेश; पहले तो यह जर्मन तत्त्व चिन्तनके पर्देके भीतरसे हुआ, बादमें इसके सूक्ष्म प्रभावने केल्ट जातीय और स्कैन्डिनेवियन और स्लाव जातीय आदर्शवाद, रहस्यवाद और धर्मवादको जगाया है। साथ ही इसके होता रहा है बुद्धधर्म, थियोसोफी, वेदान्त, वाहाधर्म और अन्यान्य पूर्वी प्रभावोंका यूरोप और अमेरिका दोनों जगहोंमें फैलाव।

दूसरी ओर यूरोपकी दो प्रतिक्रियाएँ एशियाके ऊपर गोचर हुई हैं, पहला तो हुआ अपने उग्र यूनानीवादके साथ सिकन्दरका एशियापर आक्रमण जो कुछ समयके लिये पश्चिमी एशियापर टिका रहा, जिसकी प्रतिध्वनि और प्रतिक्रियाएँ भारतमें हुईं और जो फिर मध्यकालीन यूरोपके ऊपर इस्लामी संस्कृतिके माध्यमसे लौट गया और दूसरी बार आज जब कि पूरबके नैतिक, कलात्मक और आध्यात्मिक संस्कृतियोंके ऊपर व्यवसायी

राजनैतिक और वैज्ञानिक यूरोपका अभिनव आक्रमण दिखलाई पड़ रहा है।

इस आपसी आदान-प्रदानके नये चिह्नोंमें पहला तो यह है कि दोनों आक्रमण, एक ही समय हुए हैं और दूसरा यह कि प्रत्येक बार हरेकको प्रति-पक्षमें खड़े अपने प्रतिरूपकी उग्रतम अतिरंजनाका सामना पड़ा है। वस्तुवादी और बुद्धिवादी यूरोपने पाया कि एशियाका एशिया, भारत जो विश्वकी आध्यात्मिकताका हृदय है वह अपने विराट् प्रयोगके अंतिम परिणामोंमें उलझा हुआ है। यह वह प्रयोग है जिसमें कि एक अत्यन्त ही महान् राष्ट्रने जातिके व्यावहारिक और मानसिक जीवनसे सच्ची उन्नतिको खदेड़, सदियोंसे शुद्ध रूपसे केवल आध्यात्मिक जीवनपर अपने ध्यानको केन्द्रित रखा है। पूरबी विचारोंकी धाराने यूरोपमें प्रवेश करते ही देखा कि वहाँ वैसी घड़ी शुरू हो रही है जिसमें धर्म, दर्शन और मनोविज्ञान हटाए जा रहे हैं—धर्मको एक भावावेगमय भ्रान्ति समझा जा रहा है, दर्शन जो बुद्धिका सार है उसको निस्सार विचारोंका ताना-बाना समझा जा रहा है और यह संकल्प लिया जा रहा है जिसमें मानवकी सारी बौद्धिक क्षमताको जड़ प्रकृतिके और मनुष्यके शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवनके नियमोंके अध्ययनमें लगाया जाय, और उसीके आधारपर एक महत्तर सभ्यताके निर्माणकी चेष्टा की जा रही है।

यह महान् चेष्टा अब समाप्त हो चुकी है। अपना दीवालियापन इसने घोषित अभी नहीं किया है, लेकिन यह दीवालिया हो चुकी है। एक उतने ही महान् और अस्वाभाविक हलचलोंमें यह अब डूबती चली जा रही है जितने महान् और अस्वाभाविक प्रयत्नोंने इसे पैदा किया था। दूसरी तरफ भारतीय प्रयत्नकी अतिरंजित आध्यात्मिकताका भी दिवालियापन सिद्ध हो चुका है; हम लोगोंने देखा है कि व्यक्ति इससे कितने ऊँचे चढ़ सकते हैं, लेकिन हमने साथ-साथ यह भी देखा है कि इससे, जो भगवान्‌को ढूँढ़ निकालनेके चक्करमें मानवताके भीतर जो उनका संकल्प है उसीको वह खो देती है, जातिका जीवन कितना नीचे गिर सकता है। यूरोप और भारतके दोनोंके ही प्रयत्न सराहनीय थे; भारतीय प्रयत्न अपनी पूर्ण आध्यात्मिक निष्ठाके कारण और यूरोपीय अपनी सत्यके लिये अपनी कठोर बौद्धिक इमानदारी और उत्साहके कारण। दोनोंने ही आश्चर्यजनक परिणाम उत्पन्न किये हैं, लेकिन आखिरमें भगवान् और प्रकृति दोनों ही मानवी अन्तरात्माकी दानवी शक्ति तथा उसकी बुद्धिकी दानवी शक्ति दोनोंके लिये ही अत्यधिक शक्तिशाली सिद्ध हो चुके हैं।

मनुष्यकी मुक्ति इस बातमें है कि उसकी व्यक्तिगत अथवा जातीय जो संभावनाएँ हैं उनका विवेकशील अधिक पूर्ण विकास साधित हो। मानव जीवनका जो आध्यात्मिक लक्ष्य है उसकी पहिचानमें ही यूरोपकी सुरक्षाको ढूँढ़ा जा सकता है। नहीं तो वह अपने अनुद्भासित ज्ञान और आत्मविहीन संगठनके बोझके नीचे दबकर मर जायगा। एशियाकी मुक्ति होगी उस वस्तुवादी ढाँचे और अवस्थाकी सच्ची समझमें जिसके भीतर उसके लक्ष्यको पूर्ण होना है, नहीं तो जीवनकी सच्चाइयोंसे निबट सकनेकी उसकी बौद्धिक और शारीरिक असमर्थतासे उपजी हुई जो निराशा होगी उसकी ओर तेजीसे बदलनेवाले आन्दोलनोंके स्पन्दोंके जालमें वह डूब जायगा। रूपोंका कोई अदल-बदल ही आवश्यक नहीं है; यह तो तब संभव होगा जब कि प्राणदायी प्रवर्त्तनाओंका आदान-प्रदान हो, एक दूसरेमें सुखकर ढंगसे मिलें और संगति स्थापित हो।

मानवके जातीय इतिहासकी ऐसी संक्रान्तिमें जो इन दो महान् प्रयत्नोंका जो एक साथ ही होना और मिल-जुल जाना हुआ है उसमें मानवके भविष्यके लिये एक महान् आशा है; लेकिन इसमें संभावित खतरे भी बहुत हैं। आशा है कि महत्तर ज्ञानके ऊपर आधारित एक अच्छे और नये मानव जीवनका उदय होगा, नयी शक्तियाँ और संभावनाएँ हमारे सामने खुलने लगेंगी और हमें मिलेगी उस समस्याकी नयी दृष्टि जिसे व्यक्तिको अथवा समाजको अथवा जातिको अपने जीवनमें हल करना है। वस्तुवादी सभ्यताके विकासने मानवको भले अथवा बुरेके लिये एकत्र कर दिया है और इसका बाहरी भविष्य भी अतः एक है; अब इसके भिन्न-भिन्न भाग एक दूसरेसे अलग रहते हुए विकास नहीं कर रहे हैं। साथ-ही-साथ यह संभावना भी खुल रही है कि विज्ञानके विकास और अभ्यासके साथ ही आध्यात्मिकताके जीवनको साथ ले चलते हुए यह सचमुच एक अभ्यन्तरीण एकताके द्वारा एक हो जायगा।

यूरोपका ज्ञान जिस भावसे शासित रहा है, वह है जीवनका निर्माण और जगद्विधानको शासित करनेवाले सत्य और नियमको जाननेका उत्कट आग्रह। मनुष्यके जीवन और उसके विभिन्न गुणोंको, उसके आदर्शोंको, संस्थाओंको, संगठनोंको उस सत्य और ज्ञानके द्वारा विकास करनेका प्रयत्न और यह निष्ठा कि इसी रास्तेपर मानवको उन्नति और पूर्णता मिलती है।

यह भाव बिल्कुल न्यायसंगत है और इसे हम पूर्ण रूपसे स्वीकार करते हैं; लेकिन इसकी क्रियान्वितिमें भूल है। क्योंकि वह सत्य धर्म जो हमें ढूँढ़ना है वह जड़-जगत्का नहीं है, यद्यपि यह भी आवश्यक है, न वह

मानसिक है न शारीरिक, हालाँकि यह भी अनिवार्य है, वरन् अध्यात्म सत्ताका वह सत्य धर्म है जिसके ऊपर सभी आश्रित हैं। क्योंकि वस्तुओंकी अन्तरंग सत्ताका नियम और सत्य ही उनके रूप और नियमोंमें गोचर होता है।

पूरबने जो संदेश पश्चिमको दिया है, वह एक सच्चा संदेश है "केवल अपने-आपको पाकर ही मनुष्यकी रक्षा होगी" और "उससे मनुष्यका क्या लाभ होगा यदि वह सारे संसारको पा ले लेकिन अपनी आत्माको ही खो डाले।" पश्चिमने संदेश सुन लिया है और वह अन्तरात्माके सत्य और धर्मको ढूँढ़ने लगा है, और पार्थिव तत्त्वसे वड़े एक आन्तरिक सत्यके साक्ष्योंको पहचानने लगा है। खतरा यह है कि यांत्रिकताके आग्रहमें और अपनी अतिरंजित वुद्धिके द्वारा वह कहीं वाहरी और झूठे आध्यात्मवादके धुंधमें पड़ जाय, जैसा कि यांत्रिक प्रतिभाओंके घर अमेरिका और इंग्लैंडमें आज हो रहा है, अथवा परात्पर तत्त्वके उन सिद्धान्तोंके धुंधमें पड़ जाय जो वौद्धिक और अनाध्यात्मिक हैं और फल-स्वरूप भ्रान्त हैं और जो अपना जीवन तर्कणापूर्ण जर्मन तत्त्वविद्याके कालमें विता चुके हैं।

इस वातका निश्चित ज्ञान कि आत्माका सत्य ही एकमात्र सत्य है, यह विश्वास कि मानवका मनोवैज्ञानिक जीवन आत्माको पानेका एक यंत्र है और ऊँचे लक्ष्यको ध्यानमें रखते हुए इसके सत्य और नियमोंको जानना चाहिये और उनका अभ्यास करना चाहिये और मानवके वाहरी जीवन और समाजकी संस्थाओंका इसी प्रयत्नके समुचित ढाँचेके रूपसे निर्माण करनेकी चेष्टा ही वह भाव था जिसने एशियाके ज्ञानको शासित किया है।

यह भाव भी विल्कुल न्यायसंगत है और हम इसे पूर्ण रूपसे स्वीकार भी करते हैं। परन्तु यह अपने व्यवहारमें भारतमें सवसे अधिक आत्मा और उसके उपकरणोंके वीच एक गहरी खाईके रूपमें वदल गया है और जातिके वाहरी तथा मानसिक जीवनको इसने तुच्छ और संकीर्ण वना डाला है। क्योंकि यंत्रके इस जीवनकी विस्तृत प्रभूत समृद्धिके ऊपर ही आध्यात्मिकताकी ऊँची-से-ऊँची और सवसे महान् संसिद्धि अडोल टिकी रह सकती है। पूरवके पूर्व पुरुषोंके पास यह ज्ञान था और वे इसका अभ्यास भी करते थे, उनके संतानोंमें यह ज्ञान मद्धिम पड़ गया है और वे इसका अभ्यास खो वैठे हैं।

पश्चिम जो संदेश पूरवके पास लाता है वह एक सच्चा संदेश है। मनुष्य भी भगवान् है और विकासशील मानवताके द्वारा ही वह भगवान्के

पास पहुँचता है। जीवन भी भगवान् ही है इसका क्रमोन्नतिशील विस्तार ब्रह्मकी ही आत्माभिव्यक्ति है और जीवनको अस्वीकार करनेका अर्थ है अपने भीतर भगवान्‌को ही न्यून करना। यह वह सत्य है जो पश्चिमसे पूरबको अपने ऊँचे आध्यात्मिक ज्ञानकी भाषामें, जो उसके पास है ही, अनूदित हो वापस मिला है। और यह है एक पुरातन ज्ञान। पूरब भी इस संदेशके प्रति जाग रहा है। खतरा यह है कि एशिया इसे यूरोपके रूपमें न प्राप्त कर ले, थोड़ी देरके लिये अपने स्वभाव और स्वधर्मको न भूल जाय और आँखें मूँदकर या तो पश्चिमकी नकल करने लगे अथवा उन चीजोंको मिलाकर एक खतरनाक गोरखधंधा न खड़ा कर ले जो उसके पास घटिया-से-घटिया रूपमें मौजूद हैं और जो भोंड़े रूप उसके ऊपर बाहरसे फेंके जा रहे हैं।

विचारकी समस्या, अतः, यह है कि सम्यक् विचार और संगतिके-सम्यक् तरीकेको ढूंढ़ निकाला जाय, आत्माके प्राचीन और सनातन सत्यका फिरसे उद्‌घोष हो जिससे कि यह मानसिक तथा भौतिक जीवनमें फिरसे फैले, इसे यह फिरसे अपने बाहुपाशमें ले ले; इसपर अधिकार करे, इसमें घुलमिल जाय तथा इसे बदल डाले; मनोवैज्ञानिक आत्म विकास और आत्मानुशासनके गंभीर प्राणवन्त तरीकोंका विकास करे जिससे कि मानवका मानसिक और आत्मिक जीवन अपनी समृद्धि, शक्ति और जटिलताको खूब विकसित कर आध्यात्मिक जीवनको अभिव्यक्त करे और उन प्रवर्त्तनाओं और तरीकोंको ढूंढ़े जिसके द्वारा उसका बाहरी जीवन, उसका समाज और संस्थाएँ आत्माके सत्यके अनुरूप उत्तरोत्तर अपनेको ढालती चली जायँ और सामाजिक एकता और व्यक्तिगत स्वातंत्र्यके पूर्णतम संगतिकी ओर विकसित हों।

यह है हमारा आदर्श और हमारी खोज। इसी एक प्रेरणासे उत्प्रेरित हो संसारमें कितने ही आन्दोलन आज चल रहे हैं, लेकिन विचारकी चेष्टाके लिये आज भी गुंजायश है जो आज समस्याको सर्वांगीण जटिलताके साथ अंगीकार करे और अपने अनुसंधानकी उन्मुक्ततामें किसी भी धर्म, सम्प्रदाय और किसी प्रचलित दर्शन-पद्धतिके प्रति आसक्तिके द्वारा किसी भी प्रकारसे नियंत्रित अथवा कुंठित न बने।

इस प्रयत्नके भीतर जीवन व्यापी सत्य तथा जगत्‌में इसकी अभिव्यक्तिके मौलिक नियमोंका अनुसंधान छिपा हुआ है—यह काम है तत्त्वज्ञान संबंधी दर्शन और धार्मिक विचारका; इसमें उस मनोवैज्ञानिक अनुशासनकी रीति-नीतिका पता चलाना और उनको एक संगतिमें बाँधना छिपा हुआ

है जिसके द्वारा मनुष्य अपने-आपको शुद्ध और पूर्ण बनाता है,—यह काम हुआ मनोविज्ञानका, उस मनोविज्ञानका नहीं जो यूरोपमें जाना-पहचाना जाता है, वरन् गंभीर व्यावहारिक मनोविज्ञानका जिसे भारतमें योग कहते हैं और हमारे भावोंका इसमें मनुष्यके सामाजिक और सामूहिक जीवनकी समस्याओंके प्रति प्रयोग छिपा हुआ है।

आध्यात्मिक अनुभूतिके ऊपर आधृत दर्शन और धार्मिक विचार ही ऐसे प्रयत्नका आधार और प्रारंभ होगा, क्योंकि वे ही बाहरी गतियों और रूपके पीछे सत्यकी ओर अकेले जाते हैं। इनकी महत्तासे भागनेका सारा प्रयत्न अन्तमें बेकार ही सिद्ध होगा। बाहरी चीजोंके भीतर जाना, सोचना और नियमोंको ढूँढ़ निकालना मनुष्य छोड़ नहीं सकता, क्योंकि उसकी जागृत चेतनाका यह दुर्लंघ्य नियम है; मनुष्य अपने व्यापक निर्देशोंको बराबर धर्म बनाता ही रहेगा यद्यपि यह धर्ममात्र जड़वादी रीतिका ही अथवा यथार्थवाद ही क्यों न हो। दर्शन वस्तुओंके मौलिक सत्यका बौद्धिक अनुसंधान है; धर्म सत्यको मनुष्यकी आत्मामें क्रियाशील करनेका प्रयत्न है। वे एक दूसरेके लिये आवश्यक हैं। वह धर्म जो किसी दार्शनिक सत्यकी अभिव्यक्ति नहीं अंधविश्वास और निष्प्रभतामें गिर जाता है, वह दर्शन जो धार्मिक भावनासे अपने-आपको अनुप्राणित नहीं रखता एक निर्जीव प्रकाश बन जाता है, क्योंकि उसका उपयोग नहीं किया जा सकता। लेकिन ये कोई भी अपना अन्तिम मूल्य तबतक प्राप्त नहीं करते जबतक कि अध्यात्म सत्तामें उठा न लिये जायँ और जीवनमें इन्हें ढाला न जाय।

तब हम लोगोंका आदर्श क्या होगा? आन्तरिक एकत्वके द्वारा, सिर्फ बाहरी हितोंके समन्वयके द्वारा ही नहीं मानवजातिकी एकता, सिर्फ पशु और आर्थिक जीवनसे अथवा सिर्फ बौद्धिक और कलात्मक जीवनसे प्रभापूर्ण आध्यात्मिक जीवनमें उसका उन्नयन; शारीरिक ढाँचे और मानसिक यंत्रत्वमें आध्यात्मिक शक्तिका प्रवाह जिससे कि मनुष्यकी मानवता सच्ची अतिमानवतामें विकसित हो और जो हमारी वर्त्तमान स्थितिसे उतनी ही ऊँची होगी जितनी ऊँची हमारी स्थिति उस पशु जीवनसे है जिससे विज्ञान कहता है कि हम विकसित हुए हैं। ये तीनों एक ही हैं; क्योंकि मनुष्यकी एकता और मनुष्यका आत्मोन्नयन उसके अध्यात्म-निवाससे ही सम्पन्न हो सकता है।

रूढ़ि-संरक्षण और अग्रगति

मनुष्य स्वभावतः विपरीत दिशाओंमें ही विचार करता है या तोड़-जोड़ और समझौतेके द्वारा मेल बिठाता चलता है। चाहे वह निरतिशय-वादकी पूजा करे अथवा किसी एक ही भावके लिये उत्साहके प्रति अपने-आपको समर्पित कर दे, मानव सदा ही सत्य-दृष्टिको और कर्मके उचित विधानको खो देता है, क्योंकि दूसरे जीवधारियोंके समान अपनी प्रकृतिका अनुगमन करते, अपनी अनुभूतियों, दृष्टि और सत्तामें निष्ठित होनेके बजाय वह सारी चीजोंका नाप-तोल उस मान्यतासे करता है जो अपनी बुद्धिमें बिठा रखी है। लेकिन उसकी बुद्धिका स्वभाव ऐसा है कि विभाग करना, अलग करना तो उसके लिये सहज है, मगर मिलानेमें अनाड़ी। जब यह मिलाने लगती है तब कृत्रिमताकी ओर, मिथ्यात्वकी ओर झुकने लगती है। एक ही भावको अपने तर्क सम्मत परिणामतक ले जानेमें और एक ही दृष्टिकोणसे चीजोंको देखनेमें इसे सहूलियत होती है; लेकिन अपने भिन्न-भिन्न भावोंकी क्रियाएँ मिलाकर चलना और भिन्न दृष्टिकोणोंसे वस्तुओंको देखना इसकी स्वभाविक प्रेरणाके विपरीत है। और इसीलिये जब यह ऐसा करने लगती है तो उसमें भद्दापन, दोष और ढीलापन आ जाता है। प्रायः संगतिके बजाय यह एक भद्दे किस्मका मेल-जोल होता है। मानवीमन विश्लेषणमें तो क्षिप्र और शक्तिशाली है; लेकिन समन्वयमें इसे कष्ट करना पड़ता है और उसमें अपूर्णता रह जाती है तथा अपने किये समन्वयको यह बहुत चाहता भी नहीं। यह विभेद करता, एकको दूसरेके विरुद्ध खड़ा करता और दो विरोधोंके बीच स्थित रहकर सृजन करता है; दोनों पक्षोंमेंसे किसी एकका उत्साहसे साथ देने लगता है; लेकिन बुद्धिमानीपूर्वक निष्पक्षतासे तथा एक तरहकी पूर्णतासे सोचना एक सामान्य मानवके लिये उकतानेवाला और अरुचिकर काम है।

इसी प्रकारके दोषोंसे सारे मानव विचारोंके अनुरूप ही उसके सारे कर्म भी अनुविद्ध हैं। क्योंकि एक ही उग्र विचारसे यह अपहृत हो जाता और उसीका अनुगमन सारे समवर्ती तथ्यों, अनुसंगी भावों और विपरीत शक्तिकी क्रियाओंपर यथेष्ट ध्यान दिये बिना करने लगता है; या नहीं तो इन सबोंको वह शत्रु मान लेता, उन्हें मिथ्या तथा बुरा कह देता और न्यूनाधिक हिंसावृत्ति अपनाता हुआ उन्हें समाप्त कर देनेकी चेष्टा

करता है। तब यह दूसरे भावोंको देखता जिनको संसिद्ध करनेकी चेष्टा क्रमशः करने लगता है उन्हें अपने पूर्वगामी भावों तथा अधिगत तथ्योंके साथ जोड़ देता अथवा उन्हें छोड़ पूर्णतः नवीन प्रकाशके लिये ही प्रयत्नशील बन जाता है। एक नयी सफाई, एक नया युद्ध यह शुरू कर देता और भावी उपलब्धिके हितमें अपने ही पूर्व कर्मको अस्वीकृत कर देता है। लेकिन इसके अपने पछतावे भी हैं, पुनरावर्त्तन और पुनःस्मृति भी हैं, निर्वासित देवोंको, निष्प्राण भूत-प्रेतोंको यह फिरसे गद्दीपर बिठाता और उनमें अल्पकालिक तौरपर प्राणकी झूठी प्रतिष्ठा भी कर देता है। और रास्तेमें निरंतर इसको शंका-संदेह, सच्चाइयों, पवित्र सादगीका झूठा दिखलावा होता और इसकी सतर्क मंद अग्रगति होती है। लेकिन मानवी नियत-वृत्ति एक लाल-बुझक्कड़, एक पैवन्द लगानेवाली है; पुराने मोटे कपड़ेपर यह नयी मखमलका पैवन्द लगाती है अथवा पुरानी मखमलपर नये मोटे कपड़ेको टाँकती है और अपना शोचनीय हस्तशिल्पको विस्मयसे निहारने लगती है। और इसकी सतर्क अग्रगतिका अर्थ है धोखा टट्टी, आडम्बर और मृत परम्पराओंको तबतक जमा करते जाना जबतक कि मिथ्यात्वका बोझ जीवनके लिये दुर्वह न बन जाय और मानवी आत्माके लिये अतीतकी जकड़नेवाली कफनसे मुक्तिके लिये एक हिंसात्मक विद्रोह आवश्यक न हो उठे। हमारी अग्रगति इसी तरहकी होती है; यह अन्धे और अज्ञानी, परन्तु प्रकाशोन्मुख आत्माकी अग्रगति है; यह एक वैसे प्राणीकी अग्रगति है जो आधा पशु है, आधा देव। और अपने ही भ्रांतियोंके उलझे जंगलके पथसे ठोकरें खाता हुआ आगे बढ़ रहा है।

मानवीप्रवृत्तिका यह लक्षण उस विरोधमें प्रगट होता जो हम रूढ़ि-संरक्षण तथा अग्रगतिके बीच खड़ा करते हैं। विश्वमें कोई भी चीज सचमुच स्थिर नहीं रह सकती, क्योंकि प्रत्येक वस्तु एक काल-विधान है और कालका मर्म है अग्रगमनके द्वारा परिवर्त्तन। यह सही है कि विश्वकी गति कोई सरल रेखा नहीं, उसमें घुमाव है, वर्तुल गति है, परन्तु यह एक ही बिंदुको घेरकर घूमते रहनेके बजाय सदा अग्रगामी केन्द्रबिन्दुके चारों ओर चक्कर काटती है और इसीलिये न तो कभी यह ठीक अपने पुराने पथपर लौटती है न सचमुच ठीक पीछे ही जाती है। स्थिर रहना असंभव है, एक भ्रांति है, कल्पना है। केवल शुद्ध तत्त्व ही स्थिर है, वस्तुकी आत्मा और काया सदा गतिशील है। और इस गतिमें तीन निर्धारिका शक्तियाँ हैं—अतीत, भविष्य और वर्त्तमानकी, जिसमें वर्त्तमान एक पकड़ रखनेवाले तथा उकसानेवाले विस्तृत संसिद्ध अनन्त और दूसरे

हटानेवाले और आकर्षित करनेवाले असंसिद्ध अनन्तके बीचकी एक ही तलपर विस्तारहीन वह रेखा है, जो सदा चलती जा रही है।

अतीत दोनों ही है अग्रगतिके लिये शक्ति भी है और उसमें अवरोध भी। यह वह संकलन है जिसने वर्त्तमानको पैदा किया है और उस शक्तिका अधिकांश है जो भविष्यका निर्माण करेगी। क्योंकि अतीत मर नहीं गया है इसमें रूप केवल विलीन हो चुके हैं, क्योंकि यदि वे विलीन न होते तो वर्त्तमान आता ही नहीं; लेकिन इसकी आत्मा, इसकी शक्ति, उसका तत्त्व वर्त्तमानमें अवगुण्ठित रह रहा है और सदा संग्रहशील, बढ़ता हुआ, गंभीर होता हुआ भविष्यमें भी रहता रहेगा। प्रत्येक मानव प्राणीके अन्तरगत तथा पीछे उसकी जातिका सारा अतीत उसका अपना और मानव समाजका सारा अतीत है। ये तीन वस्तुएँ उसकी यात्राके प्रारंभका निर्धारण करती और जीवनकी उन्नतिमें उसका पीछा करती हैं। इसी अतीतकी शक्तिसे, इस विशाल संरक्षणसे जो बल मिलता है उसीसे वह भविष्यके अंधगर्भका सामना करता और इसकी असंसिद्ध अनन्तकी गहराइयोंमें कूद पड़ता है। परन्तु यह एक अवरोध भी है, क्योंकि मनुष्य अंशतः एक अज्ञातके भयसे उन पुराने रूपोंसे चिपका रहता है जिन्हें वह निश्चित समझता है, उन आधारोंको नहीं छोड़ता जिनपर अपने-आपको सुरक्षित महसूस करता है, उन पुराने पात्रोंको नहीं त्यागता जिसके चारों ओर उसकी संगति और आसक्तियोंकी अग्रही लतातन्तु (फुनगियाँ) लिपटी हैं, परन्तु अंशतः इसलिये भी कि अतीतकी शक्तियाँ सतर्कतासे उसपर कब्जा जमाये रखती हैं जिसमें कि वह अनिश्चित मार्गपर न जाने पाये और उसकी अग्रगति एक दुस्साहसिक कर्म (खतरा) न बन जाय।

भविष्य दुर्निवार रूपसे आकृष्ट करता हुआ भी हमें ढकेलता रहता है। यह विकर्षण अंशतः अज्ञातके प्रति हमारी स्वाभाविक पश्चात्पदतामें हैं कि इस अज्ञातमें बढ़ाया गया हमारा प्रत्येक पग जीवन और मृत्युके बीच खेला गया एक जुआ है; प्रत्येक हमारे निर्णयका अर्थ हो सकता है उस सबका विनाश जो हम अभी हैं अथवा उसकी महत्तर संसिद्धि, उन सभी नाम रूपोंकी संसिद्धि अथवा विनाश जिनसे हम बँधे हैं। परन्तु स्वयं भविष्यमें भी यह है, क्योंकि भविष्यको शासित करती हुई केवल वे शक्तियाँ नहीं हैं जो दुर्निवार रूपसे हमें आकर्षित करतीं, उन्हें संसिद्ध करनेके लिये हमारा आह्वान करती हैं, प्रत्युत् दूसरी वैसी शक्तियाँ भी हैं जिन्हें पराजित करना है और जो पराजित होना पसन्द नहीं करतीं।

करता है। तब यह दूसरे भावोंको देखता जिनको संसिद्ध करनेकी चेष्टा क्रमशः करने लगता है उन्हें अपने पूर्वगामी भावों तथा अधिगत तथ्योंके साथ जोड़ देता अथवा उन्हें छोड़ पूर्णतः नवीन प्रकाशके लिये ही प्रयत्नशील बन जाता है। एक नयी सफाई, एक नया युद्ध यह शुरू कर देता और भावी उपलब्धिके हितमें अपने ही पूर्व कर्मको अस्वीकृत कर देता है। लेकिन इसके अपने पछतावे भी हैं, पुनरावर्त्तन और पुनःस्मृति भी हैं, निर्वासित देवोंको, निष्प्राण भूत-प्रेतोंको यह फिरसे गद्दीपर विठाता और उनमें अल्पकालिक तौरपर प्राणकी झूठी प्रतिष्ठा भी कर देता है। और रास्तेमें निरंतर इसको शंका-संदेह, सच्चाइयों, पवित्र सादगीका झूठा दिखलावा होता और इसकी सतर्क मंद अग्रगति होती है। लेकिन मानवी नियत-वृत्ति एक लाल-बुझक्कड़, एक पैबन्द लगानेवाली है; पुराने मोटे कपड़ेपर यह नयी मखमलका पैबन्द लगाती है अथवा पुरानी मखमलपर नये मोटे कपड़ेको टाँकती है और अपना शोचनीय हस्तशिल्पको विस्मयसे निहारने लगती है। और इसकी सतर्क अग्रगतिका अर्थ है धोखा टट्टी, आडम्बर और मृत परम्पराओंको तबतक जमा करते जाना जबतक कि मिथ्यात्वका बोझ जीवनके लिये दुर्वह न बन जाय और मानवी आत्माके लिये अतीतकी जकड़नेवाली कफनसे मुक्तिके लिये एक हिंसात्मक विद्रोह आवश्यक न हो उठे। हमारी अग्रगति इसी तरहकी होती है; यह अन्धे और अज्ञानी, परन्तु प्रकाशोन्मुख आत्माकी अग्रगति है; यह एक वैसे प्राणीकी अग्रगति है जो आधा पशु है, आधा देव। और अपने ही भ्रांतियोंके उलझे जंगलके पथसे ठोकरें खाता हुआ आगे बढ़ रहा है।

मानवीप्रवृत्तिका यह लक्षण उस विरोधमें प्रगट होता जो हम रूढ़ि-संरक्षण तथा अग्रगतिके बीच खड़ा करते हैं। विश्वमें कोई भी चीज सचमुच स्थिर नहीं रह सकती, क्योंकि प्रत्येक वस्तु एक काल-विधान है और कालका मर्म है अग्रगमनके द्वारा परिवर्त्तन। यह सही है कि विश्वकी गति कोई सरल रेखा नहीं, उसमें घुमाव है, वर्तुल गति है, परन्तु यह एक ही बिंदुको घेरकर घूमते रहनेके बजाय सदा अग्रगामी केन्द्रविन्दुके चारों ओर चक्कर काटती है और इसीलिये न तो कभी यह ठीक अपने पुराने पथपर लौटती है न सचमुच ठीक पीछे ही जाती है। स्थिर रहना असंभव है, एक भ्रांति है, कल्पना है। केवल शुद्ध तत्त्व ही स्थिर है, वस्तुकी आत्मा और काया सदा गतिशील है। और इस गतिमें तीन निर्धारिका शक्तियाँ हैं—अतीत, भविष्य और वर्त्तमानकी, जिसमें वर्त्तमान एक पकड़ रखनेवाले तथा उकसानेवाले विस्तृत संसिद्ध अनन्त और दूसरे

हटानेवाले और आकर्षित करनेवाले असंसिद्ध अनन्तके बीचकी एक ही तलपर विस्तारहीन वह रेखा है, जो सदा चलती जा रही है।

अतीत दोनों ही है अग्रगतिके लिये शक्ति भी है और उसमें अवरोध भी। यह वह संकलन है जिसने वर्त्तमानको पैदा किया है और उस शक्तिका अधिकांश है जो भविष्यका निर्माण करेगी। क्योंकि अतीत मर नहीं गया है इसमें रूप केवल विलीन हो चुके हैं, क्योंकि यदि वे विलीन न होते तो वर्त्तमान आता ही नहीं; लेकिन इसकी आत्मा, इसकी शक्ति, उसका तत्त्व वर्त्तमानमें अवगुण्ठित रह रहा है और सदा संग्रहशील, बढ़ता हुआ, गंभीर होता हुआ भविष्यमें भी रहता रहेगा। प्रत्येक मानव प्राणीके अन्तरगत तथा पीछे उसकी जातिका सारा अतीत उसका अपना और मानव समाजका सारा अतीत है। ये तीन वस्तुएँ उसकी यात्राके प्रारंभका निर्धारण करती और जीवनकी उन्नतिमें उसका पीछा करती हैं। इसी अतीतकी शक्तिसे, इस विशाल संरक्षणसे जो बल मिलता है उसीसे वह भविष्यके अंधगर्भका सामना करता और इसकी असंसिद्ध अनन्तकी गहराइयोंमें कूद पड़ता है। परन्तु यह एक अवरोध भी है, क्योंकि मनुष्य अंशतः एक अज्ञातके भयसे उन पुराने रूपोंसे चिपका रहता है जिन्हें वह निश्चित समझता है, उन आधारोंको नहीं छोड़ता जिनपर अपने-आपको सुरक्षित महसूस करता है, उन पुराने पात्रोंको नहीं त्यागता जिसके चारों ओर उसकी संगति और आसक्तियोंकी अग्रही लतातन्तु (फुनगियाँ) लिपटी हैं, परन्तु अंशतः इसलिये भी कि अतीतकी शक्तियाँ सतर्कतासे उसपर कब्जा जमाये रखती हैं जिसमें कि वह अनिश्चित मार्गपर न जाने पाये और उसकी अग्रगति एक दुस्साहसिक कर्म (खतरा) न बन जाय।

भविष्य दुर्निवार रूपसे आकृष्ट करता हुआ भी हमें ढकेलता रहता है। यह विकर्षण अंशतः अज्ञातके प्रति हमारी स्वाभाविक पश्चात्पदतामें हैं कि इस अज्ञातमें बढ़ाया गया हमारा प्रत्येक पग जीवन और मृत्युके बीच खेला गया एक जुआ है; प्रत्येक हमारे निर्णयका अर्थ हो सकता है उस सबका विनाश जो हम अभी हैं अथवा उसकी महत्तर संसिद्धि, उन सभी नाम रूपोंकी संसिद्धि अथवा विनाश जिनसे हम बँधे हैं। परन्तु स्वयं भविष्यमें भी यह है, क्योंकि भविष्यको शासित करती हुई केवल वे शक्तियाँ नहीं हैं जो दुर्निवार रूपसे हमें आकर्षित करतीं, उन्हें संसिद्ध करनेके लिये हमारा आह्वान करती हैं, प्रत्युत् दूसरी वैसी शक्तियाँ भी हैं जिन्हें पराजित करना है और जो पराजित होना पसन्द नहीं करतीं।

भविष्य दो मनोंवाली स्फिंक्स (यूनानकी पौराणिक रहस्यमयी रमणी) है, ऐसी शक्ति है जो अपने-आपको देती है, अदेय भी रखती है, अर्पण करती है और प्रतिरोध भी, हमें राजतिलक भी देना चाहती है और मार डालना भी। लेकिन इस विजयकी चेष्टा करनी ही होगी, जुआ खेलना ही होगा। हम लोगोंको भविष्यका, जो मृत्यु अथवा जीवन देता है, मुकाबला करना ही होगा और इससे डरनेकी भी कोई बात नहीं, क्योंकि अतीतके नामरूपोंमें सतत म्रियमाण रहकर ही हम नये और महत्तर नाम रूपोंमें अधिक प्राणवन्त रूपसे जीवित रहेंगे। हम लोगोंको आगे बढ़ना ही पड़ेगा, क्योंकि यदि हम इससे कतराते हैं तो काल स्वयं हमारी काल्पनिक स्थिरताके बावजूद हमें—आगे की ओर ढकेल देगा। और यह सबसे अधिक दयनीय और खतरनाक गति है। क्योंकि इससे अधिक दयनीय और क्या हो सकता है कि अवश रूपसे प्रवहमान रहते हुए कोई उस अतीतसे चिपका रहे जो हमारी चेष्टाओंके बावजूद टूट रहा है और उसके मिटते टुकड़ों और निर्जीव भूतोंको जीवन रक्षाके लिये जोर-जोरसे पुकारता जाय? और जो स्वभावसे ही गतिशील है उसपर स्थिरता लादनेसे अधिक और क्या खतरनाक हो सकता है? इसका मतलब है एक बढ़ती हुई भयंकर सड़ान, इसका मतलब है एक प्राणवन्त तथा अपने-आपको नया करते रहनेवाले शक्तिशाली प्राणीके बजाय सड़े हुए दुर्गन्धपूर्ण मूर्देको पकड़ रखनेकी चेष्टा करना। अतः सबसे बड़े लोग वे हैं जो भविष्यसे डरते नहीं, जो इसकी चुनौती और शर्तको स्वीकार करते हैं, संसारको चलानेवाली शक्तिमें, भगवान्‌में उनका वह ऊँचा विश्वास है, अनन्तके साथ जूझने और असंभवको प्राप्त करनेके लिये मानवी आत्माका उनमें वह दुर्दमनीय साहस है, मानवकी उच्चतम नियतिमें वह वीरोचित ज्ञानवन्त आस्था है जो अवतारों, मसीहों, प्रवर्त्तकों पुनरुद्धारकोंमें पायी जाती है।

यदि हम सावधानीसे विचार करें तो लगेगा कि अतीत वस्तुतः संरक्षण की महती शक्ति है लेकिन यह संरक्षण अगतिक नहीं है, इसके विपरीत यह—अपने-आपको परिवर्त्तन और नयी संसिद्धिके उपादानरूपसे प्रस्तुत करता है; वर्त्तमान सदा परिणामी और वास्तविक नयी संसिद्धि है जिसकी चाहना और वाह्यता अतीतने की है और भविष्य है नयी संसिद्धिकी वह शक्ति जो अवतक यथार्थमें परिणत नहीं हुई है और जिसकी ओर अतीत गतिशील था एवं जिसके लिए उसका अस्तित्व था। तब हम देखते हैं कि इन तीनोंमें वास्तविक विरोध नहीं है; हम देखते हैं कि ये एक ही गतिके

अंग हैं, एक तरहसे ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वरकी त्रिमूर्त्ति जो एक ही देवका काम अविभक्त क्रियामें निष्पन्न कर रही है। फिर भी विरोध और विभेदकी लतमें पड़ा हुआ मानव मन उनमें विरोध खड़ा करना चाहता है और मानव जातिको भिन्न-भिन्न श्रेणियोंमें—अतीतके पक्षधारियों, वर्त्तमानके पक्षधारियों और भविष्यके पक्षधारियों तथा इन शक्तियोंके बीच भिन्न-भिन्न संधियोंके पक्षधारियोंके रूपमें—विभक्त कर देता है। इन पक्षधारियोंके बीच जो संघर्ष है प्रकृति उसका अच्छा उपयोग करती और हमलोगोंके उत्साही अज्ञान और जड़तापूर्ण अहंमन्यताकी इस अवस्थामें उसका यह तरीका आवश्यक है; परन्तु फिर भी यह ऊँचे ज्ञानकी दृष्टिमें हैं एक दयनीयरूपसे अज्ञ संघर्ष।

भविष्यके पक्षधर अपनेको प्रगतिका दल बतलाते हैं, अपनेको प्रकाशकी संतान बतलाते और अतीत को खराब, अज्ञानग्रस्त और भ्रान्तियों और दोषोंका पुंज बतलाते हैं; उन्हींकी दृष्टिको है प्रकाश, सत्य और शुभका एकाधिकार—एक ऐसा सत्य, शुभ और प्रकाश यह है जिसे उनके बाद आनेवाली पीढ़ियाँ भी इसी तरह भ्रान्ति और अशुभ बतलाकर तिरस्कार करेंगी। वर्तमानके पक्षधर सभी प्रगतिसे भय करते और समझते हैं कि यह तो भ्रान्ति, पाप, पतन और महानाशमें हेय और अपवित्र ढंगसे डूब जाना है; उनके लिये वर्त्तमान मानवताकी शिखरावस्था है—ठीक उसी तरह जिस तरह अतीतमें बीत जानेवाले वर्त्तमान अपनी-अपनी पीढ़ियोंके लिये थे और इन अविकसनशील आत्माओंके लिये घृणास्पद वह भविष्य होगा जब वे उसमें जन्म लेकर फिर आयेंगे; तब वे उसी तीव्रता तथा आवेश के साथ दूसरे भविष्यके खिलाफ पक्षका समर्थन करेंगे जिस तीव्रता तथा आवेशके साथ अभी वे वर्त्तमानके हितमें अभी उस पर आक्रमण करते हैं। अतीतके पक्षपाती दो तरहके होते हैं। पहले प्रकारके वे लोग हैं जो वर्त्तमानके दोषोंको मानते परन्तु उस हदतक इसका समर्थन करते जिस हदतक जातिके सत्ययुगके पूजार्ह ऊँचे, पूर्ण, निर्दोष अतीतके सिद्धान्तोंका यह पालन करता है और इसलिये भी कि यद्यपि इसके ढाँचे पतित हैं फिर भी प्रगतिकी अधार्मिकतासे रक्षाके अवलम्ब है; यदि ये किसी परिवर्त्तनको स्वीकार भी करते तो यह उसी अतीतकी दिशामें होता जिसकी इनको चाह है। दूसरे तरहके वे लोग हैं जो वर्त्तमानको आमूलचूल घृणाकी दृष्टिसे देखते और इसे पतित, घृणित, भयावह, पापमय, अभिशप्त बतलाते हैं, ये उसे मानव समाजकी आशाके रूपमें एक बीते ढाँचेको ही खड़ा करते जो अपने पूर्वजोंके ज्ञानकी ओर लौट रहा है। और बच्चोंके उन झगड़ोंको बुद्धिमान्‌गण तथा विचारके नेता चकित करनेवाले भाव, प्रभावकारी और

भविष्य दो मनोंवाली स्फिंक्स (यूनानकी पौराणिक रहस्यमयी रमणी) है, ऐसी शक्ति है जो अपने-आपको देती है, अदेय भी रखती है, अर्पण करती है और प्रतिरोध भी, हमें राजतिलक भी देना चाहती है और मार डालना भी। लेकिन इस विजयकी चेष्टा करनी ही होगी, जुआ खेलना ही होगा। हम लोगोंको भविष्यका, जो मृत्यु अथवा जीवन देता है, मुकाबला करना ही होगा और इससे डरनेकी भी कोई बात नहीं, क्योंकि अतीतके नामरूपोंमें सतत म्रियमाण रहकर ही हम नये और महत्तर नाम रूपोंमें अधिक प्राणवन्त रूपसे जीवित रहेंगे। हम लोगोंको आगे बढ़ना ही पड़ेगा, क्योंकि यदि हम इससे कतराते हैं तो काल स्वयं हमारी काल्पनिक स्थिरताके बावजूद हमें—आगे की ओर ढकेल देगा। और यह सबसे अधिक दयनीय और खतरनाक गति है। क्योंकि इससे अधिक दयनीय और क्या हो सकता है कि अवश रूपसे प्रवहमान रहते हुए कोई उस अतीतसे चिपका रहे जो हमारी चेष्टाओंके बावजूद टूट रहा है और उसके मिटते टुकड़ों और निर्जीव भूतोंको जीवन रक्षाके लिये जोर-जोरसे पुकारता जाय? और जो स्वभावसे ही गतिशील है उसपर स्थिरता लादनेसे अधिक और क्या खतरनाक हो सकता है? इसका मतलब है एक बढ़ती हुई भयंकर सड़ान, इसका मतलब है एक प्राणवन्त तथा अपने-आपको नया करते रहनेवाले शक्तिशाली प्राणीके बजाय सड़े हुए दुर्गन्धपूर्ण मूर्देको पकड़ रखनेकी चेष्टा करना। अतः सबसे बड़े लोग वे हैं जो भविष्यसे डरते नहीं, जो इसकी चुनौती और शर्तको स्वीकार करते हैं, संसारको चलानेवाली शक्तिमें, भगवान्‌में उनका वह ऊँचा विश्वास है, अनन्तके साथ जूझने और असंभवको प्राप्त करनेके लिये मानवी आत्माका उनमें वह दुर्दमनीय साहस है, मानवकी उच्चतम नियतिमें वह वीरोचित ज्ञानवन्त आस्था है जो अवतारों, मसीहों, प्रवर्त्तकों पुनरुद्धारकोंमें पायी जाती है।

यदि हम सावधानीसे विचार करें तो लगेगा कि अतीत वस्तुतः संरक्षण की महती शक्ति है लेकिन यह संरक्षण अगतिक नहीं है, इसके विपरीत यह—अपने-आपको परिवर्त्तन और नयी संसिद्धिके उपादानरूपसे प्रस्तुत करता है; वर्त्तमान सदा परिणामी और वास्तविक नयी संसिद्धि है जिसकी चाहना और वाह्यता अतीतने की है और भविष्य है नयी संसिद्धिकी वह शक्ति जो अबतक यथार्थमें परिणत नहीं हुई है और जिसकी ओर अतीत गतिशील था एवं जिसके लिए उसका अस्तित्व था। तब हम देखते हैं कि इन तीनोंमें वास्तविक विरोध नहीं है; हम देखते हैं कि ये एक ही गतिके

अंग हैं, एक तरहसे ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वरकी त्रिमूर्त्ति जो एक ही देवका काम अविभक्त क्रियामें निष्पन्न कर रही है। फिर भी विरोध और विभेदकी लतमें पड़ा हुआ मानव मन उनमें विरोध खड़ा करना चाहता है और मानव जातिको भिन्न-भिन्न श्रेणियोंमें—अतीतके पक्षधारियों, वर्त्तमानके पक्षधारियों और भविष्यके पक्षधारियों तथा इन शक्तियोंके बीच भिन्न-भिन्न संधियोंके पक्षधारियोंके रूपमें—विभक्त कर देता है। इन पक्षधारियोंके बीच जो संघर्ष है प्रकृति उसका अच्छा उपयोग करती और हमलोगोंके उत्साही अज्ञान और जड़तापूर्ण अहंमन्यताकी इस अवस्थामें उसका यह तरीका आवश्यक है; परन्तु फिर भी यह ऊँचे ज्ञानकी दृष्टिमें हैं एक दयनीयरूपसे अज्ञ संघर्ष।

भविष्यके पक्षधर अपनेको प्रगतिका दल बतलाते हैं, अपनेको प्रकाशकी संतान बतलाते और अतीत को खराब, अज्ञानग्रस्त और भ्रान्तियों और दोषोंका पुंज बतलाते हैं; उन्हींकी दृष्टिको है प्रकाश, सत्य और शुभका एकाधिकार—एक ऐसा सत्य, शुभ और प्रकाश यह है जिसे उनके बाद आनेवाली पीढ़ियाँ भी इसी तरह भ्रान्ति और अशुभ बतलाकर तिरस्कार करेंगी। वर्तमानके पक्षधर सभी प्रगतिसे भय करते और समझते हैं कि यह तो भ्रान्ति, पाप, पतन और महानाशमें हेय और अपवित्र ढंगसे डूब जाना है; उनके लिये वर्त्तमान मानवताकी शिखरावस्था है—ठीक उसी तरह जिस तरह अतीतमें बीत जानेवाले वर्त्तमान अपनी-अपनी पीढ़ियोंके लिये थे और इन अविकसनशील आत्माओंके लिये घृणास्पद वह भविष्य होगा जब वे उसमें जन्म लेकर फिर आयेंगे; तब वे उसी तीव्रता तथा आवेश के साथ दूसरे भविष्यके खिलाफ पक्षका समर्थन करेंगे जिस तीव्रता तथा आवेशके साथ अभी वे वर्त्तमानके हितमें अभी उस पर आक्रमण करते हैं। अतीतके पक्षपाती दो तरहके होते हैं। पहले प्रकारके वे लोग हैं जो वर्त्तमानके दोषोंको मानते परन्तु उस हदतक इसका समर्थन करते जिस हदतक जातिके सत्ययुगके पूजार्ह ऊँचे, पूर्ण, निर्दोष अतीतके सिद्धान्तोंका यह पालन करता है और इसलिये भी कि यद्यपि इसके ढाँचे पतित हैं फिर भी प्रगतिकी अधार्मिकतासे रक्षाके अवलम्ब हैं; यदि ये किसी परिवर्त्तनको स्वीकार भी करते तो यह उसी अतीतकी दिशामें होता जिसकी इनको चाह है। दूसरे तरहके वे लोग हैं जो वर्त्तमानको आमूलचूल घृणाकी दृष्टिसे देखते और इसे पतित, घृणित, भयावह, पापमय, अभिशप्त बतलाते हैं, ये उसे मानव समाजकी आशाके रूपमें एक बीते ढाँचेको ही खड़ा करते जो अपने पूर्वजोंके ज्ञानकी ओर लौट रहा है। और बच्चोंके उन झगड़ोंको

तथा विचारके नेता चकित करनेवाले भाव, प्रभावकारी और

सुन्दर शब्दशक्ति, धार्मिक आवेश और उत्साहपूर्ण भावावेग दे देते जिन्हें वे समझते हैं कि ये अपने को निरावृत करनेवाले परमसत्यकी प्रकृत वाणी और प्रकाश हैं।

सच्चा विचारक दलबन्दीके नेताओंमें जो आडम्बर है उसे छोड़ सकता है। वह इस भागवत-गतिको सम्पूर्णतामें देखनेका प्रयत्न करेगा, इसकी प्रमुख धाराओंमें भागवत संकल्पको, लक्ष्यको देखनेकी चेष्टा करेगा और अपने मनसे इसके विस्तृत तत्त्वको जहाँ-तहाँ जड़नेका प्रयास नहीं करेगा, रूपोंके प्रति आसक्त हुए बिना वह अतीतकी महानता और उसके गंभीर अर्थको ढूँढ़नेका प्रयास करेगा क्योंकि वह जानता है कि रूपोंमें परिवर्तन आवश्यक है केवल अरूप ही स्थायी तत्त्व है, और अतीतकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती लेकिन सिर्फ इसका सारभूत तत्त्व, इसकी शक्ति, इसका कल्याणमय आत्मा और उच्चतर संसिद्धिके लिए उसका पुंजीभूत आग्रह ही बचाकर रखा जा सकता है, वह वर्त्तमानकी यथार्थ संसिद्धियोंको एक अवस्थाके रूपमें, और इससे अधिक कुछ नहीं स्वीकार करेगा, ऐसा करते हुए वह इसके दोषोंको, आत्मतुष्ट भ्रान्तियोंको, धृष्ट अहंमन्यताको तीव्रतासे पहचानेगा क्योंकि उन्नतिके ये प्रधान शत्रु हैं, परन्तु जो सत्य और शुभ इसने अर्जित किये हैं उनको वह नहीं भूलायेगा, और वह भविष्यकी परख यह समझनेके लिये करेगा कि भगवान् उसमें केवल अभी नहीं, आगामी पीढ़ीमें ही नहीं, वरन् और बादमें क्या संसिद्ध करना चाह रहे हैं और इसके लिये वह बोलेगा, प्रयास करेगा, जरूरत हुई तो युद्ध करेगा, क्योंकि युद्ध मानवतामें प्रकृतिके द्वारा अपनाया हुआ तरीका अभी तक रहता जा रहा है और ऐसा करते हुए हर समय वह यह भी जान रहा है कि आगे और भी बहुत कुछ शेष है और जिसके सामने यह सब कुछ जिसे उसने अधिगत किया है जब प्रकाशमें आयेगा तो भ्रान्त और सीमित दिखलाई पड़ेगा। इसलिये वह धृष्टता और अहंकारसे शून्य होकर यह जानते हुए कि उसकी भ्रान्तियाँ और जिससे वह संघर्ष कर रहा है वे सब समानरूपसे मानव जीवनकी विवर्धमान उस सत्य और शुभकी ओर बढ़नेवाली गति और प्रयासमें आवश्यक शक्तियाँ हैं जिसके द्वारा छायारूपसे अतिदूर भागवत आदर्शका रूप विस्तारित होता है।

रूढ़िवादी मन और प्राच्य प्रगति

मनुष्योंके मनमें नये मौलिक विचारोंके उद्रेकका अर्थ है मानव जीवन और समाजमें महान् परिवर्त्तनका आगमन; इससे संघर्ष भी किया जा सकता है, पुराने भावकी प्रतिक्रिया कुछ कालके लिये विजय भी कर सकती है, लेकिन यह संघर्ष विचारोंको अथवा मनोभावोंको अथवा समाजकी संस्थाओं वा आदतोंको ठीक उसी हालतमें नहीं छोड़ता जिस हालतमें इसके प्रारम्भकालमें वे थे। इसे वह जाने वा न जाने यह आगे चल चुका है और परिवर्त्तन अनिवार्य है। या तो पुरानी संस्थाओंके स्थानपर नये रूप खड़े हो जाते हैं या पुरानी संस्थाएँ अपने स्वरूपकी रक्षा करते हुए अन्तरसे गंभीर रूपसे वदल चुकी है, या नहीं तो अपने लिये अधिक कठोरताका, बढ़ती हुई खरावीका, आत्माके वढ़ते हुए ह्रास और सच्ची शक्तिके क्षयका एक और काल अर्जित कर चुकी हैं जो भविष्यमें इसके लिये एक और भी पूर्ण संकट तथा परिपूर्ण विलोपको सुनिश्चित करता है। अतीत अधिक-से-अधिक एक आंशिक पुनरुज्जीवन या यातनाशून्य मृत्युको ही प्राप्त कर सकता है, वशर्ते यह जाने कि भविष्यके साथ उदारतापूर्वक समझौता कैसे किया जाय।

रूढ़िवादी मन इस नियमको पहचाननेमें वरावर हिचकिचाता रहा है हालाँकि यह सारे मानव इतिहासमें स्पष्ट गोचर है और हम इसके उदाहरण सभी युगों और कालोंसे मुट्ठी भर-भर कर चुन सकते हैं, और चूंकि अधिक भयानक परिवर्त्तन और तीव्र विद्रोह अपेक्षाकृत कम संख्या में होते हैं इसीलिये अपनी आँख बंद रखकर भी यह सुरक्षित रह जाता है; यह उस पर्देसे अंधा हो जाता है जिसे प्रकृति अपनी परिवर्त्तनकी पद्धतिपर प्राय: डालती रहती है। यदि इसके प्रकाशमें हम यूरोपीय इतिहासपर ऐसे भी निगाह डालें तो कुछ ही प्रमुख घटनाओंपर हमारा ध्यान अटकता है जैसे कि अथिनियन जनतंत्रका विकास और अंत, रोमन जनतंत्रका रोमन साम्राज्यमें वदल जाना, रोमके खण्डहरोंसे सामन्तशाही यूरोपका उद्भव, यूरोपका क्रिश्चियन हो जाना, सुधार और पुनरुत्थानका साथ मिलकर एक नए समाजको तैयार करना फ्रान्सीसी राज्य-क्रान्ति, समाजवादी राष्ट्रके प्रति वर्त्तमानमें तेजीसे अग्रगति और प्रतियोगिताके स्थानपर संगठित सहयोगका पदार्पण। चूंकि यूरोपीय इतिहासके प्रति हमारा दृष्टिकोण प्रधानत: राजनीतिक है, हम समाज और विचारोंमें सतत परिवर्त्तनको

उसी मानचित्रमें नहीं देखते; लेकिन परिवर्त्तनोंके दो महान् चक्रोंको देख सकते हैं, एक तो है पुरानी जातियोंका पुराने युगोंसे निकलकर यूनानी-रोमन संस्कृत समाजमें उन्नयन और दूसरा है सामन्तशाही अर्द्धवर्वर ईसाई समाजका वर्त्तमान युगके वौद्धिक जड़वादी सभ्य समाजमें परिवर्त्तन।

पूरबमें इसके विपरीत सबसे वड़े विद्रोह आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रहे हैं; राजनैतिक और सामाजिक परिवर्त्तन यद्यपि सच्चे और महत्वपूर्ण रहे हैं हालाँकि यूरोपकी अपेक्षा वे कम गंभीर हुए हैं, छायामें वहाँ पड़ेसे दिखलाई पड़ते हैं और उनको भूल जाना सहज दीखता है। इसके अलावे उनकी यह दुर्वलता सच्चे आयामके अभावमें और बढ़ गई-सी लगती है, उनकी गति भी मद्धिम सूक्ष्मता और उनका स्वाभाविक रूपसे पुराने नामों और सूत्रोंको याद करते अथवा पूजा करते रहनेसे वे नाम और सूत्र तो बचे रह गए हैं जव कि चीज गंभीरतासे वदल चुकी है और उसका मूल-भाव एक पवित्र कल्पनाके रूपमें ही शेष रह गया है। जापानने अपने पुनीत मिकाडोको अभिजातवर्गीय और सामन्तवादी राज्यमें वदलनेके लिये आवरणरूपसे वचाये रखा और आधुनिक कालमें उसे समाजके मध्यकालीन रूपसे पूर्णतः आधुनिक समाजमें विना भयंकर झटकेके परिवर्त्तनके लिये आवरणरूपसे फिर वाहर लाया है। भारतमें जो आध्यात्मिक आदर्श, सामाजिक रीति, नैतिक अनुशासन, और आर्थिक वृत्ति पर आधारित समाजकी प्राचीन चतुर्विध व्यवस्थाकी कल्पना जारी है, उसका व्यवहार आज भी एक विल्कुल दूसरे प्रकारकी जटिल मिली-जुली जाति व्यवस्थाको ढकनेके लिये किया जा रहा है यद्यपि इसमें पुराने प्रयोजनोंके टूटे-फूटे खण्ड अभीतक वचे हुए हैं और वस्तुतः यह जन्म, स्वत्व, स्थानीय प्रथा और धार्मिक विधि-विधान पर आधारित है। समाजकी एक पद्धतिसे दूसरी वैसी पद्धतिमें परिवर्त्तन जो अपने मनोवैज्ञानिक प्रयोजनों और यथार्थ संस्थाओंमें इतनी विपरीत है कि विना पुराने ढाँचेमें परिवर्त्तन लाये मानव इतिहासकी अत्यन्त ही विपमयकारी घटनाओंमें एक है जिसके प्राज्ञ अध्ययनकी आवश्यकता अव भी वनी हुई है।

हमलोगोंका मस्तिप्क चीजोंको मोटा-मोटी पकड़ लेता और जो वहुत स्पप्ट सामने दिखलाई पड़ता है उसीको समझनेका आदी है; हम प्रकृतिकी सूक्ष्मताओं और अवगोपनोंकी रीति समझना भूल ही जाते हैं। वड़ी क्रान्तियों और स्पप्ट परिवर्त्तनोंकी रीति, आवश्यकता और प्रयोजनोंको तो हम कुछ-कुछ देखते और समझते हैं और उन छोटी प्रतिक्रियाओंको थोड़ा-वहुत समझते और यथास्थान उन्हें विठाते हैं, जिन्होंने नये भावोंकी

चरितार्थता तो नहीं रोकी वरन् उसे थोड़ा-बहुत प्रभावित भर किया। उदाहरण-स्वरूप हम देखते हैं कि रोमके थोड़े लोगोंके स्वामित्वकी जो सुलनद्वारा पुन:स्थापना हुई अथवा इङ्गलैंडमें स्टुआर्ट वंशकी पुन:स्थापना हुई अथवा फ्रान्समें पूर्वी लोगोंके साथ जो थोड़े कालके लिये राज-शासन की स्थापना हुई, वे वास्तविक पुन:स्थापनाएँ नहीं थीं, वे तो कुछ वैसा प्रयत्न थीं, जिसके बाढ़में कुछ क्षणके लिये थोड़ी-बहुत छूट देकर बाँध लगा दी गयी और उन विकासोंको जन्म दिया जिससे अतीतमें लौटना तो सम्भव नहीं हुआ, लेकिन आवश्यक क्रान्तिकी गति और रूपको निर्धारित अवश्य किया। एक भाव सारी विघ्न-बाधाओंके विरुद्ध शताब्दियोंतक किस प्रकार विकास करता रहता है इसका अध्ययन ज्यादा मुश्किल तो है परन्तु फिर भी संभव है उदाहरण स्वरूप हम अब समझ सकते हैं कि फ्रान्सकी राज्यक्रान्तिका मूल हमें रूसो या मिराबो या लुई सोलहवेंकी मूलभ्रान्तियोंमें नहीं ढूँढ़ना चाहिए वरन् पीछे उन आन्दोलनोंमें ढूँढ़ना चाहिए जो कापे और भाल्वाके कालमें हमें ले जाते हैं, जब यथार्थमें वह घटना जिससे यह फूट पड़ी और विजयीशील बनी और जिसने इसका रूप निर्धारित किया वह थी फ्रान्समें कैल्वनिस्टिक सुधारकी विफलता और लूई तेरहवें और चौदहवेंके कालमें अभिजात और सामन्तवादी प्रथाके ऊपर फिरसे राजशाही हुकूमतका पूरा-पूरा हावी हो जाना। इस द्विविध विजयने फ्रान्समें राजशाहीके अंतको निश्चित कर दिया, चर्चको गिराया, और यह उस अभिजात वर्गके विलयका कारण बनी जो धर्म और राजनीतिमें उदारवृत्तिका सच्चा नेतृत्व करनेमें विफल हो चुका था।

लेकिन प्रकृतिकी इससे भी अधिक सूक्ष्मतर और गोपन गतियाँ हैं जिससे वह मानवोंके साथ व्यवहार करती और उनके बिना यह जाने कि वे बदल चुके हैं बदलनेको बाध्य करती हैं। पूरबके बहुसंख्यक लोगोंमें चूँकि उसने इसी उपायसे प्रधानत: काम लिया है इसीलिये पश्चिमकी अपेक्षा मनकी रूढ़िवादी आदत यहाँ इतनी प्रबल है। इस भ्रमको वह आज भी पाल रहा है कि वह बदला नहीं है, वह आज भी सुदूर पूर्वजोंके भावोंके उनके धर्म, उनकी परम्पराओं, उनकी संख्याओं, उनके सामाजिक आदर्शोंके प्रति अगतिक रूपसे निष्ठावान् रहा है, कि जीवनके कार्य-क्रममें तथा विचारमें दोनोंमें उसने या तो एक दिव्य या पाशविक स्थिरता बचा रखी है और मानवी परिवर्त्तनका जो यह नियम है कि मानवको या उसके सामाजिक संगठनोंको या तो उन्नति करनी है या अवनति और किसी भी हालतमें समयके आक्रमणको वह रोक नहीं सकता, उससे उसने अपने-आपको

बचाये रखा है। बौद्धधर्म आया और चला गया और हिन्दू आज भी यह मानता है कि उसका धर्म वही वैदिक धर्म है जो उसके पूर्वज मानते थे, वह अपने धर्मको आर्यधर्म, सनातनधर्म कहता है। हम जब बहुत नजदीकसे इसे देखते हैं तभी हमें यह पता चलता है कि यह भ्रान्ति कितनी बड़ी है। बुद्ध सचमुच भारतसे बाहर चले गए हैं, लेकिन बुद्धधर्म बचा हुआ है, अपनी विराट मुहर इसने राष्ट्रधर्मकी आत्माके ऊपर लगा रखी है। रूप निर्धारण इसने उन तांत्रिकोंके हाथमें छोड़ दिया जिनके साथ इसने समझौता किया था और अपने मध्यवर्त्ती विकासमें जिसके साथ एक प्रकारकी तदाकृति इसकी हो गई थी। जो इसने नाश कर दिया उसे कोई भी बना नहीं सका, जो इसने छोड़ा उसका किसीने भी नाश नहीं किया। वस्तुत: विकासके जिन दो चक्रोंको प्रारम्भिक वैदिककालसे लेकर बुद्ध और दार्शनिकोंके कालतक तथा फिर बुद्धसे लेकर यूरोपीय लोगोंके इस भूमिपर आगमनतक भारतने पूरा किया है वह धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक किंवा राजनीतिक और शासन सम्बन्धी परिवर्त्तनोंमें उतना ही व्यापक था जितना यूरोपका दोहरा विकासचक्र। लेकिन चूँकि इसने नयी चीजोंके लिए पुराने नाम बचा रखे, नयी प्रणालियोंके लिये पुराने आवरण बचा रखे, चूँकि यह परिवर्त्तन अन्तरमें तो स्पष्ट था परन्तु बाहरमें चुपचाप बिना रगड़-झगड़े सम्पन्न हो गया, हम लोग अपरिवर्त्तित पूरवकी कल्पनाको आज भी बनाये हुए हैं और ढोते जा रहे हैं। यह परिणाम भी हुआ कि जहाँ यूरोपीयन रूढ़िवादीने मानव समाजमें परिवर्त्तनकी रीतिको समझ लिया है, जहाँ वह यह जानता है कि आगे उसे बढ़ना ही होगा और प्रगतिकारियोंसे केवल उचित दिशा और गतिको लेकर झगड़ता है, वहां पूर्वी अथवा भारतीय रूढ़िवादी आज भी इस कल्पनामें लगा हुआ है कि मरण धर्मा प्राणीके लिये स्थिरता ही सच्ची रीति है, समयके प्लावन प्रवाहपर एक किस्मके यौगिक आसनका अभ्यास करता और चूँकि स्वयं वह हिल-डोल नहीं रहा है सोचता है—क्योंकि उसकी आँखें बंद हैं और किनारोंकी ओर देखनेका उसका अभ्यास नहीं है—कि वह धाराको भी आगे बढ़नेसे रोक सकता है।

इस रूढ़िवादी सिद्धान्तके भी वैसे ही लाभ हैं जैसे तेज प्रगतिके दुर्गुण और खतरे। एक मूलभूत धारावाहिकताको यह बचा रखनेमें मदद देता है जो सभ्यताओंके दीर्घजीवनका कारण है और जो मानवता के अतीतके बहुमूल्य तत्त्वोंको बचाये रखता है, इसी तरह भारतमें यद्यपि धर्म अपनी प्रवृत्ति और रूप अत्यधिक बदल चुका है, धर्मगत अन्तस्सत्ता सचमुच सनातन

रही है, आध्यात्मिक अनुशासनका सिद्धान्त आज भी वही है जो आरंभिक पूर्वकालमें था, मौलिक आध्यात्मिक सत्य बचते चले जाते हैं यहाँतक कि उनके सारतत्त्व और भी समृद्ध ही हुए हैं, और रूपोंको भी यदि देखा जाय कि कैसे-कैसे परिवर्त्तन उनमें आते गये हैं तो उनका बीज हमें वेदोंमें मिलेगा। दूसरी ओर मनकी इस आदतसे वैसा बहुत-सा कूड़ा-कर्कट जमा हो जाता है जो एक समय तो मूल्यवान् थे लेकिन अब वे अपना गुण खो बैठे हैं, निष्प्राणरूप और अन्धविश्वास जमा हो जाते हैं जिनके पीछे आज न तो प्राणवन्त सत्य है न छिपा हुआ कोई सहायक महत्व। अतीतका यह सड़ा हुआ गलीज इतना पवित्र माना जाता है कि कोई अपने अपवित्र हाथोंसे इसे छू नहीं सकता और फिर भी राष्ट्रीय जीवनकी धाराको यह रोकता है और इसके जलको यह दूषित बनाता है। और यदि शुद्धि-करणकी कोई सफल क्रिया न की गई तो सामाजिक कायामें अस्वस्थता आ जाती है जिसमें स्थितिपालनकी अवस्था नाशको न्यौत देती है।

संसारका वर्त्तमान युग है महान् रूपान्तरणोंकी अवस्थाका युग। मानवताके मनमें एक नहीं, वहुत-से मूलभूत भाव क्रियाशील हैं और उसके जीवनमें उग्र चपेट और चेष्टाके साथ परिवर्त्तन ले आनेको छटपटा रहे हैं; और यद्यपि इस आन्दोलनका केन्द्र प्रगतिशील यूरोपमें है फिर भी विचारोंके समुद्र-मंथनमें पुराने भावों और संस्थाओंके इस तोड़-मरोड़में पूरब भी अधिकाधिक खिंचता चला जा रहा है। कोई भी राष्ट्र अथवा जाति अव अधिक देरतक मनोवैज्ञानिकतः आधुनिक जगत्की एकतासे अलग अपने-आपमें ही सीमित नहीं रह सकता। यह भी कहा जा सकता है, सबसे अधिक मनुष्यका भविष्य उस उत्तरपर निर्भर करता है जो पूरब रहस्य-रमणी (स्फिक्स) की आधुनिक पहेलीको देगा, विशेषतः भारत जो एशियाई भावका इसके गंभीर आध्यात्मिक रहस्योंका पूज्य संरक्षक है। क्योंकि इस युगमें जो सबसे महत्वकी बात है वह है, मनुष्यकी भावी प्रगति क्या आर्थिक और वस्तुवादी पाश्चात्य मनके द्वारा चालित होगी अथवा उसे प्रेरित करेगा एक सहृदय बुद्धिवाद जो आध्यात्मिक संस्कृति और ज्ञानके द्वारा उन्नीत और आलोकित होगा। पश्चिम कभी अपना आध्यात्मीकरण नहीं कर सका और हालमें तो एकबारगी उसको राजनीतिक और आर्थिक आदर्शों तथा आवश्यकताओंको लेकर ही बाहर-बाहर काम करनेकी आदत हो गयी है; यद्यपि धार्मिक मन वहाँ फिर ज़ाग उठा है और एक प्रसारित हालाँकि आध्यात्मिक या परोक्ष तत्त्वोंमें गहरा या आलोकित कुतूहल वा खोज इसमें नहीं है, इसे बिल्कुल इसी दुनियाकी चीजोंमें काम करते जाना

है और यांत्रिक उन उपायोंसे जिसे उसके भीतरका विचारक राजनीतिज्ञ उसे सुझाता है इसलिये कि इसे दूसरा ढंग मालूम नहीं और दूसरे उपायका इसको अभ्यास नहीं, अपनी समस्याओंका हल करते जाना है। दूसरी ओर पूरव जिसने अपनी आध्यात्मिकताको निर्जीव रूपोंमें गहरी नींद सोनेको छोड़ दिया है वरावर ही गंभीर जागरणोंकी ओर खुला रहा है और तव भी जबकि सचमुच यह तामसिक और असर्जक हो गया है अपने आध्यात्मिक सामर्थ्यको अक्षुण्ण रखे हुए है। अतएव जगतकी आशा अव इस वातमें धरी हुई है कि पूरबमें आध्यात्मिक व्यावहारिकता और संगठनकारी शक्तिकी विस्तृत और गंभीर दृष्टि जिसके ऊपर वरावर पश्चिमका संस्पर्श हो, फिरसे खुल जाय और पश्चिममें एशियाका प्रकाश जगमगा उठे और उन रूपोंमें अधिक नहीं जो व्यवहारमें लाये जा चुके हैं, अचलायतन हैं, अनमनीय हैं, लेकिन नये रूपोंमें जो निर्मित हो रहे हैं, क्रियाशील और प्रभावकारी हैं।

भारतको भी, जो पूरबका हृदय है, उसी तरह वदलना है जिस तरह सारा पूरव और सारा पश्चिम वदल रहा है और इस परिवर्त्तनको पश्चिमने जैसी समस्याएँ इसपर लाद दी हैं उन्हें ध्यानमें रखते हुए यह दरकिनार भी नहीं कर सकता। आवश्यक रूपसे नये पूरवका जो निर्माण होगा वह या तो किसी संतुलन या समन्वयके परिणाम रूपसे होगा अथवा प्रगतिशील और रूढ़िवादी आदर्श और प्रवृत्तियोंके वीच उग्रसंघर्षके परिणाम-स्वरूप होगा। अतएव यदि यहाँका रूढ़िवादी मन रूपान्तरणकी आवश्यकताकी ओर पर्याप्त रूपसे खुल जाता है तो परिणामरूपमें जो उदीयमान भारतकी संस्कृति उत्पन्न होगी वह जगत्की भावी सभ्यतामें ही एक गहरा परिवर्त्तन ला देगी। लेकिन अगर यह निर्जीव कल्पित गाथाओंमें ही वंद रह गया अथवा कोशिश करता रहा कि स्कूली आदमी या तार्किकके मस्तिष्कके हिसावसे जो भावों और शब्दोंके ऐसा व्यवहार करते हैं मानो वे आसमानी चीज हों और सच्चे खरे तत्त्व न हों, जीवनकी नयी आवश्यकताओंको जुटा दिया जाय, अथवा विल्कुल आवश्यक थोड़ी-वहुत तवदीलियोंको छोड़ और सवको वनाये रखनेके लिये संघर्षशील होता है, तव चूंकि नये भाव विना रुपायित हुए रह नहीं सकेंगे, तो भारतका भविष्य उस ढाँचेमें गढ़ा जायेगा जो पश्चिमी सामाजिक और राजनीतिक सुधारकने गढ़ रखा है और जिसका दिमाग मौलिक चिन्तनसे शून्य होनेके कारण और प्राणवन्त अनुभवसे अनालोकित केवल यूरोपके ही भाव और विचारकी नकल तैयार कर सकता है और यूरोपके ही नकल करनेवाले वनमानुपके

रूपमें हमें बदल देगा। नहीं तो, और जो शायद सबसे अच्छी चीज हो सकती है, वह यह कि इस बृहत् जीवनकी गहराईसे एक नयी आध्यात्मिक जागृति ही निकल पड़े, और इस बार अधिक सफलतासे अपनी बाहुपाशमें पार्थिव जीवनकी समस्याओंको तथा आत्मा और इसके उस पारकी नियतिको समेट ले। यह एक जागरण होगा जो यूरोपके नवजाग्रत आत्मशोधके साथ एक होगा और मानवजातिकी पूर्णताकी अभीप्साके साथ सहयोग करेगा। यह तीसरा और अबतकका अज्ञात परिणाम ही वह शक्ति है जो सारे पूरबको चाहिये। एक रूढ़िवादी अगतिकता और अयोग्यता जो प्राचीन परंपराओंके कोषमें बंद हैं और एक प्रगतिशील शक्ति जो कि शायद ही कम अंधी और अप्रभावकारी हो, क्योंकि वह पुरानी है और उन्नीसवीं शताब्दिके यूरोपकी नकल है—ये ही दो ध्रुव हैं और दोनोंके बीचमें है एक अनिर्णीत तैरती हुई अनिश्चितताकी राशि। परिणाममें एक अविरत विफलता है, कोई भी बड़ी, शक्तिशाली, निश्चित और प्राणवन्त चीज विकसित करनेकी अक्षमता है, परिस्थितियोंकी धारामें अवश प्रवहमानता है, विस्तार और अनावश्यक चीजोंकी समझ है, और जीवनकी उन प्रचण्ड समस्याओंकी तहतक पहुँचनेमें विफलता है जिन्हें जमाना हमारे दरवाजोंतक ले आया है। कुछ चीज आवश्यक है जो जनमती-सी लग रही है, लेकिन अबतक वेदके शब्दोंमें माँ अपनेको लघुतामें ही समेटे हुए है, जन्मको अपने भीतर ही छिपाकर रखे हुए है और पिताको इसे समर्पित नहीं करेगी। जब वह प्रवर्त्तना और गर्भमें वृहत् हो जायेगी तो इसे उत्पन्न होते हुए हम देखेंगे।

आदर्श

आदर्श वे सत्य हैं जो मनुष्योंको अभीतक प्राप्त नहीं हुए हैं, वे सत्ताके उच्च स्तरोंके सत्य हैं जो जीवन और जड़-तत्त्वकी इस अधोभूमिमें, हमारे वर्त्तमान क्रियाक्षेत्रमें अभी निष्पन्न होनेको शेष ही बचे हुए हैं। व्यावहारिक बुद्धिके लिये, जो सदा परिणामी वर्त्तमानके ऊपर आधारित है, आदर्श न तो सत्य हैं, न यथार्थ; अधिक-से-अधिक वे भविष्य सत्यकी संभाव्यतामात्र हैं जो यथार्थ तब होते हैं जब प्रकट रूपमें शक्तिके निष्पन्न कार्य रूपसे गोचर होते हैं। लेकिन जड़-जगत्की गतिधारासे जो मन अपनेको पीछे करनेमें समर्थ है, उसके लिये जो चेतना अपने कार्योंसे ही बँधी न होकर उसी बाढ़में अपने-आपको डुबो देनेके बजाय, उसको अधिकृत करती, पकड़ती और समझती है, उसके लिये तथा जो आत्मा विश्व-शक्तिका न तो यंत्र है न विषयमात्र, वरन् उस परा चित्शक्तिका किंचित् प्रतिबिंब है जो इसका नियमन करती तथा चलाती है, उसकी आन्तरिक दृष्टिमें आदर्श सदा परिवर्त्तनशील इन्द्रिय-ग्राह्य प्रकट तत्त्वोंसे बढ़कर सत्य है। भाव बाहरी उन तत्त्वोंका जिससे यह अत्यधिक विशाल है, कोई प्रतिबिंब नहीं। प्रत्युत प्रकट यथार्थ ही उस भावका आंशिक प्रतिबिंबमात्र है जिससे यह सृष्ट हुआ है।

निश्चय ही, आदर्श अन्तिम सत्य नहीं है, क्योंकि वह तो किसी भी आदर्शकी कल्पनाके लिये अत्यधिक विस्तृत और उच्च है। विश्व शक्तियोंके आधारभूत आदर्श विश्व चेतनामें फेंके गये परम सत्यके विभिन्न रूप हैं। परन्तु वे पहले हैं और उनकी सच्ची कार्यकारिता बादकी चीज है। वे सत्यके समीपतर हैं और इसीलिये अधिक सत्य हैं, वे यथार्थताओंकी अपेक्षा अधिक शक्तिवन्त और पूर्ण हैं, क्योंकि यथार्थताएँ उनकी आंशिक छाया हैं। स्वयं वे सत्यकी छाया हैं तथा अधिक ठोस रूपसे हम लोगोंके जीवनगत कार्योंमें वे प्रतिबिंबित होते हैं। मानवी बुद्धि जितने परिमाणमें आत्म-निष्पन्नकारी घटनाओंके द्वारा परिसीमित होती है उतने ही अनुपातसे तबतक वह क्रियात्मक भावको ग्रहण करनेमें असमर्थ रहती है जबतक कि हम उसके द्वारा निर्मित वस्तुको देख नहीं लेते। लेकिन हम लोगोंकी इन्द्रियग्रस्त चेतनाका यह अनुक्रम विश्वका सच्चा अनुक्रम नहीं। भगवान्का अस्तित्व संसारके हो सकनेसे पहलेसे है, परन्तु हमारे अनुभवोंमें जिनमें

इन्द्रियाँ पहले काम करती हैं और चेतनाके सूक्ष्म कार्य बादमें आते हैं, लगता है कि संसार पहले हुआ और भगवान् बादमें उससे उत्पन्न हुए हैं, यहाँतक कि हमें इसके लिये बहुत प्रयत्न करना पड़ता है कि भगवान्के यांत्रिक बहुत्वविशिष्ट और सर्वव्यापी धारणाओंसे ऊँचे उठकर इस दिव्य सत्यसे अधिक सत्य और ऊँचे भावमें जा सकें। हम लोगोंके लिये जो सबसे परे है वही सत्य है, वही प्राथमिक तत्त्व है। इसी तरह भाव जो वस्तुसे उत्पन्न हुआ-सा दीखता है वही पूर्वगामी तत्त्व है, जिससे वस्तु उत्पन्न हुआ है। आदर्श और यथार्थका जो हमारा भोंड़ा विभेद है वह तो, अतः, एक इन्द्रियजन्य विभ्रम है, क्योंकि जिसे हम यथार्थ कहते हैं वह तो उसकी शक्ति जो घटनाके पीछे विद्यमान है, एक गति विधान है और वह उसका पूर्वगामी तथा उससे अधिक महान् तत्त्व है। सृजनकारी दिव्य सत्ता का सच्चा रूप हैं सत्य, भाव, घटना।

शक्ति संघातमें जब चीज निष्पन्न हो जाती है तभी व्यावहारिक बुद्धि उसे निश्चित समझती है। इसीलिये आदर्शके लिये, कल्पनाके लिये इसमें एक परिमाणमें उपेक्षा रहती है, क्योंकि बराबर यह कार्यसाधिका वस्तुगत सिद्धिकी ओर धावन करती है। परन्तु शक्ति भगवान्की एक मात्र वृत्ति नहीं; ज्ञान-शक्ति शक्तिकी बड़ी बहन है: शक्ति और चेतना सत्ताके द्विविध रूप हैं; दोनों ही तरहसे, वस्तुओंके सनातन आधारके रूपमें तथा उनकी विवर्त्तनगत संसिद्धिके रूपमें। किसी सत्यकी चेतनामें जो पकड़ होती है वही भाव है, जैसा कि यथार्थता शक्तिके रूपमें उसकी संसिद्धि है। दोनों ही आवश्यक हैं, दोनों ही अपने-आपमें तथा एक-दूसरेमें न्यायतः प्रतिष्ठित हैं और दोनोंमेंसे कोई भी अपने पूरकको न तो अमान्य कर सकता न तिरष्कार ही कर सकता है। आदर्शवादी तथा कल्पनाशील व्यक्ति यदि व्यावहारिक व्यक्तिसे घृणा करे और व्यवहारवादी यदि आदर्शपरायण और कल्पनाशीलका तिरष्कार करे तो दोनों ही हमारी बौद्धिक संकीर्णताका दुःखमय दुष्परिणाम हैं और दोनोंके ही मूलमें हैं दोनोंकी एक दूसरेके प्रति भ्रान्त धारणा जिसके चलते हमारी अपूर्ण प्रवृत्ति और स्वभाव अपनेको पूर्णताकी ओरसे रोक लेता है। यह तो ऐसी बात हुई मानो भगवान् जो दिव्य द्रष्टा और ज्ञाता हैं वे सभी कर्मों और शक्तियोंके स्वामी भगवान्को घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं अथवा सर्व यज्ञों और कर्मोंके अधीश्वर साक्षी और स्रष्टाको अमान्य कर देते हैं। लेकिन ये दोनों एक ही हैं और दोनोंमें जो प्रभेद दिखलाई पड़ता है वह एक परिसीमन है जिसके ऊपर मानवको उठना है।

मनुष्य उसी परिमाणमें ऊपर उठता है जिस परिमाणमें वह कार्यमें संसिद्धि प्राप्त करनेसे पहले अधिक-से-अधिक जाननेमें समर्थ होता है। यही सचमुच उत्क्रान्तिका क्रम है। इसका प्रारंभ होता है उस वस्तुगत कार्यसे जिसमें प्रकृति, जो कार्यसाधिका शक्ति है, अपने ही कार्यों द्वारा छिपी रहती है, उन यथार्थताओं द्वारा छिपी रहती है जिनको वह उत्पन्न करती है, और स्वयं वह उस चेतनाको आच्छादित रखती है जिससे इसकी सारी क्रियाएँ उत्पन्न हुईं तथा जिसपर वे आधृत हैं। जीवनमें शक्ति अपने कार्यकी सतहपर आ जाती और स्पन्दित होती है अन्ततः मनमें अन्तर्भूत चेतना अपनेको प्रकट करती है। उसी तरह मनुष्यकी अपनी वृत्तियोंमें पहले जो तत्त्व उसकी इन्द्रियोंके लिये गोचर हों तो उनसे अभिभूत होता, उनके पीछे अथवा उनसे बाहर वह जा नहीं पाता तथा केवल उन प्रभावोंको जानता जिन्हें उसके ग्रहणशील मनपर वे डालते हैं। जीवन कार्यसाधक है, सृजनक्षम नहीं। स्वयं वह जड़तत्त्व और प्राणके हाथमें अशक्त यंत्र है और अपने विचार तथा संकल्पमें न तो वह उनपर क्रिया करना अथवा उनका व्यवहार ही करना चाहता है। अपनी कम विकसित अवस्थामें मनुष्य भी सर्जनक्षमकी अपेक्षा कार्यसाधक ही अधिक है। वह अपनी दृष्टिको वर्त्तमान तथा परिवेशसे बाँध रखता है, काम इस तरह करता है कि एक दिनसे दूसरे दिन जीवित चलता रहे, और जो कुछ वह है उसीको स्वीकार किये रहता है, विचारसे उस ओर आगे बढ़नेकी चेष्टा नहीं करता जो कुछ वह हो सकता है; उसका कोई आदर्श नहीं। उसी अनुपातमें, जिसमें वह यथार्थतासे बाहर चला जाता और प्रकृतिका पूर्ववोध प्राप्त करता है, प्रकृतिके कार्योंके भीतर जो भाव और सिद्धान्त हैं उन्हें पकड़ता और अंततः उस भावको पकड़ता है जो अवतक प्रकट नहीं हुआ और उसके कार्योंका अधिपति होता है, वह आरंभकारी और सर्जनक्षम होता तथा मात्र कार्यसाधक नहीं रह जाता है। इसी तरह वह दासत्वसे स्वामित्वकी ओर आगे वढ़ना प्रारंभ करता है।

इस तरह उन्नति करती हुई मानवता इसके अनुरूप ही श्रेणियोंमें विभक्त हो जाती है। अपने-आपको यह व्यावहारिक व्यक्ति तथा आदर्श-परायणमें विभक्त कर लेती और इस प्रकार दोनों छोरोंके वीच वहुत-सी मध्यवर्ती सन्धियाँ उत्पन्न कर लेती है। वस्तुतः यह विभेद कृत्रिम है, क्योंकि प्रत्येक मानव जो संसारमें कुछ करता है, एक भावके सहारे तथा उसी शक्तिसे वह करता है जो आदर्शके द्वारा उसे प्राप्त होता है, यह आदर्श उसका अपना हो अथवा दूसरोंसे प्राप्त हुआ हो, इसे वह माने

अथवा न माने, परन्तु इसके अभावमें वह एक डग भी आगे बढ़नेमें अक्षम ही रहता है। आदर्श जितने छोटे और कम होंगे; जितना कम उनपर जोर दिया जायगा अथवा उनकी पहचान होगी, उतना ही कम उन्नति भी होगी। दूसरी ओर जब आदर्श विस्तृत होते हैं, जब वे शक्तिशाली होते हैं, बहुतोंके द्वारा मान्य होते हैं, जब बहुतसे आदर्श एक ही क्षेत्रमें प्रविष्ट होते, आपसमें संघर्ष करते, शक्ति और विचारोंका आपसमें आदान-प्रदान करते तो जाति क्रियाशीलता और सृष्टिके महान् कालमें प्रवेश करती है। और जब आदर्श जागृत होकर, उग्र होकर, शक्तिशाली होकर प्रबल रूपसे जीवन और जड़तत्त्वके प्रतिरोधी तत्त्वोंपर विजयके लिये सत्ताके उच्चतर स्तरोंकी प्रचंड शक्तिको फेंकते और उसके द्वारा अधिशासित होना अस्वीकार कर देते हैं, तो उन महान् युगोंका उदय होता जो शताब्दियोंतक चलनेवाले विकासकी शक्तिको दशाब्दियोंमें समेट लेते हैं और संसारको बदल डालते हैं।

इसलिये जहाँ कहीं और जब कभी भी व्यावहारिक मानव बढ़ जाता है और आदर्शपरक मानवको अधिकृतकर उसे निकाल बाहर करता अथवा उसे निरुत्साहित कर देता है, तो मानवताके लिये उस देश तथा युगमें अत्यन्त ही कम काम होता अथवा अत्यल्प मूल्यवान् काम होता है। अधिक-से-अधिक जो होता वह है प्रारंभिक थोड़ी तैयारीका काम, कुछ संचयके लिये अथवा मुश्किलसे दिखलाई पड़नेवाली गतिके लिये आयास, सृजनशील शक्तिका एक प्रकार अवरोध जो भविष्यमें एक महान् अभि-व्यक्तिका कारण बनता है। दूसरी ओर जब आदर्शपरायणका उदय होता है जब कल्पनाशील प्राणी बढ़ता है तब व्यावहारिक पुरुष भी साथ ही ऊँचा उठता है, एक साथ ही उसे संस्कार प्राप्त होता और दस गुनी शक्ति मिलती है, उन कामोंको करने लग जाता है जिन्हें अन्यथा वह मात्र स्वप्न अथवा भ्रान्ति समझकर त्याग देता, जो उसकी सामान्य शक्तिके लिये असंभव दिखलाई पड़ते और जिन्हें देख संसार अचंभेमें पड़ जाता है कि वे मनुष्य जो अपने-आपमें इतने छोटे थे, इतने बड़े-बड़े कार्योंको कैसे कर सके। एक बड़े आदर्शवादीका जब वैसे बड़े कार्यसाधक व्यक्तित्वके साथ मेल होता है जो भावको पकड़ता और उसका आज्ञाकारी बनता है तो सर्वदा ही यह बात एक आगामी संसिद्धिकी सूचना देती है जो न्यूनाधिक रूपमें उतनी ही गंभीर और व्यापक होगी, जितना कि ये दोनों व्यक्तित्व एकबद्ध होंगे अथवा जितना कि कार्यसाधक व्यक्ति गंभीरता और पूर्णताके साथ उस भावको ग्रहण करेगा जिसका अनुसरण

वह कर रहा है, और इस योग्य है कि युग चेतनामें जो उसने प्रतिष्ठित कर दिया है उसे वह शक्तिमें कितना स्थायित्व प्रदान करता है।

बहुधा यद्यपि ये दोनों ही भिन्न-भिन्न प्रकारके लोग एक ही लक्ष्यके लिये काम करते और न्यूनाधिक रूपमें एक दूसरेके पूरक होते हैं, वे अपने संचित विचारोंमें एक दूसरेसे भिन्न होते, एक दूसरेको नापसन्द करते, अविश्वास करते और निराकृत करते हैं। क्योंकि साधारणतः जो आदर्शवादी होता है वह उन भावी बोधोंसे भरा होता है जो यथार्थ संभावनाओंसे अत्यधिक बड़े होते और उन कामोंसे महान् पड़ते हैं जो तुरत-फुरत साधित होनेके लिये निर्दिष्ट हैं; दूसरी ओर जो कार्यसाधक पुरुष है वह या तो जो काम वह करता है उसके सारे अर्थको समझनेमें अक्षम होता अथवा उसकी दिव्यतर संभावनाको समझनेमें अक्षम होता और जिन्हें वह मिथ्या वा दंभ समझता है जबकि दूसरे प्रकारकी व्यक्तिकी दृष्टिमें उसके प्रयत्नोंके लिये वे नितान्त ही मूल्यवान् हैं। व्यावहारिक कर्मीके लिये जो यथार्थ संभावनाओं और प्रकट शक्तियोंसे अपनेको परिसीमित रखता है, आदर्शवादी पुरुष जिसने उसके कामको संभव बनाया ऐसा नजर आता है मानो वह निष्क्रिय स्वप्न द्रष्टा हो अथवा कष्टकर उग्रवादी, आदर्शवादीके लिये वह कर्मी जिसने भावके प्रति प्राथमिक पग उठाये, लगता है कि उस भागवत कर्मको नष्ट-भ्रष्ट करनेवाला उसका वह प्रायः शत्रु है। क्योंकि जो निकटकी संभावना है उसको अत्यधिक महत्व देकर वह महत्तर संभावनाओंको तथा उत्तम महत्तर संसिद्धियोंको जिन्हें वह देख नहीं सकता रोकता-सा लगता है और सचमुच वह रोक ही होता है। एक कावूर और मैंजिनीके बीच आदर्शके मसीहा और प्राप्तिके योग्य भावसे विशिष्ट राजनीतिज्ञके बीचकी यही खाई है। दूसरे प्रकारका व्यक्ति वह है जिसका समर्थन घटनाएँ करतीं, परन्तु पहले प्रकारका व्यक्ति वह है जिसका गभीरतर समर्थन घटनाओंकी न्यूनतासे होता है। उस कर्मी पुरुषकी सफलताएँ जो आदर्शको सम्पन्न कार्योंसे आवृत रखता है, प्रायः ही मानवी आत्माका दुःखान्त स्वरूप होती और उस महान् प्रतिक्रियाओं और निराशाओंके लिये उत्तरदायी हैं जो मनुष्यको तब आ घेरती हैं जब वह देखता है कि आदर्शकी गरिमा और प्रयत्नकी सजगताके अनुपातमें उसका सम्पन्न कार्य कितना तुच्छ और निर्जीव है।

इन दोनों प्रतिरोधियों और पूरकोंमें सफलताके लिये कौन अधिकतम आवश्यक है इसमें कोई संदेहकी गुंजायश नहीं। महान् परिवर्त्तनोंके लिये सामान्य चेतनाको उद्बुद्ध करने और उर्वर बनानेके लिये ही आदर्शवादी

और विचारक सिर्फ आवश्यक ही नहीं हैं, वरन् संसिद्धिके समय भी समझौताके लिये कभी उसका तैयार न होना एक अत्यावश्यक तत्त्व है। कोई भी मुझे एक वैसा आन्दोलन दिखलाये जिसकी शक्ति समवायमें कहीं भी कोई शक्ति ऐसी न रही हो जो अडिग रहे और फिर वही व्यक्ति पायेगा कि वह आन्दोलन असामयिक रूपसे नष्ट हो गया, असफल हुआ अथवा अति तुच्छ परिणाम ही उत्पन्न कर सका। वह युग अथवा देश जिसमें केवल बुद्धि-विशिष्ट राजनीतिक स्वभाववाले वैसे कर्मी भरे हों जो हर समय छूट देने अथवा समझौतेके लिये तैयार रहते हों एक वैसा देश है जो कभी तबतक महान् नहीं बनेगा जबतक कि जो घट रहा है वह पूरा न कर ले और शुद्ध तथा दिव्य स्रोतोंमें अभिसिक्त न हो जाय, तथा एक वैसा युग है जो मानव विकासके लिये कुछ भी अत्यधिक महान् उपलब्ध नहीं करेगा। फिर भी किसी भी भावके लिये उग्रवादी और आदर्शवादीमें एक अन्तर है; पहला तो वह व्यक्ति है जो दूसरेके विचारसे अभिभूत केवल जड़वादी व्यवहार-कुशल कर्मी है और स्वयं उस भावका स्वामी नहीं है। पर वह अपने संकल्पमें उस भावसे ग्रस्त रहता और उसीकी शक्तिसे प्रेरित रहता है, उसके प्रकाशसे प्रकाशित नहीं रहता। वह अच्छा भी करता और बुरा भी करता है और उसका प्रधान काम है कि समझौता-परायण व्यक्तिको वह समयसे पहले और हल्के-फुल्के परिणामपर ही बैठ जानेसे रोक रखे; परन्तु उसकी उग्रता भी बड़ी-बड़ी प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करती है। स्वयं तो वह आदर्शपर अपने पाँव टिका नहीं सकता वह विशेष, तरीकों आदिपर सारा जोर देने लगता है और अन्ततः अन्तरभूत उत्प्रेरक भावपर इतना अधिक बोझ डाल देता है कि वे अधिक और उत्प्रेरणामें असमर्थ और भोथरे बन जाते हैं। लेकिन जो सच्चा आदर्शवादी है वह रूप अथवा शब्दका गुलाम नहीं; वह तो भावको प्यार करता है और उस भावके अन्तर्गत जो आत्मा है उसकी सेवा करता है।

मनुष्य पूर्णताके करीब तब पहुँचता है जब कि उसमें व्यवहारपरायण कर्मी और आदर्शवादी दोनोंका संयोग होता—जब उसमें सृजनशील आत्मा और साधिकाशक्ति दोनों ही होते हैं। जो बड़े-से-बड़े कार्यसाधक लोग हुए हैं वे हमेशा यथेष्ट परिमाणमें आदर्शवादी रहे हैं। सचमुच कुछ ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने आदर्शकी अपेक्षा किसी प्रयोजनकी सेवा की है; उस भावके भी वे कार्यसाधक पक्षकी ओर ही अधिक झुके रहे हैं बनिस्पत उसके मौलिक उत्प्रेरक पक्षकी ओर; भावसे अधिक वे भावसे प्रस्रवित होनेवाली प्रेरणा, अनुरक्ति और भावावेगको ही अपना संबल रूपसे ढूंढ़ते

रहे हैं। दूसरे वे लोग हैं जिन्होंने केवल एक महान् विचार अथवा नैतिक लक्ष्यकी सचेतन सेवा की है जिसे वे मूर्त्तरूप देनेके लिये जीवनभर प्रयत्न-शील रहे। लेकिन सबसे बड़े कर्मी जिन्हें प्रकृतिने उपलब्ध करनेवाली महान्-से-महान् शक्तिसे मण्डित किया, वे लोग हुए हैं जिनकी सफलताका कारण हुआ है वह विरल संयोग जिसमें सक्रिय शक्तिके साथ ही संपृक्त है महान् चिन्तनके प्रति वह आग्रह जो क्रियात्मक संसिद्धिके प्रति निवेदित था। वे महान् कार्यसाधक विचारक थे, वे महान् व्यवहारिक स्वप्नद्रष्टा थे। नेपोलियन और सिकन्दर ऐसे ही पुरुष थे। नेपोलियनमें जो स्वयं एक महान् स्वप्नद्रष्टा था एक अडिग अचेतन आदर्शवादी था, आदर्शवादीके प्रति, सपने देखनेवालेके प्रति एक तेज नापसंदगी थी : उसका समाकुल मस्तिष्क ही उसकी उपलब्धियों और महान् शक्तिका कारण था। सिकन्दरके महान् किन्तु रूपविहीन विचारोंने अपनेको विजयों, नगरों और संस्कृतियोंके रूपोंमें निक्षिप्त किया। यूनानी और एशियाई पूर्वाग्रहोंके बन्धनोंको तथा संकीर्ण बन्धनकारी आत्ममर्यादाओंको तोड़ा और सभ्यता तथा आत्मविनिमयकारी युगका सृजन किया।

लेकिन, इन बड़े व्यक्तियोंमें वह संयोग नहीं मिलता जिसकी सर्वाधिक आवश्यकता मानववर्गको है। मानवी शक्ति और ज्ञानकी उच्चतर संसिद्धि तो उस तत्त्वदर्शीमें है जो अपनी दृष्टिको सृजनके पथमें उतार सके, वह नहीं जो मात्र भावोंसे प्रेरित व्यक्ति है अथवा व्यवाहारिक वैसा मानव है जो आदर्शवादीके द्वारा अथवा अपनी ही प्रकृतिके गुह्यवेत्ता पक्षके द्वारा अनुप्रेरित है। एक तो वह पुरुष है जिसका अधिष्ठान है प्रकृति, कार्य-पालिकाशक्ति और इसी कारण वह यद्यपि दूसरोंका सफल नेता है फिर भी स्वयं अपने-आपको आगे बढ़ा ले जानेके बजाय प्रकृतिके द्वारा वह हाँका ही जाता है; दूसरा वह व्यक्ति है जिसका अधिष्ठान है पुरुष, वह ज्ञानी जो कार्यपालिका शक्तिको जानता है और जिस शक्तिका वह व्यवहार करता उसका अधिपति है। वह दिव्य द्रष्टा संकल्पके समीपका रूप है जिसने विश्वका सृजन किया तथा उसका नियमन करता है। परन्तु ऐसा संयोग विरल और कठिन है; क्योंकि आदर्शको ठीक-ठीक समझनेके लिये मानव आत्माको सीमाओंसे, क्षुद्रतासे, दृश्यमान जगत्की निराकृतियोंसे इतना अधिक पीछे हट जाना पड़ता है कि स्वभाव और प्रवृत्ति इस योग्य नहीं रह जाती कि जीवन तथा जड़तत्त्वके प्रकृत जगत्में कार्यसाधनके लिये समर्थ रहें। आदर्शपरक मनके लिये यथार्थतापर आधिपत्य तभीतक संभव है जबतक कि उसका आदर्श विशेष रूपसे गहरा तथा शक्तिशाली नहीं

है और इसीलिये जीवनके परिपार्श्वसे अपना ताल-मेल अधिक आसानीसे विठा ले सकता है।

जवतक यह कठिनाई समाप्त न हो और द्रष्टा-संकल्प मनुष्यमें अधिक प्रधान न हो जाय तथा जीवनके ऊपर उसका अधिक शासन न हो तवतक आदर्शको एक वड़ी विपमतामें अनिच्छुक जगत्‌के ऊपर उसे एक अशब्द चापके द्वारा यदा-कदा होनेवाले उभार तथा आक्रमणके द्वारा काम करना पड़ता है। वड़े लम्वे अर्सेमें अथवा प्रचण्ड और क्षिप्त प्रयासके द्वारा थोड़ी-वहुत उपलब्धि होती है। और, यह जो थोड़ा-वहुत होता है वह भी जो देखा गया तथा जिसके लिये प्रयत्न किया गया है उसके अनुपातमें कितना हीन, जड़ और अरुचिकर है, परन्तु फिर भी इससे थोड़ा ठहरकर और प्रतिक्रियाकी घड़ीके वाद आगे वढ़ना संभव हो जाता है। और, फिर भी ऐसे युग आते हैं, महान् उपक्रम और प्रयासोंके काल आते हैं जव कि देवगण इतने दीर्घसूत्री और खण्डित प्रयासोंसे संतुष्ट नहीं दीखते, जव कि जड़ व्यावहारिक जीवनकी अंध दीवारोंको तोड़कर वार-वार आदर्शका प्रकाश चमकता रहता है, जव कि अगणित शक्तियाँ संघर्परत हो जाती हैं विश्वके रणक्षेत्रमें अगणित विचार मिलते और आपसमें जूझने लगते हैं और शक्ति संघात तथा विजलियोंसे आदर्शकी विजयशील संसिद्धि संभव हो जाती है, देवदूतकी आशा, अवतारकी अपेक्षा मानवके विचारों और हृदयोंमें छा जाती है। ऐसा ही युग अव पृथ्वीपर आता हुआ-सा लग रहा है। लेकिन इस आशा, आकांक्षा और संभावनाका कुछ परिणाम हो वह उस वातपर आश्रित है कि मनुष्य इस अवतरणके लिये अपनी आत्माको तैयार करे, और प्रयासके द्वारा जीवन, श्रद्धा और विचारमें निर्भ्रांत आदर्शकी शुद्धता और ऊँचाईतक अपनेको उठा ले जाय। अवतार अथवा दिव्यदूत वस यही है, वह भागवत द्रष्टा-संकल्प है जो मानव चेतनामें उतरता हुआ इसकी आधी अंधी क्रियाओंके पीछे जो भागवत अभिप्राय है उससे इसे आलोकित करता है और दृष्टिके साथ ही इसे वह दे डालता है ऊँचा संकल्प जो कार्यक्षम तथा निष्ठावान् हैं और देता है वह आदर्श-शक्ति जो दृष्ट तत्त्वके अनुरूप ही कार्यसाधना कर सके।

मानव-चक्र

हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावली

Hindi-English Glossary

अ

अति	excess
अत्याचार-पीड़ित	oppressed
अतिबौद्धिक	supra-intellectual
अतिनैतिक	supra-ethical
अतिप्राकृतिकवाद	supra-naturalism
अतिभौतिक	supraphysical
अधि-आत्मा	oversoul
अधिष्ठातृ-तत्त्व	sovereign principle
अर्ध-सभ्य	semi-civilised
अर्द्ध-वर्बर	semi-barbarous
अर्ध-विमोहित	half-hypnotised
अर्ध-अवबौद्धिक	half-infra-rational
अनीश्वरवादी अहं-भाव	godless egoism
अवबौद्धिक	sub-rational
अवनैतिक	infra-ethical
अवचेतन	subconscient
अवमानव	sub-human
अन्तरात्मा	soul
अनाध्यात्मिक	unspiritual
अभिशप्त	condemned
अभीप्सा	aspiration
अराजकतावाद	anarchism
अल्पकालिक	brief-lived
असभ्य	savage
अस्तित्व	existence
असामान्यता	abnormality
अहंकार-युक्त जीवन-इच्छा	egoistic will-to-live
अस्तित्व-संकल्प	will-to-be
अहं	ego
आचार-संबंधी ज्ञान	moral knowledge
आत्म-अतिक्रमण-कारी	self-transcending
आत्म-उपलब्धि	self-discovery, self-finding
आत्म-कार्यान्विति	self-actualisation
आत्म-तुष्टि	self-satisfaction
आत्म-निर्माण	self-formation, self-shaping
आत्म-नियंत्रित	self-controlled
आत्मान्वेषी	self-searching
आत्माधिपत्य	self-mastery
आत्म-विकास	self-development
आत्म-परिपूर्ति	self-fulfilment
आत्म-प्रभुत्व	self-mastery
आत्म-सत्ता	self-being
आत्म-शासक संकल्प	self-ruling will
आत्मसात्करण	assimilation
आत्म-स्थापन	self-affirmation

आत्म-सामंजस्य	self-harmony
आदान-प्रदान	interchange
आदर्शवादी	idealistic
आनुवंशिक	hereditary
आध्यात्मीकृत	spiritualised
आविष्कारक	originator

इ

इतिहासवेत्ता	historians
इन्द्रिय-सुखवाद	sensualism

उ

उत्तेजना-प्रधान कर्मवाद	sensational activism
उपजातियाँ	sub-types
उपयोगितावाद	utilitarianism
उपवर्ग	sub-species
उषाकाल	dawn
ऊर्ध्वगामी	upward-going

ए

एकांतवासी	solitary
एकीकृत	unified
एकोन्मुखी	convergent

ऐ

एहिक	worldly, secular
एहिकवाद	secularism

क

कर्मकांड	ritual
कला-सर्जन	art-creation
क्रम-स्थापन	ordering
कालपुरुष	Time-Spirit
कार्य-योजना	plan
कार्यान्विति	actualisation
किंकर्त्तव्यविमूढ़ता	confusion
क्रिया-कलाप	operations
क्रियात्मक	practical

ग

गुह्यवेत्ता	mystic

घ

घटक	constituent

च

चरित्र	character
चातुर्वर्ण्य	the system of four castes
चित्र-कला	painting
चैत्य-पुरुष	psychic

ज

जगत्-प्रक्रिया	world-process
जाति-प्रकार	race-type
जीवन-प्रकृति	life-nature
जीवन-प्रेरणा	life-impulse
जीवन-संघर्ष	struggle for life
जीवन-सिद्धांत	principle of living
जीवन-शक्ति	life-force
जीवनेच्छा	will-to-live
ज्योतिर्मय	luminous

द

दास	slave
दासत्वपूर्ण	servile
दिव्य जीवन	divine life
दिव्यत्व	divinity
दिव्य रीति से	divinely
दिव्य सत्य	divine truth

ध

धनिक-तंत्र	plutocracy
धर्म-भाव	religious spirit
धर्मसंघ	Church
धर्म-संस्थापक	religious founder
धार्मिक	religious
ध्वजवाहक	standard-bearer

न

न्याय	right
नास्तिकवाद	atheism
निवृत्तिवाद	quietism
निराशावादी	pessimism
नैतिक सत्ता	ethical being
नौकरशाही	bureaucratic

प

पदच्युत	*dethroned*
परम्परा	convention
परम्पराप्रधान	conventional
परस्पर-संहार	mutual destruction
परात्पर	transcendent
परिवर्तनशील	variable
परिषद्	conclave
परोपकारवादी	altruistic
पवित्रतावादी	puritan
पाषाणयुग	stone-age
पाश्चात्य	western
पुन:सर्जन	recreation
पीढ़ी-दर-पीढ़ी	from generation to generation
पुनरुज्जीवित	regenerated
पुरोहित	priest
पुरोहितवर्ग	sacerdotal class
पूजा	worship
पोप	pope
प्रवृत्तिवाद	activism
प्रतीकवाद	symbolism
प्रतीकात्मक	symbolic
प्रधानता	pre-eminence
प्राच्य	eastern
प्राणशक्ति	vitality
प्राणिक	vitalistic
पाश्चात्य	western

म

मर्त्य	mortal
मध्यवर्ग	bourgeois
मनोमय सत्ता	mental being
मनोवैज्ञानिक	psychological
मनोवृत्ति	attitude
मानव-आत्मा	human soul
मानव-पूर्णता	human perfection
मानव-समुदाय	human mass
मानव-विकास	human development
मानव-संभावना	human possibility
मानव-संस्करण	human edition

र

राजतंत्र	monarchism
राजकीय समाजवाद	state socialism
राजनीतिक	political
रामबाण	panacea
राज्य-विहीन	stateless
राष्ट्र-आत्मा	nation-soul
रूढ़ शास्त्र	fixed authorities
लौहयुग	Iron age

व

वर्ग-वैशिष्ट्य	type
विधान-निर्माता	law-maker, law-giver
विधि	law
विरोधाभासी	paradoxical
विश्वजनीन	universal
विश्वपिंड	universal mass
विश्वात्मा	universal soul
विश्राम-स्थान	halting place
वैभव	splendour
वैश्व सत्य	universal truth
व्यक्तिवाद	individualism
व्यापार-युग	commercial age
व्यावहारिक प्रत्यक्ष-वाद	pragmatic positivism

श

शब्द-विन्यास	diction
शासन-पद्धति	polity
शिव	the Good
श्रेणी-प्रकार	class-type
श्रमजीवी-विद्रोह	uprising of labour

स

संकल्प-शून्य	will-less
संगठित-राज्य	organised state
संविधायक	codifier
संवेदन-प्रधान	sensational
सत्य	truth
सद्वस्तु	reality
सनातन	eternal
सभ्य	civilised
समग्र चेतना	entire consciousness
समवाय-आत्मा	corporate soul, group-consciousness
समाज-विरोधी	anti-social
समुदाय-चेतना	communal consciousness
समुदाय-पुरुष	collective man
समूह-आत्मा	group-soul
सहज प्रेरणा	instinct
सहजज्ञान-युक्त	intuitive
सर्वग्रासी	all-occupying
सहस्राब्दियाँ	millenniums
सामाजिक विधान	social law
सामाजीकरण	socialisation
सामुदायिक सत्ता	collectivity
सुखात्मवादी	hedonistic
सूक्त	hymn
सौन्दर्य-ग्राहक	aesthetic
स्खलनशील	stumbling
स्वाभिव्यक्ति	self-expression
स्व-निर्माण	self-formation
स्व-प्रतिपादन	self-assertion
स्व-पर्याप्तता	self-sufficiency
स्व-परिपूर्णता	self-fulfilment
स्व-वृद्धि	self-aggrandisement
स्वसंचालन	self-direction
स्वस्थापन	assertion of self
स्वशासक	self-governing
स्वयं-प्रकाशित	self-illumined